आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

लेखक

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए०, पी एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सनातन धर्म कॉलेज, नई दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
के निमित्त

हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण
जुलाई : १९६०

मूल्य
२५.०० (पच्चीस रुपया)

प्रकाशक :
रामकृष्ण शर्मा बी० ए०
हिन्दी साहित्य संसार,
नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक :
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

काव्य-शास्त्र के मर्मी विद्वान्

गुरुवर डॉ० नगेन्द्र

के कर कमलो मे

सादर समर्पित

हमारी योजना

'आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य-सिद्धान्त' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थ-माला का बाईसवाँ ग्रन्थ है । 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १६५२ मे हुई थी । परिषद् के मुख्यत दो उद्देश्य है हिन्दी-वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन, तथा उसके फल-स्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन ।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है । प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के है—एक तो वे, जिनमे प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का *हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है*, दूसरे वे, *जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय* की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनो पक्षो के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ है—(१) हिन्दी काव्यालकारसूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी-काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस कृत), तथा (८) सौन्दर्य-तत्त्व । द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ है—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी साहित्य, (४) अपभ्रश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी मे भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, तथा (१०) मतिराम कवि और आचार्य । *तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है*—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का ग्यारहवाँ प्रकाशन है, जिसे हम काव्य एव काव्य शास्त्र के मर्मज्ञो की सेवा मे अर्पित कर रहे है ।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमे हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-सस्थाओ का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है । उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते है ।

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ।
६ जून, १९६०

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्ध मान्यवर डॉ० नगेन्द्र के निर्देशन मे सन् १९५३ से १९५६ की अवधि मे लिखा गया था और इस पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से सन् १९५६ मे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। ग्रन्थ के 'विषय-प्रवेश' मे भूमिका की विविध आवश्यकताओ को ध्यान म रखने का प्रयास किया गया है, तथापि इस प्रश्न का समाधान अभी शेष है कि काव्य शास्त्र के विकास म कवियो के योगदान मे कितनी मौलिकता रहती है ? इस शका के मूल मे यह धारणा है कि आधुनिक कवियो की अधिकाश मान्यताएँ भारतीय अथवा पाश्चात्य काव्य शास्त्र म पूर्व प्राप्त है, अत उनके पुनर्विवेचन मे तर्क नही है। इस आरोप को पूर्ण रूप से अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु यह विचारणीय है कि क्या परवर्ती विचारक पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तो के समान मन्तव्यो को स्वतन्त्र रूप मे प्रस्तुत नही कर सकते ? यह सत्य है कि काव्य म प्रवृत्ति के साथ-साथ कविगण प्राय काव्य शास्त्र का भी सामान्य ज्ञान प्राप्त करते है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि उनके विचार केवल रूढिबद्ध रहेंगे—प्रतिभा, लोक-दर्शन और अनुभव के आधार पर उनका सस्कार अत्यन्त स्वाभाविक है। समर्थ कवि पूर्ववर्तियो के उच्छिष्ट को ही वाणी नही देते, अपितु निजी अनुभवो की दीप्ति में समीक्षको की धारणाओ को प्रमाणित अथवा अप्रमाणित करते है। वे नवीन मार्गो का प्रवर्तन कर आलोचना को गति देते है और काव्य के साथ बौद्धिक व्यायाम करने वाले आचार्यो को समरसता का पाठ पढाते है। ऐसी स्थिति मे अपने अनुभव-क्षेत्र मे आने वाले काव्य मूल्यो के परम्परागत रूप को स्वीकार करने वाले कवियों को अमौलिक कहना कहाँ तक न्यायसगत है ? फिर, काव्य शास्त्र की भी मर्यादाएँ है, अब तक की उपलब्धियो को सहसा अस्वीकार कर आगे नही बढा जा सकता। आधुनिक कवियो ने इसी विवेक का परिचय देते हुए यथास्थान मौलिक प्रवृत्तियो का आश्रय लिया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध को मूल रूप म ही प्रकाशित किया गया है, अत मार्च १९५६ के उपरान्त प्रकाशित कृतियो को इसमें स्थान नही मिला है। नवीन सस्करण मे इन कृतियो के अतिरिक्त अविवेचित कवियो की धारणाओ को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया जाएगा।

अन्त मे प्रस्तुत प्रबन्ध की काया के विषय में दो शब्द कहना भी उचित होगा—विवेचित कवि तो आधार ही है, डॉ० नगेन्द्र ने प्रतिभा और प्राण रस का दान दिया है, प्रकाशक और मुद्रक के सजग प्रयास आभरण स्वरूप है, मैं तो केवल शिल्पी हूँ—फिर, शोध की दिशा में यह मेरा प्रथम पग है—यह प्रतिमा कितनी सबाक् है, इसे प्रमाता ही जाने।

३ सी।१४ रोहतक रोड,
करौल बाग, नई दिल्ली
दिनाक ९–६–१९६०

—सुरेशचन्द्र गुप्त

विषयानुक्रम

विषय-प्रवेश (पृष्ठ १७–३०)

प्रथम प्रकरण

भारतेन्दु युग के कवियो के काव्य-सिद्धान्त (पृष्ठ ३३–६१)

द्वितीय प्रकरण

द्विवेदी युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ ६५–२५८)

छायावादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ ३४५–४६६)

तृतीय प्रकरण

वर्तमान युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ २५६–५६०)

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ २६१–३४४)

वैयक्तिक कविता के रचयिताओं के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ ४६७–४६७)

प्रगतिवादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(पृष्ठ ४६८–५२६)

प्रयोगवादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त
(पृष्ठ ५३०–५६०)

उपसंहार
(पृष्ठ ५६१–५७४)
परिशिष्ट

विषय-प्रवेश

'आधुनिक' शब्द पर विचार

प्रस्तुत प्रबन्ध का लक्ष्य आधुनिक हिन्दी-कवियो की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओ का विवेचन है। अत उनके काव्य-विचारो की समीक्षा से पूर्व "आधुनिक" शब्द के अर्थ को स्थिर कर लेना उपयुक्त होगा। साहित्य के ऐतिहासिक क्रम विकास, कोष-ग्रन्थो और वाद-विशेष के प्रति कवि की आस्था के बल पर इस शब्द की विविध व्याख्याएँ हो सकती हैं। आगे हम इनमे से प्रत्येक अर्थ पर क्रमश विचार करेंगे।

प्रथम अर्थ

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे "आधुनिक" शब्द के प्रचलित अर्थ के अध्ययन के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" शीर्षक ग्रन्थ का अध्ययन अपेक्षित होगा। उन्होने रीतिकाल की साहित्यिक, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो के परिवर्तित होने पर सवत् १६०० से प्रारम्भ होने वाले नवीन काव्य-युग को "आधुनिक" शब्द से अभिहित किया है। इस नामकरण के मूल मे यह प्रवृत्ति है कि साहित्य और जीवन परस्पर गहन रूप मे सम्बद्ध हैं और उनका एक दूसरे पर अनिवार्य प्रभाव पडता है। मुगल शासन की समाप्ति पर अग्रेजो के शासन-काल मे नवीन सामाजिक चेतना का उदय हुआ। अत यह अनिवार्य था कि साहित्य भी इससे प्रभावित हो और रूढ परम्पराओ को त्याग कर नवीन दिशा सकेत प्राप्त करे। यद्यपि यह सत्य है कि भारतेन्दु युग के साहित्य मे रीतिकालीन काव्य मे उपलब्ध होने वाली शृगारिकता और रूढ कथन-प्रणाली का पूर्णत त्याग नही किया गया, तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि इस युग के साहित्य मे समाज-सुधार, राष्ट्रीय भावना, हास्य-व्यग्य आदि से सम्बद्ध कतिपय नवीन विषयो का विवेक सम्मत अध्ययन भी उपस्थित किया गया। साहित्य और लोक-व्यवहार का यह सम्बन्ध इसी रूप मे मान्य है, इसके अभाव मे साहित्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

भारतेन्दु युग के कवियो ने प्राचीन साहित्यिक परम्पराओ मे से जीर्ण-शीर्ण साहित्य-रूढियो को त्याग देने का मार्ग अपनाया था। उनके दृष्टिकोण मे मन की सहज अनुभूति के अतिरिक्त बौद्धिकता का भी उपयुक्त समावेश था। अत उन्होने प्राचीन काव्य-विषयो को भी प्राय मौलिक रूप मे उपस्थित करने का प्रशस्य प्रयास किया है। उनके काव्य मे रीतिकालीन शृगारिक मनोवृत्ति का विकास इसलिए उपलब्ध होना है कि वे

अपने निकटतम पूर्ववर्ती काव्य-युग के साहित्यिक वातावरण में व्याप्त शृंगार-चेतना के मोह का त्याग करने में असमर्थ रहे हैं। यद्यपि यह स्थिति भारतेन्दु युग में नव जागरण की अपूर्णता की द्योतक है, तथापि यह स्पष्ट है कि उनके कृतित्व में प्राचीन जर्जर संस्कारों के प्रति विद्रोह की भावना सूक्ष्म रूप में योग अवश्य देती रही थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "आधुनिक" शब्द नवीन दृष्टिकोण का वाहक है। अतः आधुनिक हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत संवत् १९०० के उपरान्त नवीन रूप में परिवर्तित सामाजिक, राष्ट्रीय एवं साहित्यिक परिस्थितियों के अनुसार रचित साहित्य का अध्ययन करना होगा। इस मत का अवलम्बन लेने पर आधुनिक हिन्दी कवियों के अन्तर्गत स्पष्टतः उन कवियों की गणना की जाएगी जो कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से अब तक काव्य-रचना करते आ रहे हैं।

द्वितीय अर्थ

"आधुनिक" शब्द के प्रचलित अर्थों (वर्तमान, इस समय का, आजकल का) के अनुसार आधुनिक कवियों से हमारा अभिप्राय उन कवियों से भी हो सकता है जो आज जीवित हैं और निरन्तर नवीन काव्य का सृजन कर रहे हैं। इस परिभाषा के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित आधुनिक काल के जिन कवियों की मृत्यु हो चुकी है वे आधुनिक नहीं रहे। "आधुनिक" शब्द के इस अर्थ-संकोच का सम्भावित कारण यह है कि वर्तमान हिन्दी-कविता के विविध रूपों का सुविधापूर्वक समुचित अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जा सके। तथापि इस परिभाषा के अनुसार मृत कवियों को आधुनिक युग की परिधि से सहसा निष्कासित कर देना अन्यायपूर्ण प्रतीत होता है।

तृतीय अर्थ

"आधुनिक" शब्द को वर्तमान अथवा नवीनता का वाची मानने पर आधुनिकता का आरम्भ छायावाद-युग से भी माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार छायावाद के आविर्भाव से पूर्व प्रणीत की गई कृतियाँ आधुनिक काव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आतीं। इस प्रकार छायावाद-युग की समकालीन तथा परकालीन रचनाओं को ही आधुनिक हिन्दी-कवियों की मान्य रचनाएँ कहा जायेगा। इस व्याख्या के मूल में भी वही प्रवृत्ति है जिसके आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १९०० के उपरान्त रचित साहित्य का आधुनिक काल के अन्तर्गत समावेश किया है। यद्यपि यह सत्य है कि भारतेन्दु युग के कवियों ने हिन्दी-काव्य के लिए कतिपय नवीन दिशाएँ उद्घाटित की थीं, तथापि उनके कार्य को पूर्णतः आधुनिक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से भावना एवं कला को अभिनव सौन्दर्य प्रदान करने वाले छायावादी कवियों को उनकी अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने अपने काव्य में मानव जीवन का कल्पना, सौन्दर्य-चेतना, प्रकृति तथा समाज से जो सम्बन्ध स्थापित किया है वह हिन्दी के लिए अभूतपूर्व था। इसमें उनके अध्ययन की मौलिकता और प्रतिपादन की सूक्ष्मता को स्पष्ट देखा जा सकता है। उनकी तुलना में भारतेन्दु युग के कवि साहित्य की रूढ़ परम्पराओं के प्रति विद्रोही भावना का

इतने सशक्त रूप मे प्रतिपादन नही कर सके थे। उनके काव्य मे प्राय सभी साहित्य रूढियो को प्रकट अथवा प्रच्छन्न रीति से स्थान प्राप्त हो गया था। अत आधुनिक युग का उदय छायावाद के उद्भव-काल से मानना सर्वथा अनुपयुक्त नही है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आधुनिक हिन्दी-काव्य का प्रारम्भ सवत् १६७५ से मानना चाहिए।

अन्य अर्थ

आधुनिक हिन्दी-काव्य की छायावादी व्याख्या की भाँति उसकी प्रगतिवादी और प्रयोगवादी व्याख्याएँ भी सहज सम्भव है। प्रगतिवादी कवियो ने भौतिक जीवन-दृष्टि को महत्व प्रदान करते हुए काव्य मे सर्वहारा-वर्ग की स्थिति के चित्रण को आवश्यक माना है। छायावाद-युग के अन्त तक लिखे गये काव्य मे शुद्ध वैज्ञानिक (भौतिक) जीवन-दृष्टि के अनुरूप सामान्य जनता के सुख-दु ख के चित्रण के अभाव की घोषणा कर उन्होने उसे आधुनिकता से शून्य कहा है और उसे मध्यवर्ग की मनोवृत्ति से आक्रान्त माना है। अत इस नवीन मानदण्ड के अनुसार आधुनिक युग का प्रारम्भ उस समय से मानना चाहिए जब से काव्य म सवहारा वग की स्थिति के चित्रण की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। इसी प्रकार प्रयोगवादी कवियों न भावना एव कला म नवीन जीवन-दृष्टि को प्रमुखता देते हुए आधुनिक हिन्दी काव्य का प्रारम्भ तब से मानने पर बल दिया है जब से कवियो ने रोमानी दृष्टि का मोह त्याग कर शुद्ध यथार्थ की प्रवृत्ति को ग्रहण किया है।[1] इसमे कोई सन्देह नही है कि जिस प्रकार छायावाद ने हिन्दी मे नवीन युग का प्रवर्तन किया था उसी प्रकार प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने भी अपने मौलिक काव्य सिद्धान्तो के आधार पर नवीन दिशाओ का उद्घाटन किया है। यह सत्य है कि इन दोनों काव्य धाराओं को छायावाद के समान पुष्ट रूप की उपलब्धि नही हो सकी, तथापि हिन्दी काव्य क्षत्र म इनकी महत्वपूर्ण स्थिति को अस्वीकार नही किया जा सकता। फिर भी, कतिपय अति वादी मान्यताओ अथवा वाद-बन्धनों के आग्रह के फलस्वरूप इनकी प्रगति अत्यन्त सीमित और अवरुद्ध सी रही है। अत आधुनिक हिन्दी-काव्य का प्रारम्भ इनके आविर्भाव-काल से मानना स्पष्टत अव्यावहारिक होगा।

हमारा मन्तव्य

इस प्रकार "आधुनिक" शब्द हमारे समक्ष एक विशिष्ट अर्थ विक् को उपस्थित करते हुए कतिपय अन्य अर्थों की सम्भावना को भी रखता है। ऐसी स्थिति मे आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य सिद्धान्तो पर विचार करत समय सहसा यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमे से किस अर्थ को ग्रहण किया जाए? तथापि शोध-कार्य के लिए अपेक्षित विषय विस्तार को ध्यान म रखते हुए हम "आधुनिक" शब्द को हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो म स्वीकृत रूढ अर्थ मे ही ग्रहण करेंगे। अत प्रस्तुत प्रबन्ध मे कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अब तक के कविया द्वारा प्रस्तुत काव्य सिद्धान्तो पर विचार किया

[1] देखिए "नयी कविता क प्रतिमान" (लक्ष्मीकान्त वर्मा), पृष्ठ २५२-२५८

जाएगा। भारतेन्दु युग की स्थिति संवत् १९२५ से १९५० तक रही थी। संवत् १९०० से १९२५ तक की अवधि में कवियों ने किसी विशेष विदग्धता का परिचय नहीं दिया था। अतः इस प्रबन्ध में काव्य सिद्धान्त-विवेचन के लिए संवत् १९२५ की परवर्ती हिन्दी-कविता का अध्ययन किया जाएगा।

प्रबन्ध की प्रस्तावित योजना

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रतिपाद्य आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-विषयक विचारों की विस्तृत समीक्षा है। अतः विवेचन की सुविधा के लिए हिन्दी-काव्य के आधुनिक युग को निम्नलिखित चरणों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) भारतेन्दु युग (संवत् १९२५—१९५०)

(२) द्विवेदी युग (संवत् १९५०—१९७५)

(३) वर्तमान युग—

(अ) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता (संवत् १९७५—अब तक)

(आ) छायावाद युग (संवत् १९७५—१९९४)

(इ) वैयक्तिक कविता (संवत् १९९०—अब तक)

(ई) प्रगतिवादी कविता (संवत् १९९४—अब तक)

(उ) प्रयोगवादी कविता (संवत् १९९४—अब तक)

उपर्युक्त काव्य-चरणों में कवियों के काव्य-विषयक दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर उपलब्ध होता है। अतः यह आवश्यक है कि इनमें प्रस्तुत की गई काव्य-मान्यताओं की पृथक्-पृथक् समीक्षा की जाये। इसके लिए कवियों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष काव्य-मतों की चर्चा के अतिरिक्त अनुगम शैली का आधार लेकर उनकी काव्य-मान्यताओं को निष्कर्षित भी किया जा सकता है। किन्तु, प्रमुख कवियों के काव्य-सिद्धान्तों की विस्तृत चर्चा के उपरान्त प्रत्येक चरण के अन्य कवियों के साहित्य-सिद्धान्तों की केवल सामूहिक चर्चा ही सम्भव हो सकेगी।

उपलब्ध सामग्री

आधुनिकयुगीन हिन्दी-कवियों की काव्य-मान्यताओं की शोध की दिशा में आलोचकों ने अत्यन्त अल्प कार्य किया है। प्रायः उनका ध्यान रीतिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धान्तों की खोज पर ही केन्द्रित रहा है। आधुनिक युग के कवियों ने इस क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों से कम कार्य नहीं किया है, तथापि उनके कार्य के विधिवत् अध्ययन की दिशा में अभी समुचित ध्यान नहीं गया है। इस विषय में केवल निम्नलिखित उल्लेखनीय सामग्री उपलब्ध होती है—

(१) हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास (आधुनिक काल से सम्बद्ध प्रकरण)[१] लेखक—डॉ० भगीरथ मिश्र।

---

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २४५-२७१

(२) द्विवेदी जी के काव्य-सम्बन्धी विचार (निबन्ध)[1], लेखक—बाबू गुलाबराय।

(३) प्रसाद जी के काव्य-सम्बन्धी विचार (निबन्ध)[2], लेखक—बाबू गुलाबराय।

(४) प्रसाद जी के साहित्य-सम्बन्धी विचार (भूमिका)[3], लेखक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

(५) प्रसाद का साहित्यिक दृष्टिकोण (निबन्ध)[4], लेखक—डॉ० रामरतन भटनागर।

(६) पन्त जी की भूमिकाएँ (निबन्ध)[5], लेखक—डॉ० नगेन्द्र।

(७) महादेवी की आलोचक-दृष्टि (निबन्ध)[6], लेखक—डॉ० नगेन्द्र।

(८) छायावादी कवियों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण (निबन्ध)[7], लेखक—श्री विनयमोहन शर्मा।

(९) छायावादी कवियों की आलोचनात्मक उपलब्धि (निबन्ध)[8], लेखक—डॉ० नामवर सिंह।

(१०) दिनकर के काव्य सिद्धान्त (निबन्ध)[9], लेखक—डॉ० नगेन्द्र।

(११) हिन्दी के कुछ कवि-आलोचक (निबन्ध)[10], लेखक—श्री प्रभाकर माचवे।

इस सामग्री में विदग्धता तो है, पर इसकी संक्षिप्तता अथवा अपर्याप्तता भी उतनी ही प्रकट है। ऐसी स्थिति में आधुनिक हिन्दी-कवियों की काव्य-विषयक मान्यताओं की व्यवस्थित समीक्षा निश्चय ही अपेक्षित है।

काव्य-सिद्धान्त का अर्थ और उसके अंग

संस्कृत के आचार्यों ने "काव्य" एवं "साहित्य" को पर्यायवाची शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने काव्य के मूल में व्याप्त रस-तत्व को अधिक महत्व देते हुए उसके प्रेरक तत्वों—अनुभूति, चिन्तन और कल्पना—में समत्व-स्थापना की है। अतः "काव्य" से केवल छन्दोबद्ध कविता का ही आशय नहीं है, अपितु उसके अन्तर्गत रस-तत्व

---

१. अध्ययन और आस्वाद, पृष्ठ ३३९-३४७
२. अध्ययन और आस्वाद, पृष्ठ ३११-३१८
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (प्रसाद), भूमिका भाग
४. प्रसाद का जीवन और साहित्य, पृष्ठ ३६-४७
५. विचार और विश्लेषण, पृष्ठ ८७-१०७
६. काव्य चिन्तन, पृष्ठ ७२-७८
७. "साहित्यावलोकन" में संकलित निबन्ध
८. इतिहास और आलोचना, पृष्ठ ११७-१२७
९. विचार और विवेचन, पृष्ठ १३२-१३८
१०. अवन्तिका, मार्च १९५३, पृष्ठ ५१-८१

का प्रतिष्ठान करने वाली प्रत्येक साहित्यिक रचना का अध्ययन किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करते समय उनकी सभी रचनाओं (कविता, नाटक, निबन्ध आदि) में विचार-सकलन किया जाएगा। इस स्थान पर यह प्रश्न उठता है कि क्या कवि सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है ? इस विषय में यह उल्लेख्य है कि यद्यपि भावात्मक दृष्टिकोण के प्राधान्य के कारण कवि द्वारा आलोचना की स्वतन्त्र प्रतिपत्ति की अधिक सम्भावना नहीं होती, तथापि उसके द्वारा उपस्थित किए जाने वाले स्फुट आलोचनात्मक विचारों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

काव्य को समृद्धि प्रदान करने के लिए कवियों से काव्य-रचना के अवसर पर कतिपय विशिष्ट नियमों के पालन की अपेक्षा की जाती है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि कवि की स्वतन्त्र चेतना को रचना नियमों के बन्धन में आबद्ध करके नहीं रखा जा सकता। वह पूर्व-निर्धारित रचना नियमों से मुक्त रह कर अपनी प्रतिभा से मौलिक काव्य रचना में सतत सक्षम रहता है, तथापि आदर्श सिद्धान्तों के आलोक में साहित्य-नियमन की दृष्टि से साहित्य रचना के नियमों की अपनी विशिष्ट उपयोगिता होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कवि विशेष के काव्य सिद्धान्तों से यह तात्पर्य होगा कि काव्य-सृजन के समय उसने अपने समक्ष किन काव्यादर्शों को रखा है।

कवि-कर्म और आचार्यत्व

कवि-कर्म और आचार्यत्व में भाव-तत्व और विचार-तत्व के क्रमशः प्रमुख होने के कारण बड़ा अन्तर है। काव्यादर्श-निर्धारण का सम्बन्ध अनिवार्यतः आचार्यत्व से ही है। सामान्यतः कवियों की इस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस क्षेत्र में उनका प्रवेश ही नहीं होता। कवि-हृदय में काव्य चिन्तन की प्रवृत्ति अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। प्रत्येक समर्थ कवि प्रच्छन्न रूप से आलोचक भी होता है। वह अपने कवि-जीवन के आरम्भ से ही साहित्यगत भावों तथा सामाजिक अनुभूतियों के आलोक में अपने मनस् लोक में कतिपय काव्यादर्शों को प्रच्छन्न रीति से स्थिर करता रहता है। कतिपय कवि इस प्रकार के सिद्धान्तों को अपने काव्य में प्रकरण के अनुकूल स्पष्ट करने की दिशा में भी सजग रहते हैं। इसके विपरीत कुछ कवि अपनी रचनाओं में इनका स्पष्ट कथन न कर इन्हें अधिकांशतः प्रच्छन्न ही रखते हैं।

शुद्ध आचार्यत्व और कवि के आचार्यत्व में मूलतः लक्ष्य का अन्तर होता है। इस स्थान पर यह प्रश्न उठता है कि कवि की ओर से काव्य-सिद्धान्त-प्रतिपादन की आवश्यकता ही क्या है ? इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न यह भी हो सकता है कि हम कवि-विशेष के जिन काव्य प्रकरणों में सिद्धान्तों की खोज करते हैं उनकी रचना करते समय उसने अपने समक्ष कुछ विशिष्ट विचार-तत्व रखे थे अथवा उसने उन्हें वैसे ही साधारण रूप में तो नहीं लिख दिया था ? इन प्रश्नों में कवि की काव्य सिद्धान्तों के उद्भावन की क्षमता

तथा इन सिद्धान्तो की व्यापकता के विषय मे शकाएँ प्रकट की गई हैं। इनके समाधान के लिए यही कहा जा सकता है कि आलोचक की भांति कवि को भी काव्य के विषय मे अपने विचारो को उपस्थित करने का पूर्ण अधिकार है। विचार बोझिल होने के स्थान पर अनुभूति-समृद्ध होने के कारण इस प्रकार के विवेचन का अपना विशेष महत्व होता है। प्राय ऐसे काव्य सिद्धान्त चिन्तन से पुष्ट होते है, किन्तु यदि रस के आवेग म कवि चिन्तन तत्व के प्रतिष्ठान की ओर अधिक सक्रिय न रह कर अपने सिद्धान्तो को सहजानुभूति के आधार पर भी उपस्थित करे तब भी उनके महत्व मे कोई अन्तर नही आता।

इस विषय मे यह भी उल्लेखनीय है कि जहा आलोचक के लिए सिद्धान्त प्रतिपादन साध्य होता है वहाँ कवि के लिए वह साधन मात्र होता है। कवि उसे साध्य के रूप मे ग्रहण न करते हुए या तो काव्य सिद्धान्तो को प्रासगिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है अथवा अपने काव्य-पथ को स्पष्ट करने के लिए स्वतन्त्र विचाराभिव्यक्ति का आश्रय लेता है। इसी कारण कवि विशेष द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो मे गहनता और व्यापकता की उतनी अपेक्षा नही की जा सकती जितनी किसी आलोचक से सहज ही वाछित हो सकती है। कवि के आलोचना सिद्धान्तो का अपना पृथक् महत्व होता है। उनके अध्ययन मे उसके कृतित्व का आत्मीयतापूर्ण अध्ययन करने मे अधिक सुविधा रहती है। आलोचको द्वारा प्रतिपादित समीक्षा सिद्धान्तो म इस सुविधा का स्पष्ट अभाव रहता है।

काव्य सिद्धान्त के विभिन्न अग

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि विशेष द्वारा काव्य रचना के लिए अपेक्षित विभिन्न तत्वो के निरूपण को ही उसके काव्य सिद्धान्त कहा जाएगा। जहाँ आचार्यत्व का निर्वाह करने वाले आलोचक को इस प्रकार के तत्वो को समग्र रूप म प्रतिपादित करना होता है वहाँ कवियो को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे इन्हे समग्रत अथवा अशत, किसी भी रूप मे उपस्थित कर द। प्रस्तुत प्रबन्ध मे आधुनिक हिन्दी कवियो द्वारा स्वीकृत अथवा निर्धारित किये गय ऐसे ही सिद्धान्तो पर विचार किया जाएगा। काव्य, कला अथवा साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण करते समय सुविधा के लिए विविध काव्यागो का निम्नलिखित रीति से वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) काव्य का स्वरूप—(अ) काव्य की परिभाषा, (आ) कवि और कवि-कर्म।

(२) काव्य की आत्मा—रस (अनुभूति), ध्वनि (कल्पना), वक्रता, अलकार, रीति।

(३) काव्य हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि।

(४) काव्य प्रयोजन—(अ) सस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनो का निर्वाह, (आ) नवीन काव्य प्रयोजन—काव्य और नैतिकता, काव्य और समाज (राजनीति, अर्थ विधान आदि)।

(५) काव्य के तत्व—(अ) सत्य, शिव और सुन्दर अथवा अनुभूति, चिन्तन

और कल्पना, (आ) काव्य में व्यक्ति-तत्व ।

(६) काव्य के भेद—प्रबन्ध काव्य, गीति काव्य, गीत गद्य आदि ।

(७) काव्य के वर्ण्य विषय—कविता और प्रकृति, कविता और जन-जीवन, कविता और देश-काल आदि ।

(८) काव्य-शिल्प—भाषा, अलंकार और छन्द की काव्यगत स्थिति ।

(९) स्फुट काव्य सिद्धान्त—काव्यानुवाद, काव्य के अधिकारी, काव्यालोचन इत्यादि ।

(१०) विशिष्ट काव्य-मत—छायावाद रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद ।

काव्य के मूल सिद्धान्तो और रचना-रीति के विषय में आलोचकों और कवियो द्वारा प्राय इन्ही सिद्धान्तो का निरूपण किया जाता है। इन नियमो में समकालीन सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकताओं के अनुसार संशोधन एव प्रस्तार के लिए सतत अवकाश रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य ललित कलाओं में भी कला-सृजन की प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्वों की अभिव्यक्ति का प्राय यही रूप रहता है। काव्य के रचित रूप और उसकी रचना के प्रेरक तत्वों का परस्पर अन्योन्याश्रय रूप में गहन सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि जब रचनात्मक साहित्य समृद्ध हो जाता है तब उसमें समाविष्ट विभिन्न साहित्यिक विशेषताओं का उपयुक्त विश्लेषण करते हुए आलोचक उनके आधार पर साहित्य-प्रणयन के लिए अपेक्षित नियमो का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार के उत्कृष्ट साहित्य-सिद्धान्तो के निरूपण के अनन्तर साहित्यकारो द्वारा उनके अनुसरण पर पुन साहित्य-सृजन किया जाता है। काव्य-रचना से पूर्व कविगण इस प्रकार के नियमो से सम्यक् लाभ उठाते हैं।

आधुनिक कवियो का सिद्धान्त-प्रतिपादन

काव्य-रचना के प्रेरक सिद्धान्तो की चर्चा सामान्यत प्रत्येक भाषा के साहित्य में अपेक्षित होती है। उनके अभाव में कवि द्वारा काव्य-रचना सम्भव अवश्य होती है, किन्तु उसका स्वस्थ रूप में विकास नहीं हो पाता। अत यह स्पष्ट है कि कवि के मानस में काव्य-सिद्धान्तो की स्थिति विशेषत. वाञ्छनीय है। इन सिद्धान्तो को उपस्थित करने की ओर आधुनिक युग के कवियो ने पर्याप्त ध्यान दिया है। उनके द्वारा विविध काव्य-सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों रूपों में चर्चा की गई है। आगे हम सिद्धान्त-निरूपण के इन दोनों रूपों पर क्रमश विचार करेंगे।

प्रत्यक्ष प्रतिपादन

(आधुनिक हिन्दी-कवियो ने अपने काव्य सिद्धान्तो को उपस्थित करते समय प्रत्यक्ष कथन की प्रणाली को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। इस युग में पूर्व कवियो ने प्रत्यक्ष कथन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था, किन्तु आधुनिक कवियो ने इस ओर प्रमस

ध्यान दिया है। इसके लिए उन्होने गद्य और पद्य, दोनो ही माध्यमो को स्वीकार किया है। इन माध्यमो के अनुसार आधुनिक हिन्दी-काव्य मे काव्य-सिद्धान्त-प्रतिपादन की स्थिति को निम्नलिखित रूप मे उपस्थित किया जा सकता है—

गद्य के माध्यम से सिद्धान्त-प्रतिपादन

इस रीति के अनुसार काव्य-सिद्धान्तो को निरूपित करने का कार्य अपेक्षाकृत नवीन है। भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी मे गद्य की उपयुक्त स्थिति के अभाव मे काव्य सिद्धान्तो का गद्यात्मक निरूपण लगभग उपेक्षित ही रहा था। आधुनिक युग मे गद्य के विकास के साथ-साथ इस दिशा मे भी पर्याप्त ध्यान दिया गया और कवियो ने अपने सिद्धान्तो को गद्य के माध्यम से व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की। पद्य की अपेक्षा गद्य मे भाव विस्तार के लिए अधिक अवकाश होने के कारण काव्य-चिन्तन को गम्भीर रूप मे उपस्थित करने की अधिक सुविधा रहती है। *गद्य के माध्यम से कवि काव्य शास्त्र के विभिन्न विवाद ग्रस्त* नियमों का उचित विवेचन करते हुए अपने मत को अधिक विस्तृत, सुष्ठु एव स्वाभाविक रीति से प्रतिपादित कर सकता है। इस दिशा मे आधुनिक कवियो ने निम्नलिखित दो प्रणालियो का अवलम्बन लिया है—

(अ) आत्म-समर्थन में लिखित काव्य-भूमिकाओ अथवा आक्षेपो के प्रतिवाद रूप लेखो द्वारा सिद्धान्ताभिव्यक्ति—

आधुनिक युग के अधिकाश कवियो ने अपने काव्य-ग्रन्थों के प्रारम्भ मे विस्तृत भूमिकाओ को स्थान दिया है। इनमे उन्होने प्राय अपने काव्य मे प्रतिपादित विचारो के समर्थन के लिए अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। इस प्रकार की भूमिकाएँ विशेष रूप से उन कवियो द्वारा उपस्थित की गई है जिन्होने काव्य क्षेत्र मे नवीन परम्पराओ की स्थापना की है। इनमे *काव्य सिद्धान्तो की व्यापक और प्रासगिक, दोनो ही रूपो मे उद्भावना* हुई है। इनके अध्ययन से कवि-विशेष के काव्य का अध्ययन करने मे अधिक सुविधा रहती है। भूमिकाओ के अतिरिक्त कतिपय कवियो ने अपने काव्य के विषय मे आलोचको द्वारा उपस्थित किये गये विविध आक्षेपों का प्रतिवाद करते हुए अपने मत के स्पष्टीकरण के लिए स्वतन्त्र लेखो की भी रचना की है। इस प्रणाली के अनुसार प्राय उन्होने अपने सैद्धान्तिक वक्तव्यो को प्रासगिक रूप मे उपस्थित किया है। इस कोटि का सिद्धान्त-प्रतिपादन अधिकतर छायावादी, प्रगतिवादी एव प्रयोगवादी कवियो द्वारा किया गया है।

(आ) स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे सिद्धान्त-प्रतिपादन—

काव्य-सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिए भूमिकाओ, लेखो तथा प्रासगिक उक्तियो का आश्रय लेने के अतिरिक्त कविगण स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना के द्वारा भी विचाराभिव्यक्ति कर सकते है। इस प्रकार के ग्रन्थो का सम्बन्ध आलोचना की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनो प्रणालियो से हो सकता है। सैद्धान्तिक आलोचना मे कवि के काव्य-

सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप मे कथित होने के कारण पूर्णत स्पष्ट रहते हैं। व्यावहारिक आलोचना मे या तो उनकी प्रासंगिक चर्चा रहती है अथवा सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के उपरान्त उन्हें निरूपित किया जा सकता है।

पद्य के माध्यम से सिद्धान्त-प्रतिपादन

इस प्रणाली के अनुसार कवि अपनी काव्य विषयक मान्यताओं का प्रतिपादन करने के लिए अपने काव्य को मुख्य आधार बनाता है। कवियों को पद्य के माध्यम से काव्य-सिद्धान्तो को स्पष्ट करने की पूर्ण सुविधा प्राप्त रहती है। यह सुविधा आलोचकों को प्राप्त नही होती। पद्य मे प्रतिपादित काव्य सिद्धान्तो का रागात्मकता और नैसर्गिक भाव कथन की स्थिति के कारण गद्य मे उपस्थित सिद्धान्तो की अपेक्षा अधिक महत्व होता है। पद्य-शैली मे अभिव्यक्त करने पर जटिल से जटिल विषय का स्वरूप भी सहज बोध्य हो जाता है। यद्यपि गद्य के वाक्य विस्तार के अभाव म पद्य-शैली में उद्भावित काव्य-सिद्धान्त अर्ध-व्यक्त भी रह सकते हैं तथापि आधुनिक युग मे काव्य मे छन्द-योजना-सम्बन्धी नियमों के शिथिल हो जाने के कारण आधुनिक कवियो ने पद्य के माध्यम मे अनेक उत्कृष्ट काव्य सिद्धान्तों का सफल उद्भावन किया है। पद्य मे इस प्रकार के सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति के लिए कवियो द्वारा दो प्रणालियों को अपनाया जा सकता है—

(अ) काव्य प्रकरण क अन्तर्गत उपस्थित सैद्धान्तिक उक्तियों के द्वारा—

इस प्रणाली के अनुसार कवि अपने काव्य विचारो को अपनी किसी भी कविता मे प्रकरण के अनुकूल सहज अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है। इस प्रणाली का सफल निर्वाह करने के लिए यह आवश्यक है कि कवि सम्बद्ध कविता की रसात्मकता की रक्षा के लिए निरन्तर सचेष्ट रहे। इस प्रकार की उक्तियों मे कवि को साहित्यांगों के पूर्ण विवेचन की सुविधा नही रहती, किन्तु वह साहित्य के किसी विशेष पक्ष के सम्बन्ध मे अपने विचारों को सक्षेप मे व्यक्त करने का अवकाश अवश्य पा लेता है। विषय-विस्तार के लिए अधिक अवकाश न होने के कारण काव्य-प्रकरण के अन्तर्गत उपस्थित किए गए काव्य नियमों मे केवल कवि के मुख्य विचारो की ही सक्षिप्त सूत्रमय अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है।

(आ) स्वतन्त्र सैद्धान्तिक कविताओ के द्वारा—

इस प्रणाली के अनुसार कवि काव्य के विषय मे अपने विचारो को उपस्थित करने के लिए पृथक् रचना भी कर सकता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उसे कवि, कविता, कल्पना, अनुभूति आदि विविध सैद्धान्तिक विषयो के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र विचार उपस्थित करने की सुविधा रहती है। इस प्रकार की कविताओं मे विषय के पूर्ण विवेचन के लिए

पर्याप्त अवकाश रहता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की "हे कविते" शीर्षक कविता इसी प्रकार की है।

अप्रत्यक्ष प्रतिपादन

इस प्रणाली के अनुसार कवि विशेष के काव्य सिद्धान्तो को स्थिर करने के लिए उसके काव्य की शोध की जानी चाहिए। अत अप्रत्यक्ष प्रतिपादन से हमारा तात्पर्य कवि की रचनाओं के अनुगमात्मक विश्लेषण के आधार पर उपलब्ध निष्कर्षो को उपस्थित करने से है। यद्यपि यह सत्य है कि कवि काव्य रचना करते समय काव्य सिद्धान्तो के प्रतिपादन की ओर सर्वत्र ध्यान नही देता, तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि उसकी मानसिक पृष्ठभूमि मे काव्य रचना के लिए अपेक्षित कतिपय विशिष्ट अथवा सामान्य सिद्धान्तो की स्थिति अवश्य रहती है। इस प्रकार के सिद्धान्तो की खोज के लिए उसके काव्य की विविध विशेषताओं को निकर्ष के रूप मे ग्रहण करना होगा। कवि द्वारा गृहीत काव्य-विषयों के आधार पर उसके तत्सम्बन्धी विचारो का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार उसकी कृतियो का अध्ययन करने पर उसके काव्य मार्ग, काव्यात्मा, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व आदि से सम्बन्धित विचारों को भी निष्कर्षित किया जा सकता है। इन विचारो की उपलब्धि के लिए सूक्ष्म अध्ययन की विशेष आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, इस दृष्टिकोण से कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से सौन्दर्य को काव्य की आत्मा माना है, अनुभूति की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व दिया है और शैली के अन्तर्गत सूक्ष्म-कोमल उपकरणो का समर्थन किया है।

काव्य के भाव-पक्ष की भाँति कला-पक्ष के विषय मे भी कवियो के विचारो को अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञात किया जा सकता है। कवि-विशेष की रचनाओ मे कला-तत्वो के निर्वाह की स्थिति का अध्ययन करते समय काव्य-रूप, भाषा, अलकार एव छन्द को दृष्टि मे रखना होगा, अर्थात् इसके अन्तर्गत हम यह देखेंगे कि उसने अपनी काव्य-भाषा मे काव्य गुणो अथवा अन्य भाषागत विशेषताओ को किस रूप मे स्थान दिया है, उसकी शैली किस प्रकार की है और उसके कितने रूप रहे हैं, आदि आदि। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन विविध काव्य-विशेषताओ के प्रति कवि की विशिष्ट अभिरुचि रही है। अत यह निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकेगा कि वह काव्य मे उसी कोटि के कला-तत्वो को स्थान देने का समर्थक है। अनुगम शैली के आधार पर निष्कर्षित इस प्रकार के सिद्धान्त निश्चय ही कवि की अन्तर्दृष्टि का परिचय प्राप्त करने मे सूक्ष्म रूप से सहायक होंगे।

विषय का महत्व और उपादेयता

अन्त मे यह भी आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रयोजन तथा महत्व

पर विचार कर लिया जाए। इस दृष्टि से इसकी उपादेयता को निम्नलिखित वर्गीकरण के अनुसार स्थिर किया जा सकता है—

१ काव्य का प्रामाणिक अध्ययन

आधुनिक युग के कवियों की काव्य-मान्यताओं का अध्ययन करने से आधुनिक हिन्दी-काव्य का प्रामाणिक अध्ययन करने की विशेष सुविधा प्राप्त होगी। कवि की अन्तर्दृष्टि से अपरिचित होने के कारण प्राय पाठक उनके काव्य के आशय को ग्रहण करने में अनेक भ्रान्तियाँ कर बैठते हैं। अत प्रस्तुत प्रबन्ध से कवि की अन्तर्दृष्टि का उद्घाटन पाठक की बोध-वृत्ति को निश्चय ही परिष्कृत करेगा। आलोचकों द्वारा निर्धारित साहित्य शास्त्र के आधार पर ही साहित्य रचना का मूल्यांकन समीचीन नहीं होता। बौद्धिकता से अतिप्रभावित होने के कारण आलोचक कवि के अन्तर्लोक की उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति मे कवि की प्रतिभा का उचित मूल्यांकन प्राय कठिन हो जाता है। अत किसी भी कवि की आलोचना करते समय उसके काव्य विषयक मन्तव्य को पृष्ठभूमि में रखना विशेष सहायक होगा। इस पद्धति का आधार लेने से कवि और काव्य का यथार्थ मूल्यांकन अधिक सुकर हो सकेगा।

२ नवीन कवियों का उपकार

प्रस्तुत प्रबन्ध के अध्ययन से आधुनिक साहित्य मे व्याप्त काव्य-मूल्यों की अराजकता का शमन करने मे सहायता मिलेगी। काव्य-क्षेत्र से अराजकतावादी तत्वों के निष्कासन और आधुनिक काव्य-मूल्यों के शुद्ध विश्लेषण से नवीन साहित्यकारों का निश्चय ही उपकार होगा। इस विश्लेषण के माध्यम से उन्हें स्वच्छ तथा स्थिर काव्य-दृष्टि का उन्मेष प्राप्त करने की सुविधा रहेगी। इस प्रकार वे अपने काव्य को नवीन भावनाओं के आलोक मे अधिक विश्वास के साथ उपस्थित कर सकेंगे।

३ शास्त्र और काव्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध की स्थापना

आधुनिक युग के कवियों द्वारा उपस्थित किए गए काव्य सिद्धान्तों के अध्ययन का एक अन्य महत्व यह भी है कि इससे आलोचना-शास्त्र के शुद्ध विचारात्मक मूल्यों के स्थान पर काव्य के सृजनात्मक मूल्यों की स्थापना मे सहयोग मिलेगा। यह स्पष्ट है कि आलोचकों द्वारा प्रतिपादित साहित्य सिद्धान्तों में बौद्धिकता के प्रभाव के कारण विचार-बोझिलता को मुख्य स्थान प्राप्त रहता है। भावात्मक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले कवियों से स्वभावत विचार तत्व के आधिक्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अत कवियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सहजता एव आलोचकों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों की विचारात्मकता के समन्वय से आलोचना के क्षेत्र मे सहृदयता के समावेश के लिए स्पष्टत अधिक अवकाश रहेगा। प्रस्तुत प्रबन्ध द्वारा आलोचना के लिए अपेक्षित इन नवीन मूल्यों की स्थापना में सहायता मिल सकेगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय मे

इस शोध प्रबन्ध की रचना जुलाई १९५३ से लेकर मार्च १९५९ तक, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और काव्य शास्त्र के मर्मी विद्वान् डॉ० नगेन्द्र के निरीक्षण मे हुई है। १९५३ मे जब उन्होने प्रस्तुत विषय पर कार्य करने का आदेश दिया, तब मेरी इस ओर गति नही थी। प्रारम्भ मे विषय भी "हिन्दी-कवियो के काव्य-सिद्धान्त" था, अत विषय की व्यापकता के कारण मेरी कठिनाइयाँ और भी अधिक थी। इसीलिए आगे चलकर उसे आधुनिक कवियो तक सीमित कर दिया गया। फिर भी कवियो की मान्यताओ मे पूर्वापर क्रम, परस्पर सम्बद्धता आदि के निर्धारण की अनेक समस्याएँ बनी रही, जिनका निवारण मेरे लिए दुष्कर था। किन्तु डॉ० नगेन्द्र के मार्ग-प्रदर्शन, आशीष और शिष्य वात्सल्य से उनका समाधान होता चला गया और यह प्रबन्ध पूर्ण होकर आपके समक्ष प्रस्तुत है। उनके अपार स्नेह को शब्दो मे बाँध सकना मेरे लिए सम्भव नही है। इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय उन्ही को है मैं तो केवल माध्यम हूँ। उनके अतिरिक्त डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के परामर्शों के लिए भी मैं अनुगृहीत हूँ। इस प्रबन्ध की रचना के लिए जिन पुस्तकालयो (आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी, सम्मेलन सग्रहालय, प्रयाग, मारवाडी पुस्तकालय, दिल्ली, महावीर जैन पुस्तकालय, दिल्ली, हार्डिंग लाइब्रेरी, दिल्ली, अन्य अनेक स्थानीय पुस्तकालय) मे प्राप्त सामग्री का उपयोग किया गया है, उनके कर्मचारियो के सहयोग के लिए मैं आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे जिन लेखको की रचनाओ का उपयोग किया गया है, उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना केवल औपचारिकता होगी—वे तो आधार ही है। इस कृति मे जिन कवियो के काव्य सिद्धान्तो का विवेचन नही किया गया, उनके प्रति मेरे मन मे किसी प्रकार की अश्रद्धा नही है—ग्रन्थ की सीमा और उनके सिद्धान्त विवेचन की सक्षिप्तता ही इसका कारण है। वस्तुत इस प्रबन्ध मे उन्ही कवि आलोचको की समीक्षा की गई है जो या तो अपने युग के प्रतिनिधि कवि है अथवा जिनका हिन्दी-साहित्य मे स्थान निश्चित हो चुका है। फिर भी भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के प्राय सभी कवियो की मान्यताओ का विवेचन किया गया है—यदि किसी कवि को छोडा गया है तो केवल इसीलिए कि उसने पर्याप्त सिद्धान्त-प्रतिपादन नही किया है। वर्तमान युग मे इस प्रणाली का परि-सकोच करने की आवश्यकता पडी है, क्योकि एक तो कवियो की सख्या बहुत बडी है और दूसरे प्राय प्रत्येक वर्तमान कवि सिद्धान्त-कथन करता है—साधारण कवियो ने भी अपने विचारो को स्वतन्त्र अथवा प्रासगिक रूप मे प्रकट अवश्य किया है। ऐसी स्थिति मे यदि वर्तमान युग के सभी कवियो को लिया जाता तो ग्रन्थ का कलेवर बढ जाता। इसके अतिरिक्त जिन कवियो ने कोई नवीन मत प्रस्तुत नही किया है, उनके विचारो की भी समीक्षा नही की गई है। प्रगतिवाद तक के वर्तमान कवियो के विषय मे इसी प्रणाली का आश्रय लिया गया है, किन्तु प्रयोगवाद के सम्बन्ध मे स्थिति और भी विषम है। अभी

यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-साहित्य में प्रयोगवाद का स्थान सुरक्षित हो सकेगा या नहीं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रयोगवाद के प्रतिनिधि कवियों को ही स्थान दिया गया है। प्रबन्ध में विवेचित कवियों की धारणाओं को प्रत्येक सम्भव स्रोत से प्राप्त करने का प्रयास किया गया है, फिर भी यदि असावधानीवश कुछ त्रुटि हो गई हो तो लेखक क्षमा-प्रार्थी है।

भारतेन्दु युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रताप-
नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास और जगमोहन-
सिंह के काव्य सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन)

प्रथम प्रकरण

भारतेन्दु युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से होता है। अत आधुनिक हिन्दी-कवियो के काव्य सिद्धान्तो का अध्ययन भारतेन्दु युग से ही किया जाना चाहिए। इससे पूर्व हिन्दी मे पृष्ठभूमि के रूप मे रीति काल की विस्तृत आचार्य-परम्परा की स्थिति थी। इस युग के कवि इस परम्परा का सहज ही निर्वाह कर सकते थे, किन्तु उन्होने युगीन आवश्यकताओ के अनुरूप रीति-निरूपण की अपेक्षा कवि-कर्म की ओर विशेष ध्यान दिया है। यद्यपि इस युग मे गद्य के प्रवर्तन के कारण वे रीति-कालीन कवियो की तुलना मे लक्षण-ग्रन्थो की रचना मे कही अधिक सफल हो सकते थे, तथापि उन्होने साहित्य को नवीन विषयो की ओर उन्मुख करने पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया है। इस युग के काव्य-सिद्धान्तो का अध्ययन करने के लिए निम्नलिखित वर्गीकरण का आश्रय लिया जा सकता है—

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य-सिद्धान्त

भारतेन्दु युग के कवियो मे काव्य रचना और काव्य सिद्धान्त-कथन की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सर्वप्रमुख स्थान है। अत इस युग के काव्य सिद्धान्तो के विवेचन के लिए उनके विचारो का विशेष अध्ययन अभीष्ट है। उन्होने काव्य चिन्तन की परम्परागत रीति (रस, अलकार, नायिका-भेद, काव्य-गुण, काव्य-दोष आदि का विस्तृत विवेचन) को त्याग कर अपने युग की परिवर्तित सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो के अनुकूल काव्यागो की नवीन रूप मे चर्चा की है। यद्यपि उन्होने इस दिशा मे व्यापकता का परिचय नही दिया है, तथापि उनके विचारो से एक ओर उनके सभी समकालीन कवियो ने प्रेरणा ली है और दूसरी ओर वे द्विवेदी युग मे स्वीकृत सिद्धान्तो के मूलाधार भी रहे हैं।

२ भारतेन्दु-मडल के काव्य-सिद्धान्त

भारतेन्दु-मडल के कवियो से हमारा तात्पर्य सर्वश्री बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन", प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास और जगमोहनसिंह से है। इनके अतिरिक्त यहाँ इस युग के अन्य कवियो का उल्लेख दो कारणो से नही किया गया—एक तो उनके द्वारा इस दिशा मे किया गया कार्य ही अत्यन्त सीमित है और दूसरे सभी कवियो की चर्चा करने से प्रस्तुत अध्याय का अतिविस्तार भी अनुपयुक्त होता।

भारतेन्दु-मडल के काव्य चिन्तन मे एक ओर "प्रेमघन" द्वारा अधिकाश काव्यागो का व्यापक विवेचन द्रष्टव्य है और दूसरी ओर अम्बिकादत्त व्यास की सीमित, किन्तु सबल सिद्धान्त-चर्चा उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने प्राय इस दिशा मे अत्यन्त सीमित योग दिया है। हमने "प्रेमघन" के सिद्धान्तो की स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है और अन्य कविया की धारणाओ पर विविध काव्यागो के अनुसार साथ-साथ विचार किया है।

भारतेन्दु युग की काव्य-शास्त्रीय उपलब्धियो से अवगत होने के लिए हमने कवियो के प्रत्यक्ष चिन्तन का आश्रय लेने के अतिरिक्त उनकी प्रमुख काव्य प्रवृत्तियो के आधार पर उनके सिद्धान्तो को अनुगम शैली के अनुसार भी निरूपित किया है। विवेचन की स्वच्छता के लिए हमने एक ओर प्रत्येक कवि के सिद्धान्तो की स्थापना के उपरान्त उसकी रचनाओ मे उनके व्यावहारिक रूप का अध्ययन किया है और दूसरी ओर भारतेन्दु युग के काव्य-सिद्धान्तो का समन्वित विवेचन कर उनका मूल्याकन भी किया है।

●

: १ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य-सिद्धान्त

कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने युग प्रवर्तक कलाकार होने के कारण अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व से सम्पूर्ण युग को आच्छादित किया हुआ था। यद्यपि उन्होने काव्य-सिद्धान्तो की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की अपेक्षा काव्य रचना की ओर अधिक ध्यान दिया है, तथापि उनके सिद्धान्त इतने सबल और व्यापक है कि उनसे उस समय के सभी कवि प्रभावित रहे है। उनकी शास्त्रीय मान्यताओ से अवगत होने पर सकेत-रूप मे सम्पूर्ण भारतेन्दु युग की विचार-धारा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए "भारतेन्दु-ग्रन्थावली" के अतिरिक्त "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" तथा "कविवचनसुधा" शीर्षक पत्रिकाओ का अध्ययन भी अभीष्ट है। उन्होंने मुख्य रूप से काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और रस की चर्चा की है और सामान्य रूप से काव्य की आत्मा, काव्य-हेतु तथा काव्य-शिल्प पर प्रकाश डाला है। आगे हम इनमे से प्रत्येक काव्याग के विषय मे उनके विचारो का क्रमश विवेचन करेंगे।

काव्य की आत्मा—

भारतेन्दु ने रस को काव्य का मुख्य सौन्दर्य-विधायक तत्व माना है। यद्यपि उनके काव्य मे अलकार, रीति आदि अन्य काव्यागो का भी यथास्थान समावेश हुआ है, तथापि उन्होने रस-सम्प्रदाय को ही मान्यता दी है। रस को काव्य का जीवन मानते समय उन्होंने भाषा (पद-रचना अथवा रीति) को उसकी आश्रिता माना है। यथा—

> "जामें रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय।
> बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय॥"[1]

उपर्युक्त प्रत्यक्ष कथन के अतिरिक्त भारतेन्दु ने अप्रत्यक्ष रूप से भी रस को विशेष गौरव दिया है। उन्होंने अमृतोपम जल की वर्षा करने वाले घन-मडल के दर्शनो से मन को उपलब्ध होने वाले आनन्द की चर्चा कर सकेत-रूप मे यह प्रतिपादित किया है कि काव्य मे भी इसी प्रकार नित्य नूतन रस की स्थिति रहनी चाहिए। उदाहरणार्थ कवि की निम्नोक्त पक्तियाँ देखिए—

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७२

"भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥"[1]

यह भारतेन्दु के काव्य का सिद्धान्त-वाक्य है। उन्होंने इसे अपनी अधिकांश रचनाओं के प्रारम्भ में उद्धृत किया है। इसमें रस के जिस सुखात्मक रूप की चर्चा की गई है, वह *डॉ० नगेन्द्र की इस उक्ति में भी सिद्ध हो जाता है— "रस चित्त की आनन्दमयी* स्थिति है।"[2] रस की इस परिभाषा के आधार पर भारतेन्दु की उक्ति की परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में भी रस को काव्य की आत्मा माना है।

रस-विषयक विचार

भारतेन्दु ने काव्य में रस की स्थिति के विषय में मौलिक विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने कविवर जयदेव के "गीतगोविन्द" के मंगलाचरण का विवेचन करते हुए उसमें नवरसों के अतिरिक्त वात्सल्य, दास्य तथा माधुर्य नामक नवीन रसों की स्थिति मानी है। यथा—"इस मंगलाचरण में बारहों रस हैं। उनमें यथा क्रम—शृंगार, अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक, हास्य, वात्सल्य, करुण, बीभत्स, दास्य, माधुर्य, शान्त।"[3] "नाटक" नामक कृति में उन्होंने दास्य रस को "भक्ति रस" तथा माधुर्य रस को "प्रेम रस" की संज्ञा भी प्रदान की है। इसके अतिरिक्त उसमें सख्य तथा प्रमोद (आनन्द) नामक दो अन्य नवीन रसों का भी उल्लेख हुआ है। इस कृति में रस-तालिका को इस प्रकार उपस्थित किया गया है—"अथ रस-वर्णन—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, शान्त, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द।"[4] उनके रस-विषयक मन्तव्य पर तत्कालीन विद्वत्समाज ने पर्याप्त विचार किया था। यद्यपि उस समय उनकी आयु केवल बारह वर्ष की थी,[5] तथापि पं० ताराचन्द तर्करत्न ने "शृंगार-रत्नाकर" शीर्षक ग्रन्थ में उनकी स्थापना का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया है—"हरिश्चन्द्रस्तु वात्सल्यसख्यभक्तयानन्दाख्यमधिकं रसचतुष्टयं मन्यते।"[6]

भारतेन्दु आत्मवादी कवि थे, अतः उन्होंने रसों की स्थापना में रूढ़ि-पालन की भर्त्सना की है। रस का सम्बन्ध कवि की अनुभूति से है। उनके मत से कवि मन की तल्लीनावस्था में स्वीकृत स्थायी भावों के अतिरिक्त अन्य संचारी भावों से भी रस का परिपाक कर सकता है। उदाहरणस्वरूप "सम्पादक के नाम पत्र" शीर्षक लेख से यह उद्धरण देखिए— "वाह वाह! रसों का मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय

१ भारतेन्दु-ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५७७
२ भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, द्वितीय भाग, पृष्ठ १७४
३ गीतगोविन्दानन्द, पृष्ठ ०
४ नाटक, पृष्ठ ३५
५ देखिए "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" (व्रजरत्नदास), पृष्ठ ३२६
६ राधाकृष्ण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३७५ से उद्धृत

और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभवसिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे मानिये, न आवे न मानिये।"[1] आगे हम उनके द्वारा उल्लिखित नवीन रसो (भक्ति, वात्सल्य, माधुर्य, सख्य, प्रमोद) का क्रमश विवेचन करेंगे।

१ भक्ति रस

भारतेन्दु ने भक्ति को भाव-मात्र न मान कर उसे "रस" की सज्ञा दी है और उसे शान्त रस से भिन्न माना है। इस रस के अगो के विषय मे उनकी धारणा इस प्रकार है—**"भक्ति, कहिए इसको आप किसके अन्तर्गत करते हं क्योंकि इस रस की स्थायी श्रद्धा है और इसके आलम्बन भक्त और इष्टदेवता हैं और उद्दीपन पुराणादिक भक्तो का प्रसग तथा सत्सग है। अब जो इसे शान्त के अन्तर्गत कीजिएगा तो शान्त का स्थायी वैराग्य है।"**[2] भक्ति को रस रूप मे स्वीकार करने के विषय मे प्राचीन आचार्यों मे पर्याप्त मत-भेद रहा है। मम्मट के मतानुसार **"देवता, गुरु आदि के प्रति प्रकट किए गए प्रेम (रति) तथा व्यभिचारी भाव को भाव कहते हैं—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजित भाव: प्रोक्त ॥"**[3] *अत यह स्पष्ट है कि उन्होने भक्ति के रसत्व को अस्वीकार कर उसे भाव-*मात्र माना है। उनके उपरान्त पडितराज जगन्नाथ ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया। यद्यपि उनकी उक्ति से प्रथमत यह प्रतीत होता है कि वे भक्ति रस को मान्यता प्रदान करेंगे, किन्तु उन्होने पूर्वाग्रहो से प्रेरित होने के कारण अन्तत उसे "भाव" की ही सज्ञा दी है। यथा—**"अथ कथमेत एव रसा, भगवदालम्बनस्य रोमाचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभि परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्ति-रसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिस्चात्र स्थायिभाव।"**[4] अर्थात् **"क्या रस ये ही हैं? जिसके आलम्बन भगवान् है, जिसके अनुभाव रोमाच, अश्रुपात आदि हैं और जिसका अनुभव भागवत आदि पुराणो का श्रवण करने पर ईश्वर-भक्तो को भक्ति रस के फलस्वरूप हुआ करता है, वह ईश्वर प्रेम रूपी भक्ति यहाँ स्थायी भाव है।"**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यों ने प्राय भक्ति की भावो के अन्तर्गत गणना की है। उसके रस रूप की चर्चा सर्वप्रथम श्री रूपगोस्वामी के ग्रन्थ "हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु" मे हुई है। उन्होने श्रीकृष्ण विषयक रति को भक्ति रस का स्थायी भाव माना है। यथा—**"एषा कृष्णरति स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्।"**[5] भक्ति रस के अन्य

---

१ भारतेन्दु द्वारा लिखित पत्र, ५ जुलाई १८७२, कविवचनसुधा, पृष्ठ १७८-१७९

२ "कविवचनसुधा" के सम्बद्ध अक के उपलब्ध न होने के कारण यह उक्ति "आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास" (टकित प्रति), वेंकट शर्मा, पृष्ठ १४१ से उद्धृत की गई है।

३. काव्यप्रकाश, ४।३५

४ रसगगाधर, पृष्ठ ५५

५. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी, छठा श्लोक, पृष्ठ १२०

समर्थकों में श्री कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने "चैतन्य-चरितामृत" नामक बंगला-ग्रन्थ में उसका विस्तृत निरूपण किया है।[१] आचार्य मधुसूदन सरस्वती की कृति "भक्ति रसायन" में भी भक्ति रस का सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। उन्होंने इसे "रसराज" की पदवी प्रदान करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार खद्योत-मंडल में सूर्य की दीप्ति अनुपमेय है उसी प्रकार क्षुद्र (लौकिक) रसों की अपेक्षा रस-तत्व से परिपूर्ण ईश्वर-प्रेम अधिक प्रभावशाली है—परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।"[२] हिन्दी के आचार्यों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने भी भक्ति रस की श्रेष्ठता का इन शब्दों में भावपूर्ण उल्लेख किया है—"भक्ति को पृथक् रस न मानने का और उसे भाव के अन्तर्गत मानने का एकमात्र कारण साहित्यिक परिपाटी अथवा रूढ़ि मात्र है। वास्तव में शृंगारादि रसों की अपेक्षा "भक्ति" सर्वोपरि प्रधान रस है।"[३] इसी प्रकार पं० हरिशंकर शर्मा और डॉ० मनोरथ मिश्र ने भी निम्नस्थ उक्तियों में भक्ति रस को उचित गौरव दिया है—

(अ) "शृंगार और भक्ति रस में बहुत भेद है। जिस प्रकार वात्सल्य में अलौकिक आनन्द होता है उसी प्रकार भक्ति में भी। जो भक्ति रस परमात्मा तक पहुँचाने वाला हो उसकी इस प्रकार उपेक्षा कैसे की जा सकती है।"[४]

(आ) "भक्ति काव्य के अन्तर्गत भक्त के भगवान् के प्रति प्रेम के विविध रूपों का विस्तृत और गम्भीर वर्णन है। उसके अनेक अनुभवों का, अनेक अवस्थाओं का और अनेक चेष्टाओं का जो वर्णन है वह भक्ति रस को पूर्ण बनाता है। इसको न तो हम शान्त के अन्तर्गत रख सकते हैं, न शृंगार के ही अन्तर्गत, क्योंकि वह दोनों से भिन्न है और साथ-साथ ही इसको भाव भी नहीं कह सकते।"[५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत, बंगला और हिन्दी में भक्ति रस विवेचन की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। हिन्दी-कवियों में इस ओर ध्यान देने वाले प्रथम व्यक्ति भारतेन्दु ही हैं। उनसे पूर्व भक्ति-काल के कवियों ने भी इस ओर संकेत नहीं किया था।[६] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसके प्रतिपादन में इतनी तन्मयता दिखाई थी कि प्रायः उस युग के सभी कवियों ने व्यावहारिक दृष्टि से इसे रस मान लिया था। इस विषय में श्री अविनाशचन्द्र अग्रवाल की यह उक्ति द्रष्टव्य है—"भक्ति रस भारतेन्दु-युग का अत्यन्त प्रिय रस रहा है। शृंगार रस के उपरान्त भक्ति रस की रचनाएँ ही परिमाण में सबसे

---

१. देखिए "सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि," पृष्ठ २६२-२७७
२. (अ) भक्ति रसायन, ३।७८ अथवा
(आ) रसकलस (हरिऔध), पृष्ठ १६७
३. साहित्य-समीक्षा, पृष्ठ ७१
४. रस-रत्नाकर, हरिशंकर शर्मा, पृष्ठ ८१
५. साहित्य साधना और समाज, पृष्ठ ५१-५२
६. देखिए "सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि," पृष्ठ २६२

अधिक है।"[1] इस सम्पूर्ण विवेचन के आलोक मे यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु द्वारा भक्ति को रस मानना युक्ति-सगत है। उनके परवर्ती कवियो मे "हरिऔध" ने भी इस मत का समर्थन किया है,[2] किन्तु वे भारतेन्दु द्वारा भक्ति रस को "दास्य रस" कहने का विरोध करते हैं। हम इस विषय मे उनकी स्थापना से पूर्णत सहमत हैं—"**बाबू हरिश्चन्द्र ने भक्ति वा दास्य लिख कर उसको दास्य तक परिमित कर दिया है, किन्तु भक्ति बहुत व्यापक और उदात्त है।**"[3]

२ वात्सल्य रस

साहित्याचार्यों द्वारा मान्य नव रसो मे भक्ति रस की भाँति वात्सल्य रस की भी गणना नही हुई है। वात्सल्य-भाव के रस रूप की प्रथम उल्लेखनीय स्वीकृति आचार्य विश्वनाथ की निम्नलिखित उक्ति मे मिलती है—"स्फुट चमत्कारितया वत्सल च रस विदु।"[4] अर्थात् "**प्रकट रूप से चमत्कारक होने के कारण कुछ (विद्वान्) वत्सल को भी रस कहते हैं।**" सस्कृत के अन्य आचार्यो मे भोजदेव ने भी रस-नामावली प्रस्तुत करते समय वत्सल भाव को "रस" की सज्ञा प्रदान की है। यथा—"**शृगारवीरकरुणाद्भुत-हास्यरौद्रवीभत्सवत्सलभयानकशातनाम्न।**"[5] हिन्दी मे वात्सल्य रस की प्रतिष्ठा करने वाले प्रथम कवि सूरदास है, किन्तु उन्होने इसकी प्रत्यक्ष सैद्धान्तिक चर्चा न कर केवल व्यावहारिक रूप को प्रस्तुत किया है। भारतेन्दु ने वात्सल्य रस की कविता की रचना तो नही की है, किन्तु वत्सल भाव के रसत्व को सैद्धान्तिक रूप मे मान्यता प्रदान करने वाले प्रथम हिन्दी-कवि वही हैं। उनके उपरान्त "हरिऔध" ने भी वात्सल्य रस को स्वीकार किया है।[6] परवर्ती आचार्यो मे डॉ० नगेन्द्र ने भी वत्सल-भाव की रस-दशा का इन शब्दो मे उल्लेख किया है—"**वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी। क्योकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा—पुत्रैषणा से है।**"[7] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु द्वारा वात्सल्य की रस-रूप मे स्वीकृति समीचीन है।

३ अन्य नवीन रस

उपर्युक्त रसो के अतिरिक्त भारतेन्दु द्वारा उल्लिखित अन्य रस (माधुर्य, सख्य तथा प्रमोद) अप्रयोजनीय हैं। इनमे से माधुर्य अथवा मधुर रस की गणना शृगार रस अथवा भक्ति रस के अन्तर्गत की जा सकती है। इस विषय मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

---

१ भारतेन्दुयुगीन कवि, टकित प्रति, पृष्ठ ४७६
२. देखिए "रसकलस," विशेष वक्तव्य, पृष्ठ २०२
३. रसकलस, विशेष वक्तव्य, पृष्ठ १६७
४ साहित्यदर्पण, ३।२५१
५ शृगार प्रकाश, पृष्ठ २
६ देखिए "रसकलस," विशेष वक्तव्य, पृष्ठ २१४ २१६
७ रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ७७

की यह उक्ति द्रष्टव्य है—"मधुर रस जब भगवद्विषयक होता है तो सबके ऊपर रहता है और जब जड-विषयक होकर शृंगार रस नाम ग्रहण करता है तो सबके नीचे पड जाता है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि माधुर्य रस विशेषत भक्ति रस से सम्बद्ध है। इस मत के समर्थन मे उन्होंने अन्यत्र भी यह लिखा है—"आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है, जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है।'[2] डा० हरवशलाल शर्मा ने भी माधुर्य रस के भक्तिपरक रूप को ही मान्यता दी है। यथा—"लोक-पक्ष में जिसे हम शृंगार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर रस कहलाता है।"[3]

भारतेन्दु ने 'सख्य' को स्वतन्त्र रस माना है और उसे शृंगार रस मे अन्तर्भूत करने का विरोध किया है—"सख्य, इस रस को लोग शृंगार के अन्तर्गत करते हैं। हम उन लोगों से पूछते हैं कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसग और इसी भाँति अनेक मित्रों की विपत्ति में मित्रों के सग देने के प्रसग में शृंगार रस किस भाँति आवेगा क्योंकि शृंगार की स्थाई रति है और यहाँ मित्रता में रति का क्या कार्य है?"[4] यह सत्य है कि इस रूप में सख्य भाव शृंगार से भिन्न है, किन्तु इस तर्क के बल पर उसे स्वतन्त्र रस नहीं माना जा सकता। सख्यत्व के दो रूप है—(अ) दो व्यक्तियो का पारस्परिक मित्र भाव, (आ) भक्त द्वारा ईश्वर की सख्य भाव से उपासना। इनमे से प्रथम को केवल भाव ही माना जा सकता है, रस नहीं। इसी प्रकार द्वितीय को भक्ति रस मे अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि नवधा भक्ति के अन्तर्गत सख्य भक्ति की भी गणना की गई है—"श्रवण कीर्तन विष्णो: स्मरण पादसेवनम्, अर्चन वदन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।"[5] अत उसे पृथक् रूप मे रसत्व प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। इस विषय मे डॉ० राघवन का मत भी यही है कि मधुर रस तथा सख्य रस मूलत भक्ति रस के भेद-मात्र है।[6]

अन्त मे उनके द्वारा प्रमोद रस की स्वीकृति भी विचारणीय है। "प्रमोद" शब्द न तो आनन्द का पर्याय है और न ही उसे विनोद-मात्र माना जा सकता है, तथापि

---

१ हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ८७

२ मध्यकालीन धर्म-साधना, पृष्ठ २५६

३ सूर और उनका साहित्य, पृष्ठ ३६५

४ "कविवचनसुधा" का सम्बद्ध अक न मिलने के कारण यह उद्धरण "आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास" टकित प्रति, (वेंकट शर्मा), पृष्ठ १४६ से उद्धृत किया गया है।

५ श्रीमद्भागवत, ७।५।२३

६ "Just as Vira Rasa has the four varieties, Dana, etc, this Bhakti also has the varieties of Madhura or Sringara or Ujjvala, i e love as in the case of the Gopis towards Krisna, Sakhya as in the case of Arjuna "

(The Number of Rasas, Page 130)

साधारणत आमोद-प्रमोद को हास्य रस का अग मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे श्रृगार रस से भी सम्बद्ध किया जा सकता है। भरत मुनि ने श्रृगार के स्थायी भाव "रति" की व्याख्या करते हुए उसे आमोदात्मक भाव माना है—"तत्र रतिर्नाम आमोदात्मको भाव।"[1] इसके आधार पर प्रमोद रस को श्रृगार में अन्तर्भूत करना अनुचित न होगा। अत यह स्पष्ट है कि प्रमोद रस श्रृगार अथवा हास्य रस के अन्तर्गत गणनीय है, उसके पृथक् निर्धारण मे कोई विशेष तर्क नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु के मत का परीक्षण करने पर उनके द्वारा मान्य भक्ति रस एव वात्सल्य रस को तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु शेष रस विस्तार को अनावश्यक ही कहना होगा। तथापि इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रचलित साहित्य सिद्धान्तो मे आवश्यकतानुसार सशोधन अथवा परिवर्तन करने मे विश्वास रखते थे। उन्होने उक्त नवीन रसो की कल्पना सम्भवत अपने अनेकरूप विस्तृत काव्य के लिए की होगी। अन्त मे यह भी विचारणीय है कि उन्होंने उक्त रसो में से रसराज की पदवी से किसे विभूषित किया है? इस दिशा मे वे रीतिकालीन काव्य-परम्परा से प्रभावित रहे हैं। उन्होने केशव तथा देव की भाँति श्रृगार को रसराज माना है—"जहाँ प्रेम हो वहीं रस है क्योंकि सबसे अमूल्य सबका शिरोधार्य सबसे दुर्लभ और रस का मूल प्रेम ही है।"[2] इस उक्ति मे "प्रेम" को श्रृगारिक रति का पर्याय माना जा सकता है। इस स्थान पर यह शका हो सकती है कि उसे भगवत्-रति का पर्याय मानकर भक्ति रस की श्रेष्ठता की स्थापना क्यो न की जाए? इस विषय मे उनके काव्य का व्यावहारिक दृष्टि से अध्ययन उपयुक्त होगा। उन्होने भक्ति रस की स्थिति को स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु उनके काव्य मे व्यापकता श्रृगार रस की ही है। अत उनके काव्य का अनुशीलन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से भी यही कहा जा सकता है कि वे श्रृगार रस को रस-शिरोमणि मानते थे।

काव्य-हेतु

यद्यपि सस्कृत काव्य शास्त्र मे काव्य-हेतु के विषय मे विस्तृत विवेचन हुआ है, तथापि भारतेन्दु ने इस विषय के प्रतिपादन की ओर विशेष ध्यान नही दिया है। उन्होने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य-रचना के प्रेरक स्रोत माना है। प्रतिभा के विषय मे उनका मन्तव्य है कि ईश्वर-कृपा होने पर काव्य-रचना की प्रेरणा को बल मिलता है। उन्होने "गीतगोविन्दानन्द" मे यह उल्लेख किया है कि वे भगवत्कृपा से ही जयदेव के "गीत-गोविन्द" के अनुवाद में सफल हो सके। यथा—

"रसिकराज जयदेव की कविता को अनुवाद।
कियो सबन पें नहिं सह्यो तिनमें तौन सवाद॥

---

१ नाट्यशास्त्र, सप्तम प्रकरण, आठवीं कारिका की व्याख्या

२ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, अगस्त १८७४. पृष्ठ १०५

मेटन को निज जिय खटक उर धरि पिय नँदनंद।
तिनहीं के पद बल रच्यो यह प्रबन्ध हरिचन्द॥"[1]

यह मन्तव्य कवि की श्रद्धा-भावना का फल है और इसके माध्यम से प्रकारान्तर से प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त माना गया है। परमात्म प्रसाद के रूप में प्राप्त काव्य शक्ति रचना में प्राणभूत तत्व के रूप में प्रतिष्ठित रहती है। ईश्वर की ओर से प्राप्त आत्मिक प्रेरणा से कवि विमल रचना की ओर प्रवृत्त होता है, अर्थात् उसकी समग्र उपलब्धियों का मूल कारण अन्त स्फूर्ति है। यह उनकी नवीन उद्भावना नहीं है। उनसे पूर्व भक्त-प्रवर तुलसीदास ने श्री राम और शिव जी की कृपा से काव्य-शक्ति की उपलब्धि की अनेक प्रसंगों में चर्चा की है—

(अ) "सारद दारुनारि सम स्वामी।
राम सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।
कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥"[2]

(आ) "भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती।
ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥"[3]

(इ) "संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी।
रामचरितमानस कवि तुलसी॥"[4]

भारतेन्दु ने प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति को भी काव्य का कारण माना है। उनका मत है कि कवि अपनी पूर्ववर्ती काव्य रचनाओं के अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त करके भी काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। उन्होंने "भक्त-सर्वस्व" शीर्षक कृति में इस मत को इस प्रकार उपस्थित किया है—"इसमें श्री भागवत के अनुसार बहुत से भाव लिखे हैं। इस कारण से श्री भागवत जानने वालों को इसका स्वाद विशेष मिलेगा।"[5] यह काव्य-साधन संस्कृत आचार्यों का मान्य रहा है, किन्तु इसे साधारण काव्य हेतु ही मानना होगा। वामन ने इसे "लक्ष्यज्ञत्व" कहा है—"तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्"[6]—और इसकी प्रकीर्ण काव्य-कारणों में गणना की है। काव्य की मौलिकता के लिए यह अनिवार्य है कि कवि इस प्रेरणा को अप्रत्यक्ष रूप में ग्रहण करे।

काव्य का प्रयोजन

भारतेन्दु ने काव्य रचना के प्रयोजनों की विस्तारपूर्वक चर्चा नहीं की है, तथापि

---

१ आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ ३, पृष्ठ ११
२ रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ १२५
३ रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ ४८
४ रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ ६८
५ भक्त सर्वस्व, प्रस्तावना भाग
६ हिंदी काव्यालकारसूत्र, १।३।१२, पृष्ठ ५०

इस दिशा मे उनकी मान्यताएँ ऊँचे स्तर की है। उन्होने आनन्द की अनुभूति और लोक-हित की व्यवस्था को काव्य के मूल प्रयोजन मानते हुए यश प्राप्ति की कामना का तिरस्कार किया है। उनके मतानुसार काव्य रचना से कवि को आनन्द की प्राप्ति होती है और वह आत्माभिव्यक्ति द्वारा अन्त सस्कार की ओर प्रवृत्त होता है। उदाहरणार्थ "वेणुगीत" शीर्षक काव्य की निम्नस्थ पक्तियाँ देखिए—

"जो गावहिं व्रज भक्त सब मधुरे सुरसुभ छन्द।
रसना पावन करन कों गावत सोइ "हरिचन्द"॥"[1]

उपर्युक्त उद्धरण मे वाणी के "पावन करन" को काव्य का प्रयोजन मानकर कवि ने अपनी सहृदयता का उपयुक्त परिचय दिया है। यह स्थापना अनुभूत्यात्मक होने के कारण स्पष्टत काव्य के आन्तरिक गुण का स्पर्श करती है। वाणी के पवित्र होने से कवि का अन्त करण पवित्र होता है और श्रेष्ठ कविता की रचना के लिए यही अपेक्षित भी है। यह दृष्टिकोण कविवर तुलसीदास के स्वान्त सुखाय काव्य रचना के आदर्श के समकक्ष है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को हृदय की मुक्तावस्था कहा है। यथा—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने काव्य मे रागात्मक तत्व को मुख्य माना है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होने काव्य से प्राप्य आनन्द को केवल कवि तक सीमित नही माना है। उनका मत है कि काव्य के अध्ययन से सहृदय को भी सात्विक आनन्द की उपलब्धि होती है। इसीलिए वे "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" के प्रारम्भ मे सिद्धान्त-वाक्य के रूप मे यह उक्ति प्रकाशित किया करते थे—"कविजन-कुमुद-गन हिय विकासि चकोर-रसिकन सुख भरै।"[3] इसी प्रकार "भक्त सर्वस्व" के विषय मे उनकी यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—"यह ग्रन्थ मैंने अपनी कविता प्रगट करने और कवियों को प्रसन्न करने को नहीं लिखा है। केवल (अपनी) वाणी पवित्र करने और प्रेम रग में रगे हुए वैष्णवों के आनन्द के हेतु लिखा है।"[4]

यहाँ यह शका स्वाभाविक है कि क्या "भक्त सर्वस्व" के अध्ययन से केवल वैष्णव ही आनन्द-लाभ कर सकते हैं? हमारा मत है कि भारतेन्दु ने कवि-पाठकों की उपेक्षा नही की है। उन्होने इस कृति मे काव्य-गुणो के निर्वाह की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्व देने के कारण ही ऐसा कहा है। अन्यथा कवि से बढकर सहृदय और कौन होगा? वस्तुत

---

१ भारतेन्दु ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७४८
२ चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृष्ठ १४१
३ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भारतेन्दु जन्मशती अक, सवत् २००७, पृष्ठ ६३ से उद्धृत
४ भक्त सर्वस्व, प्रस्तावना-खण्ड

यहाँ उनका प्रतिपाद्य यह है कि काव्य की रचना भक्ति-भाव मे प्रवृत्ति के निमित्त की जानी चाहिए। भक्ति-काल मे कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्त-कवियो को भी अप्रत्यक्ष रूप से काव्य का यही प्रयोजन स्वीकार्य रहा है। अत यह स्पष्ट है कि उन्होने काव्य में उपलब्ध आनन्द को भक्ति-भाव की आन्तरिक दीप्ति मे युक्त मानकर उसे कवि और सहृदय, दोनों के लिए प्राप्तव्य माना है। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे आचार्य वामन ने इस मत के भक्ति-पक्ष की चर्चा तो नहीं की है, किन्तु इसके शेष भाग को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है—"सत्काव्य (कवि तथा सहृदय को) प्रीति (आनन्द) का कारण-रूप होने से दृष्ट फल वाला होता है—काव्य सत् चारु, दृष्टप्रयोजन प्रीतिहेतुत्वात्।"[1]

भारतेन्दु युग सामाजिक जागृति का युग था। अत इस काल के कवियो ने समाज-कल्याण को काव्य का विशिष्ट प्रयोजन माना है। युग-नेता होने के कारण स्पष्टत उस समय इस दृष्टिकोण की भारतेन्दु ने ही स्थापना की थी। उनका मत है कि काव्य के अध्ययन से पाठक को चरित्र-सस्कार की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह काव्य का महत्तर प्रयोजन है। इस विषय म "सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का यह अश द्रष्टव्य है—"इस नाटक के पढने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।"[2] सस्कृत काव्य शास्त्र मे इस मत का विशद विवेचन हुआ है। मम्मटाचार्य ने इस मान्यता को अधिक व्यवस्थित रूप देते हुए अप्रत्यक्ष उपदेश मे सामाजिक ज्ञान की उपलब्धि को काव्य का मूल प्रयोजन माना है। स्पष्टत इससे सहृदय के दु ख नष्ट होंगे और उसे अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होगी। मम्मट ने विविध काव्य फलो का इन शब्दों मे निर्देश किया है—"काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये, सद्य परनिर्वृतयेकान्तासम्मित-तयोपदेशयुजे।"[3] भारतेन्दु ने इनमें म यश-प्राप्ति पर भी विचार किया है, किंतु उन्होंने यश को इतना गौरव नही दिया है। इस विषय मे "प्रेम-मालिका" शीर्षक काव्य से सम्बद्ध उक्ति पठनीय है—"इसको एकत्र करना और छपवाना अप्रयोजन था, क्योंकि एक तो ससार में प्राय अनधिकारी लोग हैं, दूसरे इसके द्वारा लोगों में अपनी प्रसिद्धि की इच्छा नहीं।"[4]

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे भरत, वामन, मम्मट आदि आचार्यों ने यश-लाभ को काव्य का निश्चित प्रयोजन माना है। वामन ने तो कीर्ति को काव्य का अदृष्ट प्रयोजन कहकर उसे प्रीति से भी अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने 'काव्यालकारसूत्र' का अध्ययन करके काव्य-रचना मे प्रवृत्त होने वाले कवि के लिए यश-प्राप्ति को सहज सम्भव माना है—"तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिच निर्बर्हितुम्, काव्यालकारसूत्रार्थ. प्रसाद कवि पुगवै।"[5] यश के प्रति यह आग्रह काव्य का बाह्य प्रयोजन है, इसे मुख्य काव्य-फल के रूप

१ हिन्दी-काव्यालकारसूत्र, पृष्ठ ७

२ सत्य हरिश्चन्द्र (हरिप्रकाश यन्त्रालय, बनारस का सस्करण), उपक्रम, पृष्ठ ५

३ काव्य प्रकाश, १।२

४ भारतेन्दु-ग्रथावली, द्वितीय भाग, पृष्ठ ४३

५ हिन्दी-काव्यालकारसूत्र, पृष्ठ ८

मे स्वीकार नही किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि काव्य के प्रयोजनो की सक्षिप्त चर्चा करने पर भी भारतेन्दु की दृष्टि मूल तत्व पर केन्द्रित रही है। उन्होने बाह्य प्रयोजनो को स्वीकार न कर आत्मा के उन्नयन को काव्य का मुख्य फल माना है। यह दृष्टिकोण स्पष्टत अनुभूत्यात्मक है और कवि के गहन चिन्तन से प्रेरित रहा है।

काव्य के वर्ण्य विषय

भारतेन्दु के काव्य मे विविध विषयो की चर्चा हुई है। अत सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से भी इस दिशा मे पर्याप्त योग देते हुए उन्होंने काव्य मे अलौकिक और लौकिक, दोनो प्रकार के विषयो को अपनाने पर बल दिया है। उन्होने काव्य मे स्वीकृत अलौकिक आलम्बनो मे से ईश्वर के साकार रूप को मान्यता प्रदान की है। भक्ति को काव्य का केन्द्रबिन्दु मानकर उन्होने उसे रस की सिद्धि मे सहायक कहा है। उनका मत है कि भक्तिपूर्ण काव्य ही सत्काव्य है और उसके अध्ययन से सहृदय (सन्त) को सात्विक आनन्द की प्राप्ति होती है। यथा—"सन्त मनभाई सुखदाई है सुहाई, जा में कृष्ण केलि गाई सोई सांची कविताई है।"[1] इस उक्ति से स्पष्ट है कि अलौकिक वर्ण्य विषय का सम्बन्ध कवि तथा सहृदय, दोनो के अन्तर्जगत् से रहता है। कवि की अतरग दृष्टि के अभाव मे काव्य मे मार्मिकता का गुण नही आ पाता। भारतेन्दु ने इस मत को स्पष्टत भक्तिकालीन काव्यादर्श से प्रेरित रहकर उपस्थित किया है।

जीवन और जगत् की विविधता के अनुकूल काव्य मे लौकिक वर्ण्य विषयो के अनेक रूप हो सकते हैं। भारतेन्दु ने इनमे से भौतिक प्रेम, समाज-सुधार और राष्ट्रीयता का उल्लेख किया है। उन्होंने ऐहिक प्रेम के चित्रण को ईश्वरीय प्रेम के समान ही महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ "श्री चन्द्रावली" नाटिका के प्रारम्भ की काव्योक्ति देखिए—

"काव्य, सुरस सिंगार के दोउ दल, कविता नेम।
जग-जन सौं कै ईस सौं कहियत जेहि पर प्रेम॥"[2]

इस उद्धरण मे "जग-जन" के प्रति प्रेम की स्थापना से कवि के मानवतावादी होने की ध्वनि भी निकलती है. किन्तु भारतेन्दु का अभिप्राय काव्य मे शृगार की अभिव्यक्ति से ही है। वैसे भी उन्होने कृष्ण-चरित के भक्तिपरक रूप के समान उसके शृगारपरक रूप का विस्तृत कथन किया है। शृगार-वर्णन के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के काव्य मे समाज-सुधार की प्रेरणा को भी व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। अत इस युग के सूत्रधार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा इस विषय मे सिद्धान्त-प्रतिपादन स्वाभाविक ही है। उनका मत है कि सामाजिक कुरीतियो को समाप्त करने के लिए साधारण उपदेश-वृत्ति की अपेक्षा काव्यगत उक्ति कहीं अधिक महत्वपूर्ण होती है। यह मत उचित ही है, क्योंकि काव्यगत उपदेश मे भावो की सहजता के अतिरिक्त कल्पना का सौंदर्य और सगीत की मधुरता भी

---

१. प्रेम माधुरी, छन्द ११
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१०

रहती है। मम्मट ने इसी को "कान्तासम्मित उपदेश" कहा है। भारतेन्दु इसे "जातीय सगीत" कहते थे। इस विषय मे उनका मत इस प्रकार है—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। × × जितना काव्य को सगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। इससे साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अकुर जमाने को इस प्रकार से जो सगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ सस्कार बदल जाने की आशा है।"[1] प्रत्यक्ष कथन के अतिरिक्त भारतेन्दु ने अनेक कविताओ मे अप्रत्यक्ष रीति से भी समाज-सुधार का समर्थन किया है। वे इन काव्य का अनिवार्य प्रयोजन मानते थ। यही कारण है कि उनके सहयोगी कवियो ने भी इसकी आग्रहपूर्वक स्थापना की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य मे राष्ट्रीय विचार-धारा को स्थान देने का हृदय से समर्थन किया है। उन्होंने इस दिशा मे स्वय योग देने के अतिरिक्त अपने सहयोगी कवियों को भी जागरूक करने का प्रशसनीय प्रयास किया था। उनका दृष्टिकोण एक ओर भारत की राजनैतिक दासता के प्रति क्षोभ के आधार पर निर्मित हुआ है और दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो पर आधृत है। उनका मूल सन्देश यह है कि कवि को राष्ट्रीयता के प्रतिपादन के लिए अपने काव्य मे वीर रस का समावेश करना चाहिए।[2] उनका उद्देश्य समाज म राष्ट्रीय जागृति को जन्म देना था। "उत्साह" स्थायी भाव से पुष्ट वीर रस के माध्यम से यह सहज सम्भव था। उन्होंने "क्षत्रिय-पत्रिका" के सम्पादक बाबू रामदीनसिंह के प्रति भाद्र शुक्ला ३, सवत् १९३८ को लिखे गए पत्र मे अपने विचारों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"मेरी बुद्धि में भी आपकी पत्रिका में वीर रस के काव्य विशेष रहने चाहिएँ। नैशनल सगीत, नैशनल काव्य इन्हीं को भरती विशेष कीजिए वा पृथक् पुस्तकाकार छापिए।"[3] यहाँ "नैशनल सगीत" और "नैशनल काव्य" से क्रमश "वीरगीत" तथा "छन्दोबद्ध वीररसात्मक काव्य" का अर्थ लिया जा सकता है। अत यह स्पष्ट है कि वे काव्य मे राष्ट्रीयता के प्रतिपादन की ओर पूर्णत जागरूक थे, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि उपर्युक्त उक्ति मे सिद्धान्त-कथन के लिए अपेक्षित विशदता का अभाव रहा है। इसमे राष्ट्रीय कविता के स्वरूप की ओर इगित-मात्र किया गया है, किन्तु उन्होंने अपनी राष्ट्रीय कविताओ मे इस मत को अप्रत्यक्ष रूप से उचित अभिव्यक्ति प्रदान की है।

काव्य-शिल्प

भारतेन्दु ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत केवल काव्य-भाषा के स्वरूप पर विचार किया है, किन्तु इस दिशा मे भी उनके चिन्तन मे व्यापकता नहीं है। भारतेन्दु युग भाषा की दृष्टि से सक्रमण-काल था—गद्य मे स्थान प्राप्त करने के उपरान्त खड़ी बोली काव्य मे भी मे भी प्रवेश पाने लगी थी। अत यह स्वाभाविक था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने युग

---

१ कविवचनसुधा, सन् १८७१, "नाताय सगीत" शीर्षक विज्ञापन मे उद्धृत

२ देखिए "महारानी पद्मावती" (राधाकृष्णदास), आरम्भ में भारतेन्दु का ग्रन्थ विषयक वक्तव्य

३ भारतेन्दु कला, पृष्ठ २

की काव्य भाषा को निर्धारित करने के लिए मत प्रकाशित करते। वे जन-साधारण के हितार्थ काव्य मे सहज भाषा को स्थान देने पर बल देते थे। भाषा को जन-रुचि से सम्पृक्त मानकर ही उन्होने अपने काव्य मे खडी बोली को स्थान देने का प्रयास किया था। उदाहरणार्थ "भारतमित्र' (१ सितम्बर, सन् १८८१) के सम्पादक को लिखित पत्र का यह अश देखिए---"**प्रचलित साधु भाषा में कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें कसर क्या है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। इस विषय में सर्वसाधारण की अनुमति ज्ञात होने पर आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा।**"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने काव्य भाषा के विषय मे उदार दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया था, किन्तु उस समय तक ब्रजभाषा के प्रति उनका अनुराग इतना प्रबल हो चुका था कि वे इच्छा रखते हुए भी उसकी तुलना मे खडी बोली को मान्यता प्रदान न कर सके। यद्यपि उन्होने उसे "साधु भाषा' कहा है, किन्तु वह उनके चित्त को विशेष प्रभावित न कर सकी। यथा—"**कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओ की कविता इतना चित्त नहीं पकडती।**"[2] ब्रजभाषा की कविता मे रागात्मक तत्व की प्रमुखता के कारण वे उसकी ओर अधिक आकृष्ट थे और उसी मे काव्य-रचना का उन्हे विशेष अभ्यास था। उन्होने खडी बोली मे काव्य-रचना की अपनी अक्षमता को स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है। यथा—"**मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खडी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा में ही उत्तम होती है।**"[3] यह दृष्टिकोण स्पष्टत पूर्वाग्रहो से प्रेरित है और किसी तर्कसम्मत आधार के अभाव मे नितान्त शिथिल है।

भारतेन्दु ने माधुर्य योजना को काव्य भाषा का मुख्य गुण माना है। वे ब्रजभाषा की सानुस्वार पदावली पर अनुरक्त थे और इसी कारण उसे खडी बोली से अधिक मधुर मानते थे। ब्रजभाषा और खडी बोली के विवाद मे ब्रजभाषा के समर्थको ने प्राय इसी दृष्टिकोण को अपनाया है—"**कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक है एव ब्रजभाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है।**"[4] किन्तु इस मत की स्थापना सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही की थी। उन्होने इस विषय का विशेष विवेचन तो नही किया है, तथापि उनकी धारणा है कि खडी बोली की क्रियाओं मे दीर्घ मात्राओ का आधिक्य उसकी मधुरता मे बाधक है। यथा—"**मैंने इसका कारण सोचा कि खडी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बडा यह कारण जान पडा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्राय दीर्घ मात्रा**

---

१ "भारतमित्र" का अक प्राप्य न होने के कारण इस उक्ति को डॉ० शितिकण्ठ मिश्र की कृति "खडी बोली का आन्दोलन", पृष्ठ १४६ से उद्धृत किया गया है।

२ हिन्दी भाषा, पृष्ठ १५

३ हिन्दी-भाषा, पृष्ठ ३

४ कृष्णबिहारी मिश्र, देव और बिहारी, पृष्ठ २५

होती है इससे कविता अच्छी नहीं बनती।"[1] खड़ी बोली की वर्तमान कविता के मधु-सपद् का आस्वादन करने पर भारतेन्दु के मन्तव्य को स्पष्टत अस्वीकार करना होगा। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसकी विवेचना करते हुए उनके "प्रेम-माधुरी" शीर्षक काव्य मे ब्रजभाषा की दीर्घ मात्राओं वाली क्रियाओ के उद्धरण देते हुए निम्नलिखित मत की उचित स्थापना की है—

"वास्तव में खड़ी बोली की कविता में मिठास के अभाव के लिए कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है। कारण कवियों में अभ्यास की कमी ही हो सकता है। ब्रजभाषा में पद्य का एक बना बनाया रास्ता था, कविता की अपनी शब्दावली थी। खड़ी बोली में यह सब गढ़ना था।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे तथापि उनका भाषा-विषयक दृष्टिकोण सर्वथा सकुचित नहीं था। वे भाषा की अपेक्षा काव्य-भावना को अधिक महत्व देते थे। उन्होंने कवि-स्वातन्त्र्य को भाषा विषयक नियमो मे सीमित नही किया है। उनके द्वारा बगला, गुजराती, पजाबी, मारवाडी, उर्दू आदि अन्य भाषाओ मे लिखित कविताएँ इसी मत की पुष्टि करती हैं।[3] उनकी कतिपय खडी बोली की कविताएँ भी काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से प्रशसनीय हैं। इस दृष्टि से उनके द्वारा उर्दू-मयी खडी बोली मे लिखित "फूलो का गुच्छा" शीर्षक कविता[4] के विषय मे "हरिऔध" की यह सम्मति देखिए—"यदि सच पूछिये तो हिन्दी में स्पष्ट रूप से खडी बोली रचना का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है।"[5] भारतेन्दु का मूल प्रतिपाद्य यह है कि काव्य-भाषा मे रागात्मकता को प्रश्रय देने वाले माधुर्य गुण की स्थिति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वे कविता मे ग्राम्य शब्दो के प्रयोग का भी निषेध करते थे। उन्होंने इस प्रकार की कविता को "ग्राम कविता" कहा है, किन्तु इससे उनका तात्पर्य निश्चय ही जनपदीय गीतो से नहीं है। उन्होंने इस विषय मे अपने मत को "कविवचनसुधा" के सिद्धान्त-वाक्य के रूप मे इस प्रकार व्यक्त किया है—"तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै।"[6] यह दृष्टिकोण उचित ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे ग्राम्य शब्दो से युक्त कविता को "ग्राम्य दोष" से दूषित माना गया है। इस विषय मे पाश्चात्य आलोचक जे० एडिसन का भी यही मत है—"महाकाव्य की भाषा के लिए केवल स्पष्ट अथवा सुबोध होना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें भव्यता भी होनी चाहिए।"[7] यह मत महाकाव्य के अतिरिक्त अन्य काव्य-

---

१. हिन्दी-भाषा, पृष्ठ १४
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (रामविलास शर्मा), पृष्ठ ८६
३. देखिए "आनन्द कादम्बिनी," माला २, मेघ ४, पृष्ठ १५ १६
४. देखिए "भारतेन्दु ग्रन्थावली," द्वितीय भाग, पृष्ठ ५५६-५७२
५ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ३८४
६ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भारतेन्दु जन्मशती अक, सवत् २००७, पृष्ठ ६२ से उद्धृत
७ "It is not therefore sufficient that the language of an epic poem

विधाओ के लिए भी मान्य हो सकता है। अत यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने काव्य-भाषा मे माधुर्य के अतिरिक्त विशदता अथवा उच्चता को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है।

सिद्धान्त-प्रयोग

आलोच्य कवि की काव्य-धारणाओ मे से काव्य-हेतु के अतिरिक्त शेष सभी के व्यावहारिक रूप की विवेचना की जा सकती है। अनुशीलन की सुविधा के लिए उनके विचारो का "काव्य का अन्तरग" (काव्यात्मा, रस, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य) और "काव्य-शिल्प" के शीर्षको के अनुसार वर्गीकरण उचित रहेगा।

१. काव्य का अन्तरग

भारतेन्दु ने काव्य मे आन्तरिक सौन्दर्य के विधान के लिए रस को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। उनके काव्य का अनुशीलन करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे रस सिद्ध कवि थे, क्योकि उनकी रचनाएँ रसज्ञ पाठको को हृदयोल्लास प्रदान करती हैं। उन्होने रस-विवेचन के प्रसग मे भक्ति रस और वात्सल्य रस को नवीन रसों के रूप मे मान्यता प्रदान करते हुए शृगार के रसराजत्व को स्वीकार किया है। कृष्ण-भक्त कवि होने के नाते उन्हे अपने काव्य मे इन मान्यताओ को स्थान देने की सहज सुविधा प्राप्त थी, किन्तु उन्होने इनमे से वात्सल्य रस के निरूपण की ओर तनिक भी ध्यान नही दिया है। अवशिष्ट रस-युग्म मे से उन्होने भक्ति रस की उपयुक्त योजना की है, तथापि उनके काव्य का मुख्य रस शृगार ही है। इसका कारण यह है कि रीतिकालीन काव्य के प्रभाववश अपनी रचनाओ मे शृगार रस के स्वतन्त्र कथन के अतिरिक्त उन्होने अपने भक्ति-काव्य मे भी प्राय शृगार रस का आधार लिया है।

आलोच्य कवि के काव्य-प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी विचारो का समजन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने काव्य मे भक्ति, लौकिक शृगार, समाज-सुधार तथा राष्ट्रीयता के चित्रण पर बल दिया है। इनके व्यावहारिक रूप के सुविधापूर्वक अध्ययन के लिए इन्हे दो वर्गों (१ भक्ति और लौकिक शृगार, २ समाज-सुधार और राष्ट्रीयता) मे विभाजित किया जा सकता है। उन्होने रीतिकालीन काव्य के प्रभाववश भक्ति-भावना को प्राय लौकिक शृगार से सम्बद्ध रखा है। भक्ति के शुद्ध रूप (विनय-भाव से परिपुष्ट) की एकान्त अभिव्यक्ति उसकी रचनाओ मे अधिक नही मिलती। इस विषय मे "भक्त-सर्वस्व", "उत्तरार्द्ध भक्तमाल", "विनय-प्रेम पचासा" तथा "जैन कुतूहल" शीर्षक कविताएँ ही उल्लेखनीय हैं।[1] उन्हे रागात्मिका वृत्ति से अनुप्राणित भक्ति-मार्ग का कथन ही इष्ट रहा है। अत उन्होने कृष्ण-भक्ति के व्यवस्थापन के लिए लौकिक दृष्टिकोण के अनुरूप राधा एव अन्य गोपिकाओ के प्रति श्रीकृष्ण के अनुराग के कथन को ही महत्त्व दिया

be perspicuous, unless it be also sublime."
(English Critical Essays, 16th to 18th Centuries, page 257)

१. ये सभी कविताएँ "भारतेन्दु ग्रथावली," द्वितीय भाग में सकलित है।

है। "प्रेममालिका", "प्रेम-सरोवर", "प्रेम-माधुरी", "प्रेम-तरंग", "मधु-मुकुल" आदि कविताओं में इसी दृष्टिकोण की व्याप्ति रही है।[1]

भारतेन्दु के काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की खोज करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि उन्होंने इस प्रवृत्ति को मुख्य रूप में नाटकों में स्थान दिया है, तथापि उनकी कविताएँ इससे सर्वथा रहित नहीं हैं। 'विजयिनी विजय वैजयन्ती", "भारत वीरत्व" आदि कविताओं में युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप राजभक्ति के माध्यम से राष्ट्रीयता का सफल प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार "बकरी विलाप", "दैन्य प्रलाप" तथा "प्रबोधिनी' शीर्षक कविताओं में नीति-कथन और जातीय उत्थान की कामना को व्यक्त कर सांस्कृतिक चेतना को भी उपयुक्त स्थान प्रदान किया गया है।[2] तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि वे इस दिशा में भक्ति के प्रतिपादन के समान सचेष्ट नहीं रहे हैं।

२ काव्य-शिल्प

विवेच्य कवि ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत केवल काव्य की भाषा पर विचार किया है और इस प्रसंग में ब्रजभाषा को खड़ी बोली की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से इस दिशा में केवल यही अध्ययन किया जा सकता है कि उन्होंने ब्रजभाषा की तुलना में खड़ी बोली में काव्य-रचना की ओर कितना ध्यान दिया है? स्पष्टतः ब्रजभाषा उन्हें अधिक प्रिय रही है, तथापि उनकी "प्रेम-तरंग" एवं "विनय-प्रेम-पचासा" शीर्षक कविताओं के कतिपय अंशों[3] एवं "फूलों का गुच्छा" शीर्षक कविता का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली में काव्य-रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति अवश्य थी। इन कविताओं में प्रवाह और प्रभाव-सृष्टि की क्षमता तो है, किन्तु यदि भारतेन्दु ने इनमें उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग न किया होता तो उन्हें इनकी रचना में कहीं अधिक सफलता मिली होती। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कतिपय शिथिलताओं के होने पर भी उन्हें अपने सिद्धान्तों का निर्वाह करने में सफलता प्राप्त हुई है।

विवेचन

उपरिविवेचित काव्यांगों के अध्ययन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य के बहिरंग की अपेक्षा उसके अन्तरंग के विवेचन को प्राथमिकता दी है। उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की भाँति संस्कृत साहित्य-शास्त्र का दृढ आधार न लेकर उससे प्रसंगानुसार लाभ उठाया है। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने संस्कृत-आचार्यों से प्रभावित होने के कारण काव्यात्मा, काव्य-हेतु और काव्य प्रयोजन के विवेचन में प्रायः कोई नवीन उद्भावना नहीं की है वहाँ रस तथा काव्य-वर्ण्य पर विचार करते समय समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभाववश मौलिक चिंतन की ओर प्रयत्नशील रहे हैं। यद्यपि उनके विचारों में व्यापकता और शृङ्खलाबद्धता नहीं है, किन्तु उनमें प्रौढि की न्यूनता मानना सत्य को

१ २ ३ ये सभी कविताएँ "भारतेन्दु ग्रंथावली", द्वितीय भाग में संकलित हैं।
४ देखिए "भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय भाग", पृष्ठ १६४-२०६, २०९-२१०, ५४६-५५४

अस्वीकार करना होगा। वे काव्य शिल्प का सजीव और प्रभावक उल्लेख करने मे प्राय असफल रहे हैं, किंतु उनके अन्य सिद्धान्तो की गम्भीरता से यह स्पष्ट है कि उनमे काव्याचार्य के लिए अपेक्षित प्रतिभा की दीप्ति वर्तमान थी। उन्होने काव्य-शास्त्र की प्राचीन उपलब्धियो को स्वीकार करते हुए उसकी नवीन सम्भावनाओ का निर्देश कर युगप्रवर्तक कवि के अनुरूप कार्य किया है। इस दिशा मे उनके प्रयत्नो की गम्भीरता के फलस्वरूप ही भारतेन्दु-युग मे साहित्य-रचना का आधार इतना व्यापक बन सका। अत यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक युग मे काव्य-शास्त्र मे मौलिक चिन्तन को स्थान देने वाले कवियो मे उनका नाम पहले आता है।

: २ :

भारतेन्दु-मण्डल के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति "प्रेमघन" ने भी काव्य-शास्त्र का व्यवस्थित निरूपण नहीं किया है, तथापि उनके काव्य-सिद्धान्त प्राय गम्भीर और व्यापक रहे हैं। इसी कारण उन्हें भारतेन्दु-मंडल के कवि-आलोचकों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। उनके काव्य-सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए "प्रेमघन-सर्वस्व" के अतिरिक्त उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन में सभापति-पद से दिया गया भाषण एवं उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित होने वाली "आनन्द कादम्बिनी" पत्रिका के अंक भी द्रष्टव्य हैं। इनका अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को मुख्यत गद्य में निरूपित किया है और कविताओं में उनकी सामान्य रूप में चर्चा की है। उन्होंने काव्य-प्रयोजन, काव्य-शिल्प और काव्यालोचन की विवेचना में अधिक श्रम किया है और काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु और काव्य-वर्ग्य की साधारण चर्चा की है।

काव्य का स्वरूप

"प्रेमघन" ने काव्य की सूत्रबद्ध परिभाषा नहीं दी है, तथापि प्रासंगिक उक्तियों के आधार पर काव्य के स्वरूप को प्राय उन्हीं की शब्दावली में निर्धारित किया जा सकता है। उनका मत है कि कवि पवित्र और रसात्मक भावों के संगीतमय प्रतिपादन से ही श्रेष्ठ कविता की रचना कर सकता है। यथा—

"है चैन रैन दिन दिल भीतर, है अपन बयन शुचि कवित्त।
संगीत सरस साहित्य सुधा, पीये एक बन दीवाना है।।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि काव्य में कवि के अन्तर्जगत् का उद्घाटन होता है। भाव प्रवणता उसका मुख्य गुण है और संगीत की मधुरिमा से युक्त होने के कारण वह कवि को विशिष्ट आनन्द प्रदान करता है। वस्तुत जब कवि "स्वान्त सुख" का भाव लेकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है तब उसे फल-रूप में आत्मानन्द की निश्चित प्राप्ति होती है। "प्रेमघन" ने इसी को कवि का "दीवानापन" कहा है। काव्य-शास्त्र की शब्दा-

---

१ प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ ४५१

वली मे श्री लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने इसे ही कवि के आत्म भाव की सज्ञा प्रदान की है—"कलाकार का आत्म-भाव अपने काव्य से इतना सयुक्त है कि उसकी पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती।"[1] "प्रेमघन" ने आत्म-भाव के अतिरिक्त रसावेग, अर्थ-गाम्भीर्य तथा शब्द-लालित्य को भी काव्य मे अपेक्षित माना है। उनका मत है कि उक्त गुणो से सम्पन्न होने पर ही काव्य मे विशिष्ट सौंदर्य और प्रभावोत्पादकता का समावेश हो पाता है। इस विषय मे "वारागना रहस्य महानाटक" मे सूत्रधार की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"श्री वारागना रहस्य महानाटक × × × × का अभिनय आज मे आप लोगो के चित्त विनोदार्थ किया चाहता हूँ जिसकी कविता की कोमल और ललित वाक्याव-लियो की लालित्य से पदों में लावण्य, रसात्मक भावों की विचित्रता के सग नाट्य विषय वैलक्षण्य और अर्थ की गुरुता से काव्य की उदारता × × × × ग्रथकर्ता ने (दिखाई है)।"[2]

यहाँ रस और अर्थ-गौरव को शब्द लावण्य से सपृक्त मानकर काव्य के अन्तरग और वहिरग को समान महत्त्व दिया गया है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे विश्वनाथ और पडितराज *जगन्नाथ द्वारा प्रस्तुत किए गए काव्य-लक्षणो* (*१ वाक्य रसात्मक काव्यम्*, २ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्) का समीकरण करने पर भी काव्य की यही परि-भाषा प्राप्त होती है। हाँ, "प्रमघन" द्वारा काव्य मे आत्म-भाव के समावेश के प्रतिपादन मे साधारणत नवीनता की प्रतीति होती है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि उन्होने सस्कृत काव्य-शास्त्र का आधार लेकर काव्य की यह परिभाषा स्थिर की है—काव्य वह रचना है जिसमे कवि आत्म-भाव से प्राप्य रस के परिपाक तथा अर्थ-गौरव की समष्टि के लिए काव्य शिल्प की रमणीयता की ओर प्रवृत्त होता है।

काव्य की आत्मा

आलोच्य कवि ने काव्य की आत्मा का स्वतन्त्र विवेचन नही किया है, किन्तु उनकी प्रासगिक उक्तियो के आधार पर सकेत-रूप मे यह कहा जा सकता है कि वे रस को काव्य का जीवन मानते थे। इस दृष्टि से 'प्रेम-पीयूष-वर्षा" शीर्षक कविता की निम्नस्थ पक्तियाँ पठनीय हैं—

"प्रेमघन प्रेमी हिय पुहमी हरितकारी,
तापपरिहारी कलुषित कविता की है।
सुखदाई रसिक सिखीन एक रस से,
सरस बरसनि या पियूषवर्षा की है॥"[3]

उपर्युक्त उक्ति मे कवि का प्रतिपाद्य यह है कि जिस प्रकार वर्षा काल की सुखद

---

१. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ ६१
२ आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ २, पृष्ठ २
३ प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ १६८

वर्षा से पृथ्वी और मयूर-दल को आनन्दोपलब्धि होती है उसी प्रकार श्री कृष्ण और राधा के प्रेम विलास की सरसता के काव्यगत भावन से सहृदय को आनन्द-लाभ होता है। इससे यह संकेत प्राप्त करना स्वाभाविक है कि "प्रेमघन" ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति काव्य में रस को मुख्य माना है। रस की प्राण प्रतिष्ठा के लिए भारतेन्दु ने भी अप्रत्यक्ष रूप से रसवर्षी मेघ के महत्त्व को स्वीकार किया है। यथा—

"भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर,
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर।"[1]

इस स्थान पर यह विचारणीय है कि क्या काव्य में रस का उद्भव केवल राधा-कृष्ण-प्रेम के प्रतिपादन से ही होता है ? स्पष्टतः स्थिति इससे भिन्न है। "प्रेमघन" ने भी प्रकृति-दर्शन से कवि के मन में रस के प्रादुर्भूत होने की चर्चा कर इसी ओर संकेत किया है। उदाहरणार्थ "बसन्त प्रकरण" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

"साहित्य सुधा संगीत सार, गायो बसन्त रागहि सुधार।
बरसाय प्रेमघन रस अपार, मोहिन सुरभी सुखमा निहार।।"[2]

इस उक्ति से स्पष्ट है कि कवि ने रस-परिपाक के लिए केवल भाव-सम्पन्नता को अपेक्षित नहीं माना है अपितु वे उक्ति प्रकार के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। बसन्त राग की मधुर स्वर-लहरी का काव्यामृत की वर्षा में सहायक मानकर उन्होंने इसी का प्रतिपादन किया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगीत-विद्या से गायक और श्रोता की रस-चेतना का प्रबुद्ध होना सहज-सिद्ध है। अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने रस को काव्य का प्राण-तत्त्व मानकर यह महत्त्वपूर्ण और मौलिक स्थापना की है कि रस का संगीत-माधुरी से प्राकृत सम्बन्ध है।

रस-विषयक विचार

"प्रेमघन" ने रस का समग्र विवेचन न कर केवल शृंगार रस के स्वरूप का कथन कर उसके रसराजत्व की स्थापना की है। उन्होंने आचार-शास्त्र के समर्थकों द्वारा इस रस की उपेक्षा का विरोध किया है। उनका मत है कि शृंगार रस का स्वरूप अपने आप में निर्मल होता है, किन्तु कभी-कभी कवि विशेष की दमित वासना की अभिव्यक्ति में सहायक हो कर वह सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो जाता है। यथा—"आप कहेंगे कि हमें नायक-नायिकाओं के भेद विभेद और उनके प्रेम प्रसंग से घृणा है। यद्यपि यह दोष रस का नहीं है वरन् कवि का होता है।"[3] प्रस्तुत स्थापना से इस तत्त्व पर प्रकाश पड़ता है कि काव्य-वर्ण्य का स्वरूप कवियों के मानसिक स्तर के अनुकूल परिवर्तनीय होता है। यहाँ "प्रेमघन" की असाधारण अन्तर्दृष्टि को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है।

---

१ भारतेन्दु-ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५७७
२. प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग पृष्ठ ६०७
३ तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृष्ठ ५७

उनके परवर्ती आचार्यों में प० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी शृंगार रस के स्थायित्व को इसी रीति से प्रतिपादित किया है—"प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता आया है और दुरुपयोग भी। अतएव स्त्री-पुरुष की पवित्र प्रीति पर भी दुराचारियों ने कलंक-कालिमा पोती है, परन्तु इससे उस प्रीति की महत्ता तथा स्थायित्व नष्ट नहीं हो सकता।"[1] इस रस के प्रति उनके अनुराग का स्वाभाविक फल यही होना था कि वे इसके रसराजत्व का प्रतिपादन करें। इस विषय में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"कविता ही भाषा के आकाश का सूर्य है। रहा यह कि शृंगार रस का इसमें आधिक्य है, परन्तु यही एक रस है जिसमें संचारी, विभाव, अनुभाव सब भेदों सहित दर्शित होते हैं।"[2] शृंगार रस के उभय पक्षों (संयोग शृंगार का सुखात्मक पक्ष और वियोग शृंगार का दुखात्मक पक्ष) में सभी संचारी भावों का समाहार हो जाता है।[3] शृंगार रस में रसांगों की इसी व्यापकता को लक्षित कर रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने उसे रसों में मूर्धन्य स्थान प्रदान किया था। इस विषय में कवि देव की यह उक्ति विशेषत द्रष्टव्य है—

"भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्र।
ज्यों कंकन मणि कनक को ताही में नवरत्न॥"[4]

काव्य-हेतु

"प्रेमघन" ने काव्य रचना के प्रेरक तत्वों की चर्चा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है, तथापि उनकी प्रासंगिक उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की रचना के लिए ईश्वरीय कृपा से प्राप्त प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति अनिवार्य हैं। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति दैवी कृपा के महत्त्व को स्वीकार कर "प्रेम पीयूषवर्षा" शीर्षक कविता के प्रारम्भ में राधा-कृष्ण के अनुग्रह की कामना की है। यथा—

"यह पियूष वर्षा सरस लहि सुभ कृपा तदीय।
सींचहु सन्तोषें रसिक चातक कुल कमनीय॥"[5]

उपर्युक्त उद्धरण में कवि की स्थापना स्पष्टत आवेगपूर्ण मन से प्रेरित रही है, किन्तु किसी भी भक्त कवि द्वारा इस काव्य हेतु को प्राथमिकता देना स्वाभाविक ही है। वस्तुत यहाँ 'भगवत्कृपा' से उनका अभीष्ट यही है कि उन्हें काव्य-रचना के लिए अपेक्षित आन्तरिक स्फूर्ति अथवा प्रतिभा प्राप्त हो सके। इसीलिए उन्होंने यह कामना की है कि उनकी कृति के अध्ययन से सहृदयों को आनन्द का लाभ हो। दैवी कृपा से काव्य-रचना की शक्ति प्राप्त होने पर भी कवि पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा के अध्ययन अथवा समकालीन प्रौढ कवियों के सत्संग से लाभान्वित हो सकता है। "प्रेमघन" ने इसे मान्यता प्रदान कर यह

१ देव और बिहारी, पृष्ठ ७६

२. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन कार्य विवरण, पहला भाग, पृष्ठ ५६

३ देखिए "काव्य प्रदीप" (रामबहोरी शुक्ल), पृष्ठ ६९ ७०

४. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, डा० नगेन्द्र, पृ० ४१८

५. प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ११७

प्रतिपादित किया है कि व्युत्पत्ति के महत्त्व को स्वीकार करने वाले कवि को नैपुण्य की प्राप्ति होती है। उन्होंने इसकी उपेक्षा करने वाले खड़ी बोली के कवियों पर आक्षेप करते हुए कलकत्ता के तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में सभापति-पद से यह घोषणा की थी—

"सब भाषाओं के कवियों का यह नियम है कि वे पुराने कवियों का अनुकरण करते हुए आगे बढ़ते है, परन्तु शोक, इन्होंने उनका सर्वथा बहिष्कार कर दिया। और यही कारण है कि ये उनकी सम्पादित स्वतन्त्रताओं और सुभीते से वंचित रहे।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पूर्व प्राप्त कृतियों के अध्ययन से कवि काव्य के लिए *अपेक्षित सौंदर्य-गुणों का ग्रहण कर अकाव्योचित का त्याग करने की क्षमता प्राप्त करता* है। इससे वह काव्य के भाव-तत्त्व का संस्कार करते हुए उसमें अभिव्यंजना-कौशल का भी सुन्दर समावेश करता है। व्युत्पत्ति के महत्त्व की यह स्वीकृति उपयुक्त ही है। संस्कृत-काव्य शास्त्र में वामन, रुद्रट, मम्मट आदि ने भी इसे मान्यता दी है। मम्मट का मत है—"काव्य-रचना की शक्ति, लोक-दर्शन और शास्त्रावलोकन आदि में कुशलता तथा काव्यज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के अनुकूल अभ्यास, ये काव्य-रचना के प्रेरक तीन सम्मिलित कारण हैं।" यथा—

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"[2]

"प्रेमघन" ने दैवी कृपा से प्राप्त अन्तःस्फूर्ति तथा व्युत्पत्ति की चर्चा कर प्रकारान्तर से मम्मट की काव्य-हेतु विषयक मान्यता को ही सीमित रूप में ग्रहण किया है।

काव्य का प्रयोजन

प्रस्तुत कवि ने काव्य रचना के प्रयोजनों का क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया है, किन्तु इस विषय में उनकी धारणाएँ पर्याप्त स्पष्ट हैं। उन्होंने शिवत्व के आनन्दमय प्रतिपादन को काव्य की मूल सिद्धि कहा है और भाषा के उपकार एवं अर्थ प्राप्ति को उससे प्राप्य प्रासंगिक फल माना है। उन्होंने जन-हित-साधन अथवा ज्ञानार्जन को काव्य का मूल प्रयोजन मान कर यह प्रतिपादित किया है कि कवि की वाणी को उज्ज्वल भावों की अभिव्यक्ति में सहायक होना चाहिए। ये विचार "वारांगना रहस्य महानाटक" में मंगलाचरण के उपरान्त इस प्रकार व्यक्त किए गए हैं—

"मन्द प्रसंगहु ल्याय चाहू मे सिच्छा सरस।
बानी अभिनय भाय उज्वल मंजुल मुद मई॥
रीझैं रसिक सुजान कुटिल करें उपहास जो।
कवि मन मोद महान मति अनुरूप विचार गुनि॥"[3]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य में शिक्षा और आनन्द का

१. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृष्ठ ४१
२ काव्यप्रकाश, १।३
३ आनन्द कादम्बिनी, माला ७, मेघ ७, पृष्ठ ५

सहभाव माना है अर्थात् वे काव्य में शिक्षा की आनन्दमयी प्रतिपत्ति को उसकी चरम सिद्धि मानते हैं। यह काव्य का गम्भीर प्रयोजन है और प्रमाता के लिए विशेष काम्य है। काव्य के अध्ययन से सहृदय को मन स्वास्थ्य की उपलब्धि उससे अनिवार्यत अपेक्षित है। भारतीय आचार्यों में मम्मट ने इसी को "कान्ता-सम्मित उपदेश" कहा है। यह दृष्टिकोण पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी व्यापक रूप से समर्थित रहा है। इस विषय में आलोचक टी० शैडवेल का मत है—"मैं इससे असहमत हूँ कि कवि का चरम उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है, चाहे वह चरित्र-संस्कार की प्रेरणा से रहित ही हो। मेरा विचार है कि कवि को इसे कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह सारंगी-वादक अथवा नर्तक के समान केवल ऐसा ही आनन्द प्रदान करता है जो मानव मन की परिष्कृति में सहायक नहीं होता।"[१] इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य का लक्ष्य केवल आनन्द का सृजन नहीं है, उसमें सामाजिक उपयोग की भावना भी होनी चाहिए। काव्य के सामाजिक उद्देश्य के प्रति उनकी जागरूकता स्पष्टत उनके चिन्तन की स्वस्थता का प्रमाण है।

आलोच्य कवि ने काव्य के भाव-पक्ष की भाँति उसके कला पक्ष को महत्त्व देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कवि काव्य की रचना से भाषा का उपकार करता है। यथा—"आशा है कि ग्रन्थकार लोग ऐसे ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त होंगे कि जिससे यथार्थ हमारी भाषा का कुछ उपकार हो।"[२] काव्य का यह प्रयोजन कवि और प्रमाता का समान रूप से उपकारक है। भारतेन्दु युग के कवियों ने हिन्दी भाषा की उन्नति की कामना कर प्रकारान्तर से इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मत इस प्रकार है—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥"[३]

काव्य का यह प्रयोजन निश्चय ही मूल्यवान् है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी कवि को अपनी जातीय भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की सुरक्षा के लिए काव्यगत शब्दों के मूल्य के प्रति सजग रहने का सन्देश दिया गया है।[४] अब हिन्दी काव्य-शास्त्र की पर-

---

१. "I must take leave to dissent from those, who seem to insinuate that the ultimate end of a poet is to delight, without correction or instruction Me thinks a poet should never acknowledge this for it makes him of as little use to Mankind as a Fidler or Dancing Master, who delights the fancy onely, without improving the judgement."
(The Complete Works of Thomas Shadwell, Vol I, pages 183-184)

२ आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ = ६, पृष्ठ ६३

३ हिन्दी लेक्चर, काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, छन्द ५

४ "A poet needs to be conscious of the exact value of the words

म्परा मे इस सिद्धान्त की उद्भावना अभिनन्दनीय है। "प्रेमघन" ने काव्य के अन्य बाह्य प्रयोजनो मे से अर्थ-लाभ का पूर्ण समर्थन किया है। उनका मत है कि कवि सत्कविता की रचना की ओर तभी प्रवृत्त होता है जब उसने द्रव्य प्राप्ति की आशा होती है। इस विषय मे निम्नलिखित पक्तियों का अध्ययन पर्याप्त होगा—

"यदि विक्रम और भोज से उदार गुणग्राहक न होते तो कालिदास सरीखे कवि कदाचित न होते, यदि शहशाह अकबर, महाराज जयसिंह न होते, फैजी, अबुलफजल या विहारी लाल को लोग न जानते। आज जब हिन्दी का एक भी प्रसिद्ध उदार आश्रयदाता नहीं है, तो उसकी उत्कृष्ट दशा का उलहना भी व्यर्थ है।"[1]

काव्य मे अर्थ-लाभ का प्रतिपादन काव्य-शास्त्र की परम्परा मे नवीन नहीं है, किन्तु भारतेन्दु युग मे इसकी चर्चा केवल "प्रेमघन" ने ही की है। उन्होंने "भारतीय नागरी भाषा" शीर्षक लेख मे भी अर्थ-प्राप्ति को कवि का काम्य माना है।[2] तथापि हम इस धारणा मे सहमत नही है कि अर्थ-प्राप्ति के अभाव मे कालिदास, फैजी, अबुलफजल और बिहारीलाल जैसे कवियों की प्रतिभा हमारे सम्मुख न आती। वस्तुत काव्य की रचना का सम्बन्ध कवि की अन्त प्रेरणा से है और उसस कवि तथा पाठक को प्राप्त होने वाला अलौकिक आनन्द ही उसकी मूल सिद्धि है। अत इस सम्बन्ध मे "प्रेमघन" की उक्ति को सीमित रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है।

काव्य के वर्ण्य विषय

'प्रमघन' जी न काव्य के वर्ण्य विषयो का व्यवस्थाबद्ध पर्यालोचन नहीं किया है, किन्तु उपलब्ध उक्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य मे भक्ति-भावना और देश-कालानुरूप भाव धारा के समावेश पर बल देते थे। उन्होंने भक्ति-काव्य की सात्विकता को लक्षित कर यह प्रतिपादित किया है कि काव्य मे राधा-कृष्ण प्रेम की व्यवस्थित चर्चा से भाव-तत्त्व की सम्पन्नता कवि को सहज प्राप्य रहती है। उनका मत है कि भक्ति से अनुप्राणित काव्य मे भाव-सम्बन्धी दोषो का अभाव होता है। उदाहरणार्थ "प्रेमपीयूष-वर्षा" की निम्नलिखित पक्तियाँ देखिए—

"ही मे धारे स्याम रग हौ को हरसावै जग,
भरै भक्ति सर तोषि कै चतुर चातकन।
भूमि हरिआवै कविता की हरि दोष ताप,
हरि नागरी को चाह बाढै जासों छन छन॥"[3]

---

he uses, for one of his great tasks is to preserve the vitality and expressiveness of his native language"

(Oxford Junior Encyclopaedia Vol XII page 347)

१ प्रेमघन-सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ ५२२
२ देखिए "प्रेमघन-सर्वस्व", भाग २, पृष्ठ ३६० ३६१
३ प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ १६८

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भक्ति-काव्य की रचना मे काव्य मे भाव-सम्बन्धी दोषो का शमन हो जाता है और कवि के भावो को विशिष्ट दीप्ति प्राप्त होती है। यह एक स्वीकृत सत्य है कि जब कवि भक्ति-काव्य की रचना के अवसर पर तल्लीनावस्था प्राप्त कर लेता है तब उसकी कृति से सहृदयो को भी विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है और वे भक्ति-लाभ की प्रेरणा का अनुभव करने लगते हैं। इस विषय मे गोस्वामी तुलसीदास की सम्मति भी यही है कि प्रभु के सुयश से युक्त काव्य सज्जन व्यक्तियों के लिए मनोमुग्धकारी होता है—"प्रभु सुजस सगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।"[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य के लिए इस वर्ण्य विषय का समर्थन करने मे "प्रेमघन" भक्ति-कालीन काव्य-धारा से प्रत्यक्षत प्रभावित रहे हैं।

उपर्युक्त मत का प्रतिपादन करने के अतिरिक्त "प्रेमघन" ने काव्य और समाज के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कवि को काव्य के वर्ण्य विषय का चयन करते समय समकालीन देश-काल को दृष्टिपथ मे रखना चाहिए। इसीलिए उन्होंने अपने युग की परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप कवियो को शृगार रस का अवलम्बन छोड कर काव्य मे देश-हित-साधक विषयो की चर्चा करने का सन्देश प्रदान किया है। यथा—

"साहित्य का सगठन समय के अनुसार हुआ करता है। उस समय जब के बने वे ग्रंथ हैं इससे अधिक की लोगों को आवश्यकता न थी। रुचि भी ऐसी ही अधिकाश लोगो की हो रही थी, विशेषत· हमारे देश के राजा बाबू और अमीरों का शृगार ही से काम था। वही उनकी माता थी, उसी की अधिक संख्या कविता में पाई जाती है। आज समय दूसरा है, देश की दुर्दशा ने सब की मुटाई झाड़ दी है, अक्ल ठिकाने आ गई है, अब वे बातें नहीं जँचतीं, इसी से आज की आवश्यकता को आजकल के सुलेखकों और ग्रन्थकारों को पूरी करनी चाहिये। वे ही इसके उत्तरदाता हैं, उन्हें अब अपने साहित्य के शून्य स्थान को भरना चाहिये और लोग इसके लिए सचेष्ट भी हो रहे हैं।"[2]

"प्रेमघन" ने काव्य के अध्ययन से प्राप्य फलो मे ज्ञानार्जन को महत्त्व देकर भी इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। अत यह स्वाभाविक ही है कि वे शृगार रस की स्थूलताओं का विरोध कर काव्य में लोकोपयोगी विषयो की चर्चा का समर्थन करें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग के कवि नवीन सामाजिक जागरण की पृष्ठ-भूमि का निर्माण करने मे सलग्न थे और रीतिकालीन शृगार-काव्य को राष्ट्रीय स्फूर्ति मे बाधक मानते थे।

काव्य-शिल्प

प्रस्तुत कवि ने काव्य के बाह्य रूप का क्रमबद्ध विवेचन नही किया है, तथापि

---

१. रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ ४२

२. तृतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृष्ठ ५७

उन्होंने काव्य-भाषा और काव्य में अलंकार प्रयोग पर प्रसंगवश अनेक स्थानों पर विचार किया है।

१ काव्य-भाषा

"प्रेमघन' ने काव्य में शब्द-कला के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए काव्य भाषा के लिए अपेक्षित सामान्य गुणों की ओर स्फुट निर्देश किया है। उन्होंने कवि को शब्दों के चयन, गुम्फन और व्यवस्थापन के प्रति सतर्क रहने का सन्देश देकर भाषा की प्रेषणीयता पर बल दिया है। उनका मत है कि कवि काव्य की मुख्य भाषा की प्रकृति से परिचित होने पर ही उसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का सहज समावेश कर सकता है। यह क्षमता स्पष्टतः श्रमसाध्य है, किन्तु भावाभिव्यंजना की सुकरता और अपनी भाषा के शब्द-भंडार की समृद्धि के लिए कवि को प्रायः इस प्रवृत्ति का आश्रय लेना होता है। यथा—**"कवि जब अपनी भाषा में किसी शब्द का अभाव पाता, वा अन्य भाषा का शब्द उसे किसी स्थान पर विशेष उपयुक्त वा अर्थप्रद लखाता, तभी वह उसका प्रयोग करता है, और प्रयोग करके भी उसे अपना-सा बना लेता है, कि जो पढ़ने और सुनने में कर्कश वा अनोखा नहीं जँचता और न उससे प्रायः उसकी भाषा दूषित ही होती है।"**[1]

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कवि अपने अभिप्राय को जनता के लिए सहज बोध्य रखने के उद्देश्य से भी मिश्रित भाषा का प्रयोग करता है। 'प्रेमघन'' जी को काव्य की भाषा और लोक-व्यवहार की मिश्रित भाषा में केवल अभिव्यक्ति-प्रणाली का भेद स्वीकार्य रहा है, उनमें किसी प्रकार के प्रकृतिगत अन्तर को वे मान्यता नहीं देते। इस विषय में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—**"शुद्ध ब्रजभाषा में कविता करना कुछ सहज नहीं है। उसमें बड़ी प्रवीणता की आवश्यकता पड़ती है। समझने में भी उसके सामान्य जनों को कुछ कठिनता पड़ती है, उसी से सरल कविता में सुकवि जन भी मिश्रित भाषा को काम में लाते थे।"**[2]

ब्रजभाषा के इस रूप को इससे पूर्व आचार्य भिखारीदास ने भी मान्यता दी है। उन्होंने उसमें अन्य भाषाओं के शब्द मिश्रण को उसकी रमणीयता में बाधक नहीं माना है—"भाषा ब्रजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ, मिलैं संस्कृत पारसिहुँ, पै अति प्रकट जु होइ।"[3] वैसे भी यह एक स्वीकृत सिद्धान्त है कि अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आने पर भाषा विशेष को अतिरिक्त गति प्राप्त होती है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मूल भाषा से अन्य भाषाओं के सहयोग का रूप क्या होना चाहिए? "प्रेमघन" ने इसके लिए भाषा में पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति का विरोध कर उसमें सहजता, स्वाभाविकता और स्वारस्य के समावेश पर बल दिया है।[4] यह उचित भी है, क्योंकि इस तथ्य की

१ तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, पहला भाग, पृष्ठ २६

२. प्रेमघन-सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ ३११

३ काव्य निर्णय, पृष्ठ ७

४ देखिए 'प्रेमघन-सर्वस्व'', भाग २, पृष्ठ ३३८-३३९

उपेक्षा करने वाले कवियो की भाषा कृत्रिम और क्लिष्ट होने के कारण अग्राह्य हो जाती है। उन्होंने बालकृष्ण भट्ट के "सौ अजान और एक सुजान" नामक उपन्यास की भाषा की समीक्षा करते हुए इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"इस प्रबन्ध में हमारी समझ में दोष यह है, जो कि हमारी भाषा में विशेष रूप से पुन. प्रचार पा रहा है और अधिकाश हिन्दी के उन सुलेखको के लेखो में जो संस्कृत के भी पंडित है अपनी सरस नागरी भाषा को विशुद्ध हिंदी के सरल और संस्कृत के मनोहर शब्दो से सुसज्जित करने के स्थान पर उर्दू अर्थात् फारसी, अरबी के कठिन, दुर्बोध और अशुद्ध जो प्राय बेढगे रीति पर आ कर न केवल उस प्रबन्ध की शोभा का ह्रास करते वरच उर्दू पठित पाठको को रचयिता के अनुचित साहस पर उपहास का अवसर देते व उसकी अभिज्ञता प्रमाणित कर देते है।"[1]

यहाँ हिन्दी-काव्य मे उर्दू, फारसी तथा अरबी भाषाओ के शब्दो के प्रयोग का निषेध नही किया गया है। कवि का मन्तव्य केवल यही है कि इन भाषाओ के शब्दो को विशेष आवश्यकता पड़ने पर ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए और इनके कारण काव्य-भाषा की सहजता, सरसता और शुद्धता को हानि नही पहुँचनी चाहिए। पाश्चात्य आलोचकों मे ड्राइडन ने भी काव्य-भाषा के शृगार के लिए अन्य भाषाओ के शब्दो को ग्रहण करने का समर्थन करते समय कवि को इस प्रकार के शब्दो के औचित्य के प्रति सजग रहने का परामर्श दिया है।[2] अत यह स्पष्ट है कि "प्रेमघन" ने काव्य मे शब्द-चयन और शब्द-व्यवस्था पर सन्तुलित रूप मे विचार किया है।

२ काव्यालकार

*"प्रेमघन" ने अलकार को काव्य का सर्वस्व मानने की प्रवृत्ति का विरोध कर उसे परिस्थिति-विशेष मे काव्य के लिए निवार्य्य माना है। उनके मतानुसार काव्य की सार्थकता इसी मे है कि उसमे अलकार काव्योत्कर्ष के लिए साधन-रूप मे प्रयुक्त हो, उन्हें साध्य न बनाया जाए। उदाहरणार्थ "सयोगता स्वयवर" के विषय मे उनकी यह उक्ति देखिए—***"ग्रथकार अपनी कवितई अवश्य दिखाना चाहता है, चाहे उपमानोपमेय की जान क्यो न निकल जाय, चाहे रूपकालंकार कुरूपकान्धकार ही क्यों न झलकै पर ल्याया जाय जरूर।"**[3] *यहाँ अलकार को काव्य का अस्थिर धर्म मान कर उसे रस अथवा भाव का उपकारक कहा गया है। रस को काव्य का जीवन मानने वाले कवि के लिए काव्य के बाह्य*

१. आनन्द कादम्बिनी, माला ६, मेघ ११-१२, पृष्ठ २०६

२ "A poet must first be certain that the word he would introduce is beautiful in the Latin, and is to consider, in the next place, whether it will agree with the English idiom : after this he ought to take the opinion of *judicious friends, such as are learned in* both languages."

(Dramatic Poesy and Other Essays, *page 264*)

३. आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ १० ११-१२, पृष्ठ ७६-७७

रूप के प्रति मोह न रखना उचित ही है। आचार्य दण्डी के मतानुसार "**काव्य की शोभा में योग देने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं—काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।**"[1] अतः उसे काव्य का साध्य मान लेना स्पष्टतः अनुचित है। इस दृष्टिकोण की स्थापना द्वारा "प्रेमघन" ने अपनी अन्तरंगदर्शिनी प्रतिभा का सम्यक् परिचय दिया है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

काव्यालोचन

प्रस्तुत कवि ने साहित्य-शास्त्र के उपर्युक्त अंगों की विवेचना के अतिरिक्त काव्य-समीक्षा की रीति पर भी विचार किया है। उन्होंने आलोचना के स्वरूप की प्रासंगिक रूप में चर्चा की है, तथापि हिन्दी में इस विषय का प्रथम बार विवेचन प्रस्तुत करने के कारण उनके मत का विशेष महत्त्व है। उन्होंने आलोचना में गुण-दोष-विवेचन के सन्तुलित आधार को महत्त्व देकर यह प्रतिपादित किया है कि इससे आलोच्य कृति के लेखक को उत्साह और शिक्षा, दोनों की प्राप्ति होती है। इसीलिए वे "आनन्द कादम्बिनी" के पुस्तक-समीक्षा खण्ड में यह सिद्धान्त-वाक्य प्रकाशित किया करते थे—"**समालोचना अर्थात् गुण गाना, दोष दिखाना और सीख सिखाना।**" इस आदर्श से अनुप्राणित आलोचना में शुद्ध और निष्पक्ष भाव का होना आवश्यक है। इस दिशा में शिथिलता प्रदर्शित करने से आलोचना की गम्भीरता को हानि पहुँचती है। उनके मतानुसार यदि आलोचक निर्भीक वचन का आश्रय लेकर "**बुरे ग्रन्थ पर अच्छी समालोचना करना हमारा काम नहीं,**"[2] जैसी धारणा को अपने जीवन का मूल सिद्धान्त बना लें तो साहित्य का निश्चित उपकार होगा। इसीलिए उन्होंने अपने समकालीन आलोचकों की पक्षपातपूर्ण समीक्षाओं से व्यथित होकर "संयोगता स्वयंवर" नाटक की स्पष्ट आलोचना करते हुए उसके अन्त में तत्कालीन सम्पादकों को निष्पक्ष मत ग्रहण का सन्देश दिया है।[3] इसी प्रकार उन्होंने प० महावीर-प्रसाद द्विवेदी और बाबू बालमुकुन्द गुप्त के व्याकरण विषयक विवाद पर मत प्रकट करते हुए आलोचक को पूर्वाग्रह अथवा राग-द्वेष से मुक्त रह कर आलोचना में शिष्टता का निर्वाह करने का परामर्श दिया है।[4] इसके लिए उन्होंने आलोचक को प्रामाणिक अध्ययन के उपरान्त ही कृति के विषय में अभिमत प्रकट करने का अधिकार दिया है। यथा—

"**समालोचना का अर्थ है पक्षपात-रहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुण-दोष की विवेचना करना और उससे ग्रन्थकर्ता को विज्ञप्ति देना है क्योंकि रचित ग्रन्थ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढ़ाना एवं दोषों को दिखला**

---

१. काव्यादर्श, २।१
२. आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ ८ ६, पृष्ठ ६३
३. देखिए 'आनन्द कादम्बिनी', माला २, मेघ १० ११ १२, पृष्ठ १२
४. देखिए "आनन्द कादम्बिनी" माला ६, मेघ ५, पृष्ठ ८४ ८७।

कर उसके सुधार का यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है। परन्तु यह एक कठिन वस्तु भी है, क्योंकि प्रथम तो किसी अच्छे ग्रन्थ की समालोचना करने के लिए समालोचक की योग्यता उसके ग्रन्थकर्ता से अधिक अपेक्षित है।"[1]

पूर्वाग्रहों से मुक्त रह कर आलोचना में निःसंग भाव का अपनाना ही आलोचक का आदर्श है। इसके लिए यह अपेक्षित है कि वह आलोच्य कृति के विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपनी संवेदनशील प्रकृति के अनुरूप कृतिकार के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करे। पाश्चात्य आलोचकों में इलियट ने भी आलोचना में निष्पक्ष भाव पर बल देते हुए कहा है—**"आलोचक को व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों तथा विचित्र धारणाओं से पृथक् रहना चाहिए।"**[2] "प्रेमघन" ने आलोचक के इस गुण को लेखक के लिए उपकारक माना है और यह उचित भी है। उनके परवर्ती समीक्षकों में प० कृष्णविहारी मिश्र की मान्यता भी यही है—**"निष्पक्षपात भाव से किसी वस्तु के गुण-दूषणों की विवेचना करना समालोचना है। इस प्रथा के अवलंबन से उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि होती रहती है।"**[3]

आलोचक के कर्तव्य-कर्म का यह निर्धारण कवि तथा काव्य के प्रति उसकी संवेदनशीलता को दृष्टिपथ में रख कर किया गया है, किन्तु यहाँ इस समस्या पर विचार करना भी अप्रासंगिक न होगा कि उसे आलोचना करते समय काव्य-शास्त्र के पूर्व-स्वीकृत नियमों का दृढ आधार लेना चाहिए अथवा उनसे विरोध रखने वाली कृतिगत नवीनताओं को भी स्वीकार कर लेना चाहिए? यद्यपि स्वयं कवि होने के नाते "प्रेमघन" के लिए यहाँ कवि की स्वतन्त्रता का समर्थन करना स्वाभाविक होता, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। उनका निश्चित मत था कि आलोचक को काव्य-शास्त्र के परम्परागत नियमों को दृष्टिपथ में रखते हुए समीक्षा करनी चाहिए। उन्होंने "संयोगता स्वयंवर" नाटक की आलोचना करते हुए लेखक पर भारतीय नाट्य शास्त्र की अवहेलना का दोषारोपण कर अप्रत्यक्ष रूप से इसी धारणा को व्यक्त किया है। यथा—**"युद्ध कराने की कोई आवश्यकता न थी, परन्तु जो कि साहित्यकार और नाट्य-शास्त्र के आचार्य युद्ध कराने को नाटक में मना करते हैं × × × × उसे आप क्यों न करें?**[4] परम्परागत काव्य-मान्यताओं के प्रति यह अनुराग आलोचक के रूढिवादी दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है। यहाँ नाटक को अभिनेय रखने के उद्देश्य से ही ऐसा कहा गया है, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि यदि लेखक काव्य-गुण की अभिवृद्धि के लिए किसी रचना को रूढि-प्राप्त रूप से भिन्न रूप में उपस्थित करे तो वह अभिनन्दनीय ही है।

---

१ प्रेमघन-सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ ४४६

२ "The critic × × × × should endeavour to discipline his personal prejudices and cranks"

(Selected Essays, page 25)

३. देव और बिहारी, पृष्ठ २८

४ आनन्द कादम्बिनी, माला २, मेघ १०-११-१२, पृष्ठ ८८-८६

सिद्धान्त-प्रयोग

"प्रेमघन" द्वारा उल्लिखित काव्यांगों में से काव्य-हेतु के अतिरिक्त शेष सभी के व्यावहारिक रूप का अध्ययन सम्भव है। तथापि यहाँ उनके काव्यालोचन-सम्बन्धी विचारों के प्रयुक्त रूप का विवेचन लगभग अप्रासंगिक होगा, क्योंकि हमारा उद्दिष्ट उनके कवि-रूप का अध्ययन है, न कि आलोचक "प्रेमघन" की सफलताओं का उल्लेख। सिद्धान्त-निरूपण के अन्तर्गत काव्य-मतों के पृथक्-पृथक् उल्लेख का औचित्य होने पर भी उनकी कतिपय पारस्परिक समानताओं को लक्षित करते हुए उनके काव्यगत रूप को इस प्रकार स्थिर किया जा सकता है—

१ काव्य का अन्तरंग

"प्रेमघन" ने काव्य में कवि के आत्म-भाव (तन्मयता), अर्थ-गौरव और शब्द-माधुरी के समावेश पर बल देते हुए रस को काव्य का प्राण माना है। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने शृंगारिक कविताओं के अतिरिक्त अपने भक्ति-काव्य को भी प्रायः राधा-कृष्ण-प्रेम से आप्लावित रख कर रस के ऐन्द्रिय तत्त्व को प्रधानता दी है। इन रचनाओं में कवि की तल्लीनता को समान रूप से लक्षित किया जा सकता है। इस दिशा में उनकी "वर्षा-बिन्दु" तथा "युगलमंगल स्तोत्र" शीर्षक रचनाएँ अन्यतम उल्लेखनीय हैं।[1] तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उनकी शृंगारिक कविताओं में रसिकता (जो एक ओर रीतिकालीन काव्य के अध्ययन का फल है और दूसरी ओर उर्दू-काव्य-शैली से गृहीत है)[2] के कारण मन के सूक्ष्म सौंदर्य के स्थान पर मुख्यतः विषयगत सौंदर्य की चर्चा रही है और इससे अर्थ-गौरव के लिए अपेक्षित सूक्ष्म आन्तरिकता को हानि पहुँची है। इन रचनाओं में तन्मयता और शब्द-माधुरी का अभाव नहीं है, किन्तु "अलौकिक लीला" जैसे काव्य-प्रकरण[3] की तुलना में इनके अर्थ-गौरव को खंडित ही मानना होगा।

"प्रेमघन" ने जन-हित-साधन को काव्य का अन्तरंग प्रयोजन मान कर वर्ण्य विषय की देश-काल-निबद्धता की चर्चा द्वारा उसका समर्थन करते हुए भक्ति-भावना के कथन को उसकी आन्तरिक दीप्ति में सहायक माना है। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उनकी शृंगार-प्रधान कविताओं में जन-हित-साधन की स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु "जीर्ण जनपद", 'पितर प्रलाप", "होली की नकल" आदि कविताओं में देशकाला-नुरूप जन-हित की समष्टि की ओर उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इसी प्रकार "अलौकिक लीला", "लालित्य लहरी" (केवल वन्दना-सम्बन्धी दोहे), 'बृजचंद पचक" आदि कविताओं में भक्ति-भावना का भी सहज समावेश रहा है। तथापि उनका शृंगार-काव्य

---

१. देखिए "प्रेमघन-सर्वस्व", प्रथम भाग, पृष्ठ ४८-५५,६५ तथा १२६-१३३

२. देखिए "प्रेमघन-सर्वस्व", प्रथम भाग, "वर्षा-बिन्दु" तथा 'उर्दू-बिन्दु" शीर्षक प्रकरण

३ देखिए "प्रेमघन-सर्वस्व", प्रथम भाग, पृष्ठ ६१-१२३

परिमाण में इतना अधिक है कि उसकी उपस्थिति में उन्हें अपने काव्य में तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल जन-हित का निर्दोष निर्वाह करने में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

२ काव्य-शिल्प

आलोच्य कवि ने काव्य में भाषागत स्वारस्य और शब्द-शुद्धि पर बल देते हुए भाषा की सहजता और स्वाभाविकता के लिए उसमें मिश्रित शब्दों के प्रयोग का समर्थन किया है। उनकी कविताओं में भाषागत स्वारस्य का उचित स्थान रहा है और मिश्रित भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने मुख्यत अपने संगीत-काव्य में ब्रजभाषा के साहित्यिक और लोक-व्यवहृत रूपों के अतिरिक्त खड़ी बोली, उर्दू, फारसी आदि अन्य भाषाओं के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान में गति रखने के कारण उनसे यह भी अपेक्षित था कि वे अपनी भाषा को व्याकरण-सम्मत रखकर शब्द शुद्धि की ओर उचित ध्यान देते, किन्तु इस विषय में उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं अन्तर्विरोध रहा है। इस दृष्टि से उनके द्वारा व्यवहृत "वर्षे', "जिस्का", "जिस्से", "इसैं", 'उस्को', 'दुनिये', "क्सिँ" आदि शब्द स्पष्टत काव्य की शोभा के लिए हानिकर हैं।[१] उपर्युक्त सिद्धान्त के अतिरिक्त उन्होंने अलंकार विवेचन के अन्तर्गत काव्य में अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग पर बल दिया है और रस-तत्व की प्रतिष्ठा के कारण उनके काव्य में सामान्यत इसका व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

विवेचन

आलोच्ययुगीन कवियों में "प्रेमघन" ने काव्यांग-निरूपण की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है, तथापि उनके विवेचन पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव को अस्वीकार करना सत्य से विमुख होना है। उन्होंने काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य वर्ण्य और रस के विवेचन में प्राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विचार धारा से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव ग्रहण किया है। मौलिक विवेचन की दृष्टि से उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य शिल्प एवं काव्यालोचन की विदग्धतामयी चर्चा की है। यह मानना होगा कि उनके पास सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए अपेक्षित काव्य-मर्मज्ञता का अभाव नहीं था। यही कारण है कि उस युग में काव्यालंकार, शृंगार-काव्य की सार्थकता और काव्यालोचन का निरूपण करने वाले वे एकमात्र कवि हैं। विशेषत काव्यालोचन के क्षेत्र में तो उनका कार्य उद्भावक आचार्य के अनुरूप रहा है और उन्होंने इस दिशा में भविष्य के लिए उचित मार्ग-निर्धारण किया है। अत यह स्पष्ट है कि उनके प्रतिपादन से भारतेन्दु युग के विचार-प्रवाह को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रभावित होने पर भी वे निश्चय ही इस क्षेत्र में अपनी पृथक् विशेषताएँ रखते हैं।

---

१ देखिए "प्रेमघन-सर्वस्व", प्रथम भाग, पृष्ठ ४७, ५८६ तथा ९९०

भारतेन्दु-मंडल के अन्य कवियों के काव्य-सिद्धान्त

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और 'प्रेमघन' के अतिरिक्त आलोच्य युग के कतिपय अन्य कवियों (प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, जगमोहन सिंह) ने भी काव्य-रचना के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया था। यद्यपि उन्होंने काव्य-सिद्धान्त-निरूपण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है, तथापि वे इस ओर सचेष्ट अवश्य थे। उनकी रचनाओं में काव्य-सिद्धान्तों की प्रायः प्रसंगवश चर्चा हुई है, अतः विवेचन की सुविधा के लिए उनके काव्य का अनुगम शैली के आधार पर अध्ययन करना भी अभीष्ट है। उन्होंने मुख्य रूप से काव्य-प्रयोजन और काव्य हेतु की समीक्षा की है, किन्तु इनके अतिरिक्त काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प की मीमांसा की ओर भी उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया है। अन्य काव्यांगों में से काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा और काव्यानुवाद के विषय में उनके स्फुट विचार उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः काव्य-सम्बन्धी विचारों की सुसम्बद्ध चर्चा उन्हें विशेष अभीष्ट नहीं रही है। तथापि भारतेन्दु युग के साहित्यिक वातावरण को गति प्रदान करने में उनकी काव्य-विषयक धारणाओं का महत्व असंदिग्ध है। उनकी काव्य-मान्यताओं की संक्षिप्तता और पारस्परिक समानता को देखते हुए उनकी पृथक्-पृथक् समीक्षा करने की अपेक्षा सभी कवियों की मान्यताओं पर विविध काव्यांगों के अनुसार एक साथ विचार करना अधिक उपयुक्त रहेगा।

काव्य का स्वरूप

आलोच्य कवियों ने काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने के प्रति लगभग उपेक्षा प्रदर्शित की है। इस दिशा में केवल राधाकृष्णदास का मत उपलब्ध होता है। उन्होंने भी इस काव्यांग की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, तथापि महाकवि सूरदास के विषय में कथित निम्नलिखित उक्ति के आधार पर संकेत-रूप में यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे काव्य में सरसता, मधुरता, भावात्मकता, स्वाभाविकता आदि विविध गुणों के समावेश पर बल देते थे—

"जैसे वर्षा ऋतु में अपने आकर्षित जीवन से नारायण मनार को सिंचित करते हैं वैसे ही इनकी सरस भावमय कविता अपनी सुधा-वृष्टि से रसिक-जन-मन-मयूर को आह्लादित करती है × × × × × और जैसे ही शीत ऋतु में भगवान दिवाकर की मधुर किरणें प्राणी-मात्र को परम सुखद होती हैं वैसे ही इनकी परम मधुर अथच स्वाभाविक

भगवान की लीलामय कविता भक्त-हृदय को शान्ति-सुख से सुखी करती है।"[1]

इस उद्धरण का प्रत्यक्ष मूल्याकन की दृष्टि से पर्याप्त महत्व है। इससे यह स्पष्ट है *कि उनके मतानुसार काव्य वह रचना है जिसमे कवि भावनाओ का मधुर रीति से* रसात्मक और स्वाभाविक आख्यान करे। यह दृष्टिकोण उनकी "भारत बारहमासा", "राम-जानकी", "विनय", "प्रताप-विसर्जन" आदि कविताओ मे भी अप्रत्यक्ष रूप से समर्थित रहा है।[2]

काव्य की आत्मा

उपर्युक्त काव्याग की भाँति प्रस्तुत कवि काव्य की आत्मा के विवेचन की ओर से भी प्राय उदासीन रहे है। इस विषय मे केवल जगमोहन सिह के विषय मे यह कहा जा सकता है कि वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और "प्रेमघन" की भाँति रस को काव्य की आत्मा मानते थे। *यद्यपि उन्होने रस-सिद्धान्त के विषय मे अपनी मान्यताओ का स्वतन्त्र रूप में* कथन नही किया है, तथापि "श्यामालता" तथा "देवयानी" शीर्षक काव्य-कृतियो के अन्त मे यह सकेत किया गया है कि काव्य मे रस-तत्व की स्थापना उसका मुख्य गुण है। इस विषय मे उनके विचार इस प्रकार है—

(अ) "जगमोहन सिह दीन रची *सुरस* श्यामालता।
ललित गिरा रसलीन शवरिनरायन माहि रहि॥"[3]

(आ) "श्री जगमोहन सिह रचित यह कथा अमित *रसखानी*।
देवयानि अरु नृप जजाति की *सुरस* छन्द कल बानी॥"[4]

उपर्युक्त छन्दो मे कवि की स्थापना सकेतात्मक होने पर भी महत्वपूर्ण है। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने छन्द मे भाषा की माधुरी के महत्व को स्वीकार करते हुए भी *काव्य के अन्तरग-तत्व* (रस) को पुष्ट करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। वस्तुत उनके काव्य मे शृगार रस को मूलवर्ती स्थान प्राप्त रहा है। यह दृष्टिकोण "श्यामालता" मे अधिक स्पष्ट है। उन्होने इसमे अपने मन मे निहित प्रेम-भाव का स्वाभाविक आख्यान किया है। डॉक्टर नगेन्द्र के मतानुसार रसात्मक काव्य मे यही अपेक्षित भी है—"रस का साहित्य एक सगठित अथवा आयोजित प्रयत्न नहीं है, वह व्यक्ति का आत्म-साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजन है।"[5] अत. जगमोहन सिंह की कृतियो मे व्याप्त रस-तत्व के आधार पर अप्रत्यक्ष रीति से भी यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे रस को काव्यात्मा मानते थे।

---

१. सूरदास, पृष्ठ ४६
२. देखिए "राधाकृष्ण-ग्रन्थावली", प्रथम खड, पृष्ठ १५—१७, २५—३०, ६१—६२
३. श्यामालता, पृष्ठ ३४, छन्द १३१
४. देवयानी, पृष्ठ ६५, छन्द ५०
५. विचार और विश्लेषण, पृष्ठ १०४

काव्य-हेतु

विवेच्य कवियों में से प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त सभी काव्यकारों ने काव्य-रचना के कारणों का विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में कविवर अम्बिकादत्त व्यास की धारणाएँ सबसे अधिक समृद्ध हैं। उन्होंने प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु माना है और काव्य-विषय की सम्प्राप्तता तथा काव्य-शिक्षा का उसके सहायक तत्व कहा है। काव्य को हृदय की प्रेरणा का फल मान कर उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जब कवि मन में भावावेग का अनुभव करता है तब उसकी वाणी शब्द-विधान के लिए स्वत तत्पर हो उठती है—

"रसना हू बस ना रहत, बरनि उठत करि जोर।
नन्दनन्द मुख चन्द पै, चितह होत चकोर॥"[१]

वाणी का यह उद्भास ही कवि-प्रतिभा का द्योतक है। आचार्य वामन के मतानुसार "यह प्रेरणा (प्रतिभा) कवित्व का बीज है और कवि का कोई जन्मान्तरगत संस्कार-विशेष है—कवित्वबीज प्रतिभानम्, जन्मान्तरागतसंस्कारविशेष कश्चित्।" व्यास जी ने भी कविता को वंशानुगत संस्कारों पर निर्भर मान कर प्रकारान्तर से इसी मत का समर्थन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि उन्हें काव्य-रचना की शक्ति अपने पिता प० दुर्गादत्त व्यास (जो सुकवि और भक्त थे) से प्राप्त हुई थी। यथा—"मैं अब यह जो कछु कियो, हरि लीला को भाव, सो उनके आसीन को जानहु एक प्रभाव।"[३] यद्यपि पितृ-प्रभाव को काव्य-शिक्षा के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है, किन्तु हम इसे कवि की विनम्र उक्ति मान कर उन्हें "सहजा प्रतिभा" से सम्पन्न मानेंगे। इस सम्बन्ध में आचार्य रुद्रट का यह कथन द्रष्टव्य है—"दूसरों के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—सहजा और उत्पाद्या। इनमें से सहजा मनुष्य के जन्म से ही सम्बद्ध होने से अधिक श्रेष्ठ है—प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति, पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा।"[४] व्यास जी ने प्रतिभा के सहजत्व को नम्रता पर आधृत माना है। उनका मत है कि कवि को काव्य-रचना करते समय अहंकार का त्याग कर देना चाहिए अन्यथा उसकी रचना में प्रमादवश अव्यवस्था आ सकती है। यथा—

"रास तान जानत नहीं कविता को न गरूर।
एक भरोसो सुकवि को तुम्र चरनन की धूर॥"[५]

व्यास जी के समकालीन कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी "गीत गोविन्दा-

---

१. सुकवि सतसई, पृष्ठ ६१, छन्द ६२
१. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, १।३।१६
३ सुकवि सतसई, पृष्ठ ६७, छन्द ४१
४. काव्यालंकार, १।१७
५. दो दो दोहा, 'समर्पण' का अन्तिम छन्द

नन्द" के प्रारम्भ मे यह मत व्यक्त किया है कि काव्य की रचना भगवत्कृपा से होती है। यथा—"मैटन को निज जिय खटक उर धरि पिय नंदनंद, तिनहीं के पद बल रच्यौ यह प्रबन्ध हरिचन्द।'[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि प्रतिभा भगवत्कृपा पर निर्भर है और उसका बीज कवि के मन मे जन्म से ही स्थित रहता है। व्यास जी ने प्रतिभा के अतिरिक्त वर्ण्य विषय की सप्राणता को भी काव्य हेतु माना है। उनका मत है कि यदि कवि ईश-भक्ति जैसे समर्थ विषय को ले कर काव्य-रचना मे प्रवृत्त होगा तो उसे अधिक सफलता प्राप्त होगी। उक्त स्थिति मे काव्य-रचना की शक्ति से रहित कवि भी "सुकवि" की उपाधि प्राप्त कर लेता है। यथा—

"श्री गिरिधर गोविन्द की, जय जय चहुँ दिसि होत।
सुकवि भये अति कुकबिहु, डूबि जासु सुख मोत॥"[2]

भक्ति के आनन्द मे मग्न कवि के अन्तस् मे समरसता का प्रसार होने से सत्काव्य का उद्भव सहज सम्भव है। इसे केवल कवि का भावुकताजनित उद्गार कहना समीचीन न होगा। हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ "सत्कविता" से हमारा तात्पर्य उस कृति से है जो कला पक्ष की दृष्टि मे कुछ शिथिल होने पर भी भाव-सम्पन्न हो। व्यास जी ने काव्य-रचना मे प्रवृत्त होने से पूर्व कवि-विशेष द्वारा मार्ग-निर्देश प्राप्त करने के औचित्य को भी स्वीकार किया है। अत यह स्पष्ट है कि वे काव्य-शिक्षा को काव्य का हेतु मानते थे, किन्तु भारतेन्दु युग मे काव्य-शिक्षा का रूप रीतिकालीन काव्य-शिक्षा से भिन्न था। जहाँ रीतिकाल के आचार्य-कवि नवोदित कवि को काव्य शास्त्र की शिक्षा प्रदान करने मे विश्वास रखते थे वहाँ भारतेन्दु युग के कवि अपने पथ निर्देशक कवि के सकेतो के अनुरूप काव्य रचना करते थे काव्य-शास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान उन्हे पहले ही प्राप्त रहता था। व्यास जी ने भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आदेशानुसार "गोसकट" नाटक की रचना की थी। उन्होने भारतेन्दु की मृत्यु के उपरान्त लिखित "जले पर नोन ऐसा शोक पर शोक" शीर्षक कविता मे इसे इस प्रकार स्वीकार किया है—

"गोसकट नाटक रच्यौ तुमरी आज्ञा पाय।
तेहि पुस्तक आकार सौं देहौं तुरत छपाय॥"[3]

उपर्युक्त उक्ति के मूल मे काव्य-विषय के प्रति कवि की अभिरुचि भी मान्य हो सकती है, तथापि व्यास जी ने यहाँ प्रकारान्तर से काव्य शिक्षा को ही काव्य-हेतु माना है। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे आचार्य रुद्रट का भी मत है—"काव्य-शक्ति से सम्पन्न सर्वज्ञाता कवि को भी सहृदय (सुजन) तथा सुकवि की सन्निधि में निरन्तर अहर्निश काव्याभ्यास करना चाहिए—अधिगतसकलज्ञेय सुकवे सुजनस्य सन्निधौ नियतम्, नक्तदिन-

---

१ आनन्दकादम्बिनी, माला ७, मेघ ३, पृष्ठ ११

२ सुकवि सतसई, पृष्ठ ५४, छन्द २०

३ पीयूष प्रवाह, जनवरी १८८५ के अक से उद्धृत

मभ्यस्येदभियुक्त शक्तिमान्काव्यम्।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि व्यास जी द्वारा काव्य-शिक्षा को काव्य हेतु मानना प्रतिभा के महत्व को सकुचित नहीं करता। अन्त में समन्वित रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा काव्य की मूल प्रेरक शक्ति है—कवि प्रतिभा के बल पर सार्थक काव्य विषय को काव्य शिक्षा के माध्यम से रम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अम्बिकादत्त व्यास की भांति *राधाकृष्णदास* ने भी भगवत्कृपा से उपलब्ध प्रतिभा को काव्य-हेतु माना है। उनका मत है कि कवि अपने हृदय में स्वभावत उद्भूत होने वाली प्रेरणा के वशीभूत होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है। अत उसके काव्य में भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति रहती है। ऐसी स्थिति में यदि उसे विवशतावश हृदय के भावावेग को सीमित कर काव्य के रूढ़ नियमों का पालन करना पड़ता है तो काव्यगत कल्पना और रस की हानि होती है। इस विषय में उनका मन्तव्य इस प्रकार है—

"कविता शक्ति परमेश्वर की देन है और इसीलिए कवियों की तरंग कुछ विलक्षण ही होती है। जो लोग सुकवि हैं उन्हें जब तरंग आती है तो फिर ससार के नियमों को दूर रख कर वे अपनी उमंग को निकाल डालते हैं। यदि उस समय कोई उन्हें नियम में बांधना या रोकना चाहे तो उनकी स्वाभाविक कल्पना नष्ट हो जाती है और फिर उसका रस जाता रहता है।"[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कालान्तर में छायावादी कवियों ने काव्य-क्षेत्र में जिस नियम-बन्धन को अव्यवहार्य माना था, उसकी भूमिका भारतेन्दु युग में ही रूप धारण करने लगी थी। वस्तुत कवि-कर्म की सहजता के लिए कविता को बन्धन-मुक्त होना ही चाहिए। यह कवि-जीवन का मूलभूत सत्य है, क्योंकि काव्य की रागात्मक प्रवृत्ति शास्त्र की शुष्क सीमाओं को स्वीकार नहीं कर सकती। कवि की प्रतिभा कला-विषयक नियमों से मुक्त रहकर ही युगान्तरकारी काव्य को जन्म देती है। "अग्निपुराण" में कवि की इस स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए कहा गया है—"इस अपार काव्य-ससार में कवि की स्थिति एक प्रजापति के समान है, वह अपनी इच्छा के अनुकूल इस ससार की सृष्टि करता है—अपारे काव्यससारे कविरेक: प्रजापति, यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।"[3] अत यह स्पष्ट है कि बाबू राधाकृष्णदास ने बन्धन-मुक्त कवि-प्रतिभा को काव्य-रचना का प्रेरक तत्व माना है।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्य-रचना के प्रेरक तत्वों का विशद विवेचन न कर "शक्ति" को काव्य-हेतु माना है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा में यह मत आचार्य रुद्रट को मान्य रहा है और उन्होंने "शक्ति" को प्रतिभा का समानार्थी शब्द कहा है।[4]

१. काव्यालकार, १।२०
२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, द्वय भाग, सन् १६०७, पृष्ठ १७८–१७६
३. अग्निपुराण, ३३६।१०
४. देखिए "काव्यालकार", १।१५, १।१६

ठाकुर साहब ने इस शक्ति को वाग्देवी की कृपा से प्राप्त होने वाली माना है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित काव्य-पक्तियाँ देखिए—

"दीजिय शक्ति अनन्त, जिमि न लेखिनी मम रुकै।
आखर ललित लसत, लिखत लिखत लेश न थकै।।"[1]

भक्ति काल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी यह प्रतिपादित किया था कि जब कवि काव्य-रचना मे प्रवृत्त होता है तब उसके स्मरण-मात्र से सरस्वती ब्रह्म लोक का त्याग कर उसके समीप आ विराजती है—"भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई।"[2] कवि-जगत् के इस विश्वास को देखते हुए ही पडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ईश्वर अथवा देवता-विशेष की कृपा से प्राप्य माना है—"तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्।"[3] अत यह स्पष्ट है कि ठाकुर साहब ने प्रतिभा के विषय मे अपने समकालीन कवियो (भारतेन्दु, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास) के विचारो का ही अनुसरण किया है।

काव्य का प्रयोजन

भारतेन्दु-मण्डल के कवियो ने काव्य के प्रयोजनो का उत्साहपूर्वक विवेचन किया है। प्रतापनारायण मिश्र ने काव्य के सामाजिक पक्ष को महत्व दे कर उसे लोक-हित की आनन्दमयी व्यवस्था मे सहायक माना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति उन्होने भी काव्य से कवि को उपलब्ध होने वाली व्यक्तिगत सिद्धियो (यश-प्राप्ति, अर्थ-लाभ, कला-सस्कार आदि) की चर्चा नही की है। श्रेष्ठ काव्य से प्राप्त होने वाले आनन्दमय उपदेश के विषय मे उनके "आल्हा आह्लाद" शीर्षक लेख मे आल्हा-खड के पदो की प्रशसा मे कथित यह उक्ति देखिए— "बहुत से पद अति गम्भीर आशय से पूर्ण हैं, जो प्रत्येक अल्हइत के गाने में आते हैं, जिनमें कुछ हम यहाँ लिख के अपने पाठको को काव्यानन्दयुक्त उपदेश किया चाहते हैं।"[4] यहाँ "आनन्द" शब्द का प्रयोग विचारणीय है। मिश्र जी के मतानुसार काव्य के अध्ययन से सहृदय को प्राप्त होने वाला आनन्द स्थूल मनोरजन का प्रतीक न हो कर आदर्श-प्रेरित होने के कारण उच्च कोटि का है। इस आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है जब कवि काव्य मे गम्भीर आशय की अभिव्यक्ति की ओर उचित ध्यान दे। काव्य मे उपदेश-कथन की इस सरसता को ही मम्मट ने कान्तासम्मित उपदेश कहा है। काव्य के इस प्रयोजन को पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे भी व्यापक समर्थन प्राप्त रहा है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक ड्राइडन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "काव्य का लक्ष्य आनन्द-प्रद रीति से शिक्षा प्रदान करना है।"[5] अत यह स्पष्ट है कि काव्य सहृदय के मन मे

१. देवयानी, पृष्ठ १५
२. रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ ४३
३. रसगगाधर, पृष्ठ ९
४. प्रतापनारायण-ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ २३८-२३९
५. "To instruct delightfully is the general end of all poetry".
(Dramatic poesy and other Essays, page 131)

लोक-मंगल की प्रेरणा को आनन्दमयी रीति से उद्बुद्ध करता है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास ने अपने समकालीन कवियों की भाँति काव्य को लोक-हित से अभिन्न माना है। उन्होंने देश अथवा धर्म की उन्नति की प्रेरणा को काव्य का मूल गुण कहा है। वे मनोरंजन की सिद्धि को उसका निहित उद्देश्य मानते हैं। उदाहरणार्थ "गोसंकट नाटक" मे दर्शकों के विषय मे सूत्रधार की यह उक्ति देखिए—"(वे) किसी ऐसी लीला को देखना चाहते हैं जिससे केवल क्षणिक मनोरंजनता ही नहीं किन्तु देशोन्नति अथवा धर्मादि विषयक कुछ उपदेश भी प्रगट हों।"[1] संस्कृत काव्य शास्त्र म आचार्य मम्मट ने काव्य में कान्तासम्मित उपदेश-कथन की प्रणाली को अपनाने पर बल देते हुए कहा है—"कान्ता की भाँति अपनी सरस उक्ति द्वारा सहृदयों को आवर्जित कर काव्य यह सन्देश देता है कि श्री राम आदि के समान व्यवहार करना चाहिए, रावण आदि के समान नहीं—कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेश × × × × × करोतीति।"[2] व्यास जी ने उपर्युक्त उद्धरण में इसका स्पष्टीकरण तो नहीं किया है, किन्तु "लीला" शब्द से यही संकेत मिलता है कि वे काव्य म अप्रत्यक्ष रूप से उद्देश्य-कथन के समर्थक हैं। इस प्रसंग में उनकी नूतन उद्भावना यह है कि कवि को काव्य के माध्यम से धर्म के अतिरिक्त देशोन्नति की प्रेरणा भी प्रदान करनी चाहिए। उन्होंने यह मन्तव्य स्पष्टत अपने युग की सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों से प्रेरित हो कर व्यक्त किया है।

लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होने के अतिरिक्त कवि अपने अन्तःकरण के सुख के लिए भी काव्य रचना मे प्रवृत्त होता है। उन्होंने इस विषय मे स्वतन्त्र मत की स्थापना नही की है, किन्तु अप्रत्यक्ष अध्ययन-प्रणाली के अनुसार निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण के विषय में अपने भावों का काव्यात्मक उल्लेख करने से उन्हें अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती थी—

> "सुमिरत छवि नँदनन्द की, बिसरत सब दुखदन्द।
> होत अमन्द अनन्द हिय, मिलत मनहुँ सुख कन्द ॥"[3]

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध है कि कवि को काव्य-रचना मे आत्म-सुख की उपलब्धि होती है, किन्तु यह सुख केवल उसके अन्तःकरण तक ही सीमित नहीं है। वह स्वान्त सुख के लिए काव्य-रचना करके भी उसमें परहित का ध्यान रखता है। अत जिस काव्य फल (आनन्द) को वह स्वत प्राप्त करता है वह अन्य सहृदयों के लिए भी सहज लभ्य हो सकता है। काव्य के सूक्ष्म प्रयोजनों की भाँति व्यास जी ने उससे स्थूल-प्रयोजन रूप यश की प्राप्ति का भी उल्लेख किया है। यश की उपलब्धि काव्य से प्राप्त होने वाला प्रासंगिक लाभ है, किन्तु केवल कीर्ति की इच्छा ही काव्य की प्रेरक शक्ति

---

१. गोसंकट नाटक, पृष्ठ ७

२ काव्य प्रकाश, १।२, कारिका की व्याख्या

३ सुकवि सतसई, पृष्ठ ५४

नही है। सत्काव्य से उसकी अनायास प्राप्ति हो जाती है। व्यास जी का मत है कि काव्य से केवल कवि (गुनी) को ही यश नही मिलता, अपितु सहृदय पाठक (रिझवार) भी उससे यश-लाभ करता है। यथा—

"गुनी और रिझवार ये, दोउ प्रसिद्ध ह्वै जात।
एक ग्रन्थ के रचन सों, दोगुन जस सरसात॥"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि और काव्य प्रशसक, दोनो ही यश के अधिकारी है। व्यावहारिक दृष्टि से भी सस्कृत-साहित्य मे कालिदास के काव्य के टीकाकार मल्लिनाथ उनके समान ही प्रसिद्ध है। काव्य-शास्त्र मे प्राय कवि द्वारा यश प्राप्ति की चर्चा हुई है, तथापि सहृदय को प्राप्त होने वाले यश के विषय मे भी यह उल्लेख मिलता है—"सत्काव्य के निषेवण (अध्ययन आदि) से धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष के साधनों तथा कलाओं में वैचक्षण्य प्राप्त होता है, ससार में यश-प्रसार होता है और हृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है—धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च, करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।"[2]

बाबू राधाकृष्णदास ने काव्य के प्रयोजनो की व्यवस्थित चर्चा न कर भारतेन्दु युग के अन्य कवियो की भाँति काव्य से नैतिक बल और उत्साह की प्राप्ति को उसका मूल प्रयोजन माना है। उनके अनुसार काव्य पाठक के मन मे निहित ओज-भावना को उद्बुद्ध कर उसे आनद प्रदान करता है। उदाहरणार्थ "महाराणा प्रतापसिंह" शीर्षक नाटक मे सूत्रधार की यह उक्ति देखिए—"अब कोई नवीन नाटक खेलना चाहिए जो मनोरजक भी हो और उत्साहवर्द्धक भी हो।"[3] यह उत्साह देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने की प्रेरणा देने वाला है। उनके "महारानी पद्मावती" तथा "महाराणा प्रतापसिंह" शीर्षक नाटको मे वीर रस की विशेष व्याप्ति को लक्षित करते हुए अनुगमात्मक रीति से भी यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि काव्य का प्रयोजन पाठक के मन मे शौर्य भावना को विकसित करना है। यह मत भारतेन्दु युग की काव्य-चेतना के अनुकूल है। तत्कालीन कवि काव्य को देश के गौरव की अभिवृद्धि मे सहायक मानते थे। उदाहरणस्वरूप डॉ० रामविलास शर्मा की यह उक्ति देखिए—"भारतेन्दु की मिसाल बतलाती है कि देशभक्त लेखकों का सगठन किस तरह करना चाहिए। समाज-सस्कार और देश-प्रेम के उद्देश्य लेकर जब साहित्यकार एक होते तभी वे कुछ कर सकेंगे वरना रूढ़िवादियों से एका करके साहित्य का रथ पीछे ठेला जा सकता है, आगे नहीं बढ़ सकता।"[4] राधाकृष्णदास ने इस मत की पुष्टि के लिए "दु खिनी बाला" शीर्षक नाटक मे सूत्रधार से यह उक्ति उपस्थित कराई है—

---

१. सुकवि सतसई, उपहार भाग, छन्द ७२
२. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ ३४५
३. महाराणा प्रतापसिंह, पृष्ठ ४
४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १८०

"हमारी इच्छा है कि इस समाज में दु:खिनी बाला रूपक खेला जाय। इसमें मेरा यही तात्पर्य है कि लोग इसको देखकर देश की कुरीति को सुधारें।"[1]

उपर्युक्त प्रयोजन की सिद्धि तभी सम्भव है जब कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होने के अतिरिक्त बहिर्मुखी भी हो। वस्तुत: कवि बाह्य दर्शन के उपरान्त अपने अन्त:करण की प्रतिभा को सबके लिए सुलभ करता है। देश-प्रेमी कवि द्वारा सहृदय को भी उस ओर उन्मुख करने का यही रहस्य है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत द्रष्टव्य है—"क्या (नाटक) गुरु की भाँति उपदेश प्रदान करता है? नहीं, किन्तु वह बुद्धि को विवर्धित करता है, उसी कोटि की प्रतिभा को वितरित करता है—ननु किं गुरुवद् उपदेशं करोति। नेत्याह। किंतु बुद्धि विवर्धयति स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरतीत्यर्थ:।"[2] इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य सहृदय को जीवन्त चेतना प्रदान करता है। यद्यपि इस मत को नाटक के विषय में कथित उक्तियों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है, किन्तु हम इसे काव्य का सहज प्रयोजन मान सकते हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्य के अध्ययन से रसिक पाठकों तथा सत्कवियों को प्राप्त होने वाले आनन्द को काव्य का विशिष्ट प्रयोजन माना है। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"इकसै बत्तिस छन्द विविध भाँति विरचे सही।
जेहि पढ़ि लहहिं अनंद, रसिक सुजन कवि मुद लही।।"[3]

काव्य-शास्त्रियों ने इस आनन्द को उत्पादक कवि तथा सहृदय पाठक को प्राप्त होने वाला कहा है। "सहृदय" शब्द सामान्य पाठक के अतिरिक्त सत्कवि के लिए भी प्रयुक्त होता है क्योंकि सहृदयता के लिए अपेक्षित रागात्मक तत्व से वही सर्वाधिक सम्पन्न रहता है। काव्य से प्राप्य आनन्द के विषय में आचार्य कुन्तक का यह मत उल्लेखनीय है—"काव्यामृत के रस से काव्य-रसिक सहृदयों के मन में जिस चमत्कार की सृष्टि होती है वह चतुर्वर्ग-रूप फल के आस्वाद से भी अधिक होता है—चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्, काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।"[4] ठाकुर साहब ने इस मत का समर्थन कर काव्य-प्रयोजन के विषय में अपनी अन्तरंग दृष्टि का उपयुक्त परिचय दिया है। काव्य की रचना करते समय कवि के मन में विविध व्यक्तिगत कामनाएँ हो सकती हैं—*यश प्राप्ति भी उन्हीं में से एक है।* भारतेन्दु युग के कवियों ने सामान्यत: इसका प्रतिपादन नहीं किया है, किन्तु आलोच्य कवि ने अम्बिकादत्त व्यास की भाँति काव्य के मूल में कीर्ति को प्राप्त करने की इच्छा की अनिवार्य स्थिति मानी है। इसीलिए उन्होंने वाग्देवी से यह याचना की है कि वे उन्हें अपरिमित यश प्रदान करने वाले काव्य की

---

१. दु:खिनी बाला, पृष्ठ १
२. अभिनव भारती, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४१
३. श्यामालता, छन्द १२२
४. हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित, १।५

रचना करने की शक्ति प्रदान कर। यथा—

"कविता सरित प्रवाह, धारा सुइ कबहुँ न रुकै।
माँगों याही लाहु, जननि दीजिए बर सुयस॥"[1]

संस्कृत काव्य शास्त्र मे काव्य के इस प्रयोजन को व्यापक समर्थन प्राप्त रहा है। भामह से ले कर वामन, मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों तक ने इसका समर्थन किया है। भामह का मत है कि "जो व्यक्ति पृथ्वी की स्थिति तक यश-प्रसार की कामना रखता हो उसे नियमानुसार काव्य-रचना का प्रयास करना चाहिए—अतोऽभिवाञ्छता कीर्ति स्थेयसीमाभुव स्थिते, यत्नो विदितवेद्येन विधेय काव्यलक्षण।"[2] इस स्थान पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यश-प्राप्ति को काव्य प्रयोजन मानने पर भी जगमोहन सिंह की दृष्टि बाह्यार्थनिरूपिणी नही थी अन्यथा उन्होने रस को काव्यात्मा के रूप म मान्यता प्रदान न की होती।

काव्य के वर्ण्य विषय

आलोच्य कवि काव्य-वर्ण्य के विवेचन के प्रति विशेष सजग नही रहे हैं—इस विषय मे केवल प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास के मत उपलब्ध होते हैं। मिश्र जी ने लोक-मगल की स्थापना को काव्य का आदर्श माना है, अत काव्य में वर्णनीय विषयो के सम्बन्ध में उनके विचार इसके अनुरूप ही रहे हैं। वे काव्य में नैतिक मूल्यो के समावेश को उसका आधारभूत तत्व मानते थे। अत उन्होंने अभद्र आचरण को प्रोत्साहित करने वाले कवियो की स्पष्ट शब्दो में भर्त्सना की है। उनका मत है कि काव्य में देश प्रेम, ईश्वर भक्ति आदि ऐसे विषयों को स्थान प्राप्त होना चाहिए जो पाठक की नैतिक भावना का परितोष कर सकें। यथा—

"लोगो ही का नहीं आधुनिक कवियो का भी कुछ दोष है कि उन्होंने प्रेम का अर्थ व्यभिचार, मनबहलाव का अर्थ किसी स्वदेशी की निन्दा, झूठी चातुर्य का अर्थ खुशामद समझ के ग्रथ रग डाले हैं कि उन्हें पढ़ के चित्तवृत्ति कुमार्गगामी भए बिना मानती ही नहीं। देश भर में कदाचित् ऐसे कवि दस ही पन्द्रह निकलेंगे जिनकी लेखणी से परमेश्वर का सच्चा प्रेम स्वधर्म पर दृढ़ विश्वास एव स्वदेश की सच्ची भक्ति इत्यादि वास्तव में लाभजनक विषय लिखे जाते हों।"[3]

यह दृष्टिकोण भारतेन्दु युग के कवियों द्वारा सामान्यत समर्थित रहा है। इससे काव्य में तत्कालीन देश-काल की सापेक्षता पर उपयुक्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुत भारतेन्दु युग की कविता इसी तत्व के फलस्वरूप रीतिकालीन काव्य धारा से भिन्न रह सकी है। द्विवेदीयुगीन कवियों ने भी इसका व्यापक समर्थन किया है। इसीलिए डॉ० राम-

---

१ देवयानी, पृष्ठ १५

२ काव्यालकार, १।८

३ ब्राह्मण, १५ जून, सन् १८८४, पृष्ठ ४, कालम १२

शंकर शुक्ल "रसाल" ने "रसकलस" की भूमिका में प्रायः मिश्र जी के उपर्युक्त मन्तव्य की इस प्रकार पुनरावृत्ति की है—

"प्रत्येक लेखक एवं कवि का यही मुख्य कर्तव्य-कर्म तथा परिपालनीय धर्म है कि वह अपनी रचना के द्वारा अपने देश तथा समाज की समय-सम्मानित सभ्यता-संस्कृति का संरक्षण करता हुआ प्राचीन परम्परा का यथेष्ट (यथावश्यकता) परिमार्जन एवं परिशोधन कर अपने वास्तविक धर्म-कर्म का प्रचार करे।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मिश्र जी ने मंतव्य में लोकोपकारी वृत्ति को आवश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि कवि को जनता के मानसिक उन्नयन में सहायक कृतियों की रचना करनी चाहिए।[2] "कलिकौतुक रूपक" में परस्त्रीगमन, मदिरापान, वेश्यावृत्ति आदि सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने पर बल देकर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में भी यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में समाज के लिए उपयोगी विषयों को स्थान प्राप्त होना चाहिए। इस नाटक के शिवनाथ नामक पत्र-सम्पादक की यह उक्ति मिश्र जी के अंतरंग भाव को ही प्रकट करती है—

"तजि दुखप्रद दुर्व्यसन पुरुष बनिता अरु बालक।
मन क्रम वच सों होहिं सुखद आज्ञा प्रतिपालक॥
निज गौरव पहिचान सजग रहि कपटी जन सों।
करहिं सर्व सब काल देश हित तन मन धन सों॥
भारत में चहुँ दिशि प्रेममय धवल धुजा फहरत रहै।
वाणी प्रताप हरि मिश्र को सुहृद हृदय आदर लहै॥"[3]

काव्य-वर्ण्य के प्रति यह दृष्टिकोण निश्चय ही काव्य को चिरस्थायी मूल्य प्रदान करने वाला है। यद्यपि उनके काव्य का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह भी कहा जा सकता है कि वे काव्य को शुष्कता से मुक्त रखने के लिए उसमें हास्य रस के समावेश *का समर्थन करते थे और विषय-वैविध्य पर बल देते थे, तथापि प्रत्यक्ष कथन के अभाव* में इस विषय की मीमांसा सम्भव नहीं है।

बाबू *राधाकृष्णदास* ने काव्य में वर्णनीय विषयों का विशेष विवेचन तो नहीं किया है तथापि उनका मत है कि काव्य वर्ण्य को तत्कालीन देश-काल से सम्बद्ध रखना चाहिए। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने काव्य को कला विषयक रूढ़ियों में आबद्ध करने का विरोध किया है, क्योंकि ऐसा करने से कवि के मन में सहज रूप से स्थित भावना क्षीण होती है। इसी कारण उन्होंने कवि को यह सन्देश दिया है कि वह अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियों के आलोक में काव्य में लोकोपयोगी विषयों का समावेश करने की ओर उपयुक्त ध्यान दे। *यथा*—"कवियों को बहुत से नियमों में आबद्ध न कर के

१ रसकलस, प्राक्कथन, पृष्ठ ६
२ देखिए "महारानी पद्मावती" (नाटककार—राधाकृष्णदास), सम्मति-भाग में मिश्र जी की नाटक विषयक सम्मति
३ कलिकौतुक रूपक, पृष्ठ ४४

उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार कविता करने दो परन्तु उनकी रुचि समयोपयोगी आवश्यकताओं की ओर झुका कर अपने साहित्य भंडार को उपयोगी विषयों से भरने का उद्योग करो।"[1] उत्साह की प्राप्ति को काव्य का मूल प्रयोजन मानने वाले कवि द्वारा काव्य वर्ण्य को युगानुकूल रखने की आवश्यकता का प्रतिपादन स्वाभाविक ही है। उनकी कविताओं का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से भी यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओं में भक्ति और शृंगार को भी स्थान दिया है, तथापि उनके काव्य का मूल सन्देश देश प्रेम ही है।

काव्य-शिल्प

प्रस्तुत कवियों में से प्रतापनारायण मिश्र और अम्बिकादत्त व्यास ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत भाषा और छन्द योजना के विषय में स्फुट रूप से सिद्धान्त निरूपण किया है। मिश्र जी ने काव्य भाषा के स्वरूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं किया है, तथापि "खड़ी बोली का पद्य" शीर्षक लेख में भारतेन्दुयुगीन काव्य की माध्यम भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने ब्रजभाषा का समर्थन किया है—"कवि होते हैं निरंकुश, उनकी बोली भी स्वच्छन्द ही रहने से अपना पूरा बल दिखा सकती है।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा के निर्धारण में स्वतन्त्रता न होने पर कवि अपने भावों का अभिव्यंजना शैली से सामंजस्य स्थापित करने में उत्साह का अनुभव नहीं कर पाता। मिश्र जी ने उक्त लेख में ब्रजभाषा के समर्थन के लिए खड़ी बोली के काव्य-गुणों का तिरस्कार नहीं किया है। उनका प्रतिपाद्य केवल यह है कि "यदि काव्य-रसिक लोग ब्रजभाषा ही को मधुर कविता के योग्य मानते हैं तो क्या अन्याय है?"[3] स्पष्ट है कि उन्होंने भाषा के प्रश्न के कारण कवि की भावाभिव्यक्ति के मार्ग में उठने वाली विषमताओं के प्रति विरोध प्रकट किया है, जो न्यायसंगत है। भाषा का प्रयोग कवि की इच्छा पर निर्भर करता है, "फिर हम नहीं जानते खड़ी बोली की कविता के पक्षपाती ब्रजभाषा से क्यों चिढ़कते हैं और श्री गोस्वामी तुलसीदास तथा बिहारीलाल इत्यादि सत्कवियों के वचनामृत को सुधारने के नीयत से क्यों व्यर्थ करकों बालू बनाते हैं?"[4] मिश्र जी ने भाषा स्वातन्त्र्य के विषय में कवि के इस अधिकार की आग्रहपूर्वक स्थापना की है। यथा—"जो कविता के समझने की शक्ति नहीं रखते वे सीखने का उद्योग करें। कवियों को क्या पड़ी है कि किसी के समझाने को अपनी बोली बिगाड़ें।"[5]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि मिश्र जी ने काव्य भाषा को जन-सामान्य की भाषा से भिन्न माना है। कवि की इस स्वतन्त्रता को स्वीकार करने के अतिरिक्त उन्होंने काव्यगत शब्द-योजना को भी बन्धन मुक्त रखने पर बल दिया है। उनके अनुसार

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, छठा भाग, सन् १९०२, पृष्ठ १८०
२ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृष्ठ १६६
३ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृष्ठ ४३२ ४३३
४ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृष्ठ ४०२
५ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृष्ठ १६७

"कवि लोग यदि अवसर पड़ने पर माधुर्य एवं लावण्य के अनुरोध से शब्दों में कुछ परिवर्तन न करें तो निरसता कानों और प्रानों में खटकने लगती है।"[१] यहाँ भाषा के व्याकरणिक बन्धनों के प्रति अनास्था प्रकट की गई है, किन्तु भाषा को माधुर्य प्रदान करने में इस प्रकार के परिवर्तनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने "मन की लहर" तथा "फारसी" शीर्षक कविताओं[२] में हिन्दी शब्दों के अतिरिक्त उर्दू तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग कर अप्रत्यक्ष रूप से भी यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में शब्द-प्रयोग को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा "प्रेमघन" की भाँति वे भी हिन्दी-भाषा को अन्य भाषाओं की शब्दावली से समृद्ध करने के पक्षपाती थे। तथापि उन्होंने काव्य भाषा के रूप में हिन्दी के विविध गुणों को लक्षित करते हुए उसे अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ माना है। यथा—**"सखुन के गूढ़ आशय यदि किसी अन्य भाषा में कुछ दरसाए जा सकते हैं तो हिन्दी ही में दरसाए जा सकते हैं।"**[३]

मिश्र जी ने काव्य और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध के आख्यान अथवा परीक्षण में अभिरुचि नहीं दिखाई है, किन्तु "आल्हा आह्लाद" शीर्षक लेख में आल्हा छन्द के स्वरूप का उल्लेख कर इस ओर अपनी प्रवृत्ति का संकेत अवश्य किया है। उन्होंने इस छन्द को नियम-बन्धन से मुक्त होने के कारण हिन्दी का "ब्लैंक वर्स" कहा है और इस प्रकार कवियों को प्रत्यक्ष रूप से इसका प्रयोग करने का सन्देश दिया है। यथा—**"यह सीधा छन्द है, अशुद्धि का बहुत भय नहीं है। तुक के मिलने की भी इसमें विशेष चिन्ता नहीं होती क्योंकि यह हमारा शून्य वृत्त (ब्लैंक वर्स) है।"**[४] यद्यपि उन्होंने इस छन्द में मात्रा-गणना और यति-निर्वाह की स्थिति का विवेचन नहीं किया है, तथापि उनके कथन में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। उनका अभिप्राय यही है कि इसके प्रति कवियों की उपेक्षा का निवारण कर उन्हें इसकी सहजता से अवगत कराया जा सके। इसीलिए इसमें तुक-योजना का निषेध न होने पर भी उन्होंने इसमें शून्य वृत्त के लिए अपेक्षित तुक-मुक्ति को सम्भव माना है। तुक की अपरिहार्यता का विरोध शून्य-वृत्त का प्रधान लक्षण है। अंग्रेजी में शेक्सपियर ने तुक-श्रम के लिए अपेक्षित प्रयास से मुक्त होने के लिए अपनी कविता में शून्य वृत्त की उद्भावना की थी।[५] अतः यह स्पष्ट है कि मिश्र जी का आल्हा छन्द विषयक विवेचन युक्तिसंगत है।

---

१. प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४८३

२. देखिए "प्रताप-लहरी", पृष्ठ ७५ तथा ८५

३. मान शाकुन्तल, भूमिका में उद्धृत

४. प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २३८

५. "Shakespeare XXXXX was the first who, to shun the pains of continual rhyming, invented that kind of writing which we call blank verse"

(Dramatic poesy and other and other Essays, J. Dryden, page 186)

पं० अम्बिकादत्त व्यास ने काव्य भाषा और छन्द-योजना के विषय में स्फुट विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने भाषा के विविध गुणों की सम्यक् चर्चा नहीं की है तथापि उपलब्ध सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे उसे संस्कृत पदावली से समृद्ध रखने पर बल देते थे। "संस्कृत-सन्ताप" शीर्षक रूपक में संकेत रूप में इसी दृष्टिकोण की स्थापना की गई है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने "बिहार-संस्कृत संजीवन समाज" के समक्ष सन् १८८६ में दिए गए वक्तव्य में भी इसी मन्तव्य को स्पष्ट किया है। यथा—**"क्या संस्कृत भाषा के लुप्त होने पर हिन्दी भाषा स्थिर रह सकती है? कभी नहीं, उसका भी जीवन संस्कृत ही है।"**[2] हिन्दी के लिए संस्कृत के दृढ़ आधार का समर्थन करने के कारण ही व्यास जी ने काव्य में व्याकरण-विहित पदावली को स्थान देने पर बल दिया है। वे भाषा शुद्धि को काव्य का मूल तत्व मानते थे। इस विषय में उनकी मान्यता इस प्रकार है—

"हमारे सहयोगी महात्मा हिन्दी की उन्नति के लिए बहुत चेष्टा कर रहे हैं पर उसके साथ हिन्दी को श्रेणीबद्ध औ शुद्ध करने के लिए वैसा श्रम नहीं करते। हिन्दी में सहस्रों बातें ऐसी हैं जो हिन्दी व्याकरणों से भी रह गई हैं और जिनका झगड़ा मिट जाना सम्प्रति आवश्यक है।"[3]

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि व्यास जी काव्य में संस्कृत की तत्सम पदावली से सम्पन्न क्लिष्ट भाषा के पक्षपाती थे। वस्तुतः काव्य-भाषा के विषय में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। इसी कारण उन्होंने अपने समकालीन कवियों (भारतेन्दु तथा "प्रेमघन") की भाँति काव्य में विविध भाषाओं को स्थान देने का समर्थन किया है। "भारत सौभाग्य" नाटक में संस्कृत, प्राकृत, बंगला, राजस्थानी, खड़ी बोली आदि भाषाओं की स्थिति इसी प्रवृत्ति की परिचायक है।[4] उनके काव्य का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे सरल और मधुर भाषा के प्रयोग का समर्थन करते थे। "सुकवि सतसई" तथा "पावस पचासा" की सरल रचना प्रणाली इसकी प्रतीक है। अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य-भाषा में सहजता, मधुरता और शब्द शुद्धि को स्थान दिया है।

व्यास जी ने भाषा की अपेक्षा छन्द के विवेचन में अधिक श्रम किया है। वे कविता को छन्द निर्वाह के क्षेत्र में किसी भी प्रकार से सीमाबद्ध करने के विरोधी थे। छन्द शास्त्र की रूढ़ियों के परिपालन को अनावश्यक मानने के कारण ही उन्होंने "गद्य-काव्य-मीमांसा" शीर्षक लेख में पद्य की अपेक्षा गद्य रचना को अधिक सुविधाजनक माना है। यथा—**"पद्य में तो छन्द के कारण स्वच्छन्द शब्दों का विन्यास नहीं हो सकता क्योंकि**

---

१. देखिए "मन की उमंग", पृष्ठ १२-१६
२. आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में उक्त भाषण की सुरक्षित प्रति, पृष्ठ ७
३. पीयूषप्रवाह, अप्रैल १८८५, पृष्ठ ८
४. देखिए "भारत सौभाग्य", पृष्ठ ४५-८५

उतने ही लघु गुरु के नियम से कसे हुए शब्द चाहिएँ पर यह बात गद्य में नहीं है।"[१] काव्य में छन्द-बन्धन के प्रति यह विद्रोही स्वर भारतेन्दु युग के किसी अन्य कवि ने प्रकट नहीं किया है, किन्तु परवर्ती कवियों ने इस विषय में पर्याप्त विवेचना की है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने पर इनके औचित्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। कवि की दृष्टि काव्य में रस नियोजन पर केन्द्रित रहनी चाहिए। यदि वह छन्द-विषयक नियमों के परिपालन को ही मुख्य मानेगा तो काव्य के भाव-तत्त्व में क्षीणता आने की सम्भावना रहेगी। व्यास जी के परवर्ती कवियों में "हरिऔध" ने इस विषय में यह मत प्रकट किया है—

"कवि-कर्म कठिन है, उसमें पग-पग पर जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। पहले तो छन्द की गति स्वच्छन्द बनने नहीं देती, दूसरे मात्राओं और वर्णों की समस्या भी दुरूहता-रहित नहीं होती।"[२]

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने छन्द-नियमों को शिथिल करने की आवश्यकता का प्रतिपादन कर आधुनिक हिन्दी-कवियों द्वारा छन्द-शास्त्र-विवेचन का प्रवर्तन किया है। उन्होंने तुक-योजना की अपरिहार्यता का भी विरोध किया है। तुकान्त काव्य में कवि को शब्द-प्रयोग की जिस सीमा में बन्दी रहना पड़ता है उससे काव्य के भाव-तत्त्व और कला-तत्त्व की स्वाभाविकता का ह्रास होता है। यदि उसे इस बन्धन से मुक्ति मिल जाए तो काव्य में भावना तथा भाषा की उज्ज्वलता का कहीं अधिक सफल विधान किया जा सकता है। यथा—'प्रायः पद्य में पदान्त के अनुप्रास (काफ़िया रदीफ़) का बड़ा बखेड़ा रहता है, जिसके कारण कभी अप्रकृत शब्द का भी प्रयोग करके अपने स्वभाव सुन्दर अभिप्राय में धक्का लगाना पड़ता है और कभी कभी भाषा में कुछ विकृति कर के कितने ही नये शब्द बनाने पड़ते हैं। जिससे तत्क्षण भी प्रसाद गुण नष्ट हो जाता है और भविष्य काल के लिए अपभ्रंश शब्दों की नींव पड़ती है।'[३]

यह मत संस्कृत के अतुकान्त काव्य से प्रभावित है। व्यास जी संस्कृत के सफल कवि थे, अतः उनके लिए इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होना स्वाभाविक है। भारतेन्दु युग में इस मत की स्थापना उनकी मौलिक देन है। इसके मूल में उनकी अनुभूति और चिन्तन-शक्ति की समान व्याप्ति रही है। इसी कारण द्विवेदी युग में आचार्य द्विवेदी तथा 'हरिऔध' ने इस मत का सम्यक् सम्पादन किया। द्विवेदी जी की उक्ति को तो व्यास जी के मन्तव्य का छाया रूप ही कहा जा सकता है—"अनुप्रासों के ढूंढ़ने का प्रयास उठाने में समुचित शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासों का विचार न करने से कविता लिखने में सुगमता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ व्यक्त करने में विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती।

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सन् १८९७ का प्रथम अंक, पृष्ठ ७

२. वैदेही-वनवास, भूमिका, पृष्ठ ६

३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सन् १८९७ का प्रथम अंक, पृष्ठ १०२

अतएव पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की बडी आवश्यकता है।"[1] यह स्पष्ट है कि व्यास जी छन्द के विषय मे मौलिक और क्रान्तिकारी विचार रखते थे।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

काव्यानुवाद

काव्य के उपर्युक्त अगो के अतिरिक्त *ठाकुर जगमोहन सिंह* ने काव्यानुवाद के स्वरूप की सक्षिप्त विवेचना की है। उन्होने कालिदासकृत "ऋतुसहार" और "मेघदूत" का ब्रजभाषा मे अनुवाद किया है। अत यह स्वाभाविक ही होता कि वे इनकी भूमिकाओ मे अनुवाद-कला की प्रासगिक चर्चा करते, किन्तु इस दिशा मे उनका विवेचन अत्यन्त सक्षिप्त है। उन्होने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को महत्व दे कर अनुवादक को यह सन्देश दिया है कि वह मूल कृति के भाव-सरक्षण की ओर पूर्णत सजग रहे। यथा—**"मेरी यह इच्छा थी कि जहां तक हो सके भाषा पाठको के निमित्त ठीक-ठीक उल्था हो और समय और प्रकृति के अनुसार हुआ भी है, हां शब्द के लिए शब्द तो नहीं लिखा पर जिस्में पाठको को उतनी ही बातें ज्ञात हो जो सस्कृत मूल के पढने से जान पडें इस अनुवाद के पढने से वह काम अवश्य निकलेगा।"**[2]

अनूदित कृति के अध्ययन से मूल कृति के समान आनन्द प्राप्त करने के लिए यही अपेक्षित भी है। वस्तुत. अनुवाद मे सजीवता और प्रभावोत्पादन की योजना के लिए भावानुवाद को उसका विशिष्ट शोभा-धर्म कहा जा सकता है। आलोच्य कवि ने "ऋतु-सहार" की भूमिका मे इसी धारणा को अग्रेज़ी मे कथित किया है।[3] इससे उनकी अनुवाद रुचि का उपयुक्त परिचय प्राप्त हो जाता है। इस दिशा मे उनका प्रयास इसलिए और भी अधिक अभिनन्दनीय है कि भारतेन्दु युग के कवियो मे अनुवाद-कला पर प्रकाश डालने की ओर सर्वप्रथम उन्होने ही ध्यान दिया है। उनके सहयोगी कवियों ने काव्यानुवाद मे तो रुचि रखी है, किन्तु वे तद्विषयक सिद्धान्त-कथन की ओर से विमुख रहे हैं।

सिद्धान्त-प्रयोग

भारतेन्दु-मडल के कवियो की काव्य-सम्बन्धी धारणाओ के व्यावहारिक रूप का अध्ययन करने के लिए उन पर *"काव्य का अन्तरग"*, *"काव्य शिल्प"* और *"स्फुट काव्य-सिद्धान्त"* के शीर्षको के अनुसार विचार करना सुविधाजनक रहेगा। उनके द्वारा निरूपित काव्यागो मे से काव्य-स्वरूप और काव्यात्मा का विवेचन अत्यन्त सक्षिप्त है, अतः उनके काव्यगत प्रयोग के अनुशीलन के लिए विशेष अवकाश नही है। इसी प्रकार काव्य-हेतु विषयक विचारो के रचनागत प्रतिफलन का प्रश्न नही उठता।

---

१. रसज्ञ-रजन, पृष्ठ १६-१७
२. मेघदूत, प्रस्तावना, पृष्ठ १२
३ देखिए "ऋतुसहार", एडवरटिजमेंट, पृष्ठ ६

१ काव्य का अन्तरंग

आलोच्य कवियों ने काव्य में आन्तरिक सौन्दर्य का विधान करने वाले तत्त्वों में से मुख्यतः काव्य-प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य के स्वरूप की मीमांसा की है। इन दोनों के संबंध में उनके विचार एक-दूसरे के पूरक हैं, अतः उनके काव्यगत रूप का एक साथ विवेचन किया जा सकता है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि काव्य के अन्य अंगों में से राधा-कृष्णदास ने काव्य के स्वरूप पर विचार करते समय उसमें भावना की स्वाभाविक और रसपूर्ण अभिव्यक्ति पर बल दिया है। उनकी कविताओं में इस दृष्टि से किसी प्रकार का अन्तर्विरोध उपलब्ध नहीं होता—उनमें रस, सहजता और मार्मिकता के समावेश की ओर उपयुक्त ध्यान दिया गया है। इसी प्रकार जगमोहन सिंह ने काव्यात्मा के रूप में रस को मान्यता दी है। शुद्ध हृदयवादी कवि होने के नाते उन्हें इसके परिपालन में पूर्ण सफलता मिली है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर सहृदय को रस-संवेदन की स्थिति सहज ही प्राप्त हो जाती है। आलोच्य कवियों का मूल विषय काव्य के प्रयोजनों और वर्ण्यों का निर्धारण है। प्रतापनारायण मिश्र के अनुसार काव्य सहृदय को सामाजिक कुरीतियों के नाश की प्रेरणा देकर उसे ईश भक्ति जैसे सद्गुणों की ओर प्रवृत्त होने तथा देश-हित में योग देने का सन्देश देता है। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य के भाव-पक्ष को इन सभी तत्त्वों से पुष्ट करने की ओर सम्यक् ध्यान दिया है। उनकी "तृप्यन्ताम" तथा "लोकोक्तिशतक" शीर्षक कृतियाँ समाज के लिए उपयोगी भावनाओं से स्पष्ट अनुप्राणित रही हैं। "प्रताप लहरी" की अनेक कविताओं (मन की लहर, गो-गुहार, होली आदि) में भी समाज की अधोगति पर शोक प्रकट करते हुए सहृदयों को सद्गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने का सन्देश दिया गया है। इसी प्रकार "भारत-रोदन", "प्रार्थना और भजन" प्रभृति कविताओं में क्रमशः राष्ट्र प्रीति एवं ईश्वर-प्रेम का निर्मल प्रतिपादन हुआ है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास ने काव्य को क्षणिक मनोरंजन का साधन बनाने की प्रवृत्ति का विरोध कर उसमें देश तथा धर्म की उन्नति में सहायक विषयों की चर्चा द्वारा लोक-मंगल के समावेश पर बल दिया है। यह दृष्टिकोण उनकी काव्य-रचनाओं की अपेक्षा नाटकों में अभिव्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से "भारत सौभाग्य" नाटक में जनता को अंग्रेजी राज्य में प्राप्त सुविधाओं को ग्रहण करने का उद्बोध दिया गया है। "गोसंकट नाटक" में पाठक को हिन्दू-धर्म की मूल चेतना की ओर उन्मुख करने का सहज प्रयास हुआ है। स्पष्टतः इस सिद्धांत का परिपालन नाट्य-कृतियों के अतिरिक्त उनकी कविताओं में भी अभीष्ट था। उन्होंने कविताओं में क्षणिक मनोरंजन को स्थान नहीं दिया है, किन्तु उनके काव्य में शृंगारिक प्रेम का उल्लेख स्पष्टतः देश तथा धर्म की उन्नति में सहायक नहीं है। उन्होंने देश प्रेम को गति प्रदान करने वाली कविताओं की रचना कम ही की है। राधा-कृष्ण-प्रेम की अभिव्यक्ति की प्रमुखता के कारण उनके भक्ति-काव्य में धर्म का तत्व भी न्यून ही है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त काव्य-प्रयोजन की उपेक्षा न करने पर भी वे

अपनी कविताओं मे उसके प्रति विशेष सजग नही रहे है।

बाबू राधाकृष्णदास ने लोक-मगल की प्रेरणा तथा उत्साह की प्राप्ति को काव्य के मूल प्रयोजन माना है। उनकी कविताओ तथा नाटको मे इन प्रयोजनो की उपयुक्त व्याप्ति रही है। "पृथ्वीराज-प्रयाण" तथा "प्रताप विसर्जन" शीर्षक कविताओ[1] एव "महाराणा प्रतापसिह" तथा "महारानी पद्मावती" नामक नाटको मे उत्साह-तत्व की सुदर योजना हुई है। "विनय" शीर्षक कविता[2] तथा "दु खिनी बाला" रूपक मे नैतिकता का समर्थन करते हुए लोक मगल की भी उपयुक्त व्यवस्था की गई है। काव्य-वर्ण्य की चर्चा करते समय उन्होने इन प्रयोजनो की सिद्धि के लिए काव्य मे समयोपयोगी विषयो की चर्चा पर बल दिया है। "भारत बारहमासा" तथा 'देश-दशा" शीर्षक कविताओ मे इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति मिलती है।[3] अत यह स्पष्ट है कि उनके काव्य मे उपर्युक्त काव्य प्रयोजनो का सफल निर्वाह हुआ है।

२ काव्य-शिल्प

आलोच्य युग मे काव्य-शिल्प का विवेचन करने वाले कवियो मे से प्रतापनारायण मिश्र ने एक ओर कवि को शब्द-चयन अथवा भाषा-निर्धारण की स्वतन्त्रता प्रदान कर उसे सरल और सजीव भाषा के प्रयोग का परामर्श दिया है और दूसरी ओर आल्हा छन्द मे काव्य-रचना की प्रेरणा दी है। उन्होने ब्रजभाषा की कविताओं की रचना के अतिरिक्त "ब्राह्मण का अन्तिम उपदेश" तथा "मन की लहर" शीर्षक कविताओ मे क्रमश अवधी ब्रजभाषा एव उर्दू-फारसी के शब्दो का प्रयोग किया है। उन्होने सस्कृत मे लावनियो की रचना भी की है।[4] उनकी कविताओ मे प्राय भाषा की सरलता और सजीवता की प्राकृत स्थिति रही है, किन्तु जिन कविताओं मे उर्दू-फारसी के शब्दो का आधिक्य है, उनमे भाषा की प्रासादिकता को हानि पहुँची है। छन्द-योजना की दृष्टि से उन्होने "कानपुर माहात्म्य" तथा "दगल खड" नामक कविताओ मे आल्हा छन्द का सफल प्रयोग किया है।[5]

सुकवि अम्बिकादत्त व्यास ने काव्य की भाषा को सस्कृत-पदावली से पुष्ट कर व्याकरणिक नियमो के निर्वाह पर बल दिया है। सिद्धान्त प्रयोग की दृष्टि से इस ओर विशेष आग्रह न रखने पर भी उन्होने सामान्यत. इसका पालन करने की चेष्टा अवश्य की है। उनकी कविताएँ प्राय ब्रजभाषा मे प्रणीत है और उन मे सस्कृत की कोमल-कान्त पदावली को व्याकरण-विहित रूप मे स्थान देने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। उनका

---

१. देखिए "राधाकृष्ण-ग्रन्थावली", प्रथम खड, पृष्ठ १२-१४, २६-३०

२. देखिए "राधाकृष्ण-ग्रथावली", प्रथम खड, पृष्ठ ६१-६२

३ देखिए "राधाकृष्ण-ग्रन्थावली" प्रथम खड, पृष्ठ १५-१७, २०-२२

४. देखिए "प्रताप-लहरी", पृष्ठ ८४

५. देखिए "प्रतापनारायण मिश्र" (सम्पादक : श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा), पृष्ठ २६-३५ तथा ३६-३८

"कंसवध" काव्य खड़ी बोली की रचना है।[1] उसमें भी भाषा के उपर्युक्त गुणों की स्थिति रही है, किन्तु इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने संस्कृत-पदावली के कारण अपनी कृतियों की भाषा को क्लिष्ट नहीं होने दिया है। उन्होंने छन्द-योजना पर विचार करते समय यह प्रतिपादित किया है कि छन्द-बन्धन को शिथिल कर अतुकान्त छन्दों में काव्य-रचना की जानी चाहिए। यद्यपि वे अपने काव्य में इस दृष्टिकोण का सर्वत्र परिचय नहीं दे सके हैं, तथापि "कंस-वध" को अतुकान्त छन्दों में ही प्रणीत किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कृतियों में परम्परागत छन्द नियमों का त्याग करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती।

३ स्फुट काव्य-सिद्धान्त (काव्यानुवाद)

ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्यानुवाद-विषयक विचारों को स्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित न कर उन्हें अपनी अनूदित कृतियों पर घटित करते हुए उपस्थित किया है। इस दिशा में उनके विचार आत्म विश्लेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनकी एकमात्र स्थापना यह है कि कवि को शब्दानुवाद का आश्रय लेने की अपेक्षा मूल कृति के भाव-सौन्दर्य के संरक्षण की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि में उनकी "ऋतुसंहार" तथा "मेघदूत" शीर्षक अनूदित कृतियों में यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। उनमें व्रजभाषा के माधुर्य द्वारा शिल्प-सज्जा की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया गया है, तथापि उनकी दृष्टि मूलतः भाव-पक्ष की पुष्टि पर ही केन्द्रित रही है। इसीलिए उन्होंने अपनी कवि भावना के अनुकूल मूल कृतियों के भावों में यत्र-तत्र साधारण संकोच अथवा विस्तार भी कर लिया है। शब्दानुवाद का आश्रय लेने पर स्पष्टतः ऐसा नहीं किया जा सकता था।

विवेचन

प्रस्तुत कवियों की काव्य-मान्यताओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-चिन्तन के प्रति सीमित रुचि रहने पर भी उन्होंने भारतेन्दुकालीन चिन्ता-धारा के विकास में उपयुक्त योग दिया है। उनके विचार प्रायः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और "प्रेमघन" के काव्य सिद्धान्तों की सामान्य पीठिका के अनुरूप रहे हैं, तथापि कहीं-कहीं मौलिकता का भी परिचय दिया गया है। इस दृष्टि से अम्बिकादत्त व्यास ने वर्ण्य विषय की सप्राणता को काव्य का हेतु विशेष मान कर अपने समकालीन कवियों की अपेक्षा मौलिकता को प्रकट किया है। उनके छन्द-विवेचन में भी मौलिकता स्पष्ट है। वे हिन्दी के प्रथम कवि हैं जिन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि छन्द-नियम कवि भावना से प्रेरित रहते हैं। अतुकान्त छन्द रचना की आवश्यकता का प्रतिपादन कर के भी उन्होंने अपने परवर्ती कवियों को विशिष्ट प्रेरणा दी है। उनके अतिरिक्त ठाकुर जगमोहन सिंह ने काव्यानुवाद के विवेचन का प्रवर्तन कर निश्चय ही चिन्तन की स्वच्छता का परिचय दिया है।

१. इस महाकाव्य का एक सर्ग व्यास जी द्वारा सम्पादित "साहित्य नवनीत" में संकलित है। मूल कृति के प्राप्त न होने के कारण हमने इसका उल्लेख श्री अविनाशचन्द्र अग्रवाल के "भारतेन्दुयुगीन कवि" शीर्षक शोध-प्रबन्ध की टंकित प्रति व पृष्ठ-संख्या १६५ के आधार पर किया है।

ठाकुर साहब की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होने काव्य सिद्धान्तो की स्थापना के लिए अपने भावमग्न कवि हृदय के अनुकूल मनोविज्ञान से प्रेरित रह कर एक विशेष आत्मीयतापूर्ण वातावरण को चुना है। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि उन्होने अन्य काव्यागो की विवेचना मे विशेष विदग्धता का परिचय नही दिया है। इसी कारण उन्होने काव्य के बाह्य रूप की अपक्षा आन्तरिक तत्वो की अधिक मीमासा की है। इस दिशा मे भी उनकी दृष्टि अधिकतर काव्य प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य की समीक्षा पर केन्द्रित रही है। गहन विवेचन के अभाव मे वे कही-कही अपनी मान्यताओ को व्यवस्थित रूप देने मे असफल अवश्य रह हैं, किन्तु यह निर्विवाद है कि प्रस्तुत युग के काव्य रूप को समझने मे उनकी धारणाएँ सर्वथा नगण्य नही हैं। उनके सिद्धान्त सीमाबद्ध होने पर भी प्राय निर्दोष हैं। उनमे प्रौढि की न्यूनता नही है।

: ३ :

भारतेन्दु युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

समन्वित विवेचन

भारतेन्दु युग के कवियों द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धान्त व्यापक न होने पर भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति संस्कृत काव्य शास्त्र का पिष्टपेषण न कर अपने सिद्धान्त निरूपण की दिशा को उनसे पर्याप्त भिन्न रखा है। जहाँ रीतिकाल में कवियों का ध्यान मुख्यतः रस, रसांग (भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि), अलंकार, शब्द शक्ति, काव्य-गुण और काव्य-दोष के विवेचन पर केन्द्रित रहा था, वहाँ इस युग के कवियों ने इनमें से केवल रस और अलंकार की ही सीमित रूप में चर्चा की है। उनकी प्रवृत्ति विशेषतः काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प के विवेचन की ओर रही है। उन्होंने काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्यानुवाद और काव्यालोचन का सामान्य उल्लेख किया है। इनके प्रतिपादन के लिए प्रायः प्रत्यक्ष कथन का ही आश्रय लिया गया है। तथापि काव्य-स्वरूप, काव्य-वर्ण्य एवं शिल्प-सम्बन्धी विचारों के निर्धारण में अप्रत्यक्ष अध्ययन प्रणाली भी सहायक रही है। उन्होंने काव्य के तत्वों और काव्य-रचना के रूपों की चर्चा नहीं की है, तथापि यह उनके काव्य चिन्तन का दोष नहीं है, क्योंकि किसी भी कवि आलोचक से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह कवि-कर्म को गौण मान कर काव्य के सर्वांग निरूपण को प्राथमिकता दे। आगे हम इस युग के काव्य सिद्धान्तों का समग्र दृष्टि से विवेचन करेंगे।

१. काव्य का स्वरूप

भारतेन्दुयुगीन कवियों में से काव्य के स्वरूप पर प्रमुखतः "प्रेमघन" और साधारणतः राधाकृष्णदास ने विचार किया है। उनके अतिरिक्त किसी अन्य कवि ने इस काव्यांग का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं किया है, तथापि उनके काव्य का अनुगम विधि से अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि उन्हें भी इन दोनों कवियों की मान्यताएँ स्वीकार्य रही हैं। यद्यपि उनसे काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा काव्य स्वरूप-कथन की अधिक अपेक्षा की जा सकती थी, क्योंकि कवि-मात्र के मन में काव्य के विषय में किसी धारणा का होना स्वाभाविक है, तथापि काव्य-सिद्धान्त निरूपण की ओर विशेष प्रवृत्ति न होने के कारण कविगण इस ओर से प्रायः उदासीन रहे हैं। फिर भी उनके द्वारा विवे-

चित अन्य काव्यागो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे काव्य मे समाज और राष्ट्र के लिए उपयोगी विचार धारा के सरस, सहज एव मधुर आख्यान पर बल देते थे। उनके द्वारा मान्य काव्य रूप को द्विवेदी युग मे भी लगभग इसी रूप मे स्वीकार कर लिया गया अन्तर केवल यही रहा कि जहाँ आलोच्य युग के कवियो को अपनी पूर्ववर्ती काव्य-सिद्धि मे से काव्य मे भक्ति और शृगार की चर्चा भी स्वीकार्य रही है वहाँ द्विवेदी युग के कवियो ने इनमे मे शृगार रस को मर्यादित रूप मे ग्रहण करने का प्रतिपादन किया है।

२ काव्य की आत्मा

आलोच्य कवियो मे काव्य की आत्मा के विवेचन की ओर केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रमघन' और जगमोहन सिंह ने ध्यान दिया है। उन्होने आचार्यों द्वारा स्वीकृत काव्य के सभी प्राण-तत्वो (रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि) का उल्लेख न कर केवल रस को ही काव्यात्मा माना हैं। रस-सम्प्रदाय से अन्य काव्य-सम्प्रदायो का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना उनके लिए अनिवार्य भी नही था। काव्य मे रस की प्रधानता को भारतेन्दु-मडल के अन्य कवियो ने भी अपनी काव्यगत रस माधुरी द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। यहाँ काव्यात्मा के विषय मे रीतिकालीन कवियो का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। उस युग मे मतिराम, देव, रसलीन, बेनी प्रवीन, घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदि कवियो ने रस को काव्यात्मा माना है, केशव, ग्वाल, रहमान, उत्तमचन्द भडारी आदि ने अलकार को काव्य का प्राण कहा है और कुलपति, प्रताप-साहि, बिहारी आदि ने ध्वनि को काव्य का आदर्श माना है।[1] स्पष्टत उस समय भी काव्य मे रस की प्रमुखता पर ही बल दिया गया था। अत भारतेन्दु युग के कवियो ने विवाद और विस्तार मे न जा कर काव्यात्मा के विषय मे रीति काल की प्रतिनिधि मान्यता को स्वीकार किया है, जो उचित ही है।

३ काव्य मे रस की स्थिति

प्रस्तुत युग मे रस के स्वरूप-विवेचन की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया, किन्तु रस सख्या निर्धारण और रसराज के निर्णय के प्रति उत्साह प्रकट किया गया है। इस दिशा मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "प्रेमघन" की अपेक्षा अधिक व्यापकता का परिचय दिया है। उन्होने भक्ति रस और वात्सल्य रस को मान्यता प्रदान कर जिस उदार भाव को प्रकट किया है वह सराहनीय है। यद्यपि वे अन्य नवीन रसो (माधुर्य, सख्य, प्रमोद) के पृथक् अस्तित्व का सफल प्रतिपादन नही कर सके है, तथापि इससे चिन्तन की मौलिकता तो प्रकट होती ही है। इसके अतिरिक्त उन्होने और "प्रेमघन" ने रीतिकालीन कवियो की भाँति शृगार के रसराजत्व का भी समर्थन किया है। तथापि यह मानना होगा कि वे रीति काल के रस-सम्बन्धी विवेचन से प्रेरणा ले कर रस के स्वरूप का उद्घाटन करने मे जिस विदग्धता का परिचय दे सकते थे, उस ओर उन्होने विशेष प्रयास नही किया है।

१ देखिए "रीति-काव्य की भूमिका", डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १७०-१७२

४. काव्य-हेतु

काव्य हेतु के विवेचन में भारतेन्दु युग के सभी कवियों ने भाग लिया है, किन्तु इस दिशा में सर्वाधिक योग देने का श्रेय अम्बिकादत्त व्यास को है। इस युग के कवियों ने ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को काव्य-रचना का मुख्य कारण माना है और काव्य-धर्म्म की सप्राणता, व्युत्पत्ति तथा काव्य शिक्षा को इसमें सहायक तत्व कहा है। इनमें से प्रतिभा और व्युत्पत्ति के विषय में उनकी मान्यताएँ परम्परा-सिद्ध हैं, किन्तु अन्य धारणाएँ मौलिक अन्तर रखने के कारण विचारणीय हैं। परिवर्तित सामाजिक संस्कारों और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुरूप इस युग में रीतिकालीन कवियों की भाँति आचार्य की सन्निधि में काव्यांग-मात्र की शिक्षा प्राप्त करने को काव्य-शिक्षा नहीं कहा गया, अपितु यहाँ काव्य-शिक्षा से तात्पर्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्राप्त प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्देशों से है। इसके अतिरिक्त व्यास जी द्वारा काव्य-धर्म्म की आन्तरिक शक्ति को काव्य-रचना के लिए प्रेरक कहा जाना भी महत्वपूर्ण उद्भावना है। अन्ततः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आलोच्य युग के कवियों ने सभी काव्य-हेतुओं का विवेचन नहीं किया है, तथापि उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति संस्कृत काव्य-शास्त्र में उल्लिखित काव्य-साधनों का अक्षरशः अनुवाद भी नहीं किया है। यदि उन्होंने उनका व्यवस्थित विवेचन किया होता तो उनकी उपलब्धि और भी अधिक महत्वपूर्ण होती।

५. काव्य का प्रयोजन

प्रस्तुत युग के कवियों ने काव्य-रचना के प्रयोजनों की चर्चा की ओर व्यापक ध्यान दिया है। उन्होंने काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों (आनन्द-लाभ तथा लोक-हित) की विशेष चर्चा की है और बाह्य प्रयोजनों (यश-प्राप्ति, अर्थ-लाभ, भाषा का उपकार) का सामान्य उल्लेख किया है। इनमें से भाषा-परिष्कार के अतिरिक्त शेष सभी प्रयोजन संस्कृत-आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट हैं। अतः भारतेन्दुकालीन कवियों के विवेचन में मौलिकता के लिए कम ही अवकाश रहा है। इस युग में जगमोहन सिंह के अतिरिक्त सभी कवियों ने सदाचरण के प्रेरक भावों की प्रतिपत्ति पर बल देकर नैतिक मूल्यों की स्थापना को काव्य का लक्ष्य माना है। भारतेन्दु, अम्बिकादत्त व्यास और जगमोहन सिंह ने काव्य में कवि और सहृदय को प्राप्त होने वाले आनन्द का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। काव्य के बाह्य प्रयोजनों के अन्तर्गत "प्रेमघन" ने काव्य से अर्थ-प्राप्ति और भाषा के उपकार की चर्चा की है और अम्बिकादत्त व्यास तथा जगमोहन सिंह ने यशोपलब्धि को कवि का काम्य माना है। द्विवेदी युग में कवियों की भाषा-सम्बन्धी जागरूकता को देखते हुए इनमें से भाषा-उपकार-विषयक प्रयोजन की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है। तथापि उपर्युक्त प्रयोजनों में काव्य से लोक-हित की सिद्धि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह काव्य का स्वस्थ एवं प्राणवान् प्रयोजन है। इसके प्रतिपादन द्वारा रीति काल के शृंगारिक कवियों

के प्रभाव को शिथिल करने का प्रयास करने के कारण भारतेन्दुयुगीन कवि अभिनन्दनीय हैं।

६ काव्य के वर्ण्य विषय

यद्यपि काव्य-वर्ण्य को सीमाबद्ध नही किया जा सकता, तथापि युग-विशेष की सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुकूल उसमे कुछ विषयो का रूढ हो जाना स्वाभाविक है। रीति काल मे इस प्रकार के विषयो मे लौकिक शृगार की अभिव्यक्ति मुख्य थी और भक्ति, नीति तथा धर्म को गौण स्थान प्राप्त था। भारतेन्दु युग के कवियो ने इस दृष्टिकोण का सस्कार करते हुए अपनी समकालीन सामाजिक परिस्थितियो के अनुरूप लोक-मगल की साधना को काव्य-वर्ण्य का आदर्श माना है। इसके लिए उन्होने काव्य मे समाज-सुधार और राष्ट्रीयता से सम्बद्ध भावनाओ की अभिव्यक्ति का व्यापक समर्थन किया है। काव्य और जन-जीवन के सम्बन्ध की इस स्थापना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे काव्य-वर्ण्य की दीप्ति के लिए उसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन इष्ट था और वे इस दिशा मे स्वस्थ विचार रखते थे। इसके अतिरिक्त उन्होने काव्य मे प्रत्यक्ष रूप से भक्ति और लौकिक शृगार को तथा अप्रत्यक्ष रूप से हास्य रस को स्थान देने का भी समर्थन किया है। काव्य-वर्ण्य के स्वरूप-निर्धारण मे भारतेन्दु और "प्रेमघन" के विचार दिशा-निर्देशक रहने के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस युग के कवियो ने रीतिकालीन दृष्टिकोण के परिष्कार के लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत करने मे सफलता प्राप्त की थी। इसके उपरान्त द्विवेदी युग मे उन काव्य-वर्ण्यों का जो अतिरिक्त परिष्कार हुआ वह इस भूमिका के अभाव मे सन्दिग्ध हो सकता था।

७ काव्य-शिल्प

भारतेन्दुयुगीन कवियो ने काव्य-शिल्प के विवेचन मे विशेष विदग्धता का परिचय नही दिया है। यद्यपि खडी बोली के प्रादुर्भाव के कारण वे काव्य की माध्यम भाषा के विषय मे मौलिक और सन्तुलित विचार प्रकट कर सकते थे, किन्तु उन्होने (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र ने) ब्रजभाषा के समर्थन मे प्राय पूर्वाग्रही वृत्ति अपना कर इस दिशा मे नितान्त सीमित कार्य किया है। उनके द्वारा काव्य-भाषा की सहजता, स्वाभाविकता और मधुरता के समर्थन मे भी कोई मौलिक उद्भावना नही हुई है। हाँ, काव्य की भाषा को अन्य भाषाओ की शब्दावली से समृद्ध करने के विषय मे "प्रेमघन" और अम्बिकादत्त व्यास की उक्तियाँ अवश्य महत्वपूर्ण है, किन्तु वे भी उनके मौलिक चिन्तन की देन नही है। इस प्रसग मे यह स्वीकार करना होगा कि रीतिकालीन कवियो के समान काव्य-गुण, काव्य-दोष और काव्य-वृत्ति के व्यवस्थित विवेचन की ओर ध्यान न देने के कारण भाषा के विषय मे प्रस्तुत युग का प्रतिपादन नितान्त सामान्य है। काव्य

के अन्य अंगों में अलंकार-विवेचन के क्षेत्र में रीति काल की विस्तीर्ण परम्परा की अवस्थिति होने पर भी इस युग के कवियों ने जो उदासीनता दिखाई है वह सराहनीय नहीं है। इस दिशा में "प्रेमघन" द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से काव्य में अलंकार-प्रयोग की स्वाभाविकता का प्रतिपादन भी कवि-जगत् का सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्त है। छन्द-विवेचन में भी प्रतापनारायण मिश्र की मान्यता विशेष विस्तार लिए हुए नहीं है, तथापि इस दिशा में अम्बिकादत्त व्यास के सजग प्रयास के कारण इस युग की उपलब्धि को सन्तोषप्रद माना जा सकता है। उन्होंने काव्य को छन्द के अनावश्यक बन्धन से मुक्त कर अतुकान्त काव्य के विषय में अपने मत को सबल शब्दों में उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, "प्रेमघन" और प्रतापनारायण मिश्र ने कतिपय उर्दू-छन्दों एवं बंगला के "पयार" छन्द में काव्य-रचना कर अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी छन्द-शास्त्र के विस्तार की कामना की है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस युग में छन्द के अतिरिक्त काव्य-शिल्प के शेष उपकरणों का नितान्त सामान्य कथन हुआ है।

८ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

उपर्युक्त काव्य-मान्यताओं के अतिरिक्त प्रस्तुत युग में काव्यानुवाद और काव्यालोचन के विषय में स्फुट सिद्धान्त-चर्चा भी हुई है। जगमोहन सिंह ने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को महत्व दे कर काव्यानुवाद के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। यद्यपि उन्होंने इस दिशा में चिन्तन की व्यापकता नहीं दिखाई है, तथापि अनुवाद-कला के मर्म को पहचानने में वे सफल रहे हैं। द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक को भी अनुवाद का यही रूप ग्राह्य रहा है। "प्रेमघन" द्वारा काव्यालोचन में निःसंग भाव का प्रतिपादन भी महत्वपूर्ण स्थापना है। इसका महत्व इसलिए और भी अधिक है कि यह काव्यांग भारतेन्दु युग में शैशव की स्थिति में था। उस समय इसके स्वरूप के इतने गम्भीर विवेचन की आशा नहीं की जा सकती थी। स्वच्छ चिन्तन से प्रेरित होने के कारण इस दृष्टिकोण को द्विवेदी युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी लगभग इसी रूप में स्वीकार किया है। अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा में काव्यानुवाद और काव्यालोचन की चर्चा प्रारम्भ करने का श्रेय भारतेन्दु युग को ही है।

मूल्यांकन

यद्यपि भारतेन्दु युग की काव्य शास्त्रीय उपलब्धियों का विश्लेषण करने पर हम तत्कालीन कवियों को इस दिशा में विशेष क्रियाशील नहीं पाते, तथापि सश्लेषात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों में रीतिकालीन वस्तु-स्थिति से भिन्नता होने के कारण उनसे और अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस युग में गद्य के विकास के अभाव में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना में से किसी के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं हुआ था, ऐसी स्थिति में हम उनसे सिद्धान्त प्रतिपादन की अधिक अपेक्षा कैसे कर सकते थे? उपर्युक्त स्थिति में उनकी सामान्य उपलब्धि स्वाभाविक ही है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि वे

काव्य के अन्तरंग को पहचानते थे और उनकी रुचि गम्भीर थी। यद्यपि वे काव्य शिल्प के विवेचन में प्राय असफल रहे हैं, तथापि इसका मुख्य कारण भारतेन्दु द्वारा इस ओर विशेष श्रम न किया जाना है। उनके समकालीन कवियों में "प्रेमघन", अम्बिकादत्त व्यास और प्रतापनारायण मिश्र ने उनकी अपेक्षा अधिक विदग्धता का परिचय अवश्य दिया है, किन्तु वे भी इस दिशा में विशेष सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस युग के काव्यादर्शों का प्रतिपादन एक निश्चित सीमा में ही हुआ है, किन्तु प्रभाव की दृष्टि से वे उतने सीमित नहीं हैं। उन्होंने द्विवेदी युग के कवियों के लिए निश्चय ही उपयुक्त पृष्ठाधार का कार्य किया है।

●

द्विवेदी युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(सर्व श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, बालमुकुन्द गुप्त, नाथूराम शकर, देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाडेय, सत्यनारायण कविरत्न और गोपालशरणसिंह की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन)

द्वितीय प्रकरण

द्विवेदी युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

भारतेन्दु युग की काव्य मान्यताओं से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रेरणाएँ प्राप्त करने पर भी द्विवेदी युग की स्थिति उससे पर्याप्त भिन्न रही है। इस युग में भारतेन्दु युग में प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तों (काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प, काव्यानुवाद और काव्यालोचन) को विस्तार प्रदान करने के अतिरिक्त काव्य के तत्व, काव्य के भेद नायिका भेद और काव्य के अधिकारी के विवेचन का भी सजग प्रयास हुआ है। जहाँ भारतेन्दुकालीन कवि काव्य के शास्त्रीय पक्ष को स्पष्ट करने के प्रति विशेष सजग नहीं थे, वहाँ द्विवेदीयुगीन कवि इस ओर प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील थे। काव्य भेद-विस्तार (महाकाव्यों तथा खण्ड-काव्यों की विशिष्ट रचना), काव्य-वर्ण्य के अन्तर्गत मौलिक उपादानों के परिग्रहण, काव्य भाषा के परिवर्तन और गद्य के सम्यक् विकास के कारण प्रस्तुत युग के कवि सिद्धान्त-प्रतिपादन के प्रति विशेष सचेष्ट रहे हैं। इस दिशा में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का योगदान अत्यन्त मूल्यवान् है। उन्होंने अपने युग के काव्य को अमर्यादित न होने देने के लिए कवि-कर्म की अपेक्षा शास्त्र-निरूपण की ओर अधिक ध्यान दिया है, तथापि कवि धर्म प्रतिपादन के रूप में इसकी महत्ता काव्य रचना से न्यून नहीं है। युग-प्रवर्तक कवि होने के कारण उनके शास्त्र चिन्तन का महत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्यांग निरूपण के समतुल्य है, किन्तु उनके चिन्तन की विधि में मौलिक अन्तर है। जहाँ भारतेन्दु ने अपने विचारों को मुख्यत संस्कृत काव्य शास्त्र से प्रभावित रह कर उपस्थित किया है वहाँ द्विवेदी जी ने संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू और मराठी के काव्य शास्त्र से भी प्रेरणा ली है। उनके समसामयिक कवियों ने काव्य-चिन्तन के लिए अधिकांशत उन्हीं की विचार-धारा का अनुसरण किया है। इसी कारण काव्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी का प्रतिनिधि स्थान न होने पर भी इस युग के सिद्धान्तों की सहज अन्विति के लिए इस प्रकरण में उनकी काव्य मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। आलोच्य युग के काव्यादर्शों का मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित वर्गीकरण का आश्रय लिया जा सकता है—

१ प्रमुख कवियों के काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी युग की व्यापकता को लक्षित करते हुए उसके प्रमुख कवियों की काव्य

मान्यताओं का पृथक् निरूपण उचित ही होगा। इस शीर्षक के अन्तर्गत सर्वश्री महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", "रत्नाकर" और मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया जा सकता है। इनमें से श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण तो द्विवेदी जी से प्रत्यक्षतः प्रभावित रहे हैं, किन्तु "हरिऔध" और "रत्नाकर" को भी प्रकारान्तर से उनकी अधिकांश मान्यताएँ स्वीकार्य रही हैं। सिद्धान्त प्रतिपादन की व्यापकता की दृष्टि से श्रीधर पाठक ने इस क्षेत्र में अन्य कवियों की तुलना में कुछ सीमित कार्य किया है, तथापि प्रतिपादन की सारवत्ता की दृष्टि से उनके सिद्धान्तों का महत्व अन्य किसी भी कवि से कम नहीं है।

२ अन्य कवियों के काव्य-सिद्धान्त

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग की काव्य-सम्पद् में सर्वश्री बालमुकुन्द गुप्त, नाथूराम शंकर, देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, सत्यनारायण कविरत्न और ठाकुर गोपालशरणसिंह की रचनाएँ भी अविस्मरणीय हैं। इनमें से बालमुकुन्द गुप्त और सत्यनारायण कविरत्न के अतिरिक्त शेष सभी कवि द्विवेदी जी से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहे हैं। यद्यपि इन कवियों के सिद्धान्त-प्रतिपादन में प्रायः पूर्व-कथित सिद्धान्तों की पुनरुक्ति ही हुई है, तथापि कहीं-कहीं इन्होंने जिस विदग्धता का परिचय दिया है वह सराहनीय है। इनकी काव्य-मान्यताएँ इस युग के प्रमुख कवियों के प्रभाव से सम्पोषित अवश्य रही हैं, किन्तु इन्हें विस्मृत कर देना भी अन्याय होगा। विशेषतः नाथूराम शंकर, देवीप्रसाद "पूर्ण" और रामनरेश त्रिपाठी के सिद्धान्त-प्रतिपादन में जो सूक्ष्मता और व्यापकता है वह उनके महत्त्व की असंदिग्धता की परिचायक है।

यद्यपि इन कवियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में अनेक कवियों ने काव्य-रचना की है, किन्तु उनके सीमित सिद्धान्त-विवेचन, पुनरुक्ति और प्रकरण विस्तार की आशंका से हमने प्रस्तुत अध्याय में उनका उल्लेख नहीं किया है। उल्लिखित कवियों में से अधिकांश कवि द्विवेदी युग की अवधि के उपरान्त भी काव्य-रचना और सिद्धान्त-प्रतिपत्ति में संलग्न रहे हैं, तथापि उनकी मान्यताओं का मूल प्रेरक स्रोत द्विवेदी युग का काव्य वातावरण ही है। अतः उनकी विचार-सरणि के अभिव्यक्ति-काल की चिन्ता न कर यहाँ उनकी धारणाओं को आनुपूर्व रूप में ही ग्रहण किया गया है।

●

: १ :

द्विवेदी युग के प्रमुख कवियोंके काव्य-सिद्धान्त

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भी युगप्रेरक साहित्यकार थे। उन्होंने काव्य-रचना की अपेक्षा काव्य शास्त्र के मर्म-उद्घाटन को प्राथमिकता दी है। इसी कारण कवि के रूप म विशेष सफलता लाभ न कर पाने पर भी कवि-निर्माता और कवि नियामक आचार्य के रूप म उन्होंने अपनी प्रतिभा का श्लाघ्य परिचय दिया है। उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यताओं की अभिव्यक्ति मुख्यत "रसज्ञ-रजन', "सचयन", "विचार विमर्श', "द्विवेदी काव्य माला और 'समालोचना समुच्चय' म हुई है, तथापि अन्य कृतियो (साहित्य-सन्दर्भ, नाट्य-शास्त्र, कालिदास की निरकुशता, साहित्य-सीकर, सुमन, सुकवि सकीर्तन, प्राचीन पण्डित और कवि, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, लेखाजलि) मे उपलब्ध काव्यशास्त्रीय उक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं। उनके द्वारा अनूदित रचनाएँ (रघुवश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय), उनका पत्र व्यवहार (श्री बैजनाथसिंह विनोद द्वारा 'द्विवेदी पत्रावली म सकलित पत्र) और उनके सम्पादन-काल म "सरस्वती" में प्रकाशित उनके लेख सम्पादकीय टिप्पणियाँ एव पुस्तक-समीक्षाएँ भी इस दिशा में उपयोगी रही हैं। इसके अतिरिक्त "नागरीप्रचारिणी पत्रिका", "सम्मेलन-पत्रिका", "सुधा", "माधुरी" और "विशाल भारत" के अको मे प्रकाशित अनेक लेख, भाषण अथवा अवसर-विशेष पर कही गई उक्तियों के सस्मरणात्मक विवरण भी उनके काव्य सिद्धान्तो के निर्धारण म सहायक रहे हैं। इन कृतियो मे मुख्यत काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प पर विचार किया गया है और सामान्यत काव्य के भेद, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन की चर्चा हुई है।

काव्य का स्वरूप

द्विवेदी जी ने काव्य के लक्षण पर विचार करते हुए **"अन्त करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है"**[१] कह कर जहाँ काव्यगत भाव-तत्व के महत्व का उद्घाटन किया है वहाँ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहव अधिवेशन मे स्वागताध्यक्ष के पद से "ज्ञान-

---

१ रसज्ञ-रजन, पृष्ठ ६२

राशि के सचित कोष ही का नाम साहित्य है'[1] का प्रतिपादन कर काव्य मे बुद्धि-तत्व की स्थिति को भी स्वीकार किया है। स्पष्ट उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ग्रहण करते हुए अर्थ (भावना और विचार) के उत्कर्ष को काव्य का आन्तरिक गुण माना है। उनके मतानुसार मानव-स्वभाव की सहजता और मनोहर अर्थ-गौरव से विभूषित होने पर ही काव्य सहृदय जनों को आनन्दित करता है। इसीलिए उन्होंने 'नैषधचरितचर्चा' शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है—' स्वभावानुयायिनी और मनोहारिणी ही कविता यथार्थ कविता है, इसी से आत्मा तल्लीन और मन मोहित होता है।" इन गुणों से अलंकृत रचना में भावना की धारा प्रवाह गति का होना अवश्यम्भावी है। कविता का आदर्श भी इन्हीं विशेषताओं की उपलब्धि है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने सुकाव्य के निर्माण में भावों का विशेष योग माना है। 'आजकल की हिन्दी-कविता' शीर्षक लेख में भी उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य ही आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज की हो, चाहे उर्दू।"[3] भाषा विषयक बन्धन को अस्वीकार करने के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने काव्य के लिए पद्य की अनिवार्यता का भी निषेध किया है। काव्य प्रणयन के लिए गद्य और पद्य दोनों की सार्थकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है—"गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है, यह समझना अज्ञानता की पराकाष्ठा है कि जो कुछ छन्दोबद्ध है सभी काव्य है। कविता का लक्षण जहाँ कहीं पाया जाय चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में, वही काव्य है।"[4] पूर्ववर्ती उद्धरणों में निर्धारित काव्य-स्वरूप के अनुसार कविता मानव-मन की सहज संवेदनमयी व्याख्या है। अतः गद्य और पद्य का अन्तर काव्य-रूप का स्थूल निर्देशक मात्र है, मूल तत्व यही है कि रचना में रस का भावन कर सकने में समर्थ कृतिकार गद्य में भी पद्य की भाँति प्रतिभा का उन्मेष दिखा सकता है। जब कवि अन्तःकरण में तल्लीनता का अनुभव कर काव्य-वर्ण्य की आत्मानुभूति के आधार पर व्यक्त करता है तब उसकी रचना में सहज प्रभविष्णुता का समावेश हो जाता है। कवि-कर्म की सार्थकता इसी गुण की उपलब्धि में है, किन्तु इसका अर्जन प्रत्येक कवि के लिए सहज नहीं है। यथा—

"कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते हैं उसका रस अपने अन्तःकरण में ले कर उसे शब्द-स्वरूप दे देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जागृत हो उठता है। ऐसा होना बहुत कठिन है। सच तो यह है कि काव्य रचना में सबसे बड़ी कठिनता जो है वह यही है।"[5]

---

१ सम्मेलन-पत्रिका, चैत्र वैशाख, संवत् १९८०, पृष्ठ ३०७
२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सन् १९००, भाग ४, पृष्ठ ४०
३ विचार विमर्श, पृष्ठ २७
४ रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १३
५ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ ६३

आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त

[भारतेन्दु-युग से अब तक]

कवि के अन्त करण मे रस ग्रहण की प्रवृत्ति को लक्षित कर के ही आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—"रससिद्ध कवि की कोई वस्तु इस प्रकार की नहीं हो सकती जो उसकी अभिलाषा होने पर, उसके अभिमत से, रस का अंग न हो जाए—तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवत्त कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गता न धत्ते।"[1] काव्य के भावन से सभी सहृदयों को आनन्द की साधारण अनुभूति हो सकना ही काव्य के अन्त सौंदर्य का परिचायक है। द्विवेदी जी ने इसका प्रतिपादन कर अपनी काव्य मर्मज्ञता का उपयुक्त परिचय दिया है। "भारतीय चित्रकला" शीर्षक लेख मे भाषा के भावमय प्रयोग अथवा काव्य की भाव-व्यजना पर बल देकर भी उन्होने काव्य के इसी आतरिक सत्य का उद्घाटन किया है—"कवियों के लिए जैसे शब्दो, वृत्तो और स्वाभाविक वर्णनो की आवश्यकता होती है वैसे ही चित्रकारो के लिए चित्रित वस्तु के स्वाभाविक रग-रूप की तद्वत् प्रतिकृति निर्मित करने की आवश्यकता होती है। तथापि चित्रकार और कवि के लिए ये गुण गौण हैं। इन दोनो ही का मुख्य गुण तो है भावव्यजकता। जिसमें भाव-व्यजना जितनी ही अधिक होती है वह अपनी कला का उतना ही अधिक ज्ञाता समझा जाता है।"[2] अत यह स्पष्ट है कि कलात्मक उपकरणो की अपेक्षा भाव तत्व का उन्मेष ही काव्य मे चारुत्व का विधान करता है। भारतेन्दु युग मे "प्रेमघन" को भी काव्य का यही रूप स्वीकार्य रहा है।

काव्य की आत्मा

द्विवेदी जी की रचनाओं में रस, अलकार, रीति और वक्रोक्ति की काव्यात्मा-सम्बन्धी सम्भावनाओं का तो विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु इतिवृत्त शैली को अपनाने के कारण उनके साहित्य में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से ध्वनि के लिए अवकाश नहीं रहा है। उन्होने रस को काव्य का जीवन मान कर यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि रस-विहीन रचना मे काव्यत्व नहीं होता। इस सम्बन्ध म निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "रस ही कविता का प्राण है, और जो यथार्थ कवि है उसकी कविता में रस अवश्य होता है। नीरस कविता कविता ही नहीं।"[3]

(आ) "कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता। × × × × × रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है।"[4]

(इ) "कविता पढ़ते समय तद्गत रस में यदि पढ़ने वाला डूब न गया तो वह कविता, कविता नहीं।"[5]

---

१. हिन्दी ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ४२३
२. समालोचना समुच्चय, पृष्ठ ३१
३. प्राचीन पण्डित और कवि, पृष्ठ ३५
४. रसज्ञ-रजन, पृष्ठ ११
५. सरस्वती, जनवरी १६०७, पृष्ठ ३१

(ई) "अर्थ सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं, वह कविता नहीं।"[1]

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि काव्य में रस अथवा रमणीय अर्थ को मूलवर्ती स्थान प्राप्त है। रस के प्रति इस आस्था के प्रमाण के लिए यह उपयुक्त होगा कि अन्य काव्य-सम्प्रदायों के प्रति उनके दृष्टिकोण का परीक्षण कर लिया जाए। अलंकार के काव्य-जीवत्व पर विचार करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि "कवि की कल्पना-शक्ति स्फुरित हो कर जब यथेच्छ वस्तु का वर्णन करती है तभी कविता सरस और हृदयग्राहिणी होती है, नियमबद्ध हो जाने से ऐसा कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि, आलंकारिकों के कहे हुए मार्ग का पद पद पर अनुसरण करने से कविता लिखने में जिन प्रसंगों की कोई आवश्यकता नहीं होती वे भी बलात् लाने पड़ते हैं और तदनुकूल वर्णन करना पड़ता है।"[2] रीति काल में भाव-संवर्द्धन की अपेक्षा उचितानुचित रीति से अलंकार-ग्रहण को मुख्य मान कर केशव ने जो भूल की थी, उससे द्विवेदी जी मुक्त रहे हैं। वे सद् अर्थ-निरूपिणी तथा स्वाभाविकतामयी मधुर रचना को ही कविता मानते थे, अलंकार-जाल में आबद्ध रचना का उनके समक्ष महत्त्व न था। अलंकार को काव्य का मूल धर्म न मानने के कारण उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय, या उससे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे। कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है।"[3] काव्य में मानवोत्कर्ष-विधायिनी भावनाओं के सहज आख्यान पर बल देने वाले कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह शब्दालंकारों को महत्त्व देने वाली रचना का आदर न करे। इसीलिए उन्होंने एक अन्य स्थान पर भी यह प्रतिपादित किया है—"अर्थ के सौरस्य ही की ओर कवियों का ध्यान अधिक होना चाहिए, शब्दों के आडम्बर की ओर नहीं।"[4] अतः यह स्पष्ट है कि वे काव्य के अस्वाभाविक अलंकरण की अपेक्षा उसमें आन्तरिक गौरव के प्रतिष्ठान पर बल देते थे। इसीलिए उन्होंने अलंकार-प्रधान काव्य की भाँति चित्र-काव्य में भी काव्य-कला का उपयुक्त विकास नहीं माना है। उदाहरणार्थ "हे कविते" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

"कहीं कहीं छन्द, कहीं सुचित्रता,
कहीं अनुप्रास-विशेष में तुझे

---

१ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २०

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका सन् १९००, भाग ४, पृष्ठ ६

३. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १६

४. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ २१-२२

सुजान ढूँढें अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्य-कले ! वहाँ कहाँ ?"[1]

उपर्युक्त मान्यता की भाँति द्विवेदी जी ने रीति को भी काव्य की आत्मा का गौरव नहीं दिया है। इस विषय में उनका मत इस प्रकार है—"कुछ लोग अकारण ही बोलचाल की कविता की निन्दा किया करते हैं। नहीं मालूम, उन्होंने कविता का क्या अर्थ समझ रक्खा है। क्या कोमल-कान्त-पदावली ही का नाम कविता है ? क्या जिस पद्य में कोई अच्छा भाव नहीं, सिर्फ लच्छेदार मीठे-मीठे शब्दों की भरमार है, वही कविता है ?"[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन कवियों (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन और जगमोहन सिंह) की भाँति द्विवेदी जी काव्य में रस को अधिक महत्व देते थे। तथापि यह उल्लेख्य है कि वे वक्रोक्ति को काव्य की सौंदर्य श्री के उन्नयन में सहायक मानते थे। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[3] इसके अतिरिक्त इस विषय में उनके "बिहारी सतसई के पहले दोहे की टीका" शीर्षक लेख की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं—

"कवि जब किसी वस्तु का वर्णन करता है, तब वह उस वर्णन में प्रायः एक ही भाव या अर्थ की प्रधानता रखता है। हाँ, यदि सहज ही में, या कुछ थोड़े ही से फेर-फार अथवा परिवर्तित शब्द-विन्यास द्वारा, वह कोई और भी अर्थ निकलने की सम्भावना देखता है, और उस दूसरे अर्थ से कविता में कोई विशेष चमत्कार भी आता जान पड़ता है, तो वह तदनुकूल फेर-फार करके उस चमत्कार के उत्पादक शब्द रख देता है। इससे उसकी कविता में विशेषता आ जाती है। जान-बूझ कर, प्रयत्नपूर्वक, दो दो, तीन-तीन, अथवा ततोऽधिक अर्थ देने वाली कविता लिख कर महाकवि भी यशस्वी नहीं हो सकते।"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि काव्य में मनोहारिता के संचार के लिए अर्थ-वैभव का चमत्कार-सम्पन्न होना वाञ्छनीय है। कविप्रतिभा जन्य यह चमत्कार ही कुन्तक द्वारा मान्य कविव्यापार-वक्रता है। द्विवेदी जी ने सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से वक्रोक्ति के महत्व को स्पष्ट मान्यता दी है, तथापि उनके काव्य में वक्रता वैभव के लिए प्रायः जो अभाव रहा है, उसे लक्षित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति का निषेध न करने पर भी उन्होंने मूलतः रस को ही गौरव दिया है। उनकी विचार-धारा का आन्तरिक तत्व यही है—"कवि को यह भी उचित है कि रससिद्धि की ओर वह विशेष

१. द्विवेदी-काव्य माला, पृष्ठ २६४
२. विचार-विमर्श, पृष्ठ २७
३. सचयन, पृष्ठ ६६
४. माधुरी, जनवरी १९२३, पृष्ठ २

ध्यान रखे। जिन बातों से रस का विच्छेद होता हो उनको वह पास न आने दे।"[1] इसी-लिए उन्होंने काव्य-पुरुष की कल्पना करते समय रस को काव्य का प्राण-तत्व मान कर काव्य में सौंदर्यमयी ललित पदावली पर बल दिया है। यथा—

"सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे!
शरीर तेरा, सब शब्दमात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥"[2]

काव्य-हेतु

द्विवेदी जी ने काव्य की रचना के लिए प्रातिभ ज्ञान अथवा कृती कवि के मन में स्वतः समुद्भूत होने वाली प्रेरणा को अनिवार्य माना है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की साधारण रूप में चर्चा की है। उन्होंने कवि के भाव लोक को प्रतिभा से सहज आलोकित मान कर यह प्रतिपादित किया है कि उसके अभाव में कवि की कला-मर्मज्ञता की स्थिति अप्राप्त रहती है। अतः अप्रतिभ कवि को काव्य रचना की ओर प्रवृत्त न होना चाहिए। इस विषय में ये उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "कवि के लिए जिस बात की सबसे अधिक ज़रूरत होती है वह प्रतिभा है।"[3]

(आ) "कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए, हृदय में ईश्वर-दत्त कवित्व-बीज चाहिए।"[4]

(इ) "विद्वान् होने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। यदि उसमें कवित्व करने की शक्ति का स्वाभाविक बीज नहीं तो मनुष्य चाहे जितना उद्दण्ड विद्वान् हो, उसकी कविता कदापि मनोहारिणी नहीं होती।"[5]

(ई) "मुझे किशोरावस्था ही से अपनी माँ की बोली या भाषा से प्रेम हो गया। उस तरफ मेरी प्रवृत्ति होने का कारण न धनाशा था, और न यशोलिप्सा। मालूम नहीं, अन्तःकरण की किस प्रेरणा से मेरा झुकाव उस तरफ हुआ।"[6]

इन गद्यांशों से स्पष्ट है कि कवित्व शक्ति केवल ज्ञान से अर्जनीय नहीं है, वरन् वह कवि को स्वभावतः प्राप्त रहती है। प्रतिभा को प्राक् पुण्यकृत सिद्धि, जन्मजन्मान्तर से संचित संस्कार अथवा प्रभु प्रसाद कह कर उन्होंने इस विषय में भारतेन्दुयुगीन कवियों की मान्यता को ही स्वीकार किया है। काव्य शक्ति को ईश्वरीय प्रसाद मानने का सिद्धान्त भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र में पर्याप्त समर्थित रहा है। राजशेखर ने जन्मान्त-

१ नाट्य शास्त्र, पृष्ठ ४७
२ द्विवेदी काव्य माला, पृष्ठ २८५
३ सरस्वती, मार्च १९०६, पृष्ठ ९६
४ कालिदास का निरंकुशता, पृष्ठ १
५ प्राचीन पण्डित और कवि, पृष्ठ ३५
६ सुधा, अगस्त १९३३, पृष्ठ २६

रीय संस्कारों से वाणी (सरस्वती) की कृपा प्राप्त करने वाले ऐसे ही कवि को "सारस्वत कवि" कहा है—"जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वत ।"[1] काव्य को दैवी शक्ति पर निर्भरित मानने के कारण ही सम्भवतः संस्कृत काव्य शास्त्र में मंगलाचरण का विधान है। कुन्तक के अनुसार "पूर्व जन्म तथा प्रस्तुत जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़त्व-प्राप्त कवि-शक्ति ही प्रतिभा है—प्राक्तनाद्यतनसंस्कारप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति ।" मम्मट ने इसीलिए "शक्ति कवित्वबीजरूप संस्कार विशेष"[3] कहा है।

पौरस्त्य काव्य-शास्त्र की भांति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी कवि प्रतिभा को ईश्वरप्रदत्त माना गया है। प्लेटो का मत है कि "श्रेष्ठ महाकवि तथा गीतिकाव्य प्रणेता अपनी सुन्दर काव्य-कृतियों को कला के माध्यम से ही उपस्थित नहीं करते, अपितु दैवी स्फुरणा और तज्जन्य तल्लीनता के वशीभूत हो कर व्यक्त करते हैं।"[4] रोम निवासी कवि को दैवी ज्ञान सम्पन्न, भविष्यदर्शी अथवा ईश्वरीय दूत मानते थे।[5] शैली का भी मत है कि "काव्य-कला वस्तुत ईश्वर-प्रदत्त है।"[6] इस विषय में लैटिन भाषा की एक प्रसिद्ध उक्ति है कि "कवित्व-शक्ति जन्म से ही सिद्ध होती है, कवि गढ़े नहीं जाते।"[7] इसी प्रकार फारसी-काव्य में भी यह उक्ति उपलब्ध होती है कि "प्रतिभा-रूपी सुन्दरी को भुज-बल से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह तो उसी को प्राप्त होती है जिसे ईश्वर उसे प्रदान करना चाहता है।" यथा—

"ईं सआदत बज़ोर बाज़ू नेस्त।
ता न बख़्शद ख़ुदाय बख़्शिंद ।"[8]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने प्रतिभा को निसर्ग-सिद्ध कह कर कवि-जगत् के एक मनोरम सत्य का समर्थन किया है। जब कवि के अन्तस् में प्रेरणा का सहज

---

१. काव्य मीमांसा, पृ० २६
२. हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित, १।२६, कारिका की व्याख्या, पृ० १०७
३. हिन्दी-काव्य-प्रकाश, पृ० ८
४. "All the epic poets, the good ones, utter all their beautiful poems not through art but because they are divinely inspired and possessed, and the same is true of the good lyric poets"
(Quoted from 'Dictionary of World Literary Terms", Page 228)
५. "Among the Romans a poet was called "vates", which is as much as a Diviner, Foreseer, or Prophet"
(Sidney's Apologie For Poetrie, page 5)
६. "Poetry is indeed something divine"
(Defence of Poetry, page 101)
७. "Poeta nascitur, non fit"
(बलदेव उपाध्यायकृत "सूक्ति मुक्तावली", पृ० ७ से उद्धृत)
८. सुधा, दिसम्बर १९२६, पृ० ४६८ से उद्धृत

स्फुरण होता है तब वह प्रतिभाजन्य कल्पना में जिन सुन्दर भावों की सृष्टि करता है, वे सहृदय-संवेद्य होते हैं। यथा—"कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा।"[1]

द्विवेदी जी ने प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य-साधन कहा है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत उन्होंने कवि को प्रकृति और समाज के अन्तरंग दर्शन का परामर्श देते हुए यह प्रतिपादित किया है—"जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।"[2] मनोविकारों से कवि का तात्पर्य मनुष्य के मानसिक भावों से है। काव्य-वस्तु के परिपार्श्व को लक्ष्य में रख कर इस मन्तव्य का सहज समर्थन किया जा सकता है। कवि के लिए लौकिक दृश्य ज्ञान की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य वामन ने भी कहा है—"लोक, विद्या और प्रकीर्ण काव्य के कारण हैं। लोक-व्यवहार ही लोक है, यह लोक जड़-चेतन-रूप है—लोको विद्या प्रकीर्णंच काव्यांगानि। × × × लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावर-जंगमात्मा।"[3]

व्युत्पत्ति के अन्तर्गत द्वितीय प्रतिपाद्य तत्त्व अध्ययन के महत्त्व की स्वीकृति है। द्विवेदी जी ने 'मौलिकता का मूल्य' शीर्षक लेख में इसका इस प्रकार प्रतिपादन किया है—"किसी विषय पर कुछ लिखने वाले लेखक के हृदय में उस विषय की दृष्ट-पूर्व पुस्तकों के भाव जरूर ही जागृत हो उठते हैं। × × × × × ऐसे लेखक दुनिया में बहुत ही थोड़े हुए हैं जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के संचित ज्ञान से, अपनी रचनाओं में कुछ भी लाभ न उठाया हो।"[4] यह काव्य-साधना प्रतिभा की तुलना में गौण है, तथापि काव्य जगत् में इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति का सामंजस्य होने पर काव्य में विशिष्ट कान्ति का समावेश हो जाता है। इसीलिए द्विवेदी जी ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए यह लिखा है—"कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिए बहुत पुण्य चाहिए, हृदय में ईश्वर-दत्त कवित्व-बीज चाहिए, परिश्रम भी चाहिए, अध्ययन भी चाहिए, मनन भी चाहिए।"[5] स्पष्ट है कि काव्य की रचना के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति (लोक-दर्शन, अध्ययन और मनन) के अतिरिक्त कवि-कृत श्रम (अभ्यास) भी अपेक्षित है। यह अभ्यास काव्य-शिक्षा-जन्य होता है। द्विवेदी जी ने प्रत्यक्ष निरूपण के अतिरिक्त सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गोपालशरणसिंह प्रभृति कवियों का मार्ग-दर्शन कर अप्रत्यक्ष रूप से भी काव्य-शिक्षा-जन्य अभ्यास का समर्थन किया है। उनके

१. सरस्वती, जुलाई १९०७, पृष्ठ २८१
२. सरस्वती, जुलाई १९०७, पृष्ठ २८१
३. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, पृष्ठ ३१, ४१
४. साहित्य-सीकर, पृष्ठ १३६
५. कालिदास की निरंकुशता, पृष्ठ १

उपर्युक्त समन्वयात्मक दृष्टिकोण मे राजशेखर द्वारा मान्य सारस्वत और आभ्यासिक कवियों का मिश्र-रूप निहित है।[१]

काव्य का प्रयोजन

द्विवेदी जी ने काव्य-रचना के प्रयोजनो पर कवि और सहृदय, दोनो की दृष्टि से विचार किया है। तथापि उन्होंने काव्य से कवि की व्यक्तिगत कामनाओ की तुष्टि की अपेक्षा उसके सामाजिक पक्ष की पुष्टि पर अधिक बल दिया है। इस विषय मे उनकी धारणाओं का क्रमिक निरूपण इस प्रकार होगा—

१ काव्य के अन्तरग प्रयोजन

द्विवेदी जी ने काव्य मे लोक-हित, परिष्कृत आनन्द और भक्तिप्रेरक सात्विक भावो के अभिनिवेश को उसके मूल प्रयोजन माना है। काव्य के अनुशीलन से आनन्द-लाभ के विषय मे उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि **"जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले उसे उतना ही ऊँचे दरजे की समझना चाहिए।"** इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—**"इनके (कवियों के) ललित और कोमल कार्य-कलाप से जितने ही अधिक लोगों का मनोरंजन हो, समझना चाहिए कि ये अपनी कृति के उद्देश में उतने ही अधिक सफलकाम हुए।"**[३] अत यह स्पष्ट है कि काव्य से पाठक की श्रम-श्लथ मानसिक चेतना को नव्य आनन्द का सम्बल प्राप्त होता है। इसीलिए उन्होंने काव्य से पाठक को मानसिक विश्रान्ति तथा परिष्कृति की उपलब्धि का उल्लेख करते हुए लिखा है—**"कविता से विश्रान्ति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है।"**[४] काव्य-चर्चा से प्राप्य आनन्द का भारतीय काव्य-शास्त्र मे विशद उल्लेख हुआ है। कुन्तक ने **"काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक."**[५] कह कर काव्य से सहृदयों के मन प्रसादन का ही उल्लेख किया है। भोजराज के मतानुसार भी कवि काव्य की रचना कीर्ति और प्रीति (आनन्द) के लिए करता है—**"कवि· कुर्वन्कीर्ति प्रीतिं च विन्दति।"**[६] भारतेन्दु युग मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास और जगमोहन सिंह ने भी काव्य मे आनन्द की उपलब्धि का स्पष्ट उल्लेख किया है। पाश्चात्य कवियो मे वर्ड्सवर्थ का भी मत है—**"कवि के समक्ष केवल एक ही प्रतिबन्ध है कि वह काव्यास्वाद के लिए अपेक्षित हृदय-**

---

१. देखिए "काव्य मीमासा", पृष्ठ ३०
२. सचयन, पृष्ठ १५०
३. समालोचना समुच्चय, पृष्ठ २६
४. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ ६८
५ हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ६
६. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ११२

स्थिति से सम्पन्न सहृदय को सद्य परनिर्वृत्ति प्रदान करे।"[१]

अत यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी द्वारा काव्य में प्राप्य आनन्द पर बल दिया जाना कवि-सम्मत सिद्धान्त है। तथापि वे आनन्द को स्थूल मनोरंजन का पर्याय नहीं मानते। वे सूक्ष्म आनन्द तथा ज्ञानोपलब्धि का सहवर्ती मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अपने विषय में यह लिखा है—"लेखक का उद्देश सदा से यही रहा है कि उसके लेखों से पाठकों का मनोरंजन भी हो और साथ ही उनके ज्ञान की सीमा भी बढ़ती रहे।"[२] स्पष्ट है कि यहाँ साहित्य को आनन्द प्राप्ति के अतिरिक्त व्यक्तित्व के उन्नयन में सहायक माना गया है। इसी प्रकार नाट्य विवेचन के प्रसग म "नाटक-ग्रन्थों का अभिप्राय मनोरंजन के साथ-साथ उपदेश देना है",[३] अथवा "उसके (नाटक के) द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है"[४] कह कर प्रकारान्तर से इसी धारणा का समर्थन किया गया है। इस दृष्टि-कोण की स्थापना भारतेन्दु युग में 'प्रेमघन' द्वारा की जा चुकी थी, तथापि द्विवेदी जी ने साहित्य को समकालीन सामाजिक परिस्थितियों के सन्तुलन में परखने हुए कुछ मौलिकता प्रदर्शित की है। व साहित्य को जातीय भावनाओं से सम्पृक्त देखने के इच्छुक थे। इसीलिए उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के पद से यह घोषणा की थी—

"साहित्य ऐसा होना चाहिए, जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की सजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाएँ और आत्म-गौरव की उद्भावना हो कर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन मात्र के लिए प्रस्तुत किए गए साहित्य से भी चरित्र को हानि न पहुँचनी चाहिए।"[५]

इस उक्ति म स्पष्ट है कि काव्य सहृदय की वृत्तियों के परिष्कार का द्वार खोलता है। द्विवेदी जी न "कवि और कविता" शीर्षक लेख में काव्य की लोकोपकारिता को स्पष्ट स्वीकार किया है।[६] वस्तुत यह द्विवेदी युग का प्राय सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त है। कवियों के अतिरिक्त तत्कालीन आलोचकों ने भी इसी का प्रतिपादन किया है। मिश्रबन्धुओं का मत इसका प्रमाण है—"काव्य का यह एक बड़ा गुण होना चाहिए कि उसके अवलोकन से पाठक के चित्त में उन्नति के विचार आवें, न कि जारकर्म के। अतएव उसमें प्रबन्ध के किसी न किसी हेर-फेर से अच्छे उपदेशों का होना अत्यावश्यक है।"[७]

१ "The poet writes under one restriction only, namely, the necessity of giving immediate pleasure to a human being possessed of that information which may be expected from him"
(The Critical Opinions of William Wordsworth, page 104)

२ लेखाञ्जलि, निवेदन, पृष्ठ ७

३ नाट्य शास्त्र, पृष्ठ ३६

४ नाट्य शास्त्र, पृष्ठ ५७

५. सम्मेलन-पत्रिका, चैत्र वैशाख, सवत् १९८०, पृष्ठ २१६

६ देखिए "सरस्वती", जुलाई १९०७, पृष्ठ २७७

७ सरस्वती, नवम्बर १९००, पृष्ठ ३६०

आनन्द-लाभ और लोक-हित-सम्पादन के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने भक्ति-प्रेरक सात्विक भावों की अनुभूति को भी काव्य-प्रयोजन माना है। उन्होंने इस दृष्टिकोण से रचित कृति को महती भावनाओं से सम्पन्न माना है—"प्राचीन कवियों की कविता के सरस होने का एक कारण यह भी है कि किसी प्रकार की आशा के वशीभूत हो कर के वे कविता न करते थे। सत्कृत्य द्वारा कालक्षेप करने, अथवा परमेश्वर को भक्ति द्वारा प्रसन्न करने ही के लिए वे प्राय: कविता करते थे। यह बात अब बहुत कम पाई जाती है। कविता में हीनता आने का यह भी एक कारण है।"[1] काव्य से परमार्थ-सुख की सिद्धि का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से भक्तिकालीन काव्य में तो हुआ ही है, रीतिकाल में आचार्य भिखारीदास ने "एक लहैं तपपुंजन्ह के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं"[2] कह कर इसी का प्रतिपादन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी काव्य से कवि को भक्ति-लाभ तथा पाठक को भक्तिमय आनन्द की प्राप्ति की चर्चा कर काव्य के इसी लक्ष्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने इस मत को परम्परीण रूप में उपस्थित किया है, तथापि तत्कालीन परिवेश में इसका उल्लेख महत्वपूर्ण है।

२ बाह्य प्रयोजन

द्विवेदी जी ने काव्य-रचना में प्राप्य प्रासंगिक फलों में यश-प्राप्ति का समर्थन किया है, किन्तु वे अर्थ-संचय को काव्य का साध्य बनाने की प्रवृत्ति के विरोधी हैं। यश-प्राप्ति की अभिलाषा को भी उन्होंने लोक-हित की प्रवृत्ति से सहज सम्बद्ध रखा है अर्थात् वे समाज-हितकारी काव्य को ही यश का प्रदाता मानते हैं। यथा—

"भाषा है रमणी-रत्न महा-सुखकारी,
भूषण हैं उसके ग्रन्थ लोक-उपकारी।
उनको लिख उसकी तृप्ति भली विधि कीजै,
अति विमल-सुयश की राशि क्यों न ले लीजै?"[3]

यश के लिए काव्य-रचना का अवलम्बन कवियों के लिए सहज स्वाभाविक है। तथापि लोक-हित की उपेक्षा कर उचित-अनुचित उपायों से यश-साधना की ओर प्रवृत्त रहने की प्रवृत्ति निन्दनीय है। इस दृष्टि से उनकी "ग्रन्थकार लक्षण" शीर्षक कविता पठनीय है।[4] यह मन्तव्य कवि के दृष्टि-गाम्भीर्य का सहज परिचायक है। भक्ति-काल में कविवर जायसी ने भी साधना-जनित अनुभव और अन्तरंग प्रीति से पुष्ट काव्य को जगत् में स्थायी चिह्न (यश) छोड़ने वाला मान कर अपनी कृति के विषय में लगभग इसी मत की स्थापना की है—

---

१ रसज्ञ रंजन, पृष्ठ ६८
२. काव्य निर्णय, पृष्ठ ४
३ द्विवेदी काव्य-माला, पृष्ठ ३७३
४. देखिए "द्विवेदी-काव्य माला", पृष्ठ २८८

"जोरी लाइ रक्त कै लेई,
गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई।
औ मन जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥"[1]

काव्य के अन्य प्रयोजनों में से द्विवेदी जी ने सम्पत्ति-लाभ को कवि के लिए सर्वोच्च काम्य मानने की प्रवृत्ति का निषेध किया है। उनके मतानुसार अर्थ के मोह में रचित कविता रस-तत्व से वंचित रहती है। इसीलिए उन्होंने कवि के विषय में कहा है—"परतन्त्रता, या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से, सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है।"[2] अतः यह स्पष्ट है कि काव्य के बाह्य फलों के प्रति उपेक्षा न रखने पर भी वे उसके आन्तरिक मूल्यों के प्रति अधिक सजग थे। यथा—

"कविता किस उद्देश्य से की जाती है? ख्याति के लिए, यश-प्राप्ति के लिए, धनार्जन के लिए, या दूसरों के मनोरंजन के लिए। इसके सिवा तुलसीदास की तरह स्वान्तःसुखाय भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर को सम्बोधन करके कोई-कोई कवि आत्म निवेदन भी, कविता द्वारा ही करते हैं। पर ये बातें केवल भक्त कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती हैं। अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते हैं और उनका वह मतलब ख्याति-लाभ और मनोरंजन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।"[3]

काव्य के भेद

द्विवेदी जी ने काव्य के भेद प्रभेदों पर विशेष विचार नहीं किया है, तथापि कविता और पद्य के विभेद तथा महाकाव्य के विषय में उनकी धारणाएँ महत्वपूर्ण हैं। इस दिशा में उनके विचारों का क्रमिक निरूपण इस प्रकार होगा—

१ कविता और पद्य

साधारण रूप से "कविता" और "पद्य" को समानार्थी शब्दों के रूप में परिगृहीत किया जाता है ("हिन्दी-शब्द-सागर" में इनमें कोई अन्तर नहीं माना गया है),[4] किन्तु काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इनमें सूक्ष्म अन्तर है। "कविता के नाम से पद्य-रचना करना एक बात है, कवि होना दूसरी बात है"[5] कह कर द्विवेदी जी ने इसी ओर संकेत किया है। "सुमन" के नामकरण के विषय में श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्रति एक पत्र में भी उन्होंने यह लिखा था—"नाम पुस्तक का आप ही रख दीजिए। नाम में पद्य हो, काव्य या

---

१ पद्मावत (सम्पादक—वासुदेवशरण अग्रवाल), पृष्ठ ७१३
२. सरस्वती, जुलाई १९०७, पृष्ठ २७८
३ सचयन, पृष्ठ ८८
४. देखिए "हिन्दी-शब्द-सागर", पहला खं०. पृष्ठ ५०७ तथा चौथा खं०, पृष्ठ १९७५
५. समालोचना-समुच्चय, पृष्ठ १४२

कविता नहीं।"[1] कोशगत अर्थ की दृष्टि से "बृहत् हिन्दी कोश" मे कविता को रसात्मक छन्दोबद्ध रचना" और पद्य को केवल "छन्दोबद्ध रचना" कहा गया है[2] द्विवेदी जी ने इसी अन्तर को मान्यता देते हुए कविता मे लोकोत्तरानन्द *विधायिनी मानव-भावनाओ* की स्वच्छ अन्तर्व्याप्ति मानी है और पद्य को कवि की आन्तरिक प्रेरणा के अभाव मे भी केवल छन्द नियमानुकूल विरचित हो सकने वाला कहा है। यथा—**"कविता और पद्य में वही भेद है जो अंगरेजी की "पोयटरी" और "वर्स" में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरो का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनो में कविता हो सकती है।"**[3] इस उक्ति से सिद्ध है कि पद्य की अपेक्षा कविता का अधिक गौरव है। जहाँ पद्य-रचना के लिए छन्द-शास्त्र का मर्मज्ञ होना पर्याप्त है वहाँ कविता के प्रणयन के लिए कवि को *लोक-मर्मज्ञता और प्रतिभा का धनी भी होना चाहिए। अत यह स्पष्ट है कि द्विवेदी* जी ने इस विषय का निर्भ्रम विवेचन किया है।

२ महाकाव्य

द्विवेदी जी ने महाकाव्य के स्वरूप का स्वतन्त्र रूप मे सन्तोषजनक विवेचन तो नही किया है, *तथापि आगे उद्धृत की गई धारणा से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य* के रचना-नियमों मे नवीनता के विधान की इच्छा रखने के कारण वे उन्हें परम्परीण रूप मे स्वीकार करने के विरोधी हैं—**"पुराने साहित्य-शास्त्रियों ने कवियों के मार्ग को बेतरह सकीर्ण कर दिया है। उन्होंने ऐसे जटिल नियम बना दिए हैं कि किसी रचना को महा-काव्य की सीमा के भीतर लाने के लिए कवियों को अनेक अनावश्यक विषयो का वर्णन करना पडता है।"**[4] इस दृष्टिकोण मे प्रतिपादन की अर्द्धव्यक्तता को लक्षित करते हुए यद्यपि इस विषय मे कोई टिप्पणी तो नही दी जा सकती, तथापि इसमे कवि-हितार्थ जिस उद्बोधन को वाणी दी गई है उसके क्रान्तिकारी रूप के लिए द्विवेदी जी का अभिनन्दन किया जा सकता है।

काव्य के वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी ने तत्कालीन काव्य को भाव-समृद्ध करने की इच्छा से काव्य-वर्ण्यों का विस्तृत निरूपण किया है। हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीणता के लिए उसे विविध विषय-*विभूषित रखने का उद्बोधन* देते हुए उन्होने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधि-वशन मे कहा था—**"जो जिस विषय का ज्ञाता है *अथवा जो विषय जिसे अधिक***

१. सुमन, निवेदन, पृष्ठ २
२. देखिए "बृहत् हिन्दी-कोश", प्रथम सस्करण, पृष्ठ २५६ तथा ७३६
३ सरस्वती, जुलाई १६०७, पृष्ठ २८०
४ साहित्य सन्दर्भ, पृष्ठ २६६

मनोरंजक जान पड़ता है उसे उसी विषय की ग्रन्थ-रचना करनी चाहिए। साहित्य की जितनी शाखायें हैं—ज्ञानार्जन के जितने साधन हैं—सभी को अपनी भाषा में सुलभ कर देने की चेष्टा करनी चाहिए।"[१] यह धारणा उचित ही है, क्योंकि कवि की रुचि के अनुकूल विषय-निर्धारण से ही काव्य स्वस्थ जन-रुचि के निर्माण में सहायक हो सकता है। इसीलिए उन्होंने बाबू राधाकृष्णदास को लिखे गए एक पत्र में भी यह उल्लेख किया था—'कवि के अभिलषित विषय पर ही उसकी कविता अच्छी होती है, यह हमारा मत है।"[२] द्विवेदी जी ने "क्वचित् किं न पश्यन्ति" के सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के सभी विषयों को काव्य के लिए आश्रय माना है।[३] तथापि उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि "कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए।"[४] इस प्रसंग में उन्होंने "प्रेमघन" की भाँति काव्य की देशकालोचितता की ओर संकेत करते हुए यह प्रतिपादित किया है—"जैसा समय आता है, साहित्य भी वैसा ही बनता है।"[५] उन्होंने अपने युग की नीति-प्रधान विचार धारा के कारण काव्य में सूक्ष्म मनोरंजन की उपलब्धि पर विशेष बल दिया है। इसीलिए उन्होंने शृंगार प्रधान काव्य और समस्यापूर्ति का स्पष्ट विरोध किया है। आगे हम इनके विषय में उनकी मान्यताओं का क्रमशः निरूपण करेंगे।

१ काव्य की शृंगारिकता

रीतिकालीन कविता में शृंगार रस के अतिरेक और भारतेन्दु युग में उस परम्परा के अनुकरण को लक्षित कर द्विवेदी जी ने अपने युग के काव्य को उसके प्रभाव से मुक्त रखने का संकल्प किया था। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के प्रति लिखित एक पत्र में उन्होंने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि "संयोगिनी और वियोगिनी पर कविता करना उचित नहीं।"[६] इसी प्रकार उन्होंने 'नायिका-भेद' शीर्षक संक्षिप्त परिचयात्मक अनुच्छेद में *नायिका-भेद को काव्य का प्रतिपाद्य विषय बनाने की प्रवृत्ति का विरोध किया है।*[७] इस दिशा में उनकी धारणा लगभग दुराग्रह की स्थिति तक जा पहुँची थी। इसीलिए वे नायिका-भेद-वर्णन को कवि-कर्म का ह्रास मानने लगे थे। उन्होंने कवियों को इस ओर से विरत होकर अन्य विषयों की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हुए लिखा है—"हम नहीं जानते और विषयों को छोड़कर नायिका-भेद सदृश अनुचित वर्णन क्यों करना चाहिए? इस प्रकार की कविता करना वाणी को विगर्हणा है।"[८] इस प्रसंग में

१ सम्मेलन-पत्रिका, चैत्र वैशाख, संवत् १९८०, पृष्ठ २१६
२. द्विवेदी-पत्रावली, पृष्ठ ६५
३. देखिए "रसज्ञ-रंजन", पृष्ठ २३
४ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २३
५ विचार-विमर्श, पृष्ठ ६०
६ द्विवेदी-पत्रावली, पृष्ठ १७३
७ देखिए "विशाल भारत", जून १९३७, पृष्ठ ६४६
८. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ ७२

उन्होंने नायिका-भेद की भाँति नायक भेद-कथन की सम्भाव्यता का उल्लेख कर कवियो द्वारा इस ओर ध्यान देने को काव्य के लिए उपकारक माना है और इस प्रकार शृगार रस को काव्य मे स्थान देने को औचित्यपूर्ण कहा है। इस सम्बन्ध म उनके विचार इस प्रकार है—

"जिस प्रकार नायिकाओं के अनेक भेद कहे गए हैं और भेदानुसार उनकी अनेक चेष्टाएँ वर्णन की गई है, उसी प्रकार पुरुषों के भी भेद और चेष्टा-वैलक्षण्य का वर्णन किया जा सकता है। × × × × × परन्तु हमारी भाषा के कवियों ने नायको के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम उनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कहीं वे इस ओर भी अपनी कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता।"[1]

नायिका भेद के प्रति इस विद्रोही स्वर की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने ही की थी। साधारणत यह दृष्टिकोण ठीक भी है, क्योंकि केवल नायिकाओ के भेदोप भेद मे लीन रह कर काव्य रचना किसी भी जाति के साहित्य के लिए निन्दनीय है। किन्तु इस धारणा के फलस्वरूप काव्य मे शृगार रस के सयोग-वियोगात्मक पक्षो का सर्वथा बहिष्कार कर देना लेखक के पूर्वाग्रही दृष्टिकोण का परिचायक है। शृगार रस की कविताओ मे अश्लीलता को समाविष्ट न होने देने और उसमे शील-सौजन्य का यथासम्भव सरक्षण करने का आन्दोलन तो तत्कालीन वातावरण मे निश्चय ही प्रशसनीय होता, किन्तु सयोगिनी और वियोगिनी नायिकाओ पर स्वतत्र रूप से काव्य रचना ही न करने का परामर्श देना सर्वथा अनुचित है। इससे उनके विचारो की सकीर्णता का ही बोध होता है। आवश्यकता इस बात की थी कि वे काव्य मे शृगार रस को मर्यादित रूप मे ग्रहण करने का सन्देश देते।

२. समस्यापूर्ति

काव्य मे रस के समावेश को प्रमुखता देने के कारण द्विवेदी जी ने समस्यापूर्ति के रूप मे विरचित कविता को सत्काव्य नही माना है। उदाहरणार्थ काव्य-कला के प्रति निम्नस्थ उक्ति मे इस मत का अप्रत्यक्ष प्रतिपादन देखिए—

"सदा समस्या सबको नई नई,
सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ।
तुझे उन्हीं में अनुरक्त मान,
वे विरक्त होते नहि, हा रसज्ञता!"[2]

समस्यापूर्ति मे कवि की चेतना के स्वतन्त्र न रहने के कारण भावोन्मेष का अभाव रहने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। काव्य की स्वाभाविक गति के बाधित रहने के कारण कवि प्राय ऐसी रचना मे रस-प्रसंग की योजना नही कर पाता। इसलिए द्विवेदी

---

१. रसज्ञ-रजन, पृष्ठ ७४ ७५

२ द्विवेदी काव्य माला, पृष्ठ २१३

जी ने समस्यापूर्ति की अपेक्षा नक्षिप्त और स्वतन्त्र कविताओं को अधिक गौरवपूर्ण माना है। यथा—"हमारी यह सम्मति है कि समस्यापूर्ति के विषय को छोड़ कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुन कर, कवि को यदि बड़ी न हो सके, तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए।"[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने भारतेन्दुयुगीन कवियों की भाँति काव्य में समाज-सुधार की गम्भीरता को रचनात्मक रूप से उपस्थित करने पर बल दिया है। काव्य-वर्ण्य को साधारणीकरण की प्रक्रिया के अनुसार गतिशील रखने की प्रेरणा दे कर भी उन्होंने इसी मन्तव्य का प्रतिपादन किया है। यथा—

"जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से × × × × × निकट सम्बन्ध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़ कर पढ़ने वालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।"

काव्य-शिल्प

द्विवेदी जी ने काव्य में उज्ज्वल भावों की भाँति कलात्मक परिष्कृति को भी अपेक्षणीय मान कर शिल्प-सौंदर्य के उत्पादक उपकरणों का स्वच्छ निरूपण किया है। उनकी काव्य शिल्प-विषयक धारणाओं पर निम्नलिखित वर्गीकरण के अनुसार विचार किया जा सकता है—

१ काव्य-भाषा

द्विवेदी जी ने काव्य भाषा के ऋजु-सरल रूप को उसका आन्तरिक गुण मानते हुए यह प्रतिपादित किया है—"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए।"[3] उन्होंने अपनी कविताओं में यत्र-तत्र संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग कर के अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की अवहेलना भी की है, किन्तु उनके मतानुसार "यदि हिन्दी का कोई शब्द न मिले तो संस्कृत का शब्द लिखने में हानि नहीं, पर जान-बूझ कर भाषा को उच्च बनाना हिन्दी के पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। × × × × × अतएव हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों को भी चाहिए कि संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग यथा-सम्भव कम किया करें।"[4] यह धारणा स्पष्टतः समर्थनीय है, क्योंकि कवि के मनोनुकूल सरल शब्दों के सामंजस्य में प्रसाद गुण का निर्वाह ही उत्तम काव्य का लक्षण है। द्विवेदी जी ने "नैषधचरित चर्चा और सुदर्शन" शीर्षक लेख में भी भाषा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यही लिखा है—

"प्रसाद गुण युक्त होने के कारण जिस काव्य का भावार्थ, पढ़ने अथवा सुनने के साथ ही, अन्तःकरण में अंकित हो जाता है, उसके आकलन से जितना आनन्द आता है उतना कठिन काव्यों के आकलन से नहीं आ सकता।"[5]

---

१ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २५

२. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २०

३ विचार विमर्श, पृष्ठ ४६

४ हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, पृष्ठ ६८-६९

५. सरस्वती, अक्तूबर १९००, पृष्ठ ३२५

उपर्युक्त अनुच्छेद से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने काव्य मे प्रसाद गुण के अनुकूल शब्द योजना पर बल दिया है। इसी धारणा के फलस्वरूप उन्होने काव्य में बोलचाल की भाषा को स्थान देने का समर्थन करते हुए यह मत व्यक्त किया है—**"गद्य-पद्य की भाषा होनी भी एक ही चाहिए। बोलचाल ही की भाषा लोगों की समझ में शीघ्र आती है, इसी से लोग उसे पसन्द भी करते हैं।"**[1] यह दृष्टिकोण एक ओर वर्ड्सवर्थ की उक्ति **"गद्य और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न तो कोई तात्विक अन्तर है और न हो ही सकता है"**[2] से प्रेरित रहा है और दूसरी ओर इस पर उर्दू के प्रसिद्ध शायर मौलाना हाली[3] के कथन **"नज़्म हो या नसर दोनो में रोज़मर्रा (बोलचाल की भाषा) की पाबन्दी जहाँ तक मुमकिन हो निहायत ज़रूरी है"**[4] का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार द्विवेदी जी ने काव्य भाषा को बोलचाल मे प्रयुक्त होने वाली गद्य-भाषा से अभिन्न माना है, किन्तु जिस प्रकार अंग्रेज़ी मे वर्ड्सवर्थ का यह सिद्धान्त असफल रहा था उसी प्रकार हिन्दी मे द्विवेदी जी का यह प्रयास भी अमान्य रहा। इस विषय मे श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी कवि वर्ड्स्वर्थ के नवीन सिद्धान्त × × × × ×"गद्य और पद्य का पद विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए' × × × × × का पालन द्विवेदी जी यथाशक्ति करने लगे, और दूसरे भी उनकी प्रेरणा से ऐसा करने पर बाध्य हुए। परन्तु जैसा कि सब साहित्य मर्मज्ञ समझते हैं वर्ड्स्वर्थ स्वयं अपने इस सिद्धान्त का पालन अपनी सर्वोत्कृष्ट कविताओं में नहीं कर सका था, उसी प्रकार द्विवेदी जी भी सब जगह इस सिद्धान्त का निर्वाह नहीं कर सके हैं।"[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने भाषा के अलंकरण की अपेक्षा उसके प्रसादत्व पर बल दिया है। काव्य-भाषा के अन्य गुणों मे से उन्होंने उसे व्याकरण के नियमों के अनुकूल रखने पर बल दिया है—**"कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए।"**[6] सम्भवत यह मत भी उनकी इसी धारणा का फल है कि काव्य की भाषा मे गद्य की भाषा के गुणों का सहज निर्वाह होना चाहिए। गद्य मे व्याकरण के नियमों का निर्वहन विशेष अभिप्रेत रहता है, अत द्विवेदी जी ने उसके अनुरूप ही यह मत व्यक्त किया है—**"जहाँ तक सम्भव हो शब्दों का मूल रूप न बिगड़ना**

१ विचार विमर्श, पृष्ठ २६

२ "It may be safely affirmed that there neither is nor can be any essential difference between the language of prose and metrical composition"
(The Critical Opinions of William Wordsworth, Page 107)

३ द्विवेदी जी ने "रसज्ञ रंजन" में संकलित "कवि और कविता" शीर्षक लेख में यह स्वीकार किया है कि वे मौलाना हाली के काव्यादर्शों से प्रभावित रहे हैं।

४ मुकद्दमे शेर व शायरी, पृष्ठ १६७

५ हिन्दी सर्वे कमेटी का रिपोर्ट, सन् १९३० भूमिका, पृष्ठ ८५

६ रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १८

चाहिए।"[1] काव्य में परिमार्जित भाषा के महत्व के कारण रुद्रट ने भी व्याकरण को वाणी का संस्कारक माना है—"विद्वानों की विद्वत्ता का यही फल है कि व्याकरण, तर्क-शास्त्र आदि से वाणी का संस्कार हो और उस वाणी का ही फल सुन्दर काव्य है"—

"फलमिदमेव हि विदुषा शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः,
यत्संस्कारो वाचा वाचश्च सुचारकाव्यफला।"[2]

यहाँ यह उल्लेख्य है कि उन्होंने व्याकरणिक नियमों के निर्वाह को काव्य का आन्तरिक धर्म नहीं माना है, व्याकरणबद्धता की अपेक्षा वे भाषा की प्रवाह-प्राप्ति को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उदाहरणस्वरूप प० किशोरीदास वाजपेयी द्वारा "समालोचक-प्रतिभा और कर्त्तव्य-निष्ठा" शीर्षक लेख में उद्धृत की गई द्विवेदी जी की यह उक्ति देखिए—"व्याकरण से सिद्ध हो जाने पर भी कोई शब्द भाषा में चल नहीं जाता, यदि प्रवाह प्राप्त न हो।"[3] भाषा में प्रवाह-संयोजन के लिए उन्होंने एक ओर यह कहा है—"शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए"[4] और दूसरी ओर उनका प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य में "विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए।"[5] ये दोनों धारणाएँ महत्वपूर्ण हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की शब्दावली में भावों के सुचारु अभिव्यंजन की क्षमता होनी चाहिए। यद्यपि भाषा की समृद्धि में इन गुणों के महत्व का ज्ञान सामान्यतः किसी भी कवि से अपेक्षित है, किन्तु भारतेन्दु युग में इनके उल्लेख के अभाव में द्विवेदी जी द्वारा इनकी चर्चा सर्वथा नगण्य नहीं है।

द्विवेदी जी ने भाषा में सजीवता उत्पन्न करने के लिए मुहावरों को विशेषतः ग्राह्य उपकरण माना है। भाषा के प्रसाधन में उनके महत्व की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—"मुहाविरा ही भाषा का प्राण है, उसे जिसने नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। उसकी भाषा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।"[6] आधुनिकयुगीन कवियों में इस धारणा के सर्वप्रथम प्रतिपादन का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। वस्तुतः काव्य में मुहावरों के उपयोग की सार्थकता असन्दिग्ध है। वे भाषा के लिए ही उपकारक नहीं होते, अपितु उनसे काव्यगत भावनाओं को भी दीप्ति मिलती है। भाव-समृद्धि में उनके योग को लक्षित कर के ही मौलाना हाली ने लिखा है—"मुहावरा अगर उम्दा तौर से बांधा जाए तो बिला शुबहा पस्त शेर को बुलन्द और बुलन्द को बुलन्दतर कर देता है।"[7] अतः यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने काव्य की भाव-विभवता के समान ही उसकी शिल्प-समृद्धि को भी कवि के लिए काम्य माना है। इसीलिए उन्होंने शब्द-सौंदर्य की अल्पता को काव्य के

१. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १८
२. काव्यालंकार, २।१३
३. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक-ग्रन्थ, पृष्ठ ४१०
४. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १६
५. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १८
६. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १८
७. मुकद्दमे शेर व शायरी, पृष्ठ १६७

लिए विघातक मान कर यह उल्लेख किया है—"**रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड जाता है, वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है।**"[1] यह दृष्टिकोण राजशेखर द्वारा कथित शब्द-पाक और वाक्य-पाक[2] का समन्वित आलेखन है।

२ काव्यगत अलकार

द्विवेदी जी ने काव्य मे अलकार-प्रयोग की स्थिति का विशेष विवेचन नही किया है, तथापि उन्होने कवि भावना के नैसर्गिक अलकरण पर बल देते हुए अलकारो की प्रयासजन्य योजना की निन्दा की है। "प्रेमघन" की भाँति उनका भी यही मत है—"**कविता करने में × × × × अलकारो को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए।**"[3] यह धारणा लेखक की अन्तरग दृष्टि की परिचायक है, क्योकि अलकारो के सप्रयास सघटन से काव्य "अधम" बन जाता है। अलकार के विषय मे द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष विवेचन केवल इतना ही है, किन्तु श्री लक्ष्मीनारायण "सुधाशु" ने यह उल्लेख किया है कि वे काव्य मे प्राचीन अथवा स्वीकृत अलकारो के प्रयोग को ही पर्याप्त नही मानते थे। अत उन्होने श्री अर्जुनदास केडिया की कृति "भारती-भूषण" के विषय मे सम्मति देते हुए यह मत व्यक्त किया था—"**काव्य में नवीन अलकारो की उद्भावना का प्रयास किया जाना चाहिए।**"[4] यद्यपि हमे इस विषय मे द्विवेदी जी की उक्ति उपलब्ध नही हो सकी, तथापि "सुधाशु" जी के उल्लेख के आधार पर द्विवेदी जी के मन्तव्य का अभिनन्दन किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य के अन्तरग की भाँति उसके बहिरग की व्यवस्था के प्रति भी सजग थ। उन्हे केवल परम्परा-पालन से सन्तोष नही था, वरन् वे काव्य-वस्तु और काव्य-कला, दोनो को समयानुकूल रूप प्रदान करने के पक्षपाती थे।

३ काव्य मे छन्द-विधान

द्विवेदी जी ने काव्य मे छन्द-प्रयोग की सामान्य रूपरेखा निर्धारित करते हुए अतुकान्त काव्य का विशेष विवेचन किया है। उन्होने छन्द-योजना को काव्य का बाह्य अग मान कर उसमे भाव-सौंदर्य को स्थान देने पर अधिक बल दिया है। उनके मतानुसार "**यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक हो अथवा बुरे से बुरे छन्द में क्यो न हो, उससे *आनन्द अवश्य ही मिलता है।***"[5] *यहाँ काव्य मे छन्दो की विविधता का* निषेध नही किया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे उनकी अनावश्यक बहुलता के विरोधी है। यह उचित भी है, क्योकि शुद्ध-स्वाभाविक छन्द-योजना भाव प्रसाधन मे सहायक होती है और असन्तुलित छन्द-सघटन काव्य-श्री के उन्नयन मे बाधक होता है। छन्द को

---

१. रसज्ञ रजन, पृष्ठ १८
२ देखिए "काव्य-मीमासा", पृष्ठ ५०
३. रसज्ञ-रजन, पृष्ठ २०
४. देखिए "काव्य में अभिव्यञ्जनावाद", पृष्ठ ६३, पाद-टिप्पणी
५. रसज्ञ-रजन, पृष्ठ १६

काव्य-गति और कवि की रुचि के अनुकूल होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"कुछ कवियों को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है, उसे ही वे अच्छा लिख सकते हैं।"[1] काव्य रचना के निरन्तर अभ्यास से इस शक्ति की उपलब्धि कवि के लिए सहज स्वाभाविक है। सिद्ध कवि को प्रत्येक छन्द की योजना में उपयुक्त सफलता भी प्राप्त हो सकती है, तथापि काव्य-वर्ण्य के अनुकूल छन्द-निबन्धन कवि के लिए विशेष सुकर रहता है। इस विषय में द्विवेदी जी की उक्ति इस प्रकार है—

"जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्द-योजना करनी चाहिए × × × × वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द मिलता है।"[2]

हिन्दी-छन्द-शास्त्र की परम्परा में इस दृष्टिकोण की स्थापना सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने ही की है। उन्हें यह मत विशेष ग्राह्य रहा है। "मेघदूत" शीर्षक लेख में इसी धारणा की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने लिखा है—"कवियों की यह सम्मति है कि विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करने से वर्ण्य विषय में सजीवता सी आ जाती है। वह विशेष खुलता है। उसकी सरलता, और सहृदयों को आनन्दित करने की शक्ति बढ़ जाती है।"[3] द्विवेदी जी ने इस धारणा को केवल मुक्तक काव्य तक सीमित न रख कर इसका महाकाव्य तक विस्तार किया है। इसीलिए उन्होंने कविवर मैथिलीशरण गुप्त को एक पत्र में यह परामर्श दिया था कि वे महाकाव्य में छन्द-वैविध्य को अनिवार्य न मान कर छन्दों का इच्छानुसार प्रयोग करें, "एक ही छन्द का दो, तीन, चार सर्गों में भी महाकवियों ने प्रयोग किया है। आप भी ऐसा ही करें। जो छन्द खूब मजे हुए हों उनका प्रयोग अधिक कीजिए।"[4] इससे सिद्ध है कि उन्होंने काव्य शास्त्र की अपेक्षा काव्य को ही प्रमाण मानते हुए संस्कृत-आचार्यों द्वारा निर्धारित समय-प्राप्त अथवा रूढ़ काव्य-सिद्धान्तों का विरोध किया है। इसी क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने हिन्दी-कवियों को कुछ सीमित छन्दों (मुख्यतः मात्रा-वृत्त) में ही काव्य-रचना न करने का उद्बोधन देते हुए संस्कृत और उर्दू की कविताओं में व्यवहृत छन्दों को ग्रहण करने का भी सन्देश दिया है। इस विषय में उनकी धारणाएँ इस प्रकार हैं—

(अ) "द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिन्दी में होने से हिन्दी काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी।"[5]

(आ) "आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के

---

१. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १५-१६
२. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १४
३. संचयन, पृष्ठ १५२
४. द्विवेदी-पत्रावली, पृष्ठ १३६
५. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १५

छन्दों में अधिक खुलती है, अत ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिएँ।"[१]

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी छन्द-शास्त्र के मर्म से अवगत थे। इस दिशा मे अपने दृष्टिकोण की गम्भीरता के फलस्वरूप ही वे अतुकान्त काव्य के समर्थन मे यह कह सके थे--"पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिएँ।"[२] इसके अतिरिक्त उन्होने हिन्दी कवियो को उद्‌बोधन देने के लिए एक अन्य स्थान पर भी यह कहा है--"तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्राय सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है।"[३] इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने काव्य-रचना के मार्ग मे आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयो पर आचार्य की दृष्टि से विचार किया था और तुक-योजना अथवा पादान्तिक अनुप्रास को काव्य की गति मे बाधक पा कर उसे काव्य का नित्य धर्म मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया था। इस सम्बन्ध मे उनकी धारणा की स्पष्ट अन्विति के लिए यह उक्ति द्रष्टव्य है--"तुले हुए शब्दो में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बडी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेडियाँ है।"[४]

काव्य मे तुक की अवाछनीयता के विषय मे यह दृष्टिकोण स्पष्टत भारतेन्दुयुगीन कवि अम्बिकादत्त व्यास के छन्द सम्बन्धी विचारो का पोषण करता है। द्विवेदी जी ने अतुकान्त अथवा अमित्राक्षर छन्दमयी कविता को काव्य के स्वाभाविक पथ के विपरीत न मान कर उदार दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होने इस नवीन काव्य प्रवृत्ति का स्वागत करते हुए कवियो को इस ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से अतुकान्त कविता के स्वरूप का अत्यन्त सहज विश्लेषण किया है। उनके मतानुसार "अमित्राक्षर छन्द लिखने में किसी विशेष नियम के पालन की आवश्यकता नहीं, इन छन्दो में भी यति, अर्थात् विराम के अनुसार ही पद-विन्यास होता है। वर्ण-स्थान और मात्राएँ भी नियत होती हैं, भेद केवल इतना ही होता है कि पादान्त में अनुप्रास नहीं आता।"[५] अत सर्वांगीण दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी ने काव्य में भाषा तथा छन्द विधान के विषय मे अनेक मौलिक, तर्कसम्मत, सबल तथा महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये है। जिस प्रकार उन्होने भाव-क्षेत्र मे हिन्दी-कविता के लिए नवीन प्रतिमान निश्चित किए, उसी प्रकार कला के क्षेत्र मे भी अपने समकालीन कवियो को नवीन दिशा देने का गौरव उन्हें उपलब्ध है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी जी ने उपरिविवेचित काव्यांगों के अतिरिक्त काव्य के अधिकारी, काव्या-

---

१. रसज्ञ रंजन, पृष्ठ १५
२. रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ १६
३. सरस्वती, जुलाई १६०७, पृष्ठ २८०
४. सरस्वती, जुलाई १६०७, पृष्ठ २८०
५. सुकवि-संकीर्तन, पृष्ठ १८

नुवाद और काव्यालोचन के विषय में भी स्फुट रूप से मत-प्रतिपादन किया है। इनके सम्बन्ध में उनके विचार क्रमश इस प्रकार है—

१ काव्य के अधिकारी

द्विवेदी जी ने आचार्य भिखारीदास के मन्तव्य, "दास कवितन्ह की चरचा बुधिवन्तन को सुखद सब ठाई"[1] के अनुकूल काव्य के अध्ययन मे प्राप्य आनन्द को कवि-हृदय से सम्पन्न सहृदयो के लिए ही सम्भाव्य माना है। यथा—

(अ) "सच तो यह है कि कवि के हृदय का भाव प्राकृत कवि या सच्चे सहृदय ही जान सकते हैं।"

(आ) "इनके (कवियों के) कार्यों से आनन्द का यथेष्ट अनुभव वही कर सकते है जिनका हृदय इन्हीं के सदृश, किम्बहुना इनसे भी अधिक सुसस्कृत, कोमल और भावग्राही होता है।"[3]

इन अवतरणो के अतिरिक्त उन्होंने 'मधद्दन' शीर्षक लेख म भी उस धारणा की पुष्टि की है—"किसी के काव्य का आकलन करने वाले का हृदय यदि कहीं कवि ही के हृदय सदृश हुआ तो फिर क्या कहना है। इस दशा में आकलनकर्ता को वही आनन्द मिलेगा जो कवि को उस कविता के निर्माण करने से मिला होगा।"[4] आधुनिकयुगीन कवियों मे काव्य के रसास्वादन के विषय मे इस सहृदयपूर्ण दृष्टिकोण की नवप्रथम स्थापना करने का श्रेय द्विवेदी जी को ही है। भारतेन्दु युग के कवि निश्चय ही इससे अनभिज्ञ नही रहे होंगे, किन्तु काव्यशास्त्रीय शब्दावली मे इनके उल्लेख की ओर उनका ध्यान नहीं गया। वैसे यह काव्य शास्त्र का चिरपरिचित सिद्धान्त है, क्योंकि काव्य के अध्ययन म पाठक के अन्तर्नेत्रो के समक्ष वर्ण्य की जो प्रतिच्छवि उपस्थित होती है, वह उसे सदा से आनन्दमग्न करती रही है। भारतीय काव्य शास्त्र मे उपलब्ध "सहृदय" शब्द से कवि भावनायुक्त अध्येता का अर्थ ही अभिप्रेत है। कवि ऐसे सहृदयो की काव्यानन्द की अनुभूति कराने के लिए ही अपनी रचना को आस्वादनीय बनाते हैं। इसीलिए वररुचि ने ब्रह्मा से प्रार्थना की थी—"अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।"[5] सत्य है, "गुणी ही गुण को जानता है—गुणी गुण वेत्ति।" प्राचीन आचार्यों के मतानुसार कवि और भावक मे अन्तर नही है, क्योंकि वे दोनो ही कवि हैं—"क पुनरनयोर्भेदो य कविर्भावयति भावकश्च कवि, इत्याचार्या:।"[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य के आस्वादन के लिए सहृदय को कवि की भाँति सवेदनशील होना चाहिए। इसीलिए द्विवेदी जी ने यह लिखा है—"जिसमें

१ काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४

२ माधुरी, जनवरी १९२३, पृष्ठ ३

३ समालोचना-समुच्चय, पृष्ठ २६

४ मनरंजन, पृष्ठ १५०

५. काव्य-दर्पण (रामदहिन मिश्र), पृष्ठ १९ से उद्धृत

६. काव्य-मीमांसा (राजशेखर), पृष्ठ ३१

जितनी ही अधिक सहृदयता होती है उसे उतना ही अधिक रसानुभव भी होता है—वही कवि के हृदय के सबसे अधिक पास पहुँच जाता है अथवा यह कहना चाहिए कि उसका और कवि का हृदय एक हो जाता है।"[1] यह दृष्टिकोण उपरिकथित मन्तव्य का ही पुन प्रतिपादन है, तथापि द्विवेदी जी ने इस सम्बन्ध में सूक्ष्म चिंतन का आधार लेकर अन्यत्र यह कहा है कि प्रत्येक अध्येता के आनन्दानुभव के स्तर में सूक्ष्म अन्तर रहता है। उसके मतानुसार "हृदय तो सबके होता है, पर सब हृदयों की ग्राहिका शक्ति एक सी नहीं होती। अतएव यह निश्चय समझिए कि रसवती कविता से भी सबको एक सा आनन्द अथवा एक सा रसानुभव नहीं हो सकता।"[2] काव्य में भिन्न भिन्न कवियों द्वारा विषय-वस्तु के प्रतिपादन की भिन्नता को लक्षित करते हुए इस स्थापना का सहज ही समर्थन किया जा सकता है। इसीलिए आचार्य धर्मदत्त ने कहा है कि वासनायुक्त सभ्यों को ही रस का आस्वादन प्राप्त होता है—"सवासनाना सभ्याना रसस्यास्वादन भवेत्।"[3] रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास का भी यही मत है—"रस-कवित्त परिपक्वता जानें रसिक न और।"[4] रस बोध के स्तर-वैभिन्न्य को लक्षित करके ही पाश्चात्य काव्याचार्यों में बेन जानसन ने भी यह प्रतिपादित किया है कि "किसी कवि के विषय में मत निर्धारित करना कवि का ही कार्य है और वह भी सब कवियों का नहीं, केवल मुख्य कवियों का ही साध्य है।"[5] सारांशत यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी ने कवि कर्म की भाँति काव्य के रसास्वादन का भी सूक्ष्म निरूपण किया है।

२ काव्यानुवाद

द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्य की समृद्धि के लिए अन्य भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों को अनूदित करने का समर्थन करते थे। उन्होंने अनुवाद की श्रम-साध्यता को लक्षित कर यह प्रतिपादित किया है कि काव्यानुवाद के लिए कुशल काव्य-मर्मज्ञता का होना अत्यावश्यक है। उनके मतानुसार "किसी पुस्तक का अनुवाद आरम्भ करने के पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितांत आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है वही अच्छा अनुवाद करने में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं।"[6] उनसे पूर्व "प्रेमघन" जी ने इसी मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया था, "योग्य कवि से कविता के अनुवाद को योग्य ही कवि का होना अत्यन्तावश्यक है।"[7] यह दृष्टिकोण उचित ही है, क्योंकि मूल

१. साहित्य सन्दर्भ, पृष्ठ १२५
२ साहित्य सन्दर्भ, पृष्ठ १२८
३ साहित्य-दर्पण, पृष्ठ ५४
४ भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, "रस-सारांश" से उद्धृत, पृष्ठ ४
५. "To Judge of poets is only the facultie of poets, and not of all poets, but the best"
(Ben Jonson, Vol VIII, Page 642)
६ रसज्ञ-रंजन, पृष्ठ २६
७ प्रेमघन-सर्वस्व, भाग २, पृष्ठ ३१

कविता की शैली के अन्तरण में अनुवादक को तभी यत्किंचित् सफलता का लाभ हो सकता है जब वह प्रकृति और प्रवृत्ति से पूर्णतः कवितानुरागी हो। इस स्थान पर यह उल्लेख्य है कि अनुवाद-कार्य में सफलता के लिए अनुवादकर्त्ता को तीन गुणों—काव्य रचना की क्षमता, काव्य के रसास्वादन की प्रवृत्ति और काव्य के मर्म को जानने की शक्ति से अवश्य सम्पन्न होना चाहिए। यद्यपि द्विवेदी जी ने इनका इस रूप में निरूपण नहीं किया है, तथापि यह असंदिग्ध है कि इन तीनों क्षमताओं से युक्त होने पर ही कवि द्वारा श्रेष्ठ अनुवाद उपस्थित किया जाना सम्भव है। इनमें से प्रथम दो गुणों की ओर तो उन्होंने उपर्युक्त उक्ति में संकेत किया ही है, उनकी तृतीय मान्यता का भी अप्रत्यक्ष रूप से इस उद्धरण के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है—"भाव ही प्रधान है, शब्द-स्थापना गौण। शब्दों का प्रयोग तो केवल भाव प्रकट करने के लिए होता है। अतएव भाव प्रदर्शक अनुवाद ही उत्तम अनुवाद है।"[1]

भावना और शब्द-योजना के इस अन्तर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कवि को आलोचक की प्रतिभा से समन्वित रहना चाहिए। उसमें आलोचक के रहस्य-कर्म का पूर्ण ज्ञान तो अपेक्षित नहीं है, तथापि उसे इससे सर्वथा अपरिचित भी न होना चाहिए। इनके अतिरिक्त यहाँ मूल कृति की भाषा की अपेक्षा भावना का महत्व दे कर अनुवाद-कला के मर्म का सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। वस्तुतः अनुवाद और अनुवाद्य की भाषा में प्रकृतिगत साम्य न होने के कारण मूल ग्रन्थ को उसी रूप में भाषान्तरित नहीं किया जा सकता। इसीलिए उन्होंने भारविकृत "किरातार्जुनीय" का भावार्थबोधक गद्यानुवाद करते हुए यह कहा है—"हमें प्राय अर्थविस्तार भी करना पड़ा है, पर इसकी परवा न करके, मूल का मतलब अच्छी तरह समझाने के लिए, हमने अधिक वाक्यों के व्यय में कमी नहीं की। प्रसंग का मेल मिलाने के लिए कहीं-कहीं तो हमने अपनी तरफ से भी कुछ लिख दिया है।"[2] इससे स्पष्ट है कि अनुवाद में भाषान्तरकार की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अनिवार्य संस्पर्श के कारण मूल रचना में कुछ-न-कुछ भिन्नता अवश्य रहती है। उन्होंने कालिदासकृत "रघुवंश" का भावार्थबोधक गद्यान्तरण करते हुए इसी मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"इस अनुवाद में शब्दार्थ पर कम ध्यान दिया गया है, भावार्थ पर अधिक। स्पष्ट शब्दों में कालिदास का आशय समझाने की चेष्टा की गई है, शब्दों का अर्थ लिख देने ही से सन्तोष नहीं किया गया। महाकवियों के प्रयुक्त किसी किसी शब्द में इतना अर्थ भरा रहता है कि उस शब्दार्थ का वाचक हिन्दी शब्द लिख देने ही से उसका ठीक-ठीक बोध नहीं होता। उसे स्पष्टतापूर्वक प्रकट करने के लिए कभी कभी एक नहीं, अनेक शब्द लिखने पड़ते हैं।"[3]

---

१. कुमारसम्भव (अनूदित), भूमिका, पृष्ठ ३
२. किरातार्जुनीय, भूमिका, पृष्ठ ४३
३. रघुवंश, भूमिका, पृष्ठ ३८

इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने ठाकुर जगमोहन सिंह की भाँति भावानुवाद को कवि के लिए आदर्श माना है। वास्तव मे अनुवाद-कला का मर्म भी यही है। इसी लिए पाश्चात्य काव्याचार्य ड्राइडन ने कहा है—"यथानुरूप अनुकरण और शाब्दिक रूपान्तर ये दो ऐसे अतिचार हैं, जिनका (उत्तम अनुवाद में) परित्याग करना चाहिए।"[१]

३ काव्यालोचन

द्विवेदी जी ने काव्यालोचन के स्वरूप का विशेष विवेचन नही किया है तथापि "विचार विमर्श' में सकलित "सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य" शीर्षक लेख का अध्ययन करने पर उनके आलोचना सम्बन्धी विचारो की साधारण रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है। उनके मतानुसार आलोच्य रचना मे काव्य शिल्प-सम्बन्धी त्रुटियो का निर्देश कर सकीर्ण छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति को प्रश्रय देना आलोचक का धर्म नही है। आलोचक का कर्तव्य है कि वह कृति मे प्रतिपादित भावनाओ के आधार पर उसका मूल्य-निर्धारण करे। इस दिशा मे उनके विचार क्रमश इस प्रकार हैं—

(अ) "छन्द, अलकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुई। उन्हीं पर जोर देना अविवेकता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं।"[२]

(आ) "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं × × × × × यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानत इन्हीं बातो पर विचार करना चाहिए।"[३]

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि समीक्षक को आलोच्य कृति मे मुख्यत जीवन-व्याख्या के स्वरूप का अन्वेषण करना चाहिए। किसी भी रचना के मर्म का उद्घाटन करने के लिए यही अपेक्षित भी है कि आलोचक समाज के लिए उपयोगी आदर्शों के प्रति उसके लेखक की सजगता का अध्ययन करते हुए स्वय भी जीवन से अनुप्रेरित रहकर कृति को समीक्षा करे। रचना के वाह्य उपकरणो की अपेक्षा उसके आन्तरिक मूल्यो के विश्लेषण पर बल देकर द्विवेदी जी ने अपने पूर्ववर्ती आलोचको की अपेक्षा अधिक अन्तरग दृष्टि का परिचय दिया है। इस प्रसग मे उन्होंने "प्रेमघन" की भाँति यह भी प्रतिपादित किया है कि आलोचक को व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों का त्याग कर पूर्णत नि सग भाव से समीक्षा करनी चाहिए। यथा—

(अ) "मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशसा करना विश्वासघात देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या, द्वेष अथवा शत्रु-भाव के वशीभूत हो कर किसी की

१ "Imitation and verbal version are, in my opinion, the two extremes, which ought to be avoided"
(The Poetical Works of John Dryden, Vol V, page 9)

२ विचार विमर्श, पृष्ठ ४५

३ विचार विमर्श, पृष्ठ ४५

कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।"[१]

(आ) "समालोचना करना बुरा नहीं। परन्तु राग-द्वेष और प्रतिहिंसा की प्रेरणा से जो समालोचना की जाती है वह बुरी है। ऐसी समालोचना कभी न्यायसंगत और पक्षपातहीन नहीं हो सकती।"[२]

आलोचना के क्षेत्र में इस दृष्टिकोण की सार्थकता सहज स्पष्ट रही है। राजशेखर ने इस प्रकार के समीक्षकों को मत्सरी आलोचक कहा है, क्योंकि वे कवि-प्रतिभा को देख कर भी नहीं देखना चाहते और उसके गुण-कथन के विषय में मौन रहते हैं (मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभात, परगुणेषु वाचयमत्वात्)।[3] द्विवेदी जी ने आलोचक को मात्सर्य रहित रह कर तत्वाभिनिवेशी बनने का सन्देश दे कर काव्यमीमांसाकार के मन्तव्य का सहज निर्वाह किया है। वस्तुत साहित्य- स्रष्टा और आलोचक में प्रतिस्पर्द्धा का भाव साहित्य की स्वस्थ रचना के लिए विघातक है। आलोचक द्वारा संयमित भाव से सम्यक् विवेचना न करना उसके दृष्टिकोण की अपूर्णता का परिचायक है।

सिद्धान्त-प्रयोग

द्विवेदी जी के काव्य सिद्धान्तों में से केवल काव्य स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-प्रयोजन, काव्य वर्ण्य काव्य-शिल्प, काव्यानुवाद और काव्यालोचन का प्रयुक्त रूप विवेचनीय है। शेष काव्य-विचारों में से काव्य हेतु और काव्य के अधिकारी का क्रमश कवि और सहृदय की क्षमता से सम्बन्ध है, अत उनके प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार काव्य भेदों और उपरिलिखित समस्त काव्यांगों की रचनागत स्थिति के अध्ययन के लिए भी अधिक अवकाश नहीं है, क्योंकि द्विवेदी जी कवि न होकर मुख्यत आलोचक थे। इस सम्बन्ध में उनकी आत्मस्वीकारोक्ति है कि "कविता करना अन्य लोग चाहे जैसा सहज समझें, हमें तो यह एक तरह दु साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का अभ्यास किया था, पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्राय बन्द कर दिया।"[४] ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त होगा कि उनके काव्य सिद्धान्तों के व्यावहारिक रूप का संक्षेप में अध्ययन किया जाए।

१ काव्य का अन्तरंग

द्विवेदी जी ने भावना के रसात्मक आस्वाद, लोक हित और भक्ति प्रेरणा को काव्य में आन्तरिक शोभा का विधान करने वाले तत्व माना है किन्तु उसमें शृंगार रस के अभिनिवेश और समस्यापूर्ति का निषेध किया है। रस को प्रधानता देने पर भी वे अपनी

---

१ विचार विमर्श, पृष्ठ ८६

२ साहित्य सदर्भ, पृष्ठ २३१

३ काव्य मीमांसा, पृष्ठ ३३

४ रसज्ञ रंजन, पृष्ठ ३२

रचनाओ मे रस को निष्पत्ति करने मे असमर्थ रहे हैं। "आशा", "शरीर-रक्षा", "कृतज्ञता-प्रकाश", "मांसाहारी को हटर" आदि अनेक कविताओं मे पाठक को किसी प्रकार रसानुभूति नही हो पाती। यद्यपि "बालविधवा-विलाप", "सरगौ नरक ठेकाना नाहिं", "रम्भा", "महाश्वेता" आदि कविताओ मे सम्बन्धित रस की साधारण स्थिति भी मिलती है, तथापि उन्हे रस की सिद्धि मे वाछित सफलता नही मिली है। वस्तुत विवेक-पक्ष की प्रबलता के फलस्वरूप उनके काव्य मे सवेदना और कल्पना का पक्ष क्षीण हो गया है। रस को काव्य का आन्तरिक धर्म मान कर उन्होने उचित सिद्धान्त की स्थापना अवश्य की है, किन्तु वे अपनी धारणा का निर्वाह करने मे असफल रहे हैं। रस का निष्पादन न कर पाने पर भी उन्होने "कान्यकुब्जलीलामृत", "स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार", "विचार करने योग्य बातें", "देशोपालम्भ", "ठहरौनी" आदि कविताओ मे लोकहितपरक दृष्टि का सफल निर्वाह किया है। इसी प्रकार "विधि विडम्बना" शीर्षक कविता मे विधाता के अविचार का उल्लेख होने पर भी उनकी अनेक कविताएँ (विनयविनोद, शिवाष्टक, कथमहं नास्तिक, ईश्वर की महिमा, भारत की परमेश्वर से प्रार्थना आदि) भक्ति का प्रेरणा देती हैं।

द्विवेदी जी काव्य मे शृगार रस को स्थान न देने के प्रति प्राय सजग रहे हैं, किन्तु रविवर्मा के चित्रो पर आधारित कविताओ (रम्भा, कुमुद सुन्दरी, महाश्वेता, ऊषा-स्वप्न, प्रियवदा आदि) एव "विहार-वाटिका" मे वे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह नही कर पाए हैं। इन कविताओ मे नायिका के हाव-भाव, नख-शिख-सौन्दर्य (केश, मुख, नयन, भृकुटी, कुच, कटि, नाभि, त्रिवली, नितम्ब आदि के मनमोहक रूप का उल्लेख), वसनाभूषण-सज्जा और सयोग वियोगात्मक स्थितियो का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि वे शृगार रस के प्रति उदासीन नही रहे हैं। "ऋतु-तरगिणी" मे ऋतुओ को शृगाररसोद्दीपन मे सहायक दिखा कर तथा पति को "बिम्बाधर-रस चखन वाल"[1] कह कर उन्होने यही सूचित किया है कि शृगार रस काव्य के लिए अपरिहार्य है। अत यह स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होने अपने काव्य मे शृगार रस का बहिष्कार करने की पर्याप्त सावधानी रखी है, तथापि वे इसमे कृतकार्य नही हो सके हैं, किन्तु यह उनके काव्य का दोष न हो कर गुण ही है। काव्य-वर्ण्य के अन्तर्गत उन्होने समस्यापूर्ति-रूप मे रचित काव्य के विरोध को व्यावहारिक दृष्टि से भी सार्थक किया है अर्थात् इस ओर उनकी प्रवृत्ति नही रही है।

२ काव्य-शिल्प

द्विवेदी जी ने काव्य-भाषा को सरल, शुद्ध, विषयानुकूल और मुहावरो से समृद्ध रखने पर बल दिया है। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने अपनी भाषा को प्राय सरल रखा है (इस दिशा मे उनकी फुटकर रचनाएँ विशेषत द्रष्टव्य हैं)[2], किन्तु "ऋतु-

१. द्विवेदी-काव्य-माला, पृष्ठ ३८५

२. देखिए "द्विवेदी-काव्य-माला", पृष्ठ ३५७–४५४

तरगिणी", "देवीस्तुति शतक" और "श्री गगालहरी" मे संस्कृत के क्लिष्ट शब्दो का प्रयोग भी मिलता है। इसका कारण सम्भवत यह है कि उन्होंने खडी बोली और ब्रज-भाषा के अतिरिक्त संस्कृत म भी काव्य-रचना की है, किन्तु अतिसंस्कृतनिष्ठ हिन्दी के विषय मे उन्हे खेद भी रहा है। इसीलिए उन्होंने "ऋतुतरगिणी" की भूमिका मे लिखा है, "**इसमें बहुत-सा संस्कृतवाक्य होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु असाधारण छन्द होने के कारण नियत स्थान में शुद्ध हिन्दी-शब्द की योजना नहीं हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बडा खेद है।**"[१] भाषा शुद्धि की दृष्टि मे द्विवेदी जी की प्रारम्भिक रचनाएँ विशेष सुगठित नही हैं। इसके प्रमाण रूप मे उनकी निम्नलिखित काव्य-पक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

"**कभी कभी तू अब भी दयाघने,**
दया करें है इस दीन देश पं।"[२]

इसके दो कारण हैं—एक तो उस समय तक खडी बोली का काव्य-भाषा के रूप मे परिष्कार न हो सका था और दूसरे उनके पास शिल्प-सज्जा के लिए अवकाश भी कम था—"**कारणवश, झटपट, यह हमने अल्प लेख लिख मारा है।**"[३] उनकी भाषा सर्वत्र विषयानुकूल भी नही है, किन्तु "कुमारसम्भवसार', "मरगो नरक ठेकाना नाहिं", "ठहरौनी' और कतिपय अन्य समाज-राष्ट्रपरक कविताओं मे इस सिद्धान्त का यथेष्ट पालन हुआ है। भाषा की अन्य आवश्यकताओं मे से मुहावरो के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नही रही है।[४]

काव्य शिल्प के अन्य उपादानो म मे द्विवेदी जी ने अपने सिद्धान्त के अनुकूल अलकारो का प्राय स्वाभाविक प्रयोग किया है। "ऋतुतरगिणी", 'विहार-वाटिका", 'स्नेह माला", 'हे कविते" आदि रचनाओं मे अलकारों की सप्रयास योजना भी हुई है, जा कहीं-कहीं उचित प्रतीत नही होती। छन्दोविधान की दृष्टि से उन्होंने काव्य मे समर्थ छन्दो की योजना पर बल देते हुए वर्णवृत्तो और अतुकान्त रचना का समर्थन किया है। उन्होंने अपनी कविताओं मे छन्द-वैविध्य रखते हुए मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत मुख्यत दोहा, हरिगीतिका और तोमर का प्रयोग किया है, अन्यथा "विहार-वाटिका", "श्री महिम्नस्तोत्रम्", "ऋतुतरगिणी", "श्री गगालहरी",' देवीस्तुति शतक" आदि रचनाओं मे वसततिलका, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा, मालिनी आदि गणवृत्तो का ही प्रयोग हुआ है। फिर भी अतुकान्त काव्य-रचना उन्हे विशेष इष्ट नही रही है: उनकी कविताओं म से केवल "हे कविते" ही अन्त्यानुप्रासरहित है।[५]

---

१ द्विवेदी काव्य माला, पृष्ठ ७१
२ द्विवेदी-काव्य माला, पृष्ठ २६२
३ द्विवेदी काव्य माला, पृष्ठ २७८
४ देखिए "महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग", पृष्ठ १०६
५ देखिए "द्विवेदी काव्य-माला", पृष्ठ २८१-२८५

३ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी जी के अन्य सिद्धान्तों में से काव्यानुवाद-विषयक विचारों का व्यावहारिक रूप भी विवेचनीय है। यद्यपि उनके काव्यालोचन-सम्बन्धी मत के व्यवहार रूप का भी परीक्षण किया जा सकता है, किन्तु हमारा अभीष्ट उनके कवि-रूप का अध्ययन करना है, आलोचक के रूप में उनकी सफलताओं का उल्लेख करना नहीं। अत हम यहाँ उनकी अनुवाद प्रतिभा का ही विवेचन करेंगे। उन्होंने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावार्थबोधक अनुवाद को महत्व दिया है। इस दृष्टि से उनकी प्रमुख अनूदित काव्य रचनाओं—श्री महिम्नस्तोत्रम् (पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराजरचित स्तुति-काव्य), श्री गगालहरी (पडित-राज जगन्नाथकृत "पीयूषलहरी" का अनुवाद) और कुमारसम्भवसार (कालिदासकृत "कुमारसम्भव" के प्रथम पाँच सर्गों का रूपान्तरण)—का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने मत का उचित निर्वाह किया है। उन्होंने इनमे प्रत्येक शब्द को अनूदित करने का दुराग्रह न रख कर प्राय "मूल का आशय मात्र लिया है।"[१] इसी प्रकार उन्होंने "श्री महिम्नस्तोत्रम्" के अनुवाद के विषय मे भी यह स्वीकार किया है—"इस स्तोत्र के भाषान्तर करने में मूल कवि के अभिप्राय को भली भाँति प्रकट करने के हेतु से कहीं कहीं भावार्थ के प्रकरण में फेरफार भी हुआ है।"[२]

विवेचन

द्विवेदी जी की काव्य-मान्यताओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भारतेन्दु युग के कवियों की अपेक्षा इस दिशा में कहीं अधिक व्यापक आधार पर कार्य किया है। यद्यपि उन्होंने काव्य प्रयोजन, काव्य वर्ण्य और काव्य शिल्प के विवेचन में उनसे यथावसर प्रेरणा और सामग्री ली है, तथापि एक ओर काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-भाषा, काव्यानुवाद और काव्यालोचन के विवेचन में अपने पूर्ववर्ती कवियों के सिद्धान्तों को विकसित एव समृद्ध किया है और दूसरी ओर काव्य भेद, नायिका भेद, समस्यापूर्ति और काव्य के अधिकारी का प्रथम बार उल्लेख कर हिन्दी कवियों को काव्य चिन्तन की नवीन दिशा दी है। उन्होंने अपने विचारों को संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू और मराठी के काव्य शास्त्र से भली भाँति समृद्ध किया है और युग की आवश्यकताओं के अनुकूल यथा-स्थान मौलिक सिद्धान्त-समीक्षा की है। विशेषत काव्यात्मा और काव्य के अधिकारी का तात्त्विक विवेचन तो आधुनिकयुगीन कवियों में सर्वप्रथम उनकी कृतियों में ही उपलब्ध होता है।

●

१ द्विवेदी-काव्य-माला, कुमारसम्भवसार, भूमिका, पृष्ठ २ ९

२ द्विवेदी-काव्य माला, पृष्ठ ५४

श्रीधर पाठक

कविवर श्रीधर पाठक ने काव्य-चिन्तन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है, तथापि उनकी रचनाओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व मौलिक काव्य-दृष्टि म सम्पन्न कवि थ। उनके विचारों के अध्ययन के लिए काव्य कृतियों (मनोविनोद, एकान्तवासी योगी, श्रान्त पथिक, ऊजड ग्राम वनाष्टक, श्री गोपिका-गीत, देहरादून, धन विनय, भारत-गीत और काश्मीर सुखमा) के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन म सभापति पद से उनके भाषण का अध्ययन भी अपेक्षित है। इसी प्रकार उनके पत्र और उनके सम्बन्ध में उपलब्ध संस्मरण भी इस दिशा में साधारणत सहायक रहे हैं। उपर्युक्त कृतियों म मुख्यत काव्य-शिल्प और काव्यानुवाद का विवेचन हुआ है और सामान्य रूप से काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य की चर्चा की गई है। आगे हम इन काव्यांगों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

काव्य का स्वरूप

आलोच्य कवि ने "प्रेमघन" और महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति काव्य में वस्तु और अभिव्यंजना-कौशल के सहभाव को आवश्यक मान कर यह प्रतिपादित किया है कि "उत्तम विषय और उत्तम लेख शैली, ये दोनों क्रम से साहित्य के अनश्वर आत्मा और शरीर हैं। उत्तम विषय सदाजीवी होते हैं जो कि उत्तम लेख-शैली रूपी सर्वांग सुन्दर शरीर पा कर उसके रूप माधुर्य से संसार को सदा मोहित किए रहते हैं।"[1] भावना और पद-योजना के वाच्य-वाचक-व्यापार के प्रौढत्व को कवि-धर्म मान कर पाठक जी ने अपने चिन्तन की गहनता का उपयुक्त परिचय दिया है। काव्य के अन्तर्बाह्य संस्कार से लोक मानस के अनुरंजन की सार्थकता असंदिग्ध है। स्पष्ट है कि उन्होंने इस दिशा में सहज मान्य धारणा को ही वाणी दी है।

काव्य की आत्मा

पाठक जी ने आधुनिक युग के पूर्ववर्ती कवियों की भाँति रस के काव्य जीवत्व की घोषणा न कर रीति को काव्य का मूल तत्व माना है। उन्होंने "खडी बोली की कविता" शीर्षक लेख में लिखा है—"कवि का भाव पाठक के हृदय पर यथार्थ अंकित करने वाले

---

[1] पंचम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम, प्रथम भाग, पृष्ठ २३

और श्रवणों को सुख देने वाले पदों का प्रयोग कविता की आत्मा है।"[1] इससे सिद्ध है कि वे काव्य में प्रसाद गुण और माधुर्य गुण के अनुकूल वर्ण संघटन को महत्व देते हैं। माधुर्य-व्यंजक वर्ण गुम्फ, पद-लालित्य और समास राहित्य अथवा अल्प सामासिकता की यह प्रवृत्ति ही वैदर्भी रीति है।[2] पाठक जी द्वारा किसी मित्र की रचना की प्रशंसा में लिखित पत्र से उद्धृत इन पंक्तियों में भी अप्रत्यक्षतः रीति के महत्व का प्रतिपादन हुआ है—

"प्रेम पूरि रचना रुचिर, सुधा मधुर पद पाँति,
कथन प्रथा सुन्दर तथा, यथा उचित सब भाँति।"[3]

यहाँ कवि ने रचनागत प्रेम तत्व, मधुर वर्ण-गुम्फ और रुचिर अभिव्यंजना की प्रशंसा द्वारा रीति को रस की उपकर्त्री के रूप में ग्रहण किया है। अतः यह स्पष्ट है कि उन्हें काव्य में रस का महत्व स्वीकार्य अवश्य है किन्तु रस की अभिव्यक्ति के लिए साधन-रूप रीति पर उनका बल अधिक है।

काव्य का प्रयोजन

प्रस्तुत कवि ने काव्य हेतु की प्राय चर्चा नहीं की और उनका काव्य प्रयोजन का विवेचन भी अत्यन्त संक्षिप्त है। उन्होंने लोक-मंगल की प्रेरणा को काव्य का मूल प्रयोजन कह कर सत्काव्य की रचना के लिए यह अनिवार्य माना है कि कविगण इस प्रयोजन को निरन्तर दृष्टिपथ में रखें। उनके विचारानुसार "लोकवृत्ति को किसी उद्दिष्ट सत्पथ पर ले जा कर उन्नति की लीक में अग्रसर रखना बड़ी क्षमता का काम है। जो व्यक्ति इस क्षमता से विरहित है उसे साहित्य के कर्म-क्षेत्र में पैर न रखना चाहिए।"[4] इस उक्ति में काव्य द्वारा शिव-तत्व के प्रसार पर बल दिया गया है। इस विषय में उनकी स्थापना गोस्वामी तुलसीदास की मान्यता से स्पष्ट साम्य रखती है—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"[5]

पाठक जी ने काव्य के इस लक्ष्य को पूर्व प्राप्त सामग्री के आधार पर ही निर्धारित किया है। इसी प्रकार काव्य के बाह्य प्रयोजनों में से उनके द्वारा यश प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त उल्लेख, "पावेगी पै सुकविता जग में बड़ाई"[6] भी कवियों की पूर्व स्वीकृति के अनुकूल है।

---

१ प्रथम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, काशी, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१
२ उद्धृत "हिन्दी साहित्यदर्पण", १९२, पृष्ठ ६५६
३ मनोविनोद, तृतीय खंड, पृष्ठ २६
४ पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृष्ठ १७
५ रामचरितमानस, बालकांड, पृष्ठ ४६
६ मनोविनोद, तृतीय खंड, पृष्ठ २७

काव्य के वर्ण्य विषय

पाठक जी ने काव्य-वर्ण्य के विवेचन में एक ओर कवि को देश काल के अनुरूप काव्य-रचना का परामर्श दिया है और दूसरी ओर काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के अभिनिवेश की मधुमयी प्रेरणा दी है। उनके अनुसार "वर्तमान समय में सामाजिक और धार्मिक संशोधन की बड़ी आवश्यकता है, अतः इसी को उद्देश्य मान कर कविता विशेषतः लिखी जानी चाहिए × × × × × ये दोनों विषय इतने असीम हैं कि इनमें पद्य-रचना की अमित समाई है।"[1] यह दृष्टिकोण भारतेन्दु युग की कवि धारणाओं और द्विवेदी युग की सामाजिक जागृति की पृष्ठभूमि में उपस्थित किया गया है। इसी के फलस्वरूप पाठक जी ने काव्य में जातिगत मनोवृत्तियों के उत्कर्ष को उसका गुण मानते हुए यह लिखा है— "साहित्य हमारी जातीय सम्पत्ति है, हमारी जातीय प्रतिमूर्ति वा जातीय स्थिति का दर्पण है। साहित्य और जातीयत्व का सर्वत्र सचमुच ऐसा ही अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, यह कभी न भूलना चाहिए।"[2] यह जातीय भाव केवल हिन्दू-जगत् तक सीमित न रह कर व्यापक अर्थ में अपने में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का समाहार किए हुए है।[3] उन्होंने "मातृभाषा-महत्व" शीर्षक कविता में भी यही प्रतिपादित किया है कि काव्य में सामाजिक के मानसोन्नयन में सहायक विषयों का अभिनिवेश होना चाहिए।

> "प्रगटहु याही में सदा सुख दुख सोच विचार,
> त्यों जग के सब नित्य अरु नैमित्तिक व्यवहार,
> कुल कीरति, ईश्वर निरति, साधुन चरित उदार।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाठक जी युगधर्म के निर्वाह के प्रति पूर्णतः सजग रहे हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कवियों को सृष्टि के निसर्ग-सौन्दर्य के अंकन का उद्बोध देकर सिद्धान्त चर्चा की दृष्टि से काव्य-क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थापना की है। यद्यपि "भारत-धरनि" के प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रभावित हो कर (सरित-वन-कृषि-भरित-भुवि-छवि-सरस-कवि-मति हरनि)[5] उसे काव्य में स्थान देने के प्रति सामान्यतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और विशेषतः जगमोहन सिंह ने इससे पूर्व ध्यान दिया था, किन्तु इस प्रवृत्ति को कवि-धर्म के रूप में स्वीकार करने वाले प्रथम कवि पाठक जी ही हैं। प्रकृति-सौन्दर्य से सहृदय व्यक्ति का प्रभावित होना सहज सिद्ध है। प्रकृति-दर्शन से कवि के भाव आन्दोलित अवश्य होते हैं, किन्तु अति तन्मय होने के कारण वह "गूँगे को गुड़" की स्थिति प्राप्त कर प्रथमोन्मेष में ही उन्हें वाणी प्रदान करने में असफल रह सकता है। यथा—

---

१. प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३०
२. पंचम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृष्ठ १७
३. देखिए "भारत-गान", निवेदन, पृष्ठ ५-६
४. मनोविनोद, तृतीय खंड, पृष्ठ ६
५. भारत गीत, पृष्ठ २१

"जल थल धरनि अकास, छई अब जो छवि,
सो सब अकथ, अपार, सकति कहि को कवि।"[1]

प्रकृति और कवि मे उपकारक और उपकृत का सम्बन्ध होता है। अत प्रकृति के अवलोकन मे कवि के मन मे नानाविध कल्पनाएँ उठती हैं और वह उनके माध्यम से उसकी सामान्यता के भी विशिष्ट रूप म दर्शन करता है। पाठक जी ने कश्मीर के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए प्रकृति द्वारा कवि की कल्पना-शक्ति के उन्मेष का उल्लेख कर इसी का प्रतिपादन किया है—

(अ) "सो कवियन जो कही कलित सुरलोक निकाई,
याही को अवलोकि एक कल्पना बनाई।"[2]

(आ) "कविगन कौं कल्पना-कल्पतरु, कामधेनु सी।"[3]

काव्य-शिल्प

पाठक जी ने काव्य के बाह्य रूप को सज्जित करने वाले उपकरणो मे से काव्य-भाषा और काव्य मे छन्दोविधान पर विचार किया है। आगे हम इनके विषय मे उनकी मान्यताओ का क्रमश पर्यालोचन करेंगे।

१ काव्य-भाषा

आलोच्य कवि ने काव्य भाषा के अन्तर्गत काव्य की माध्यम भाषा, काव्यगत शब्द-योजना और काव्य-भाषा के कतिपय अन्य गुणो की चर्चा की है। उन्होने ब्रजभाषा और खडी बोली मे से काव्य मे खडी बोली को स्थान देने का समर्थन किया है, तथापि वे इस विषय म दुराग्रही वृत्ति से युक्त नही रहे हैं। इसीलिए उन्होने भारतेन्दुयुगीन काव्य मे प्रयुक्त मिश्रित भाषा (ब्रजभाषा और खडी बोली का यथास्थान ससर्ग) का सर्वथा विरोध नही किया है, किन्तु वे इस प्रकार के प्रयोगो को काव्य-भाषा के सस्कार के लिए ही लाना चाहते हैं, अन्यथा नही। उनके मतानुसार "× × × × ×इससे यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रजभाषा का कभी किसी प्रकार का ससर्ग खडी बोली पद्य में न होने पावे। कवि अपनी रुचि के अनुसार अत्यन्त आवश्यकता पडने पर ऐसे शब्द या पद उस भाषा के भी व्यवहार में ला सकता है जिनसे उसके कथन में लोकोत्तर सुन्दरता सम्पादित होती हो, किन्तु ऐसे प्रयोगो का बार-बार अनियन्त्रित व्यवहार निन्द्य है।"[4] इससे यह स्पष्ट है कि वे ब्रजभाषा का आदर करने के लिए भी प्रस्तुत थे, किन्तु उनका मत था कि काव्य मे किसी भी भाषा को स्थान देते समय उसे शुद्ध रूप मे उपस्थित करने की ओर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। इस विषय म उनके पुत्र श्री गिरिधर पाठक की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"पिता जी हिन्दी भाषा के प्रेमी हैं परन्तु उसके किसी विशेष रूप के पक्षपाती

---

१ घन विनय, पृष्ठ ८
२ काश्मीर सुखमा, पृष्ठ ६
३ काश्मीर सुखमा, पृष्ठ १०
४. पचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम, प्रथम भाग, पृष्ठ २६

नहीं है × × × × × सब रूपों पर उन्हें समान स्नेह और एक सी ममता है परन्तु उन्हें इस बात का आग्रह है कि जिस रूप का व्यवहार किया जाय वह यथाशक्य शुद्ध हो।"[1]

पाठक जी ने भाषा की ऋजुता को काव्य का गुण मान कर उसमें संस्कृत की शब्दावली को सहजतम रूप में स्थान देने का समर्थन किया है। उन्होंने "खड़ी बोली की कविता" शीर्षक लेख में लिखा है, "यह बात असंदिग्ध है कि संस्कृत शब्दों की सहायता के बिना हमारी भाषा के गद्य वा पद्य की उन्नति साध्य नहीं × × × × × परन्तु उसके अप्रचलित शब्द और लम्बे समासों का प्रयोग जहाँ तक सम्भव हो त्यागना चाहिए। × × × × × उनका व्यवहार केवल उस अवस्था में करना उचित है जब कि उनके बिना किसी प्रकार काम न चल सकता हो अथवा उनके उपयोग से लेख की शोभा वा गौरव वृद्धि होती हो।" इससे यह स्पष्ट है कि पाठक जी ने यहाँ किसी पूर्व-निश्चय का आरोपण न कर हिन्दी-भाषा के स्वतन्त्र विकास को लक्ष्य में रख कर ही ऐसा कहा है। संस्कृत-शब्द-प्रयोग के विषय में इस स्थापना के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी द्वारा उन्हें दिनांक २६।४।१९०६ को लिखे गए पत्र के प्रस्तुत उद्धरण, "कृपा-पत्र आया, उससे जान पड़ता है आप उर्दू-मिश्रित हिन्दी के विरोधी हैं",[3] के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे हिन्दी-साहित्य में उर्दू भाषा के शब्द प्रयोग की व्यापकता से असहमति रखते थे। साधारणतः इस उक्ति को उनकी संकीर्ण दृष्टि का परिचायक माना जा सकता है, किन्तु तत्कालीन वातावरण में उर्दू के विरोध में हिन्दी प्रचार-आन्दोलन को देखते हुए उनके द्वारा उर्दू के महत्व की अस्वीकृति स्वाभाविक ही है।

पाठक जी काव्य भाषा की समृद्धि के लिए उसे दूषण-मुक्त रखने के विषय में विशेष सजग थे। वे भाषा में शब्दाडम्बर, ग्राम्यता, असभ्य पद-प्रयोग, क्लिष्टता आदि दोषों की स्थिति का विरोध करते थे।[4] काव्य-भाषा-संस्कार के प्रति उनकी सजगता को श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति कथित इस उक्ति से सहज ही अनुमित किया जा सकता है—"किसी-किसी का कहना है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि नहीं हैं, लेकिन मेरी समझ में तो वे अत्युत्तम कवि हैं। वे ग्राम्य भाषा का प्रयोग नहीं करते और उनकी कोमल-कान्त पदावली मनोहारिणी होती है।"[5] स्पष्टतः यहाँ काव्य-भाषा में ग्राम्यत्व का निषेध करते हुए कोमल शब्द-विन्यास पर बल दिया गया है। इस क्षमता की उपलब्धि के लिए उन्होंने कवि को दैनिक व्यवहार की भाषा में भी अश्लीलता, ग्राम्यता और व्याकरण-विरुद्धता से बचने का सन्देश दिया है। इसके लिए समय-समय पर कवि-गोष्ठियाँ आयोजित करने का परामर्श देते हुए उन्होंने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से कहा था—

"इस गोष्ठी में कोई अश्लील बात न कही जाय और न ग्राम्य-भाषा का प्रयोग

१. देहरादून, विवृत्ति, पृष्ठ २
२. प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१
३. द्विवेदी-पत्रावली, पृष्ठ ६१
४. देखिए 'प्रथम-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्यक्रम, प्रथम भाग', पृष्ठ २३
५. संस्मरण, पृष्ठ ७

हो। जो महाशय व्याकरण की अथवा अन्य प्रकार की भूल करें, उन पर प्रत्येक भूल के लिए एक पैसा जुर्माना किया जाय। इससे अपनी भाषा इस प्रकार बोलने का अभ्यास हो जायगा कि यदि उसे ज्यों का त्यों लिख दिया जाय तो हर प्रकार से शुद्ध भाषा हो।"[1]

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस कथन के औचित्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। काव्य शास्त्र के अन्तर्गत भाषा की परिष्कृति के लिए औदार्य और सौकुमार्य नामक काव्य-गुणों का योगदान भी यही माना गया है।[2] पाठक जी ने इन विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य भाषा की सजीवता और सरसता के लिए उसमें अप्रचलित वाक्य प्रयोग का निषेध करते हुए उसे मुहावरों से सम्पन्न करने पर बल दिया है। उनके मतानुसार "जिस प्रबन्ध में प्रचलित वाक् पद्धति के विरुद्ध शब्द व्यवहार होता है और मुहाविरे की दरिद्रता रहती है उसमें सरसता अवश्य शून्य होती है और विषय और भाव उत्कृष्ट होने पर भी रोचकता नहीं आती।"[3] इस कथन को कुछ सीमाओं के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। अप्रचलित वाक्यों के प्रयोगों से भाव-सौन्दर्य की हानि तो निश्चित है, किन्तु मुहावरों के अभाव में उत्कृष्ट भावों में रोचकता का न आना स्पष्टतः अस्वीकार्य है। मुहावरों के प्रयोग से भाषा सौन्दर्य में वृद्धि अवश्य होती है, किन्तु उनके प्रति दुराग्रह भी उचित नहीं है।

२ काव्य में छन्द योजना

पाठक जी ने काव्य शास्त्र को काव्य रचना का अनुगामी मानते हुए कवि को यह सन्देश दिया है कि वह छन्द-रचना के नियमों से परिचित तो रहे, किन्तु अपने आपको उनके बन्धन में अनावश्यक रूप में न बँधने दे। उन्होंने इस विषय में कवि के पूर्वाग्रह को काव्य की भाव गति का अवरोधक माना है। उदाहरणार्थ श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति उनकी यह उक्ति देखिए—"हम दोनों (श्रीधर पाठक और देवीप्रसाद "पूर्ण") में छन्द-शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता के विषय पर बहुत कुछ वाद विवाद हुआ था। मेरा यह पक्ष था कि कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह छन्द-शास्त्र के विस्तृत नियमों को पढ़े। कविता पहले आती है, छन्द-शास्त्र पीछे। राय साहब का मत मेरे विरुद्ध था और हम दोनों में काफी बहस हुई थी।"[4] इससे स्पष्ट है कि पाठक जी काव्य में छन्द-प्रयोग के विषय में उदार विचार रखते थे। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने एक ओर भारत की प्रान्तीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं से हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल छन्दों को ग्रहण करने का समर्थन किया है और दूसरी ओर छन्द में तुकान्त नियम की शिथिलता को अचिन्त्य माना है। यथा—

"बंगला, मराठी, द्रविड, फारसी, अंग्रेजी, जापानी आदि विदेशी भाषाओं के

---

१ सम्मरण, पृष्ठ १६

२ देखिए "भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका", भाग २, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ १७८

३ प्रथम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१

४ सम्मरण, पृष्ठ २३

कोई छन्द यदि हिन्दी में सरसता के साथ आ सकें तो उनका ग्रहण भी अनुचित न समझना चाहिए। गुल्मवृत्त और संस्कृत श्लोकों की भाँति अन्त्यानुप्रास रहित पद्य रचना की ओर भी ध्यान देना उचित प्रतीत होता है।"[1]

आलोच्य कवि ने पूर्व अम्बिकादत्त व्यास और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी कवि-स्वतन्त्रता के इस रूप को स्वीकार किया था। इन कवियों के विचारों का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इन्होंने छायावाद-युग की छन्द-क्रान्ति का मार्ग स्थिर करने में योग दिया था। छन्द-विषयक उपर्युक्त धारणाओं के अतिरिक्त पाठक जी ने "घनाष्टक" की भूमिका में सवैया छन्द के स्वरूप पर भी नवीन रूप में विचार किया है और उसमें प्रयुक्त छन्द को 'नवीन सवैया छन्द" कहा है।[2] इस नवीनता के अनुसार प्रत्येक सवैये में २४ अक्षर रख कर प्रथम चरण में २३ अक्षर रखे गए हैं और आदि में आने वाले दो लघु वर्णों की स्थिति को सवैये के सौंदर्य के लिए हानिकर मान कर "भारतमित्र" के ३१ दिसम्बर, सन् १९०० के अंक में 'पर्यालोचक' का यह मत उद्धृत किया गया है—**"जिस सवैया के प्रत्येक चरण के आदि और अन्त दोनों में दो-दो लघु हों वह हमारी समझ में भद्दा और दूषित होता है।"**[3] इस मान्यता के अतिरिक्त "घनाष्टक" का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह भी कहा जा सकता है कि वे सवैया छन्द में केवल भगण की स्थिति को पर्याप्त नहीं मानते, उन्होंने उसमें रगण और यगण को भी स्थान दिया है। सामान्यतः ये परिवर्तन विचारणीय प्रतीत हो सकते हैं और इसी कारण मिश्रबन्धुओं ने इनका विरोध भी किया था,[4] किन्तु नवीन प्रयोग केवल नवीन होने के कारण ही त्याज्य नहीं होते। इसीलिए "भारतमित्र' के उक्त अंक में पाठक जी की इस छन्द-योजना का समर्थन करते हुए यह मत व्यक्त किया गया है, "जिस छन्द में पठन-सौष्ठव हो वही शिष्ट छन्द है।"[5] पाठक जी के सवैयों में वर्तमान लय-तत्त्व को दृष्टि में रखते हुए इस मत का सहज ही समर्थन किया जा सकता है। परवर्ती कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी पाठक जी के इसी मन्तव्य को वाणी दी है—**"सवैया में एक ही भगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (मोनोटोनी) आ जाती है।"**[6] अतः यह सिद्ध है कि छन्द-विधान के विषय में आलोच्य कवि की दृष्टि अत्यन्त स्वच्छन्द और मौलिक रही है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

काव्यानुवाद

पाठक जी ने उपर्युक्त काव्यांगों के अतिरिक्त स्फुट रूप से काव्यानुवाद के स्वरूप

---

१. प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य-विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ३१
२. देखिए "घनाष्टक", मुख-पृष्ठ पर कोष्ठकबद्ध उक्ति
३. "घनाष्टक" के लक्ष्य से उद्धृत
४. देखिए "सरस्वती", नवम्बर १९००, 'श्रीधर पाठक की कविता' शीर्षक लेख
५. यह सम्मति "घनाष्टक" के मुख-पृष्ठ पर सिद्धान्त-वाक्य के रूप में प्रकाशित है।
६. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २५

की चर्चा की है। यद्यपि उनके मतानुसार "एक देश के काव्य का जिसमें कि वहाँ की जातीय **बातें विशेष हों दूसरे देश की भाषा के पद्य में अनुवाद कर पूर्ण रस दिखा देना एक यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन कार्य है,"**[1] तथापि वे द्विवेदी जी की भाँति हिन्दी कविता को अन्य भाषाओं की श्रेष्ठ काव्य-कृतियों के अनुवाद से समृद्ध करने के पक्षपाती थे। पूर्ववर्ती काव्यानुवादकों की भाँति उन्होंने भी इस दिशा में उदार दृष्टिकोण अपनाया है। इसी कारण उन्होंने "श्री गोपिका गीत" (श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ३१वें अध्याय का अनुवाद) की समुपस्थिति (भूमिका) में यह प्रतिपादित किया है कि मूल कृति के कुछ अंश को आवश्यकतानुसार छोड़ने पर भी कवि को अनुवाद में उसके मुख्य भावों को संकेत रूप में अवश्य ग्रहण करना चाहिए—**"इसमें मूल बहुत छूट गया है, पर शायद कुछ बड़ा बिगाड़ नहीं हुआ, उसकी छाया बहुत कुछ आ गई है।"**[1] यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने अनुवाद की स्वच्छन्दता का समर्थन करने पर भी "श्री गोपिका गीत" को **"समश्लोकी स्वच्छन्द, छायानुवाद खड़ी हिन्दी में"**[2] मान कर मूल कृति की प्रत्येक पंक्ति को उतने ही विस्तार में अनूदित करने का समर्थन किया है, तथापि यह उनकी प्रतिनिधि मान्यता नहीं है। इसीलिए उन्होंने 'ऊजड़ ग्राम' (गोल्डस्मिथ के "डसरटिड विलेज' का अनुवाद) के विषय में कहा है, **"अधिक भाग अनुवाद का पंक्ति प्रति पंक्ति है, इस कारण त्रुटि इसमें विशेषतर होगी।"**[4] इसी प्रकार "श्रान्त पथिक" (गोल्डस्मिथ के "ट्रेवलर" का अनुवाद) की भूमिका में भी *उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की प्रत्येक पंक्ति* का उतना ही रूपान्तरण मूल भावों का सर्वथा विश्वसनीय प्रतिफलन नहीं होता।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाठक जी ने पंक्ति प्रति-पंक्ति अनुवाद करने पर भी उसे काव्य का आदर्श नहीं माना है। इस दृष्टिकोण की सार्थकता का अनुभव करके ही पाश्चात्य आलोचक ड्राइडन ने लिखा है—**"अनुवाद में अभिव्यंजना की स्वतन्त्रता स्वीकार्य होनी चाहिए × × × × × यह अनिवार्य नहीं है कि शब्दों और पंक्तियों को भी मूल रचना के अनुपात में सीमित रखा जाए।"**[6] अनूदित कृति में सरसता, पद-

---

१. ऊजड़ ग्राम, "विज्ञप्ति" से उद्धृत
२. श्री गोपिका गीत, पृष्ठ ८
३. श्री गोपिका गीत, मुख पृष्ठ पर प्रकाशित वक्तव्य
४. ऊजड़ ग्राम, "विज्ञप्ति" से उद्धृत
५. "Being throughout a line for line rendering of a terse and philosophical poem, it can not claim to be a very faithful reproduction of the original"

(श्रान्त पथिक, "प्रावेश" से उद्धृत)

६. "There is therefore a liberty to be allowed for the expression, neither is it necessary that words and Lines should be confin'd to the measure of their Original"

(The Poems of John Dryden, Page 511)

लालित्य और अर्थ-गौरव की योजना के लिए मूल कृति की भावनाओं में यथास्थान परिवर्द्धन स्वाभाविक ही है। पाठक जी ने "एकान्तवासी योगी' (गोल्डस्मिथकृत "हरमिट" का अनुवाद) की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि विदेशी कवि की रचना को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ और रोचक रखने के लिए इस प्रकार के परिवर्तन उन्हें सहज इष्ट रहे हैं।[१] भारतेन्दु युग में ठाकुर जगमोहन सिंह ने भी काव्यानुवाद के विषय में इसी दृष्टिकोण की स्थापना की थी। वस्तुतः अनुवाद-कर्म अपने आप में बड़ा जटिल है और उसमें लेखक को तभी सफलता प्राप्त हो पाती है जब वह अपनी आत्मा को मूल लेखक की आत्मा से तदाकार कर ले। ऐसा करने पर ही वह उसके भावों की सुरक्षा के प्रति सजग रह सकता है। फिर भी, साधारण स्वतन्त्रता का उपयोग किए बिना अनुवाद में सजीवता का समावेश दुस्साध्य होगा। मिश्रबन्धुओं ने श्रीधर पाठक की अनूदित काव्य कृतियों पर विचार करते हुए ठीक ही कहा है—

"अनुवादों का निर्माण ऐसा होना चाहिए कि वह मूल ग्रंथ की भाषा न जानने वाले पाठकों को अवश्य रुचें और यह तभी हो सकता है जब कुछ न कुछ स्वच्छन्दता से उल्था किया जाय।"[२]

सिद्धान्त-प्रयोग

पाठक जी के सिद्धान्त-कथन की संक्षिप्तता के कारण उनके विचारों के काव्यगत प्रयोग को काव्य का अन्तरंग, काव्य-शिल्प और काव्यानुवाद के शीर्षकों के अन्तर्गत ही निरूपित करना उचित होगा। आगे हम उनके काव्य में इनकी स्थिति का क्रमशः विधिवत् अध्ययन करेंगे।

१ काव्य का अन्तरंग

पाठक जी ने काव्य के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसमें भावना और कला के सामंजस्य पर बल दिया है। इस दृष्टिकोण का उनके काव्य में सहज परिपाक रहा है। भावना की भाँति कला को महत्व देने के कारण उन्होंने रस के स्थान पर रीति के काव्य-जीवत्व को अधिक आग्रह के साथ स्वीकार किया है। तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उनके

---

१. "However, all that lay in my small power has been exerted to make the Hindi rendering as satisfactory as possible, the numerous additions to, and the few slight deviations from, the poet's original ideas, which will be found in the body of the translation, being introduced only to render more interesting and indeed more intelligible to the purely Hindi knowing reader a foreign tale, which, without them, would have but little or no charm for him"

(एकान्तवासी योगी, अंग्रेजी भूमिका में उद्धृत)

२ सरस्वती, नवम्बर १९००, पृष्ठ ३६४

काव्य मे रस का अपकर्ष नही हुआ है। उन्होने अपनी रचनाओं मे रीति अथवा पद-रचना की विशिष्ट प्रणाली को गौरव अवश्य दिया है, किन्तु इसके लिए रस की उपेक्षा करना उन्हे अभिप्रेत नही है। इस दृष्टि से "देहरादून", 'काश्मीर सुखमा", "धन-विनय" और "वनाष्टक" शीर्षक मौलिक रचनाएँ विशेषत पठनीय हैं। अन्य काव्य-सिद्धान्तो मे से काव्य प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य के अन्तर्गत उनका मूल प्रतिपाद्य यह रहा है कि कवि को एक ओर युग-धर्म का अनुसरण करते हुए लोकहितपरक काव्य की रचना करनी चाहिए और दूसरी ओर काव्य म प्रकृति-सौदर्य के कथन की ओर ध्यान देना चाहिए। उन्होने "भारत-गीत ' म सकलित अधिकाश कविताओ (भारत-मगल, भारत-धाम, देश गीत, शिक्षक भारत, सुमदेश, आर्य महिला आदि) मे भारतीय समाज का राष्ट्रीय दृष्टिकोण मे चित्रण कर समकालीन देश-काल का निर्वाह करते हुए लोक-मगल का उचित ध्यान रखा है। इसी प्रकार "गोखले गुणाष्टक" शीर्षक सक्षिप्त काव्य मे महा-मना गोखले के चरित्र के महत्व को स्पष्ट कर जनता के मन का सस्कार करने मे सराह-नीय योग दिया गया है। युग धर्म के प्रति इस सजगता के अतिरिक्त उन्होने "वनाष्टक", "काश्मीर सुखमा", "धन विनय", "देहरादून" आदि स्वतन्त्र काव्य-रचनाओ और "भारत-गीत" मे समाविष्ट "भ्रमर-गीत", "बक मयक ', "सान्ध्य अटन ' तथा "अर्धवि अटन" शीर्षक सक्षिप्त कविताओ मे प्रकृति शोभा का विविध प्रणालियो से मनोहारी अकन किया है। अत यह स्पष्ट है कि उन्होने काव्य के भाव तत्व के विषय मे अपने विचारो को अपने काव्य मे स्थान देने मे उपयुक्त सफलता प्राप्त की है।

२ काव्य-शिल्प

पाठक जी ने काव्य की माध्यम भाषा के विषय मे उदार दृष्टिकोण रखने के कारण व्रजभाषा और खडी बोली मे समान सफलता के साथ काव्य-रचना की है। व्रज-भाषा के रम्य प्रयोग की दृष्टि से "श्री गोखले गुणाष्टक", "धन विनय", "ऊजड ग्राम", "वनाष्टक" के प्रथम चार छन्द, "काश्मीर सुखमा" और पूर्वीय प्रयोगो की छटा से समृद्ध "देहरादून" शीर्षक कृतियाँ अवलोकनीय हैं। इसी प्रकार "भारत-गीत", "एकान्त-वासी योगी", "श्रान्त पथिक", "जगत सचाई सार ' और "मनोविनोद" की अनेक कविताओ मे खडी बोली का भी मनोहारी और सहज प्रवाहपूर्ण प्रयोग मिलता है। भाषा के शुद्ध प्रयोग की ओर वे प्राय सतर्क रहे है, किन्तु "व्हाँ ', "अतिव", "वड" आदि शब्द इस तथ्य के द्योतक है कि उनका काव्य अशुद्ध प्रयोगों से सर्वथा मुक्त नही है।[१] इसी प्रकार सिद्धान्त प्रतिपादन के अन्तर्गत सस्कृत के कठिन शब्दो के बहिष्कार का उल्लेख करने पर भी व्यवहारत उन्होंने "भारत-गीत" की "शांति", भारत-धाम", "सुधाम-सस्तुति", "नौमि भारतम्" आदि कविताओ मे सस्कृत-शब्दावली के प्रति अनावश्यक मे अधिक आस्था प्रकट की है। सस्कृत-शब्दो की भाँति उर्दू के "नूर", "गैर", "जल्द", "मुकाम", "अजाम", "मनसूवा" आदि शब्दो के प्रयोग द्वारा भी उन्होंने

१. दखिए "भारत-गीत", पृ० १५३-१५४

व्यवहार-क्षेत्र मे अपने सिद्धान्तो का उल्लघन किया है।[1] तथापि यह स्वीकार करना होगा कि भाषा की दिशा मे अपने विचारो का समर्थन अथवा अतिक्रमण करने पर भी वे तत्कालीन काव्य-भाषा के उत्कर्ष-साधक ही रहे हैं, उसका अहित उन्होने नही किया। इसी प्रकार छन्द-योजना के अन्तर्गत सवैया छन्द-विषयक उद्भावना का "धनाष्टक" मे सफल निर्वाह हुआ है। "साध्य अटन" और "अटवि अटन" शीर्षक रचनाओ मे मुक्त-वृत्त के प्रयोग और अन्त्यानुप्रास के त्याग से भी यह स्पष्ट है कि उन्होने अपने छन्द-सम्बन्धी विचारो का सीमित, किन्तु सफल प्रयोग किया है।[2]

३. काव्यानुवाद

पाठक जी ने अनुवाद की सरसता और तद्गत काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए शाब्दिक अनुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को कवि का काम्य माना है। इसीलिए उन्होने "श्री गोपिका गीत" और "एकान्तवासी योगी" तथा "ऊजड गाम" मे मुख्यत भावानुवाद की पद्धति को ही अपनाया है। उन्होने मूल रचनाओ को अतिरिक्त विस्तार प्रदान कर इस मत का स्पष्ट अनुगमन किया है।

विवेचन

पाठक जी के काव्य सिद्धान्तो का अध्ययन करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यद्यपि उन्होने काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, काव्य-शिल्प और काव्यानुवाद के विवेचन मे प्राय परम्परा का ही अनुसरण किया है, तथापि उन्होने रस के स्थान पर रीति के काव्य-जीवत्व, प्रकृति के काव्यगत महत्व और सवैया छन्द के विवेचन मे नवीन दृष्टि अपनाई है। उन्होने सिद्धान्त-कथन मे द्विवेदी जी जैसी सूक्ष्म अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का अधिक परिचय नही दिया है, तथापि उनकी स्थापनाओ मे उसका सर्वथा अभाव भी नही है। उन्होने आलोचक के स्थान पर मुख्यत कवि के धर्म का निर्वाह किया है और इसी कारण उनके विचार प्राय सीमित रहे है। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि पूर्व-प्राप्त साहित्यिक मान्यताओ से लाभ उठाने पर भी उनमे नवीन सिद्धान्तो के सृजन की प्रतिभा थी। विस्तार-वैविध्य की ओर प्रवृत्ति न होने पर भी उनके सिद्धान्तो मे व्याप्त मौलिक कवि-दृष्टि इस बात की प्रत्यायक है कि वे स्रष्टा कलाकार थे। यही कारण है कि जहाँ युग-नेता आचार्य द्विवेदी ने शास्त्र चिन्तक के रूप मे सिद्धान्त-कथन किया है वहाँ पाठक जी ने भारतेन्दुयुगीन कवियो के क्रम मे एक सच्चे कवि के अनुरूप अपनी अनुभूतियो के आधार पर कवि-मार्ग को उज्ज्वल किया है।

●

१. देखिए "भारत-गीत", पृष्ठ ८२-८३
२. देखिए "भारत-गीत", पृष्ठ १४६-१५८

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति कविवर "हरिऔध" की भी काव्य-शास्त्र में विशेष गति थी। उन्होंने काव्य-रचना के अतिरिक्त काव्य सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। वे कवि के अतिरिक्त आलोचक भी थे, अत काव्य के विविध अगो का विवेचन उनके लिए स्वाभाविक था। इस दृष्टि से उन्होंने एक ओर "रसकलस" की रचना द्वारा शास्त्र चिन्तन की रीतिकालीन परम्परा का मौलिक रीति से विस्तार किया है और दूसरी ओर द्विवेदी युग के नवीन काव्यादर्शों के अनुकूल काव्य सिद्धान्त प्रतिपादन किया है। उनकी विचार-धारा से अवगत होने के लिए उनकी कृतियो—*प्रियप्रवास, वैदेही वनवास, रसकलस, रस साहित्य और समीक्षाएँ, बोलचाल, सन्दर्भ-सर्वस्व*, पारिजात, पद्य-प्रमोद, हरिऔध-सतसई, आधुनिक कवि (भाग ५), चोखे चौपदे, चुभने चौपदे, ठेठ हिन्दी का ठाठ—के अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओ (सरस्वती, इन्दु, माधुरी साहित्य-समालोचक, नागरीप्रचारिणी पत्रिका और साहित्य-सन्देश) में प्रकाशित उनके भाषण, पत्र और संस्मरण भी अवलोकनीय हैं। इन कृतियो में काव्य स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प और काव्य के अधिकारी का स्फुट रूप से विवेचन किया गया है।

काव्य का स्वरूप

"हरिऔध" ने काव्य और कवि-कर्म का प्रसग-प्राप्त, किन्तु सबल विवेचन किया है। उन्होंने काव्य में भाव-तत्व की समृद्धि पर विशेष बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "भावुकता कविता की रीढ है × × × × × भावोद्रेक होने पर जो कविता स्रोत हृदय सरोवर से स्वभावतया फूट निकलता है, वास्तविक कविता के गुण उसी में होते हैं।"[1] काव्यगत भाव-सौन्दर्य के महत्व को हृदयगम करने के कारण ही उन्होंने अन्यत्र भी यह उल्लेख किया है—

> "हो तरंगायमान कवि मानस,
> सिन्धु सम भाव-रत्न जनता है।"[2]

---

१. रसकलस, भूमिका, पृष्ठ १२३

२. पारिजात, मुख-पृष्ठ पर प्रकाशित पंक्तियाँ

तन्मयता की स्थिति में कवि हृदय में भावना का यह स्फुरण केवल भावुकता से हो नहीं, विचार से भी पुष्ट रहता है। इसीलिए 'हरिऔध' जी का यह मत है कि **"कला में हृदय की भावुकता ही नहीं होती, उसमें मस्तिष्क का कार्य कलाप भी होता है। दोनों के साहचर्य से ही कला पूर्णता को प्राप्त होती है।"**[1] यह दृष्टिकोण द्विवेदी जी की काव्य-मान्यता के अनुरूप है और इसमें 'हरिऔध' जी की समन्वयपरक विचार-धारा का उपयुक्त बोध हो जाता है। तथापि यहाँ यह उल्लेख्य है कि जहाँ द्विवेदी जी ने कलाकार के रसपूरित अन्तस् से निस्सृत सहज मधुर पदावली को लक्षित करके यह कहा है कि **"गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है,"** वहाँ "हरिऔध' जी ने रसभरित पद-विन्यास की सार्थकता का स्वीकार करने पर भी प्रथम भारतीय हिन्दी-कवि-सम्मेलन, कानपुर में खड़ी बोली विभाग के सभापति-पद से यह घोषणा की थी—**"जो कविता गद्यमय अथवा प्रोज़ेइक है, उसे कविता नहीं कहा जा सकता।"**[3]

'हरिऔध' जी ने समाज के लिए उपयोगी भावनाओं के सर्जन उल्लेख को कवि का धर्म माना है। उनके मतानुसार **"कवि की दृष्टि प्रखर होनी चाहिए। उसको समाज के भीतर की गूढ़ से गूढ़ बातों को, छिपे से छिपे रहस्य को उद्घाटन करना चाहिए और उसके गुण-दोष की समुचित विवेचना करके दोष के निराकरण और गुण के संवर्धन और संरक्षण के लिए बद्धपरिकर होना चाहिए।"**[4] इसी प्रकार उन्होंने "साहित्य' शीर्षक कविता में भी यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में रस, प्रकृति, भावात्मकता, विचारात्मकता, नवीन, जातीयता तथा लोकोपकारिता को विशेष स्थान प्राप्त रहना चाहिए।'[5] उन्होंने 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध में भी कलाकार द्वारा जातीय जीवन तथा लोकोपकार का इसी रूप में ग्रहण करने पर बल दिया है।[6] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने काव्य को केवल नीतिकता की परिधि में ही बन्दी न कर रमणीयता के लिए उसमें रस, प्रकृति-वैभव, वचन-माधुरी आदि की समष्टि का भी आवश्यक माना है। इस विषय में ये पंक्तियाँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं—

"जिसमें मनुष्य जीवन की जीवन्त सत्ता नहीं, जो प्रकृति के पुण्य-पाठ की पीठ नहीं, जिसमें चारु चरित चित्रित नहीं, मानवता का मधुर राग नहीं, सजीवता का सुन्दर स्वाग नहीं, वह कविता सलिल-रहित सरिता है। जिस में सुन्दरता विकसित नहीं, मधुरता मुखरित नहीं, सरसता विलसित नहीं, प्रतिभा प्रतिफलित नहीं, वह कवि रचना कुकवि-वचनावली है।"[7]

---

१ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ १२४
२. रसकलस, नवम संस्करण, पृष्ठ १३
३ माधुरी, फरवरी १९-६, पृष्ठ १४६
४ रस साहित्य और समीक्षाएँ, पृष्ठ ५२
५ देखिए "पद्य-प्रमोद", पृष्ठ ६२-६४
६ देखिए "सन्दर्भ सर्वस्व", पृष्ठ १४१-१४७
७ सन्दर्भ-सर्वस्व, पृष्ठ १४५

उपर्युक्त गुणो से सम्पन्न होने पर ही कविता विशेष आदृत हो पाती है। "हरिऔध" जी साहित्य-मर्मज्ञ थे, अत उन्होने काव्य की शोभा के लिए अपेक्षित उपकरणो की ओर सहज निर्देश किया है। उन्होने कवि की इस विलक्षण प्रतिभा को देखकर ही "कवि कर्तव्य" शीर्षक लेख मे लिखा है—"कवि-कर्म बहुत दुरूह है, जब तक सर्वसाधारण की दृष्टि से कवि की दृष्टि विलक्षण न होगी वह कवि-कर्म का अधिकारी न हो सकेगा।"[1] इस तथ्य की उपेक्षा करने वाले कवियो के विषय मे उन्होने श्री द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी की कृति "दीपक" के प्रारम्भ में लिखा है—"कितने कवियो की कल्पना, जल्पना मात्र होती है, न उसमें ललित पदावली मिलती है, न सरस पद-विन्यास होता है। मार्मिकता न तो हृदय को स्पर्श करती है और न सरसता मानव को रससिक्त बनाती है।"[2] इस उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य मे रस-सम्पन्न भावनाओ की ललित अभिव्यजना होनी चाहिए। वस्तुत रस और सौन्दर्य की मार्मिक अभिव्यक्ति ही तो कविता है। इसीलिए उन्होने 'कवि" शीर्षक कविता मे यह प्रतिपादित किया है—

"रस-रसिक मानस सलोने भाव का।
कौन कवि सा है लुनाई का सगा ?"[3]

कवि का भावुक हृदय रसमग्नता की स्थिति मे वर्ण्य के प्रति जिस सहज आत्मीय सम्बन्ध का अनुभव करता है, वही काव्य का मूल तत्व है। इस विषय में "हरिऔध" का मत है—"अनुभव करने में कवि-हृदय जितना किसी रस से अभिभूत होता है उतना ही वह दूसरे के हृदय को उस रस से प्लावित करता है—और यही कवि-कर्म है।"[4] स्पष्टत इस उक्ति द्वारा काव्य शास्त्र के साधारणीकरण-सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। निस्सन्देह काव्य की शक्ति इसी में है कि वह साधारणीकरण की प्रक्रिया को घटित करने में सक्षम हो। इसके लिए कवि को वर्ण्य विषय के भावपूर्ण प्रतिपादन के अतिरिक्त अभिव्यजना-कौशल का परिचय देना होता है। इसीलिए उन्होने 'कविवर देव' शीर्षक निबध मे प्रसगवश यह कहा है—"कवि-कर्म क्या है ? भाषा और भावो पर अधिकार होना और प्रत्येक विषय का यथातथ्य चित्रण कर देना।"[5] तथापि साधारणीकरण की सिद्धि मे सहायक काव्य का मूल तत्व उसकी भाव-समृद्धि ही है। जिस रचना मे सुन्दर और सजीव भावो का उदार हृदय से रसपूर्ण अभिव्यजन किया गया हो, वही साधारणीकरण की सिद्धि मे सहायक होती है। इसीलिए उन्होंने काव्य का निम्नस्थ लक्षण निर्धारित किया है—

---

१. सरस्वती, फरवरी १९२१, पृष्ठ १०१
२. 'दीपक" काव्य में "हरिऔध" जी की "मगलाशा" से उद्धृत
३. चोखे चौपदे, पृष्ठ ९
४. बोलचाल, पृष्ठ ४८
५. रस साहित्य और समीक्षाएँ पृष्ठ २४१

"बहुज्ञता सुन्दरता उदारता,
समुच्चता भावुकता रसालता।
सुधी उसी को कहते सुकाव्य हैं,
विराजती हो जिसमें सजीवता॥"[1]

काव्य की आत्मा

हरिऔध जी ने आचार्य द्विवेदी की भाँति काव्य की आत्मा का विशद विवेचन किया है। उन्होंने रस को काव्य का जीवन माना है किन्तु इस प्रसंग में अलंकार, ध्वनि और रीति का महत्त्व यथावत स्वीकार किया गया है। काव्य में रस की प्रमुखता के विषय में उनकी निम्नलिखित उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

(अ) 'असरस चित को अति सरस, करे सरस पद न्यास।"[2]

(आ) "बहु अललित भाव समूह में भर देता लालित्य है।
नीरस विचार को भी सरस कर देता साहित्य है॥"[3]

(इ) "मूभ मठ में पैठ बस रस-नेठ में,
किस कलेजे में नहीं कवि नेठता ?"[4]

(ई) 'रसा से सिक्त हो पुलकित करे सूचित सब को।
विचारों की धारा सरस सरि धारा सदृश हो॥'[5]

उपर्युक्त काव्योक्तियों में कवि का दृष्टिकोण स्वतः स्पष्ट रहा है। उन्होंने प्रतिभा और रस का सहज सम्बन्ध मान कर यह प्रतिपादित किया है कि काव्य एक ओर रस शून्य विचारों अथवा सूक्तियों में भी मनोहारी रसामय करता है और दूसरी ओर उसके माध्यम से रस ग्रहण में विमुख चित्त का भी संस्कार होता है। रस द्वारा काव्य में यह प्राण प्रतिष्ठा पौरस्त्य रसवादी आचार्यों (भरत मुनि, विश्वनाथ, देव, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र आदि) द्वारा सहज मान्य रही है। "हरिऔध' जी का हृदय रस के प्रति सहज आस्थावान रहा है तथापि वे अन्य काव्य सम्प्रदायों के महत्व के प्रति भी उदासीन नहीं रहे हैं। उन्होंने अलंकार विधान को काव्य दीप्ति में सहायक मानकर उसे भावना और अभिव्यंजना में अलौकिक सौन्दर्य का संचार करने वाली कवि प्रवृत्ति कहा है—

"उचित अलौकिकता लहे, मिले अलौकिक ओक।
करे समालोकित उसे, अलंकार आलोक॥"[6]

यहाँ अलंकार के महत्व का स्वतन्त्र प्रतिपादन हुआ है, किन्तु इस उक्ति के

---

१ सरस्वती, फरवरी १९२१, पृष्ठ ८१
२ हरिऔध-सतसई, पृष्ठ ७५
३ पद्य प्रमोद, पृष्ठ ६३
४ माधुरी जनवरी १९२३, पृष्ठ १
५ पारिजात, पृष्ठ १०
६ हरिऔध सतसई पृष्ठ ७५

आधार पर अलंकार को अंगी का स्थान नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः अलंकारों का अलंकारत्व इसी में है कि वे काव्य में रस और भाव के आश्रित हो कर स्थित रहें—

"रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्,
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्।"[1]

ध्वन्यालोककार की इस सम्मति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "हरिऔध" जी काव्य में अलंकारों को साधन रूप ही मानते थे। अलंकार की भाँति ध्वनि के विषय में भी उनका दृष्टिकोण इसी कोटि का है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

(अ) "मिले मधुर स्वर्गीय स्वर, हो स्वर सकल रसाल।
व्यंजन में वर व्यंजना, हो व्यंजित सब काल॥"[2]

(आ) "कविता में व्यंजना ही प्रधान होती है, जहाँ इस शक्ति से काम न लेकर अभिधा द्वारा काम निकाला जाता है, वहाँ कविता अपना महत्व खो देती है।"[3]

काव्य में व्यंजना की प्रधानता से तात्पर्य कवि द्वारा ध्वनि के महत्व की घोषणा का ही है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार **"ध्वनि का विशाल भवन व्यंजना के आधार पर ही खड़ा हुआ है, और ध्वनि की स्थापना का अर्थ व्यंजना की ही स्थापना है।"[4]** विवच्य कवि ने उपरोक्त अवतरणों में ध्वनि के महत्व की स्वतन्त्र स्थापना करते हुए रस से उसके सम्बन्ध अथवा विराग का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि रस को काव्य की आधारभूत चेतना मानने पर भी उन्हें उसी के सम्बन्ध से यथास्थान ध्वनि की महत्ता भी स्वीकार्य थी। इसी प्रकार उन्होंने रीति को भी रस की उपकर्त्री माना है। रीति-सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य वामन के अनुसार गुणों से विभूषित विशिष्ट पद रचना ही रीति है—"विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।"[5] काव्य-गुण, शब्द और अर्थ, दोनों के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करने वाले होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि रीति सिद्धान्त काव्य की शैली से सम्बद्ध होने पर भी अर्थ का सर्वथा निषेध नहीं करता, किन्तु यहाँ शब्दों की विशिष्टता ही अर्थ-सौन्दर्य की साधक है। "हरिऔध" जी ने "रीति" के विषय में इस दृष्टिकोण का पूर्ण समर्थन किया है। उन्होंने शब्द को काव्य का जीवन मान कर यह प्रतिपादित किया है कि काव्यगत शब्द ही उसे अर्थ-गौरव प्रदान करते हैं। इस विषय में उनकी निम्नलिखित उक्तियाँ अवलोक्य हैं—

(अ) "उपयुक्त और सुन्दर शब्द कविता के भावों की व्यंजना के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। एक उपयुक्त शब्द कविता को सजीव कर देता है और अनुपयुक्त शब्द

---

१. हिन्दी-ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृष्ठ १२२
२. हरिऔध-सतसई, पृष्ठ ७८
३. रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ५३
४. हिन्दी-ध्वन्यालोक, भूमिका, पृष्ठ ३०
५. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, १।२।७, १।२।८, पृष्ठ १६

मयंक का कलंक बन जाता है।"[1]

(आ) "सुन्दर और उपयुक्त शब्द-योजना कविता की विशेष विभूति है, इसके लिए कवि को अधिक सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि कविता को वास्तविक कविता वही बनाती है।'[2]

(इ) "कोई रचना उस समय तक कवित्वमय नहीं हो सकती जब तक कि शब्द-विन्यास विलक्षण और सुन्दर न हो। विलक्षण और सुन्दर शब्द विन्यास की आवश्यकता सब रसों के लिए है। यह दूसरी बात है कि वीर, रौद्र और भयानक रसों में वे ओजस्वी और कुछ अकोमल हं।"[3]

यहाँ शब्दों की ललित कोमल योजना पर बल देते हुए रीति को रस की उपकारिका माना गया है। रीति के अंगभूत तत्वों में से उन्होंने काव्य की गुण-सम्पन्नता के समर्थन में यह प्रतिपादित किया है कि कवि काव्य में माधुर्य और प्रसाद गुणों के समावेश के लिए निरन्तर सचेष्ट रहता है। कवि को "यदि कोमल पद-विन्यास की कामना चिन्तित करती रहती है, तो प्रसाद गुण की विभूति भी अल्प वांछित नहीं होती।"[4] तथापि रीति के प्रति यह आग्रह उन्हें रस से विमुख नहीं कर पाया है। उन्होंने रीति को रस की पुष्टि में सहायक मान कर काव्य की स्पष्टता और लालित्य को रस की उद्भावना में सर्वाधिक सक्षम माना है। इस दृष्टि से उन्होंने "कवि' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा है—"जो रस प्रसाद गुणमयी कविता में होता है, अन्य में नहीं, और प्रसाद गुण के लिए कोमल कान्त पदावली आवश्यक है।"[5] रस और रीति के प्रति यह समन्वयवादी दृष्टिकोण संस्कृत काव्य शास्त्र के उत्तरार्द्ध में पूर्णतया स्थिर हो चुका था। तथापि यह निर्विवाद है कि 'हरिऔध" जी रीति की अपेक्षा रस को अधिक गौरव देते थे। उनके मतानुसार "छन्द या भाषा कंकाल मात्र है अथवा उनको शरीर कह लीजिये, भाव और विचार ही उनके (कविताओं के) प्राण हैं।"[6] अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने रस को काव्य का नित्य धर्म मानते हुए अलंकार, ध्वनि और रीति को काव्य के अंग माना है।

रस-विषयक विचार

द्विवेदी युग में रस विवेचन की ओर ध्यान देने वाले कवियों में "हरिऔध" का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने 'रसकलस" की भूमिका में रस-स्वरूप, शृंगार रस और वात्सल्य रस का पाण्डित्यपूर्ण तथा गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यह प्रमाणित कर दिया है कि आलोच्य युग में चिन्तन की व्यापकता की दृष्टि से भी इस क्षेत्र में सर्वाधिक

१ वैदेही-वनवास, वक्तव्य, पृष्ठ ६
२ वैदेही-वनवास, वक्तव्य, पृष्ठ ६
३ बोलचाल, पृष्ठ ४६
४ वैदेही-वनवास, वक्तव्य, पृष्ठ ६
५ रस साहित्य और समीक्षाएँ, पृष्ठ ५५-५६
६ "", जुलाई १६१५, पृष्ठ २७

कार्य उन्होने ही किया है। उन्होने इस दिशा मे संस्कृत ग्रन्थो (नाट्य शास्त्र, शृंगार-प्रकाश, काव्य प्रकाश, साहित्य-दर्पण, रसगगाधर आदि) का आधार ग्रहण कर अपनी समन्वयात्मक तथा मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होने संस्कृत काव्य शास्त्र का इतना व्यापक अध्ययन उपस्थित किया है कि उनके मत की पुष्टि के लिए संस्कृत-ग्रन्थो से उद्धरण प्रस्तुत करना सर्वथा अनपेक्षित है।

१ रस का स्वरूप

"हरिऔध" रस-सिद्धान्त के मर्मी कवि थे, किन्तु उन्होने रस के स्वरूप पर परम्परावद्ध प्रणाली के अनुसार विचार किया है। रस सृष्टि मे सहायक अगो (विभाव, अनुभाव, सचारी भाव) का निरूपण करते समय उन्होने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है।[1] इसी प्रकार 'रस का इतिहास" शीर्षक प्रकरण मे दृश्य काव्य मे रस की प्रतिष्ठा और रस-निष्पत्ति के विषय मे श्री शकुकादि के मन्तव्यो का परिचयात्मक उल्लेख कर के भी हमारी इसी धारणा को पुष्ट किया गया है।[2] तथापि "रसकलस" मे रस का विवेचन सर्वथा स्वच्छ है। लेखक ने "रस की आनन्दस्वरूपता" शीर्षक अध्याय म करुण, भयानक और वीभत्स रस से सहृदय को प्राप्य आनन्द का पर्यालोचन करते समय चिन्तन की सजगता का उपयुक्त परिचय दिया है। काव्य अथवा नाटक मे इन रसो की चर्चा होने पर भी पाठक को आनन्द-लाभ होने का कारण यह है कि **"मानसिक भावो को जिस समय जिस रूप में परिणत होना चाहिए, उस समय उसके उस रूप में परिणत होने से ही आनन्द और सुख की प्राप्ति होती है।"**[3] वे संस्कृत काव्य शास्त्र मे इन रसो की आह्लादकता के विषय मे उपलब्ध सामग्री से प्रभावित अवश्य रहे हैं, किन्तु उन्होंने केवल रूढि का ही पालन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि आधुनिक हिन्दी-कवियो मे इस दिशा मे चिन्तन करने वाले प्रथम व्यक्ति वही हैं।

"हरिऔध" जी ने काव्य को रस-सौष्ठव प्रदान करने के लिए उसमे रस विरोध को अवाछनीय माना है। उनकी स्पष्ट सम्मति है कि **"रस-परिपाक के लिए आवश्यक है कि दो विरोधी रसो का वर्णन साथ साथ न किया जावे।"**[4] उन्होने रस-विरोध के परिहार की सम्भावनाओ पर विचार करते समय सामजस्य-स्थापना को मान्यता दी है, किन्तु इस दिशा मे मौलिकता का परिचय न दे कर "काव्य-प्रकाश" और "रसगगाधर" की तद्-विषयक उक्तियो का ही उल्लेख किया है।[5] तथापि इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य मे रस-मैत्री पर बल देते थे। रस-विरोध की भांति उन्होने रसाभास की

---

१. देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ६-११
२. देखिए 'रसकलस", भूमिका, पृष्ठ १८-२४
३. रसकलस, भूमिका, पृष्ठ २८
४ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ४८
५. देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ४८-५२

समीक्षा में भी पूर्ण तन्मयता दिखाई है,[१] किन्तु इस दिशा में भी उनका विवेचन परम्परा-बद्ध रहा है। इसीलिए काव्य में रसाभास की स्थिति को निन्दनीय मान कर भी उन्होंने रसगंगाधरकार की सम्मति के अनुकूल यह प्रतिपादित किया है कि कतिपय स्थितियों में अनौचित्य क्षम्य है और उसमें रसाभास नहीं होता है।[२] इस विषय में उनकी उक्ति इस प्रकार है—

"सब जगह अनौचित्य से रसाभास नहीं हो जाता। जहाँ अनौचित्य से किसी रस की पुष्टि होती हो, अथवा जहाँ अनौचित्य का उद्देश चरित्र-सुधार, कलंक अपनोदन, किंवा दोष अवगतकरण हो, वहाँ वह वर्जित नहीं होता। अनौचित्य वही निन्दनीय होता है, जो रस के प्रतिकूल हो।"[३]

इनसे स्पष्ट है कि रस विरोध और रसाभास की स्थिति होने पर काव्य सहृदयों का प्रभावित नहीं कर पाता। "हरिऔध" रसानुभव की कोटियाँ मानते हैं—उनका मत है कि काव्य के रस-सम्पन्न होने पर भी उसके आस्वाद के दो स्तर रहते हैं—उसके आन्तरिक विशिष्ट आनन्द का अनुभव केवल रसज्ञ भावक ही कर पाते हैं, अन्यथा साधारणत सहृदयों को जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, वह सामान्य स्तर का ही रहता है। यथा—**"रस की भी कोटि है, उसका सबसे उच्च कोटि का स्वरूप ब्रह्मास्वाद है, उसके अधिकारी सर्वत्र थोड़े हैं। रस का साधारण रूप जो प्राय उससे निम्नकोटि का होता है, वही सर्वसाधारण का उपभोग्य कहा जा सकता है, चाहे उसकी मात्रा में कुछ तारतम्य भले ही हो।"[४]**

२ शृंगार का रसराजत्व

आलोच्य कवि ने द्विवेदी जी की भाँति शृंगार रस को विगर्हणीय नहीं माना है, अपितु उन्होंने भरत मुनि के मत (यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्य दर्शनीय वा तच्छृंगारेणानुमीयते)[५] का अनुगमन करते हुए उसमें संसार के पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय भावों की स्थिति मानी है।[६] उन्होंने शृंगार रस के रति-भाव की सृष्टि के सभी प्राणियों और पदार्थों में व्याप्त माना है[७] और उसे रसराज का स्थान देते हुए उसमें सभी संचारी भावों की स्थिति मानी है। यथा—**"हिन्दी शब्दसागरकार कहते हैं कि इसी एक रस में सब संचारी भाव विभावों एवं अनुभावों सहित आते हैं, इसीलिए इसे रसराज कहते हैं।**

---

१. देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ६५ ७०
२ देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ७२
३ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ७२
४ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ३५
५. नाट्यशास्त्र (चौखम्बा संस्कृत सीरीज), पृष्ठ ७३
६. देखिए 'रसकलस', भूमिका, पृष्ठ ७३-७५
७ देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ८२—८८

मैं भी इस सिद्धान्त को मानता हूँ।"[1] "हरिऔध' ने शृंगार रस की प्रमुखता को अबाध भाव से स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने भरत और विश्वनाथ द्वारा त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा और मरण नामक संचारी भावों को शृंगार रस से असम्बद्ध मानने (१ व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जम्[2] २ त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिण[3]) का उल्लेख करते हुए तर्कपूर्वक यह स्थापना की है कि उक्त संचारी भाव भी शृंगार रस के अन्तर्गत गणनीय हैं।[4] इस धारणा के अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र यह भी प्रतिपादित किया है कि मानवेतर प्राणियों द्वारा विशेषतः शृंगार, करुण, रौद्र एवं वीर रस के स्थायी भावों से सम्बद्ध क्रियाएँ उपस्थित की जाती हैं और इनमें से शृंगार रस पर उनकी वृत्तियाँ सर्वाधिक केन्द्रित रहती हैं। इस तर्क के बल पर उन्होंने शृंगार रस की मुख्यता को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—**"वास्तव में जितना व्यापक, उदात्त एवं सर्वदेशी, शृंगार रस का आस्वादन है, अन्य रसों का नहीं। यह भी उसकी प्रधानता का असाधारण प्रमाण है।"**[5]

"हरिऔध" जी ने इस विषय में अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है कि **"शृंगार रस साहित्य का जीवन है, वह वास्तव में रसराज है।"**[6] उन्होंने इस प्रसंग में शृंगार की अन्य रसों से तुलना भी की है और निष्कर्ष रूप में उसी को सर्वप्रमुख रस माना है। इस दृष्टि से उन्होंने एक ओर पंडितप्रवर नारायण द्वारा अद्भुत रस के रसराजत्व के प्रतिपादन का युक्ति सहित निषेध किया है[7] और दूसरी ओर इस विषय में करुण रस की सम्भावनाओं पर विचार करने के अनन्तर उसे रसराज न मानने पर भी करुण विप्रलम्भ शृंगार रस के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि **"× × × × × यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार रस पर करुण रस का कितना अधिकार है और वह उसमें कितना व्याप्त है।"**[8] यद्यपि शृंगार रस के उपरान्त उनका प्रिय रस 'करुण' ही है, किन्तु उनका निश्चित मत है कि वह रसराज नहीं है, क्योंकि **"शृंगार रस की उत्पत्ति करुण रस से किसी प्रकार स्वीकृत नहीं हो सकती।"**[9] अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने रसराज के विवेचन में केशव, मतिराम, देव, रसलीन और बेनीप्रवीन की भाँति उत्साहपूर्वक योगदान किया है और उन्हीं की भाँति[10] शृंगार को रस शिरोमणि माना है।

---

१ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ९१
२ नाट्यशास्त्र (चौखम्बा संस्कृत सीरीज), षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ७३
३ हिन्दी-साहित्यदर्पण, पृष्ठ २३०
४ देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ९१-९४
५ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ९६
६ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भारतेन्दु जन्मशती अंक, संवत् २००७, पृष्ठ १४४
७ देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ ९६
८ वैदेही वनवास, भूमिका, पृष्ठ २-३
९ रसकलस भूमिका, पृष्ठ ९८
१० देखिए "रीतिकाव्य की भूमिका", डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १५२-१५३

३ नवरसेतर रस

"हरिऔध" जी ने रस-सख्या को नव रसो मे सीमित करने का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि **"रस की सख्या नव तक आ कर समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी नए-नए रसो की कल्पना हो रही है। वास्तविक बात यह है कि भाव ही उत्कर्ष पा कर रस का स्वरूप धारण करते है।"**[1] उन्होने सर्वसम्मत नव रसा के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति भक्ति और वात्सल्य के रसत्व को भी स्वीकार किया है। भारतेन्दु के रस-विषयक विचारो का विवेचन करते समय हमने इन दोना रसा की सार्थकता पर सप्रमाण विचार किया है, अत यहाँ उन विचारा की पुनरुक्ति अभीष्ट नही है। तथापि यह उल्लेखनीय है कि जहाँ भारतेन्दु ने इन रसो का केवल नामाल्लेख ही किया था वहाँ "हरिऔध" न इनके रसत्व की तर्क-सहित विद्वत्तापूर्ण स्थापना की है। अत यह सिद्ध है कि अपने पूर्ववर्ती आधुनिकयुगीन कवियो की अपेक्षा उन्होने रस का अधिक जागरूकता और प्रामाणिकता के साथ विवेचन किया है।

काव्य-हेतु

आलाच्य कवि न काव्य के प्रेरक साधना का विस्तृत निरूपण तो नही किया है, तथापि उपलब्ध उक्तिया से यह स्पष्ट है कि वे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य-प्रणयन मे सहायक मानते थे। उन्होने प्रतिभा को काव्य की मूल प्रेरणा शक्ति मानते हुए "कविवर देव' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है—**"कवि का अधिकतर सम्बन्ध प्रतिभा से है। इसलिए किसी का आश्रित होना उसके कवित्व गुण का बाधक नहीं हो सकता, किसी आत्म विश्रयी की बात और है। हाँ, बन्धन-रहित किसी स्वतन्त्र कवि का महत्व उससे अधिक है यह बात निस्सकोच भाव से स्वीकार की जा सकती है।"**[3] इस उक्ति मे स्पष्ट है कि काव्य-रचना के लिए कवि प्रतिभाजन्य स्वतन्त्र भावोद्भावन ही अपेक्षित है और सामान्यत उसे अर्थादि के स्थूल प्रलोभनो मे आबद्ध नहीं किया जा सकता। कवि-मानस मे प्रतिभा का यह साक्षात्कार जन्मगत होने के अतिरिक्त भगवत्कृपा से भी प्राप्य है। उदाहरणार्थ देवी सरस्वती के प्रति कवि की निम्नलिखित उक्ति देखिए—

"मेरी मति-बीन तो मधुर ध्वनि पैहै कहाँ
ए री बीनवारी जो न तेरी बीन बजिहै।।"[4]

'हरिऔध" जी ने प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति (काव्यानुशीलन) को भी काव्य की सिद्धि मे सहायक माना है। उन्होने दिसम्बर, सन् १९२५ मे कानपुर के प्रथम भारतीय हिन्दी-कवि सम्मेलन मे खडी बोली विभाग के सभापति-पद से यह घोषणा की थी—**"व्रजभाषा के बहुत से मान्य प्राचीन और आधुनिक कवि किसी न किसी विशेष**

१ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ४४
२ देखिए "रसकलस", भूमिका, पृष्ठ १८६–२१६
३ रस साहित्य और समीक्षाएँ, पृष्ठ २४२
४ रसकलस, मगलाचरण, पृष्ठ २

गौरव से युक्त हैं, वे हम लोगों के विकास के हेतु हैं और हमारे गुरु भी।"[1] काव्य क्षेत्र की पूर्वोपलब्धियों के प्रति यह सम्मान-भावना सर्वथा मान्य है। भारतेन्दु युग में "प्रेमघन" ने भी **"सब भाषाओं के कवियों का यह नियम है कि वे पुराने कवियों का अनुकरण करते हुए आगे बढते हैं"**, कह कर इसी मत का प्रतिपादन किया था। "हरिऔध" काव्य की सिद्धि के लिए काव्यानुशीलन के इस महत्त्व से पूर्णत अवगत थे। उनके इस वक्तव्य मे इसी धारणा का और भी उदार रूप मे उल्लेख हुआ है—

"उर्दू का साहित्य बड़ा सुन्दर है। उसकी नाजुक-ख्याली, तराश-खराश, बंदिश उसका मुहाविरा, मुबालिगा इस्तेआरा मारके का है। हिन्दी भाषा के कवियों को, मुख्यत खड़ी बोली की कविता करने वालों को उन्हें देखना चाहिए। वे बड़े काम की चीजें हैं। उनसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है।"[2]

उपर्युक्त काव्य-प्रकरणों के अतिरिक्त "हरिऔध" जी ने काव्य शिक्षा अथवा कवि-सत्संग से अभ्यास प्रेरणा की उपलब्धि को भी काव्य का उद्बोधक तत्व माना है। उन्होंने अपने गाँव के महन्त तथा सुकवि बाबा सुमेरसिंह के विषय मे यह कह कर कि **"उन्हीं के सत्संग तथा कृपा से मेरी प्रवृत्ति कविता की ओर हुई"**[4], इसी मत का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार उन्होंने अपने शिष्य *श्यामनारायण पाडेय के समक्ष काव्य शिक्षा के महत्व* को इन शब्दों मे प्रकट किया था—**"मनमाने ढग से कविता नहीं लिखी जाती × × × × × हिन्दी में यही उच्छृखलता तो सब कुछ नष्ट कर रही है। कोई गुरु की सलाह नहीं लेना चाहता और न उसे प्रिय ही लगती है।"**[5] इससे पूर्व अम्बिकादत्त व्यास तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य-शिक्षा से प्रेरित अभ्यास के स्वरूप की ओर अत्यन्त सामान्य निर्देश किया था, उसके महत्व का स्पष्ट उल्लेख करने का श्रेय "हरिऔध" को ही है। सामान्यत उन्होंने इस मत को उर्दू-काव्य-जगत् मे मान्य "इस्लाह" (काव्य-शिक्षा) से प्रभावित होकर उपस्थित किया है। उन्होंने काव्य शिक्षा से प्राप्य लाभों का निर्देश नहीं किया है, तथापि श्री ब्रजमोहन वर्मा के "उर्दू-कविता मे इस्लाह" शीर्षक लेख से उद्धृत पंक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य-शिक्षा-प्राप्ति के अनन्तर काव्य-रचना मे कवि की भावना और अभिव्यंजना मे प्रौढता का सचार होता है—**"उर्दू शायरी के विकास में इस इस्लाह ने बहुत बडा भाग लिया है। शागिर्द लोग उस्ताद की इस्लाहों—उनके बताए हुए दोषों और उन्हें दूर करने के उपायों—को बराबर मनन करते रहते हैं। इस प्रकार उनके कलाम में पुख्तगी आती, भाषा परिमार्जित होती, बंदिशों में चुस्ती, ख्यालात में परवाज और शैली में बाँकपन आता है।"**[6] *अन्त मे उपर्युक्त धारणाओं का*

१. माधुरी, फरवरी १९२६, पृष्ठ १५१
२. तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कार्य-विवरण, पहला भाग, पृष्ठ ४१
३. सदर्भ सर्वस्व, पृष्ठ १३६
४. माधुरी, मार्च १९३८, पृष्ठ ५१६
५. हरिऔध और उनका साहित्य (मुकुन्ददेव शर्मा), पृष्ठ ९२
६. माधुरी, चैत्र सवत् १९८८, पृष्ठ ३६२

समन्वय करने पर यह कहा जा सकता है कि "हरिऔध" के अनुसार प्रतिभा जन्मगत होती है, किन्तु कवि के अन्त करण मे उसकी स्फुरणा मे व्युत्पत्ति और काव्य शिक्षा प्रेरित अभ्यास का विशेष महत्व होता है।

काव्य प्रयोजन

"हरिऔध जी ने काव्य के सभी प्रयोजनो पर विचार नही किया है, तथापि वे काव्य-सेवन मे आनन्द, लोक मगल और यश की प्राप्ति को सहज स्वाभाविक मानते है। काव्य से प्राप्य आनन्द के विषय मे उनकी दृढ धारणा है कि **"काव्य और नाटक आनन्द के ही साधन हैं, और उनसे आनन्द की ही प्राप्ति होती है।"**[१] **"विनोदकरण लोके नाट्यमेतद् भविष्यति"**[२] कह कर नाट्याचार्य भरत मुनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। "विनोद" से उनका तात्पर्य स्पष्टत आनन्द से रहा है। "हरिऔध" ने **"सुधा हैं बहाते कवि कुल वसुधा-तल में"**[३] कह कर अन्यत्र भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनकी निश्चित मान्यता है कि काव्य सरसता और लोक मगल की भावना से समुद्भासित होने के कारण सहृदय को अलौकिक आनन्द का बोध कराता है। यथा—

> **"देती है भर भाव में सरसता कान्तोक्ति में मुग्धता,**
> **खोती है तम तोम लोक-उर का आलोक-माला दिखा।**
> **कानो में चित में विमुग्ध मन में है ढाल पाती सुधा,**
> **हो दिव्या सविता-समान कविता देती महानन्द है॥"**[४]

"हरिऔध" ने काव्य मे आनन्द-लाभ के अतिरिक्त समाज-सस्कार पर भी बल दिया है। युगधर्म के निर्वाह के प्रति सजग रहने के कारण उनकी मान्यता स्पष्ट रूप से यह रही है—**"काव्य और नाटकों की रचना का उद्देश्य आमोद-प्रमोद और आनन्द-प्राप्ति है, साथ ही शिक्षा और देश-सुधार आदि।"**[५] इससे स्पष्ट है कि सहृदय के मन मे जीवन के प्रति आस्था को जन्म देना काव्य का मूल ध्येय है। इस मत को स्पष्टत द्विवेदी जी की जातीय आदर्शो से सम्पन्न विचार-धारा से प्रभावित रह कर उपस्थित किया गया है। देश, जाति और समाज के प्रति अपने कर्तव्य से अवगत होने के कारण ही उन्होंने यह उल्लेख किया है—**"साहित्य वह आलोक है, जो देश को अन्धकाररहित, जाति-मुख को उज्ज्वल और समाज के प्रभाहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है।"**[६] इससे स्पष्ट है कि लोक-हित काव्य का आन्तरिक गुण है। इसीलिए उन्होने काव्य को लोक-जीवन मे सम्बद्ध मानते हुए सदाचार-सम्बन्धी बातों को उसके माध्यम से सहज बोध्य कहा है। उन्होंने मानव-जीवन

---

१ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ३२ ३३
२. नाट्य शास्त्र (अनुवादक—भोलानाथ शर्मा), १।१२०, पृष्ठ ४६
३ पारिजात, पृष्ठ ४१२
४ पारिजात, पृष्ठ ५१३
५. रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ८२
६ सन्दर्भ-सर्वस्व, पृष्ठ १४१

के आदर्शवादी निरूपण को स्थायी साहित्य का सहज गुण माना है।[1] उनकी स्पष्ट धारणा है कि **"जितने साहित्यिक ग्रन्थकार और नाटककार होते हैं, सब का उद्देश्य सदादर्श-प्रचार होता है।"**[2] लोक हित को काव्य का चरम लक्ष्य मानने के कारण ही उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—**"कविता का उद्देश्य मनोविनोद ही नहीं है, समाज उत्थान, देश-सेवा, लोक शिक्षण, परोपकार और सदाचार शिक्षा आदि भी है।"**[3] काव्य की निष्प्रयोजन सृष्टि सामाजिक स्वास्थ्य के संरक्षण की दृष्टि से अवांछित है। आदर्श-युक्त रचना से सहृदय का अन्तःकरण जिस विमल आभा से विलसित होता है, वह काव्य की सफलता का स्वयं प्रमाण है। जन हित की इसी भावना से प्रेरित होने के कारण उन्होंने "चुभते चौपदे" के विषय में इतने आत्म-विश्वास के साथ कहा है—**"हमारे चौपदे कुछ कड़ुवे होवें, मगर वे हित-जल के गड़ुवे हैं।"**[4] इससे सिद्ध है कि कविता सत् शिक्षा में सहायक होती है और उसमें जीवन के तात्विक मर्मों के उद्घाटन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस सम्बन्ध में ये काव्य-पंक्तियाँ उद्धरण-योग्य हैं—

> **"बाँध सुन्दर भाव का सिर पर मुकुट,**
> **वह भलाई के लिए है अवतरा।**
> **कौन कवि सा हित-कमल का है भँवर,**
> **प्यार से किसका कलेजा है भरा॥"**[5]

स्पष्टतः "हरिऔध" ने काव्य के अन्य प्रयोजनों की अपेक्षा शिवत्व प्रतिपादन पर अधिक बल दिया है। उपर्युक्त आधार-सामग्री के अतिरिक्त उन्होंने "नए गान" शीर्षक कविता में भी प्रासंगिक रूप से इसी भाव पर बल दिया है।[6] 'तुलसीदास का महत्व' शीर्षक निबन्ध में भी तुलसी के लोक मंगलपरक काव्य की चर्चा कर अप्रत्यक्ष रूप से समाज के उपकार को काव्य का लक्ष्य माना गया है।[7] इसके अतिरिक्त उनकी अधिकांश स्फुट कविताएँ भी अप्रत्यक्षतः इसी मत की सिद्धि में सहायक रही हैं। आनन्द-प्राप्ति और लोक हित-सम्पादन के रूप में काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों का विशद समर्थन करने के साथ ही वे उसके बाह्य प्रयोजनों के प्रति भी उतने ही सतर्क रहे हैं। उन्होंने काव्य से प्राप्य सभी सामान्य फलों का विवेचन नहीं किया है, तथापि यश सौरभ *की उपलब्धि के प्रति उनका दृष्टिकोण* व्यापक और निर्भ्रान्त है। "हरिऔध होते हैं **अमर कविता से कवि**"[8] कह कर इसी आस्था का परिचय दिया गया है। इस दिशा में

---

१ देखिए "चोखे चौपदे", वक्तव्य, पृष्ठ ४-५
२ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ २७
३ बोलचाल, पृष्ठ २१६
४ चुभते चौपदे, दो दो बातें, पृष्ठ ७
५ चोखे चौपदे, पृष्ठ ८
६ देखिए "पारिजात", पृष्ठ २
७ देखिए "सन्दर्भ-सर्वस्व", पृष्ठ १६१
८ पारिजात, पृष्ठ ४११

"हरिऔध-सतसई" का "कवि-कीर्ति" शीर्षक प्रकरण विशेष द्रष्टव्य है। इसमें कतिपय दोहों में कवि की प्राप्य यश का अत्यन्त भावुकता के साथ उल्लेख हुआ है। यथा—

"जब तक कवि कुल कल्पना, करे कलित आलाप।
अवनि लसित तब तक रहे, कवि का कीर्ति कलाप॥"[1]

काव्य के वर्ण्य विषय

"हरिऔध" ने काव्य में वर्णनीय विषयों में से जातीय गौरव और लौकिक प्रेम के उल्लेख के विषय में अपने युग की विचार-धारा के अनुकूल मत-प्रकाश किया है। उन्होंने काव्य के अन्य वर्ण्यों (भक्ति, प्रकृति आदि) के विषय में सिद्धान्त-प्रतिपादन नहीं किया है। उनका मुख्य प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य में जातीय गौरव के प्रतिपादन की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार "न वह साहित्य साहित्य है, न वह कल्पना कल्पना, जिसमें जातीय भावों का उद्गार न हो।"[2] इसी प्रकार उन्होंने "कवि कर्तव्य" शीर्षक लेख में भी यह प्रतिपादित किया है—"कवि की प्रौढ़ लेखनी का प्रौढत्व और कवि की मार्मिकता का महत्व इसी में है कि वह प्रसुप्त जाति को जगावे, उसके रोम-रोम में वैद्युतिक प्रवाह प्रवाहित करे, और उसको उस महान् मन्त्र से दीक्षित करे, जो उसके सगौरव संसार में जीवित रहने का साधन हो।"[3] इस दृष्टिकोण पर आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव है। "हरिऔध" की विशिष्टता यह है कि वे जातीयता को ही काव्य की अन्तिम सीमा नहीं मानते, अपितु काव्य में मानवता की अभिव्यक्ति को ही उसका चरम लक्ष्य मानते हैं। जब कवि मानव-मन में मानवता के प्रति आस्था को जाग्रत करता है तभी उसकी कविता सफल है। इस विषय में उनका मत है कि "जिस रचना अथवा कविता कलाप में जितनी अधिक मात्रा में मानवता का प्रदर्शन होगा, वह कविता अथवा रचना उतनी ही अधिक मात्रा में महत्व की अधिकारिणी होगी।"[4]

आलोच्य कवि ने देश, जाति और समाज के जीवन की सरल अभिव्यक्ति को काव्य की निधि मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि शृंगार रस के प्रति अत्यधिक आग्रह इस उद्देश्य की सिद्धि में बाधक होता है। इस दृष्टि से उन्होंने प्रथम भारतीय हिन्दी-कवि-सम्मेलन, कानपुर में खड़ी बोली विभाग के सभापति-पद से कहा था—"सबसे विशेष हर्ष की बात यह है कि इन दिनों शृंगार रस का प्रवाह एक प्रकार से बन्द हो गया है, और सब ओर देशानुराग, जाति-प्रेम, समाज-सुधार इत्यादि की तानें सुनाई दे रही हैं।"[5] इस मन्तव्य की सार्थकता स्वयंसिद्ध है। वे इस मत के प्रबल समर्थक थे, अत

१. हरिऔध-सतसई, पृष्ठ ७८
२. सन्दर्भ-सर्वस्व, पृष्ठ १४५
३. सरस्वती, फरवरी १९२१, पृष्ठ १०१
४. सन्दर्भ-सर्वस्व, पृष्ठ १८७
५. माधुरी, फरवरी १९२६, पृष्ठ १५०

उन्होंने अन्यत्र भी जातीय गौरव को प्रकट करने वाली कविता को कोरे शृंगार रस की कविता से श्रेष्ठ माना है।[1] इसी प्रकार पार्वती, राधा अथवा नारी के नख शिख-वर्णन का विरोध कर के भी उन्होंने इसी धारणा को पुष्ट किया है।[1] उन्होंने कवि की युगदर्शिनी मनोवृत्ति को काव्य का जीवन मानने के कारण यह प्रतिपादित किया है—

"शृङ्गार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया, उसने भी हमें कामिनी कुल-शृङ्गार का लोलुप बना कर, समुन्नति के समुच्च शृङ्ग से अवनति के विशाल गर्त्त में गिरा दिया।"[3]

स्पष्ट है कि उन्होंने अपने युग की विचार धारा के अनुकूल कवि की सफलता इसी में मानी है कि वह मानव हृदय के उदात्तीकरण में सहायक भावों को प्राथमिकता दे। इसीलिए उन्होंने "कवि-कर्तव्य" शीर्षक लेख में यह उल्लेख किया है—"एक दिन साहित्य संसार शृङ्गार रस से प्लावित था, उसी की आनन्द-भेरी जहाँ देखो वहाँ निनादित थी। समय प्रवाह ने अब रुचि को बदल दिया है, लोगों के नेत्र खुल गए हैं, कविगण अपना कर्तव्य अब समझ गए हैं।"[4] इसी धारणा के फलस्वरूप उन्होंने काव्य में सामयिक लोकादर्शों की अभिव्यंजना पर बल देते हुए 'साहित्य संदेश' के सम्पादक को दिनांक २२-१-४१ को लिखे गए पत्र में यह लिखा है—"सामयिकता में अधिक आकर्षण होता है, उसकी अनुगामिता प्रत्येक हृदयवान लेखक को करनी पड़ती है। परन्तु सामयिकता में उन विचारों, भावों, आदर्शों का पुट अवश्य रहना चाहिए, जो देश, जाति और लोक-हित-मूलक हो।"[5] इस मत पर भारतेन्दुयुगीन विचार-धारा के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक के प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

काव्य में शृंगार रस की अभिव्यक्ति के प्रति विरोध भाव रखने पर भी "हरिऔध" की आत्मा उसके महत्व को अस्वीकार न कर सकी थी। इसीलिए उन्होंने "कवि की कलाभिज्ञता" शीर्षक में यह लिखा है—"शृंगार रस साहित्य का जीवन है, वह वास्तव में रसराज है, उसके अभाव में रसिकता कादम्बिनी रसहीन बन जावेगी और कला कल्लोलिनी वारिविहीन। कविता का हराभरा उद्यान उजड़ जायगा और काव्य का मनोहर शाद्वल मरुस्थल कहलायेगा।"[6] इस मन्तव्य के प्रतिपादक ने उपर्युक्त अनुच्छेद में प्रस्तुत की गई विचार धारा से स्वयं अन्तर्विरोध उपस्थित किया है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि ऐसा कर के उन्होंने अपने विचारों की प्रौढ़ि की ही सूचना दी है। उन्होंने केवल रूढ़िबद्ध नैतिक विषयों की चर्चा को ही काव्य का आदर्श न मान कर

---

१ देखिए "सन्दर्भ-सर्वस्व", पृष्ठ १४७
२. देखिए "सन्दर्भ-सर्वस्व", पृष्ठ १६४
३. सन्दर्भ सर्वस्व पृष्ठ १४४
४. सरस्वती, फरवरी १९२१, पृष्ठ १०१
५ साहित्य-संदेश, फरवरी १९४१, पृष्ठ २६८
६ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भारतेन्दु जन्मशती अंक, संवत् २००७, पृष्ठ १४४

"रसकलस" में शृंगार रस के अंगों और नायिका भेद का भी विवेचन किया है। उन्होंने नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, साहित्यदर्पण और रसमंजरी में उपलब्ध नायिका भेद विवेचन का अध्ययन करने के उपरान्त एक ओर अंग्रेजी के टी० नाज, जी० डार्ली, कालरिज आदि कवियों की कविताओं में स्वकीया, मध्याधीरा, अधमा, परकीया, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा और कलहान्तरिता नायिकाओं के उदाहरणों की खोज की है और दूसरी ओर उर्दू के नसीम, हसन, अमीर, फसाहत, अमीर आदि कवियों की रचनाओं से प्रोषितपतिका, परकीया और मुग्धा नायिकाओं तथा धृष्ट नायक के उदाहरण उपस्थित किए हैं।[१] इस सम्पूर्ण प्रतिपादन से उनका अभिप्राय यह है कि नायिका भेद काव्य के लिए गर्हणीय नहीं है, अपितु "नाट्य-शास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विधिबद्ध कर के साहित्य की शोभा ही नहीं बढ़ाई है, लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।"[२]

यद्यपि नायिका भेद का व्यवस्थित विवेचन केवल संस्कृत और ब्रजभाषा में ही मिलता है तथापि अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, फ्रेंच आदि भाषाओं की रचनाओं में विविध नायिकाओं के उल्लेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि यह विश्व के कवियों की सामान्य प्रवृत्ति है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने तो इसे केवल कवि रीति न मान कर यह प्रतिपादित किया है कि "नाटक, उपन्यास, कहानी में जो चरित्र चित्रण होता है उसका हम शास्त्रीय दृष्टि से नायिका-भेद के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं।"[३] "हरिऔध" ने नायिका भेद को मानव मन की सहज वृत्ति के रूप में ग्रहण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि "निर्दोष आमोद-प्रमोद और सरस हास विलास का उत्तेजन भी उसके सृजन का हेतु हो सकता है,"[४] तथापि उसका मुख्य प्रयोजन मानवीय वृत्तियों का परिष्कार ही है क्योंकि "नायिका विभेद के ग्रन्थों में उच्च कोटि के पुरुषों के वर्णन के साथ जैसे अधम से अधम पुरुषों का निरूपण भी किया गया है, उसी प्रकार पूज्य पतिव्रता स्त्रियों के साथ गणिकाओं तक का विवरण है, कारण इसका यह है कि तुलना का अवसर हाथ आने पर ही हमें भले-बुरे का ज्ञान होता है।"[५]

नायिका भेद निरूपण के इन प्रयोजनों पर विचार करने के अनन्तर उसे काव्य के वर्णनीय विषय के रूप में मान्यता देना उचित ही है। "हरिऔध" ने इस प्रसंग में अधिकांशतः परम्पराबद्ध प्रणाली के अनुसार स्वकीया (मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा), अन्यसुरति दुःखिता, प्रेमगर्विता, परकीया (ऊढ़ा, अनूढ़ा, गुप्ता, विदग्धा आदि), सामान्या, प्रोषितपतिका, खंडिता आदि नायिकाओं का ही उल्लेख किया है, तथापि अपनी लोकहितपरक विचार-धारा के फलस्वरूप उन्होंने इस दिशा में उत्तमा नायिका (पति प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोक-

१ देखिए "रसकलस" भूमिका, पृष्ठ ११०-१११, ११३ ११७ तथा ११७-११८

२ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ११६

३ हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २७१

४. रसकलस, भूमिका, पृष्ठ १२६

५ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ १२५

सेविका, धर्म-प्रेमिका) और मध्यमा नायिका (व्यंग विदग्धा, मर्म-पीडिता) के स्वरूप को मौलिक रूप में उपस्थित किया है।[1] अत यह स्पष्ट है कि यदि उन्होंने रीतिकालीन *श्रृंगारी कवियों द्वारा नायिका भेद को काव्य का अपरिहार्य अंग मानने का* बलपूर्वक समर्थन नहीं किया है, तो वे द्विवेदी जी द्वारा उसके एकान्त विरोध के समर्थक भी नहीं हैं।

काव्य-शिल्प

आलोच्य कवि ने प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति काव्य में भाषा, अलकार और छन्द की स्थिति का विस्तृत विवेचन किया है। अत इनके विषय में उनके विचारों का पृथक-पृथक् अध्ययन करना उचित होगा।

१ काव्य-भाषा

'हरिऔध' शब्दों के सजग-सफल प्रयोग को काव्य का जीवन मानते थे। उनके अनुसार "× × × × × × **तीसरा कवि कर्म है शब्द-विन्यास। शब्दों की काट-छाँट और उनका यथोचित स्थान पर सस्थान। यह कार्य बडी ही मार्मिकता का है।**"[2] शब्द-विन्यास के विषय में उनका मूल प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य की भाषा सारल्य विभूषित हो। उनकी धारणा है कि "**जहाँ कविता में सुन्दर भाव होने चाहिएँ, वैसे ही उसकी भाषा भी सीधी सादी, लचकदार और ऐसी होनी चाहिए जो सुनते ही जी में जगह कर ले, और एक एक बात को लोगों के जी में ठीक-ठीक बैठाल दे।**"[3] इस उद्देश्य की सिद्धि के *लिए उन्होंने एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव शब्दों को प्रयुक्त करने* का परामर्श दिया है[4] और दूसरी ओर बोलचाल की शब्दावली को महत्व देते हुए यह कहा है—"**यथार्थ कविता वही है, जो अधिकतर सरल और बोधगम्य हो और ऐसी कविता तभी होगी, जब उसमें बोलचाल का रग होगा।**"[5] यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने "प्रियप्रवास" में क्लिष्ट भाषा को स्थान दे कर इस सिद्धान्त का कुछ सीमा तक स्वय उल्लघन किया है, तथापि उनका मूल प्रतिपाद्य यही है कि काव्य में प्रसादगुणत्व अथवा बोलचाल की पदावली को विशेष स्थान प्राप्त रहना चाहिए।[6] इस सम्बन्ध में उनका अन्तस्साक्ष्य भी यही है, "**मैं क्लिष्टता का प्रतिपादक नहीं, मैं कोमल कान्त पदावली का अनुरक्त हूँ, प्रियप्रवास-रचना का और उद्देश्य है, मेरे इस कथन में सत्यता है या**

---

१ देखिए (अ) रसकलस, पृष्ठ ६६-१०६

(आ) ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, प्रभुदयाल मीतल, पृष्ठ १३२

२. *रस साहित्य और समीक्षाएँ*, पृष्ठ ५६

३ आधुनिक कवि, भाग ५, भूमिका, पृष्ठ १३

४ देखिए 'वैदेही-वनवास', भूमिका, पृष्ठ १२

५. बोलचाल, पृष्ठ २१६

६. देखिए (अ) बोलचाल, पृष्ठ २२८-२२६ तथा २३२

(आ) रस साहित्य और समीक्षाएँ, पृष्ठ ७४-७५

(इ) *सन्दर्भ-सर्वस्व*, पृष्ठ ६४-६५

नहीं × × × × × यह "बोलचाल" नामक ग्रन्थ बतलावेगा।"[1]

इस विवेचन के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि काव्य में सहजता के सचार के लिए जहाँ कोमल तद्भव शब्दावली का प्रयोग अभीप्सित है ("तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग उचित नहीं—जितना ही कोमल शब्द-विन्यास होगा, उतनी ही सुन्दर कविता होगी")[2] वहाँ कवि का यह स्मरण रखना चाहिए कि "उत्तम शब्द विन्यास पद्य का वही है जो बिल्कुल बोलचाल के अनुसार हो अर्थात् बोलने के समय वाक्य में जिस क्रम से हम शब्द-विन्यास करते हैं, उसी क्रम से पद्य-रचना में भी शब्द-विन्यास होवे। यह सत्य है कि छन्दोगति के कारण इस उद्देश्य में बाधा पड़ती है, किन्तु जहाँ तक सम्भव हो इस उद्देश्य में सफल होने का प्रयत्न करना चाहिए।"[3] यहाँ द्विवेदी जी के गद्य और पद्य की भाषा में एकता लाने के प्रयास का समर्थन किया गया है, किन्तु काव्य-क्षेत्र में इस सिद्धान्त के व्यवहार्य हो सकने के विषय में "हरिऔध" जी स्वयं सशंक रहे हैं। उन्होंने इस दिशा में विशेष दुराग्रह का परिचय न देकर अन्यत्र गद्य, पद्य और बोलचाल की भाषा में अन्तर को स्वीकार करते हुए[4] यह स्पष्ट कर दिया है कि "गद्य की भाषा से पद्य की भाषा में कुछ अन्तर होता है।"[5] अत यह स्पष्ट है कि काव्य में बोलचाल की भाषा को स्थान देते समय उसका पद्य के अनुरूप सस्कार कर लेना चाहिए। काव्य की भाषा का सहज बाह्य रचन के लिए इस सिद्धान्त का दृढ़ता से परिपालन नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् हैरिस के अनुसार अग्रेज़ी की महान् काव्य रचनाओं का पर्याप्त अश बोलचाल की भाषा से समृद्ध है।[6] हिन्दी के द्विवेदीयुगीन साहित्यकार प० बदरीनाथ भट्ट के मतानुसार भी "कविता की भाषा ऐसी सरल होनी चाहिए जो सब की समझ में आ सके। बोलचाल की भाषा से अधिक सरलता और किसमें मिलेगी?"[7] बोलचाल की भाषा में रचित काव्य को उर्दू में "रोजमर्रा" कहते हैं। "हरिऔध" ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में द्विवेदी जी से प्रेरणा प्राप्त करने के अतिरिक्त उर्दू काव्य शास्त्र से भी पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है।[8]

काव्य भाषा की सरलता के विषय में इस प्रतिपादन के अनन्तर यह प्रश्न किया जा सकता है कि बोलचाल की भाषा के काव्यगत रूप में सस्कृत-शब्दों की क्या स्थिति

---

१ रस साहित्य और समीक्षाएं, पृष्ठ ६७

२ माधुरी, फरवरी १९२६, पृष्ठ १४६

३ बोलचाल, पृष्ठ ८३

४ देखिए "बोलचाल", पृष्ठ ४२ तथा ६८

५ प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ ३२

६ "A great deal of the greatest English poetry is made up entirely of words which people use in very ordinary speech"

(Nature of English Poetry, Page 109)

७ सरस्वती, फरवरी १९१३, पृष्ठ १११

८ देखिए "बोलचाल", पृष्ठ ६३-६

होगी ? यद्यपि "हरिऔध" जी ने ठेठ हिन्दी (बोलचाल का एक रूप) में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों के स्थान पर सरल शब्दों को रखने का परामर्श दिया है,[1] तथापि वे संस्कृत शब्दों को काव्य में स्थान देने के सर्वथा विरोधी नहीं हैं, अपितु उन्होंने उन्हें हिन्दी के लिए गौरवास्पद कहा है।[2] उन्होंने बोलचाल की भाषा का समर्थन करते हुए जितनी उदारता से खड़ी बोली के काव्य में माधुर्य सृष्टि के लिए ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों तथा "लसना", "विलसना', "रचना', "विराजना" आदि ब्रजभाषा के क्रिया रूपों को ग्रहण करने का सन्देश दिया है,[3] उतनी ही उदारता से यह भी प्रतिपादित किया है कि "संस्कृत-शब्दों के बाहुल्य से कोई ग्रन्थ अनादृत नहीं हो सकता।"[4] तथापि इस प्रकरण में कविवर श्रीधर पाठक की भाँति उनका प्रतिपाद्य यह अवश्य रहा है कि काव्य में शब्द-विकृति नहीं होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह लिखा है—"शुद्ध शब्दों के प्रयोग के विषय में मुझको इतना ही कहना है कि यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी है। इसने खड़ी बोली के कवियों को च्युत-दोष और शब्दों के तोड़ मरोड़ से बहुत बचाया है।"[5] अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि उन्होंने काव्य-भाषा में संस्कृत के सरल तत्सम शब्दों, तद्भव शब्दों, बोलचाल के शब्दों, ब्रजभाषा के क्रिया-रूपों आदि को भी स्थान देने का प्रतिपादन कर किसी एक निश्चित मत का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि काव्य भाषा की दीप्ति के लिए यही अभीप्सित भी है, क्योंकि कवि के नैसर्गिक भावावेग को अभिव्यंजना की किसी विशेष सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

"हरिऔध" ने काव्य-भाषा के औज्ज्वल्य के लिए वांछित गुणों में कवि को मुहावरों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान देने का सन्देश दिया है। उनके मतानुसार "मुहाविरे कविता में जान डाल देते हैं, बहुत बातों को थोड़े में कहते और उसको चुस्त बनाते हैं।"[6] उन्होंने मुहावरों के प्रयोग से काव्य में भाषा की सजीवता और अर्थ-गाम्भीर्य के समावेश का अन्यत्र भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है।[7] यह दृष्टिकोण इससे पूर्व आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक द्वारा सामान्य रूप में उपस्थित किया जा चुका था, किन्तु इस ओर विशेष ध्यान देने का श्रेय "हरिऔध" को ही है। उन्होंने मुहावरों में सम्पन्न भाषा में सरलता और मधुरता की सहज स्थिति मानते हुए यह मत व्यक्त किया है—"यदि खड़ी बोली की कविता को मधुर बनाना हमें इष्ट है, यदि कर्कश शब्दावली से उसको बचाना है, यदि बोलचाल के रंग में उसे रंगना है, यदि उसको प्रमादमयी, सम्पन्न एवं हृदयहारिणी

---

१ देखिए "ठेठ हिन्दी का ठाट" उपोद्घात, पृष्ठ ६-७
२ देखिए "आधुनिक कवि" भाग ५, भूमिका, पृष्ठ १६-१७
३ देखिए (अ) वैदेही वनवास, वक्तव्य, पृष्ठ ११
(आ) प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ ३६ तथा ५६
४ प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ १०
५. रस साहित्य और समीक्षाएँ, पृष्ठ १०१
६ आधुनिक कवि, भाग ५, दो चार बातें, पृष्ठ १२
७. देखिए "बोलचाल", पृष्ठ ११=

बनाने की इच्छा है, तो हमको मुहावरों का आदर करना होगा, और उनके उचित प्रयोग से उसकी शोभा बढ़ानी होगी।"[1] मुहावरों के प्रयोग से इस प्रयोजन की सिद्धि असन्दिग्ध है, किन्तु इस ओर आवश्यकता से अधिक आग्रह का प्रदर्शन काव्य की चारुता के लिए स्पष्ट हानिकर रहता है। इस सम्बन्ध में श्री विनयमोहन शर्मा का मत द्रष्टव्य है—

"साहित्य में मुहावरों का प्रयोग विषय को हृदयगम कराने की दृष्टि से किया जाता है और जहां आवश्यक हो, वहां उसका समावेश होना भी चाहिए, परन्तु प० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" के समान मुहावरों की भिन्नता प्रदर्शन करने के लिए ही उनका प्रयोग न होना चाहिए। इससे रचना में आकर्षण नहीं पैदा होता।"[2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि "हरिऔध" काव्य भाषा के विषय में स्थिर चित्त से चिन्तन नहीं कर पाए हैं। उनके विचारों में दो दृष्टियों में आन्तरिक विरोध की स्थिति रही है—(अ) संस्कृत के तत्सम शब्दों के आधिक्य का विरोध करने पर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में उन्हें पर्याप्त स्थान दिया है और निष्कर्ष-रूप में उनके प्रयोग को काव्य के लिए दूषणस्वरूप नहीं माना है, (आ) उन्होंने बोलचाल के गद्य और कविता की भाषा में अन्तर न रखने पर बल दिया है किन्तु बाद में स्वयं ही यह लिखा है कि इनमें अन्तर अवश्यम्भावी है। इस आन्तरिक विषमता का कारण स्पष्ट है—वह है अभिधा के प्रति आवश्यकता से अधिक अनुराग। भाषा को ऋजु-सरल रखने के लिए तत्सम के स्थान पर तद्भव शब्दों की महत्ता, बोलचाल की भाषा की स्पष्टता और मुहावरों की सहज सजीवता का आदर करना असंगत नहीं है, किन्तु अभिधा के मोह में लक्षणा और व्यंजना को भुला बैठना अनुचित है। 'हरिऔध' के विचार सुन्दर अवश्य हैं, किन्तु उनमें एकांगिता है। यदि वे शब्द के सभी व्यापारों को दृष्टि में रख कर भाषा का विवेचन करते तो उन्हें अधिक सफलता मिल सकती थी।

उपर्युक्त धारणाओं के अतिरिक्त "हरिऔध" ने रसानुकूल शब्द-योजना के प्रश्न पर भी विचार किया है किन्तु कोमल-कान्त पदावली में अनुरक्त होने के कारण उन्होंने रस के अनुकूल भाषा-परिवर्तन के सिद्धान्त को सभी रसों के लिए स्वीकार नहीं किया। उनके मतानुसार "जिसको भाव चित्रण की क्षमता है, वह बिना कटु और कठोर शब्दों का प्रयोग किए भी रौद्र रस अथवा वीर रस का सच्चा स्वरूप दिखला सकता है, और यही कवि-कर्म है।"[3] इसी प्रकार उन्होंने एक अन्य स्थल पर भी यह प्रतिपादित किया है—"प्रयोजन यह कि ऐसे रसों में भी जिनमें परुष शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता होती है, वह ऐसे ही मार्ग पर चलता है जो उसे सुन्दर शब्द-योजना से अलग नहीं करता।"[4] यह मन्तव्य साहसपूर्ण अवश्य है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी सार्थकता स्पष्टतः अस्वीकार्य है, क्योंकि कोमल शब्दों के प्रयोग से कटु प्रकृति के रसों में

१ बोलचाल, पृष्ठ २१०

२ मधूलिका (रामशंकर शुक्ल "अंचल") भूमिका, पृष्ठ १६

३ बोलचाल, पृष्ठ ५३-५४

४ बोलचाल, पृष्ठ ४६

रस प्रकर्ष की स्थिति का आना लगभग असम्भव ही है। तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य में कोमल कान्त पदावली को स्थान देने पर विशेष बल देते थे। उनका सिद्धान्त यही था कि **"सुन्दर भाव जब मधुर कोमल कान्त पदावली के साथ होता है तो मणिकाचन-योग हो जाता है।"**[1] निश्चय ही भाव-दीप्ति की भाँति शब्द प्रयोग की दीप्त स्थिति काव्य के लिए विशद वाञ्छनीय है।

२ अलकार

"हरिऔध" ने काव्य में अलकार प्रयोग की स्थिति का विस्तृत विवेचन नहीं किया है, तथापि *'तुलसीदास की उपमाएँ'* शीर्षक लेख का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय में उनकी धारणाएँ सुनिश्चित रही हैं। उन्होंने अलकार को कवि की अभिव्यक्ति और काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य के विकास में सहायक माना है। यथा—**"स्वभाव की स्वाभाविकता का अपहरण अलकारो का उद्देश्य नहीं है, स्वाभाविक सौन्दर्य को सुविकसित करना ही उनका ध्येय है, अपवाद की बात दूसरी है। इन अलकारो के प्रयोग में जो कवि जितना ही कुशल पाया गया, उसका कविता-कौशल लोक में उतना ही समादृत हुआ।"**[2] अत यह स्पष्ट है कि वे काव्य में अलकार के महत्व के प्रति सजग रहे हैं।

३ छन्द-विधान

"हरिऔध" ने काव्य में छन्द विधान को कवि की क्षमता पर आधृत मान कर द्विवेदी जी की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि **"सहृदय और प्रतिभावान पुरुष जिस छन्द को हाथ में लेगा, उसी में चमत्कार दिखला सकता है।"**[3] इसी प्रकार उन्होंने छन्द और भावना को परस्पर सहज-सम्बद्ध मानते हुए द्विवेदी जी को मान्य विषयानुकूल छन्द-योजना का इन शब्दों में समर्थन किया है, **"छन्द मनोभावों के प्रकट करने के समुचित साधन हैं। जिस छन्द द्वारा जो मनोभाव यथातथ्य प्रकट होगा उस मनोभाव के व्यक्त करने के लिए वही छन्द उपयुक्त और उत्तम समझा जावेगा।**[4] काव्य के अन्तरग और बहिरग में समन्वय स्थापना की दृष्टि से यह मन्तव्य निश्चय ही महत्वपूर्ण है। आलोच्य कवि ने रसानुकूल छन्द विधान में रचनागत लयात्मकता और उसके सारभूत प्रभाव को वर्द्धमान मान कर अन्यत्र भी यह लिखा है—**"रसानुकूल छन्द-गति भी अपेक्षित है, छन्द की गति का तदनुकूल रस पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।"**[5] इससे स्पष्ट है कि छन्द केवल भावना का अनुवर्ती नहीं है, अपितु वह उसका पोषक भी है। इन धारणाओं के फलस्वरूप उन्होंने छन्द नियमो को कवि प्रवृत्ति के अनुकूल रखने के उद्देश्य से यह प्रतिपादित

---

१ बोलचाल, पृष्ठ ४१

२ माधुरी, अगस्त १६२३, पृष्ठ ७३

३ इन्दु, जुलाई १६१५, पृष्ठ ३७

४ साहित्य-समालोचक, सवत १६८२-८३, शिशिर हेमन्ताक, पृष्ठ ४०

५ इन्दु, जुलाई १६१५, पृष्ठ ३८

किया है—

"छन्द की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका (कवि का) हाथ-पांव बांध देते हैं, उसकी क्या मजाल कि वह उसमें से एक मात्रा घटा या बढ़ा देवे, अथवा एक गुरु को लघु के स्थान पर या एक गुरु के स्थान पर एक लघु को रख देवे।"[1]

उनके हृदय का यह असन्तोष "प्रियप्रवास" में भिन्न तुकान्त छन्द-रचना के रूप में व्यक्त हुआ है। इसीलिए उन्होंने द्विवेदी जी की भाँति गणात्मक वृत्तों में अतुकान्त काव्य-रचना का समर्थन तो किया ही है, वे मात्रावृत्तों को भी इसके लिए उपयुक्त मानते हैं। उदाहरणार्थ प० लोचनप्रसाद पाण्डेय की छन्द विषयक प्रश्नावली के उत्तरस्वरूप यह उक्ति देखिए—"यह बात कैसे कही जा सकती है कि मात्रावृत्त में भिन्न तुकान्त कविता उत्तम नहीं हो सकती। मेरी यह अनुमति है कि गनवृत्त और मात्रावृत्त दोनों में भिन्न तुकान्त कविता होनी चाहिए।"[2] तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे तुकान्त काव्य-रचना के विरोधी हैं। इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति स्मरणीय है—"अन्त्यानुप्रास बड़े ही श्रवण-सुखद होते हैं और कथन को भी मधुरतर बना देते हैं।"[3]

हिन्दी-पिंगल के अतिरिक्त उर्दू छन्द-शास्त्र के भी मर्मज्ञ होने के कारण "हरिऔध" ने हिन्दी-काव्य में उर्दू-छन्दों के प्रयोग का समर्थन किया है। भाषा-विवेचन के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि वे काव्य में बोलचाल की भाषा को स्थान देने का समर्थन करते थे। इसी प्रसंग में उन्होंने यह स्थापना की है कि "खड़ी बोली का रोजमर्रा और बोलचाल जिस उत्तमता से प्राय उर्दू बहरों में लिखा जा सकता है, जितनी ओजस्विता उनमें आती है, बहुधा हिन्दी-छन्दों में नहीं।"[4] यह कथन उर्दू-छन्दों के प्रति उनके विशिष्ट आग्रह का सूचक नहीं है, अपितु इससे उनकी सामंजस्य-भावना ही प्रकट होती है। वे हिन्दी और उर्दू के छन्द-शास्त्र में मैत्री स्थापित करने के इच्छुक थे, किन्तु इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि मूलत हिन्दी के पिंगल-शास्त्र पर ही केन्द्रित रही है। इसीलिए उन्होंने उर्दू-छन्दों की ध्वनि को हिन्दी-छन्दों की प्रवृत्ति के अनुकूल ग्रहण करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"आवश्यकता होने पर उर्दू बहरों की ध्वनि ग्रहण की जावे। × × × × × ध्वनि आधार से गृहीत प्रत्येक उर्दू बहर हिन्दी छन्दों के अन्तर्गत है, अतएव उसका शासन पिंगल शास्त्र के अनुसार होना चाहिए, हिन्दी छन्दोनियम ही उसके लिए उपयोगी और सुविधामूलक हो सकता है।"[5]

हिन्दी छन्द-शास्त्र के पुष्ट वैज्ञानिक आधार के अतिरिक्त उसकी प्राचीनता और व्यापकता को लक्षित करते हुए यह धारणा उचित ही है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है

१ प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ ३०
२. इन्दु, जुलाई १९१४, पृष्ठ ३७
३. प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ ४
४. बोलचाल, पृष्ठ ७९
५ बोलचाल, पृष्ठ ११०

कि उर्दू-छन्दों को हिन्दी के अनुकूल बनाने में कवियों को विशेष लाघव दिखाना होगा। तथापि यह स्पष्ट है कि "हरिऔध" इस दिशा में हिन्दी के ही पक्ष-समर्थक हैं। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता अन्यत्र भी इस रूप में उपलब्ध होती है—"मेरा विचार है कि जब उर्दू की बहरें हिन्दी छन्दों की रूपान्तर मात्र है, और प्रस्तार से वे हिन्दी छन्दों के किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती हैं, तो उनका व्यवहार हिन्दी में हिन्दी छन्दों के नियमानुसार ही होना चाहिए। उर्दू बहरों के नियम बड़े जटिल हैं, हमको उनके फेर में न पड़ना चाहिए।"[1]

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

काव्य के अधिकारी

उपर्युक्त काव्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त "हरिऔध" ने स्फुट रूप से काव्य के अधिकारी के विषय में भी विचार व्यक्त किए हैं। इस दिशा में उनका मन्तव्य द्विवेदी जी की भाँति स्पष्टतः यह रहा है—"कवि-कर्म का वास्तविक ज्ञान कवि को ही होता है। कलाविद् ही जान सकता है कि कला क्या वस्तु है, वह कितनी आदरणीया है और साहित्य में उसका क्या स्थान है।"[2] वास्तव में काव्य के अध्ययन से आनन्द प्राप्त करने के लिए यह अभिप्रेत है कि अध्येता उसके सूक्ष्म मर्मों से अवगत हो। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि "किसी ग्रन्थ की वर्णन-शैली का प्रभाव किसी मनुष्य पर उसकी रुचि के अनुसार पड़ता है।"[3] उन्होंने इस सम्बन्ध में किसी अन्य नवीन मत का उल्लेख नहीं किया है, तथापि काव्य के अधिकारी के विषय में ये विचार भी द्रष्टव्य हैं—

(अ) 'रस का अधिकारी सब का हृदय नहीं होता। जिसमें भावुकता नहीं—जिसकी वासना रस-ग्रहणाधिकारिणी नहीं—और जिसकी संस्कृति में रसानुकूल साधनाएँ नहीं, उसके हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती।"[4]

(आ) "जिसकी जैसी वासना होगी, भाव-ग्रहण की जैसी शक्ति होगी, जिसमें जैसी सहृदयता होगी, रस आस्वाद का वह वैसा ही अधिकारी होगा।"[5]

(इ) "बचन-बिलास तें न जाको मन बिलसत,
छहरत छबि तें न जाकी मति छरी है।
बिबिध रसन ते न जाको चित सरसत,
रुचि की रुचिरता न जाहि रुचिकरी है॥

---

१ साहित्य समालोचक, संवत् १९८२-८३, शिशिर-हेमन्त का अंक, पृष्ठ ४०-४१
२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भारतेन्दु जन्मशती अंक, संवत् २००७ पृष्ठ १४२
३ प्रियप्रवास, भूमिका, पृष्ठ ३१
४ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ १६
५ रसकलस, भूमिका, पृष्ठ ३५

हरिऔध-भारती न भूलिहूँ लुभैहै ताहि,
जाके उर माहिं भारतीयता न भरी है।
वैभव में जाके है अभाव मंजु भावन को,
भावुकता नाहिं जाकी भावना में भरी है।।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यानुशीलन से प्राप्य आनन्द की विशिष्ट सम्भावना तभी रहती है जब अध्येता काव्यज्ञ, भावुक, रसग्राहक और सहृदय होता है तथा काव्य-वस्तु में उसकी रुचि होती है।

सिद्धान्त-प्रयोग

पूर्ववर्ती कवियों की भाँति "हरिऔध" के विचारों के काव्यगत रूप का अध्ययन करने के लिए भी उन्हें "काव्य का अन्तरंग" और "काव्य-शिल्प" के शीर्षकों में विभाजित करना उचित होगा।

१ काव्य का अन्तरंग

"हरिऔध" द्वारा उल्लिखित काव्यांगों में से काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य के व्यावहारिक रूप का विवेचन ही अभीष्ट है। इनके विषय में उनके विचारों का समन्वय करने पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में समाज के लिए उपयोगी विचार-धारा का अनुभूति-सम्पन्न मार्मिक आख्यान अपेक्षित है। इसके लिए कवि को रस-परिपाक की ओर उचित ध्यान देना चाहिए। उन्होंने इस प्रसंग में शृंगार को रसराज मानने पर भी काव्य में उसे सीमित रूप में ग्रहण करने पर बल दिया है और अन्य रसों में से करुण रस तथा वात्सल्य रस को काव्य में स्थान देने का परामर्श दिया है। अतः प्रथम विचारणीय तत्व यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अनुभूति के आधार पर लोकहितपरक भावनाओं को किस सीमा तक व्यक्त किया है? आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भाँति वे इस ओर विशेष सतर्क रहे हैं। इस दृष्टि से उनकी बोलचाल, चुभते चौपदे (जाति के जीवन, हित गुटके, सजीवनी बूटी, जगाने की कल, विपत्ति के बादल, जाति राह के रोड़े आदि प्रकरण), चोखे चौपदे (गागर में सागर, अनमोल हीरे, काम के कलाम, जाति के कलंक आदि प्रकरण) पारिजात (सप्तम, अष्टम, नवम, एकादश और चतुर्दश सर्गों में निरूपित अन्तर्जगत्, सांसारिकता, कर्म-विपाक, सत्य का स्वरूप आदि प्रकरण), हरिऔध सतसई (नीति, विविध, प्रकीर्णक, विश्व प्रपंच आदि काव्य-खंड), मर्म-स्पर्श (जीवन-संग्राम, कान्त कर्त्तव्य, वर विवेक, तल्लय, चारु विचार आदि कविताएँ) तथा पद्य-प्रमोद (कर्मवीर, जीवनमुक्त, आर्य बाला, आर्य महिमा आदि कविताएँ) शीर्षक कृतियाँ विशेषतः पठनीय हैं। उनकी अन्य रचनाओं में भी प्रकट अथवा अप्रकट रूप में लोक-हित की अभिव्यक्ति अवश्य रही है। स्पष्टतः इस प्रकार की कविताओं में अनुभूति और विचार-शक्ति का प्राधान्य रहा है। उपदेश प्रवृत्ति से युक्त होने

१. रसकलस, मंगलाचरण, पृष्ठ २

के कारण इनमे रस का सहज-मधुर अन्तर्विकास सर्वत्र उपलब्ध नहीहोता।

काव्य के भाव-पक्ष की समृद्धि के लिए अभीष्ट अन्य उपकरणो मे से यहाँ रस और नायिका-भेद सम्बन्धी विचारो के व्यवहार-रूप का अध्ययन उचित होगा। उन्होने सिद्धान्तत शृगार को रसराज माना है और व्यवहारत उनको प्रमुख रचनाओ (प्रियप्रवास और वैदेही वनवास) मे विप्रलभ शृगार की प्रधानता भी रही है, तथापि इन कृतियो मे उपलब्ध शृगाररसात्मक प्रकरण रीतिकालीन शृगार-धारा से भिन्न है। यद्यपि "रसकलस" मे नायक-नायिका की सयोग-वियोगात्मक शृगार-चेष्टाओ के वर्णन मे वे रीतिकालीन कवियो से भी प्रभावित रहे है,[1] तथापि "हरिऔध सतसई" के "शिख-नख" और "चोखे-चौपदे" के "अनमोल हीरे" शीर्षक प्रकरणो मे शरीराग-विभा का लोक हित-साधन मे सहायक अगो के रूप मे वर्णन कर उन्होने अपनी इसी धारणा को वाणी दी है कि काव्य मे शृगार रस का अतिरेक नही होना चाहिए। लक्षण-उदाहरण-ग्रथ होने के कारण "रसकलस" मे परम्परागत रूप मे शृगार-वर्णन स्वाभाविक ही है, किंतु इसमे कोई सन्देह नही है कि इस प्रकार का शृगार आलोच्य कवि का साध्य नही है। "रसकलस' मे पति प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका आदि नायिकाओ के स्वच्छ उदाहरण इसके प्रमाण है।[2] शृगार रस के अतिरिक्त उन्होने "प्रियप्रवास" और "वैदेही वनवास" मे एक ओर करुण रस की अन्त. सलिला को सतत प्रवाहित रखा है और दूसरी ओर यथास्थान वात्सल्य रस के सहज मार्मिक चित्र भी अकित किए है। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उन्होंने "रसकलस' की कविताओ में वात्सल्य रस और भक्ति रस की उपेक्षा कर अपने सिद्धान्तो के प्रयोग की ओर वाछित सजगता नही दिखाई है। तथापि सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य की अन्त सज्जा के विषय मे अपने सिद्धान्तो का स्वकृतियो मे पर्याप्त सफलता के साथ निर्वाह किया है।

२. काव्य-शिल्प

"हरिऔध" ने काव्य के कलात्मक सौन्दर्य के सवर्द्धन के लिए कवि को प्रसाद और माधुर्य गुणो से शोभित वाग्धारा (जिसमें सस्कृत के तत्सम शब्द सीमित हो और बोलचाल की भाषा विशेष हो) के प्रयोग का परामर्श दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अलकार को काव्य का शोभाकर धर्म माना है और कवि को विविध छन्दो (हिंदी-सस्कृत के मात्रिक-वर्णिक छन्द और उर्दू के छन्द) की रसानुकूल योजना का उद्बोध दे कर उसे तुकान्त और अतुकान्त, दोनो प्रकार की रचना की प्रेरणा दी है। भाषा की दृष्टि से "चुभते चौपदे", "बोलचाल" और "चोखे चौपदे" मे बोलचाल की सरल भाषा को विशेष स्थान दिया गया है। "प्रियप्रवास", "वैदेही वनवास" तथा "पारिजात" के कुछ क्लिष्ट स्थानो (जिनमे उन्होंने अपनी धारणा के विपरीत सस्कृत के तत्सम शब्दो का विशेष प्रयोग किया है) के अतिरिक्त सामान्यतः उनकी सभी कृतियो की भाषा सरल रही है।

---

१. देखिए "रसकलस", पृष्ठ ६६ २७०
२. देखिए "रसकलस", पृष्ठ ६६ १०७

तथापि यह स्वीकार करना होगा कि अभिधा को प्रयासपूर्वक महत्व देकर वे अभिव्यंजना की सूक्ष्मताओं के प्रति उचित न्याय नहीं कर सके हैं। उन्होंने इस तथ्य को भुला दिया है कि भाषा भावों को प्रकट करने का साधन है, साध्य नहीं। भाषा में सरलता, बोलचाल की रीति और मुहावरों को स्थान देने के प्रति वे लगभग पूर्वाग्रही रहे हैं। फलतः उन्हें कवि के रूप में तभी सफलता मिली है जब उन्होंने भाषा के प्रति आवश्यकता से अधिक सजगता न दिखा कर भावों की निसर्ग अभिव्यक्ति को प्राथमिकता दी है। प्रसाद गुण के अतिरिक्त उनकी कोमलरसाप्लावित रचनाओं में माधुर्य गुण की भी सहज स्थिति रही है। मुहावरों के द्वारा अभिव्यंजना में चारुता का विधान तो उनकी भाषा का मूल धर्म ही रहा है। यद्यपि "बोलचाल", "चोखे चौपदे' और चुभते चौपदे में मुहावरों के प्रति उनका आग्रह पूर्वनिश्चयप्रेरित रहने के कारण सर्वत्र शोभन नहीं रहा है, तथापि अन्य कृतियों में मुहावरे काव्य-कान्ति के संवर्द्धक रहे हैं। काव्य भाषा के इन गुणों के अतिरिक्त उन्होंने उसमें स्वच्छ-शुद्ध शब्दों की स्थिति पर भी बल दिया है, किन्तु उनकी रचनाओं में इस सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन नहीं हुआ है—शशी (शशि), बाल्मीक (वाल्मीकि), चाँदनि (चाँदनी), ए (ये) आदि शब्द इसके प्रमाण हैं[1] अतः समग्र रूप में अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके भाषा विषयक सिद्धान्त उनकी कृतियों में सर्वत्र सफल रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

"हरिऔध" ने अलंकार को कवि का साध्य न बनने देने की धारणा को अपनी रचनाओं में प्रायः प्रतिफलित रखा है। छन्द रचना की दृष्टि से उन्होंने "प्रियप्रवास" में द्रुतविलम्बित, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि वर्णिक छन्दों, "वैदेही वनवास" में दोहा, ताटंक, सखी, रोला, पादाकुलक, तिलोकी आदि मात्रिक छन्दों, "बोलचाल" में उर्दू बह्रों और शेष कृतियों में इन छन्दों की वैविध्यपूर्ण योजना के प्रति सजग रहे हैं। इसी प्रकार "प्रियप्रवास" में अतुकान्त और "वैदेही वनवास" में तुकान्त छन्दों की विशिष्ट रचना द्वारा भी उन्होंने अपने सिद्धान्तों के सजग व्यवहार को प्रमाणित कर दिया है।

विवेचन

"हरिऔध" के सिद्धान्तों के अध्ययन विश्लेषण के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि जहाँ उन्होंने काव्यात्मा, रस और काव्य शिल्प के विवेचन में द्विवेदी जी की भाँति मुख्यतः आचार्यत्व का निर्वाह किया है वहाँ अपने अन्य विचारों में भारतेन्दु और "प्रेमघन" की भाँति सिद्धान्त-प्रतिपादक की सजगता के अतिरिक्त कवि-मानस की भावुकता की भी रक्षा की है। यद्यपि उन्होंने काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य शिल्प और काव्य के अधिकारी को लगभग परम्परा प्राप्त रूप में ही विवेचित किया है, तथापि रस, काव्य-वर्ण्य (केवल नायिका-भेद-सम्बन्धी विचार) और काव्य में उर्दू-छन्दों के प्रयोग के विषय में उनके सबल मौलिक विवेचन का महत्व भी निश्चय ही मान्य है।

१ देखिए "पद्य प्रमोद", पृष्ठ-क्रम १३, १०३, १२७

इनमें से रस और नायिका-भेद के विषय में उनके प्रतिपादन का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि उन्होने अपने युग म शृगार रस की अस्वीकृति और नैतिकता के प्राबल्य को लक्षित कर के भी शृगार के रसराजत्व की घोषणा करते हुए नायिका भेद का निरूपण किया है। द्विवेदी युग के किसी भी अन्य कवि द्वारा इनका ऐसा सागोपाग विवेचन न होने के कारण यह कहा जा सकता है कि यदि उन्होने अन्य काव्यागो की चर्चा न कर केवल इन्ही का प्रतिपादन किया होता तो भी सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि के रूप में उनका स्थान अक्षुण्ण रहता।

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

"रत्नाकर" ने काव्य-रचना की भाँति काव्य के शास्त्रीय निरूपण में भी उत्साह-पूर्वक योगदान दिया है। उनकी कविता-विषयक मान्यताओं के निदर्शन के लिए मुख्यतः "कविवर बिहारी" शीर्षक ग्रन्थ का अध्ययन अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त अन्य कृतियों (उद्धव शतक, गंगावतरण, रत्नाकर, भाग १ तथा २, हरिश्चन्द्र, बिहारी रत्नाकर), अभिभाषणों एवं "साहित्य-सुधानिधि" तथा "माधुरी" में प्रकाशित स्फुट रचनाओं के आधार पर भी उनकी मान्यताओं को निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि उन्होंने सभी काव्यांगों पर विचार नहीं किया है, तथापि काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प एवं काव्यानुवाद के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रीय आलोचना में उनकी असाधारण गति थी।

काव्य का स्वरूप

"रत्नाकर" ने काव्य के स्वरूप की स्वतन्त्र विवेचना नहीं की है, तथापि उन्होंने "काव्य-निरूपण" शीर्षक लेख में काव्य की विविध प्राप्य परिभाषाओं पर यथोचित विचार करने के अनन्तर यह मत व्यक्त किया है—

"होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावै सोय।
रतनाकर लक्षण करत यह बहु ग्रंथनि जोय॥"[1]

इस उद्धरण में "रमणीय वाक्य" का प्रयोग पंडितराज जगन्नाथ के "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द" की दृष्टि में रख कर किया गया है। वैसे भी अर्थ-प्रतिपादक शब्द का अभिप्राय "वाक्य" ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि आलोच्य कवि ने प्रकारान्तर से पंडितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण को मान्यता दी है। तथापि यहाँ "वाक्य" शब्द विश्वनाथ की उक्ति "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का स्मरण दिलाता है। "रत्नाकर" ने अपनी परिभाषा को जिन बहु ग्रन्थों पर आधारित रखा है, वे "रसगंगाधर" और "साहित्य दर्पण" हैं। यहाँ यह भी विवेचनीय है कि "रमणीय वाक्य" से कवि का अभि-प्राय क्या है? रमणीयता का सम्बन्ध भावना और कला, दोनों से है। इसीलिए "रत्ना-

---

१. साहित्य-सुधानिधि, जुलाई १८९४, पृष्ठ २५

कर" ने लिखा है—"सब्द-अर्थ-लालित्य दोउ गग-ग्रौतरण मे लसै।"[1] स्पष्ट है कि वे वर्ण्य वस्तु और कलात्मक अभिव्यजना के सहभाव को काव्य की शोभा के लिए अनिवार्य मानते हैं। उन्होने ऐसी रचना को सहृदय के लिए अलौकिक आनन्द की विधात्री माना है। यथा—

"काव्य के विषय में यह निर्विवाद मत है कि वह एक ऐसा वाक्य है जिसके सुनने अथवा पढ़ने से सहृदय को एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो। उसमें रमणीयता के मुख्य दो कारण होते हैं। एक तो किसी ऐसे विषय या भाव का वर्णन होना जो स्वभावत ही मनुष्य जाति को अलौकिक आनन्दप्रद है, दूसरे किसी विषय या भाव के व्यक्त करने का कुछ ऐसा ढग जिससे सुनने वाले का चित्त प्रसन्न हो जाय। जिस काव्य में ये दोनों बातें हो वह परम श्रेष्ठ है, पर जिसमें इन दोनों में से एक भी न हो उसे तो काव्य कहना ही व्यर्थ है।"[2]

स्पष्ट है कि वे काव्य मे अभिव्यजना-कौशल को उत्कृष्ट भावो के समान महत्व देते थे। यह दृष्टिकोण यथानुपूर्व होने पर भी उनके चिन्तन की गम्भीरता का परिचायक है। काव्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती द्वारा ब्रह्मा के प्रति कथित इस उक्ति मे भी उन्होने इसी धारणा को वाणी दी है—"ताल-तुक-हीन अग भग **छबि छीन भई, कविता बिचारी ताहि रुचि-रस प्याऊँ मैं।"**[3] इस उक्ति से स्पष्ट है कि काव्य के आन्तरिक गौरव के लिए यह अभीप्सित है कि कवि उसकी बाह्यसज्जा के प्रति भी यथावश्य सचेष्ट रहे।

काव्य का लक्षण निर्धारित करने के अतिरिक्त "रत्नाकर" ने कवि-कर्म की भी सामान्य रूप मे चर्चा की है। उन्होने केशवदास की "नखशिख' कृति का सम्पादन कर उसकी भूमिका मे यह प्रतिपादित किया है कि काव्य रचना की ओर प्रवृत्ति होने पर कवि की दृष्टि प्रथमत नखशिख वर्णन पर केन्द्रित होती है। इस सम्बन्ध मे उनकी स्पष्ट मान्यता है कि **"यह भी एक बँधी हुई बात है कि जब किसी को नया-नया उत्साह कविता करने का उमगता है तो पहिले वह बहुधा नखशिख ही के कवित्त बनाने पर उतारू हो जाता है।"**[4] इस दृष्टिकोण को रीतिकालीन काव्य की पृष्ठभूमि मे उपस्थित किया गया है, तथापि उन्होने इसे जो विशिष्ट सिद्धान्त रूप दिया है वह आक्षेप योग्य है। रीतिकाल के पूर्ववर्ती काव्य के अतिरिक्त द्विवेदी युग की काव्य रचनाओ के आधार पर भी उनकी मान्यता का खडन किया जा सकता है। उनके कवि कर्म सम्बन्धी विचारो का विवेचन करते समय यह भी उल्लेख्य है कि प्रतिभा को काव्य हेतु मानने पर भी वे कवि की प्रत्येक पक्ति को अमर नही मानते थे। उनके मतानुसार काव्य का पुनरावलोकन अथवा यत्र-तत्र सशोधन कवि-कर्म का अनिवार्य अग है। इसीलिए उन्होने "गगावतरण" काव्य के

१ गगावतरण, पृष्ठ १
२ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, ब सर्वा अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २८ २६
३ गगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ २
४ रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला (सं० विश्वम्भरनाथ भट्ट), पृष्ठ ६६ से उद्धत

लिए यह लिखा है—"आज श्री सर्वशक्तिमान जगदीश्वर तथा श्री भगवती भारती की असीम कृपा से इसका पुनरावलोकन तथा परिशोधन समाप्त हुआ।"[1] यह कवि-जीवन का एक ऐसा सत्य है जो सत्काव्य की रचना के लिए अनिवार्य होने पर भी संकोचवश अथवा अन्य किसी कारण से कवियों द्वारा प्रायः अकथित रहता है। "रत्नाकर" ने इसका उल्लेख कर भगवान के प्रति अपनी आस्था को उपयुक्त रूप में व्यक्त किया है।

काव्य की आत्मा

प्रस्तुत कवि ने काव्य की आत्मा का व्यवस्थित विवेचन नहीं किया है, तथापि उपलब्ध उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। रस की तुलना में अन्य काव्य-सम्प्रदायों के महत्त्व पर भी उनकी समान दृष्टि रही है। उदाहरणार्थ 'काव्य निरूपण' शीर्षक लेख की ये पंक्तियाँ देखिए—

इतनी बात इस सम्बन्ध में हम भी कहते हैं कि काव्य-आह्लादोत्पादकता के कारणों में से सब से उत्तम श्रेष्ठ तथा प्रधान कारण रस है और यह भी हम को स्वीकृत है कि रस-युक्त काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है वह और प्रकार के काव्य से कदापि नहीं हो सकता। रसयुत काव्य का आनन्द एक भिन्न ही प्रकार का होता है। यह आनन्द वस्तु तथा अलंकार प्रधान काव्योत्पादित आह्लाद की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी तथा उच्चतर श्रेणी का है और इसका कुछ स्वाद ही और है। पर तो भी काव्यत्व के हेतु वाक्य का रसात्मक होना आवश्यक नहीं माना जा सकता।"[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि काव्य में रस की प्रतिष्ठा से अध्येता को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।[3] इस आनन्द-सृजन का मूल कारण काव्यगत रमणीयता है। काव्य-वस्तु से प्राप्य लौकिक आनन्द[4] तथा काव्यगत अलंकारों से उपलब्ध चमत्कार से यह रमणीयता अधिक श्रेष्ठ है। तथापि विवेच्य कवि ने काव्य में रमणीयता के उत्पादन के लिए रस के अतिरिक्त रीति, अलंकार और वक्रोक्ति के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। उन्होंने कानपुर में दिसम्बर, सन् १९२५ में हुए प्रथम भारतीय हिन्दी-कवि-सम्मेलन में प्रधान सभापति के पद से इसी मान्यता को इस प्रकार प्रकट किया था—

"हमारी समझ में काव्य का लक्षण रमणीय वाक्य कहना ही समीचीन है। रमणीयता लाने के अनेक साधन हो सकते हैं। उनमें से साहित्यकारों ने विशेष-विशेष कारणों को लक्षित कर के अपने अपने ग्रन्थों में बतलाया है। किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने अलंकार, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्यत्व का मुख्य साधन माना है। हमारी समझ में तो ये सब अलग-अलग अथवा मिल-जुल कर रमणीयता-उत्पादन

---

१ गंगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ ६

२ साहित्य-सुधानिधि, जून १८९४, पृष्ठ १७

३ रस से प्राप्य आनन्द का उल्लेख "कविवर बिहारी", पृष्ठ १५८ पर भी हुआ है।

४ "काव्य-वस्तु से भी आनन्द की उत्पत्ति सम्भव है, परन्तु वह लौकिक होता है।"
(डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृष्ठ ४४६)

के सामग्री-मात्र हैं।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "रत्नाकर" ने काव्य के सभी सम्प्रदायों को मान्यता देते हुए रस की प्रतिष्ठा पर अधिक बल दिया है। उनकी काव्यात्मा-सम्बन्धी मान्यता का विवेचन करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने यह स्थापना की है—**"काव्य के चमत्कार को वस्तु से पृथक् कवि के वर्णन-चातुर्य में मान कर वे भाव की अपेक्षा कला अथवा रस की अपेक्षा कवि-व्यापार-वक्रता को ही प्रमुखता दे रहे हैं।"**[2] उन्होंने इस मान्यता के आधार-रूप में "कविवर बिहारी" से ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

"काव्य-वाक्य का उद्देश्य, वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्यपटुतादि के द्वारा श्रोताओं के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित विषय-जनित हर्ष-विषाद से कुछ पृथक् ही होता है। उसको साहित्यकारों ने "अलौकिक" माना है, अर्थात् वह वर्णित विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नहीं होता। वह कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण सहृदय श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता है। इसी अलौकिक आह्लादजनक ज्ञान-गोचरता को पण्डितराज जगन्नाथ ने "रमणीयता" कहा है।"[3]

"साहित्यसुधा-निधि" से उद्धृत पंक्तियों को दृष्टिपथ में रख कर नगेन्द्र जी के उपर्युक्त निष्कर्ष का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "रत्नाकर" जी वक्रोक्ति को रस से अधिक गौरव नहीं देते थे। "साहित्य-सुधानिधि" के उद्धरण में सैद्धान्तिक दृष्टि से रस को जो विशेष गौरव दिया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से उसके निर्वाह की ओर भी वे पूर्णतः सचेष्ट रहे हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उन्होंने समन्वयवादी आचार्य के अनुरूप काव्य में रस और वक्रोक्ति को उचित क्रम से महत्व देकर रीति, ध्वनि और अलंकार के महत्व को भी स्वीकार किया है।

रस-विषयक विचार

"रत्नाकर" ने काव्यगत रसों पर प्रकरणबद्ध रूप में विचार नहीं किया है, तथापि इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि वे शृंगार को रस शिरोमणि मानते थे। **"शृंगार रस में सब रसों की स्थाइयां संचारी होकर संचरित होती हैं, जिसके कारण वह रसराज कहलाता है"**[4] कह कर उन्होंने इसी मत की स्थापना की है। "शृंगारलहरी", "हिंडोला" और "उद्धवशतक" की रचना तथा "बिहारी-रत्नाकर" के सम्पादन द्वारा उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भी यह स्पष्ट कर दिया है कि शृंगार को रसों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। इस विषय में डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट की यह उक्ति भी उद्धरण-योग्य है—**"रत्नाकर जी**

१. माधुरी, जनवरी १९२६, पृष्ठ ३
२. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृष्ठ ४४९ ४५०
३. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृष्ठ ४४८ ४४९ से उद्धृत
४ बिहारी-रत्नाकर, पृष्ठ २

रसिक कवि थे, उनका भावुक हृदय शृंगार-निरूपण में ही अधिक रमा है।"[1]

काव्य-हेतु

आलोच्य कवि ने काव्योत्पादन में सहायक कारणों में से ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा को मुख्य मानते हुए राज्याश्रय, निपुणता तथा काव्य-शिक्षा की भी चर्चा की है। वे काव्य-प्रवृत्ति का जन्मान्तरगत संस्कार-विशेष मानते थे। "कविता में मेरी रुचि कुछ लड़कपन ही से है"[2] यह कर उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। कवि-प्रतिभा के विषय में उनकी निश्चित सम्मति है कि "वाक्य को रमणीय बनाने का मुख्य कारण कवि की प्रतिभा होती है।"[3] "बिन प्रतिभा के लिखत तथा जांचत विवेक बिन"[4] यह कर उन्होंने प्रतिभा-विहीन कवियों तथा विवेकरहित समीक्षकों पर आक्षेप कर यही प्रकट किया है कि काव्य-शक्ति से सम्पन्न कवि ही काव्य-रचना कर सकते हैं। वे स्वयं को इस शक्ति से सम्पन्न मानते थे—

"कहत सिहाइ केते प्रतिभा-प्रभाइ पेखि,
साँचौ यह सुकर सपूत सारदा कौ है।"[4]

इस उक्ति से यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि सरस्वती की कृपा से प्राप्त प्रतिभा के आलोक में काव्य-साधना करने वाले कवि को जग में यश सौरभ की उपलब्धि होती है। "आवति गिरा है रतनाकर निवाजन कौं"[5] यह कर भी उन्होंने स्वयं सरस्वती की कृपा को वाणी दी है। इसी प्रसंग में उन्होंने अन्यत्र भी यह स्वीकार किया है—"मैंने × × × × × श्री शारदा देवी का स्मरण किया और यह सोच कर कि देखें श्री वाणी महारानी की इस समय मुझ पर कैसी कृपा है, मैं उन्हीं के सम्बन्ध में कवित्त बनाने लगा।"[7] इसी प्रकार उन्होंने "श्री शारदा-वन्दना" शीर्षक कविता में भी यह लिखा है—

"आवत हौं सारदा प्रमद-मुख-चंद हियें,
स्रोनि मन-मनि सौं स्रवति कवितानि कौ।"[8]

सरस्वती के अतिरिक्त उन्होंने श्रीकृष्ण, गंगा, पार्वती तथा शिव की कृपा होने पर भी कवि-हृदय में काव्य-रचना-सामर्थ्य के प्रादुर्भाव का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में ये काव्योक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

---

१. रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला, पृष्ठ २४१
२. उद्धव शतक, निवेदन, पृष्ठ ७
३. कविवर बिहारी, पृष्ठ ३ अथवा ४
४. रत्नाकर, भाग १, समालोचनादर्श, पृष्ठ ५१
५. रत्नाकर, भाग २, श्रीविष्णुलहरी, पृष्ठ ७४, छन्द २
६. गंगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ २
७. गंगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ २
८. माधुरी, जुलाई १९२५, पृष्ठ १

(अ) "कहै रतनाकर कवित्त- बर-व्यजन मे
जासौं स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै।
जयति जसोमति के लाडिले गुपाल, जन
रावरी कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै॥"[1]

(आ) "अय गग सकल-कलिमल हरनि विमल बरनि बानी करौ।
निज महि अवतरन चरित्र के भव्य भाव उर मैं भरौ॥"[2]

(इ) "लहि श्री जगदव निदेस बर गग गिरा-गननाय बर।
यह रतनाकर कीन्यौ अमर गग चरित सुभ सौख्यकर॥"[3]

उपर्युक्त अवतरण कवि की श्रद्धा भावना स प्ररित रहे है। इसीलिए उन्होन "गगावतरण के विषय मे लिखा है—"जदपि कबितगुन एको नाहीं, गग प्रसाद प्रगट इहि माहीं।'[4] यहाँ कविवर तुलसीदास की उक्ति, "कबित बिबेक एक नहिं मोरें, सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें"[5] के समान ही विनय भाव को उपयुक्त स्थान मिला है। अत यह स्पष्ट है कि वे विविध देवी देवताओ की उपासना को काव्य-शक्ति की उपलब्धि मे सहायक मानते हैं। "श्री वृन्दावनविहारी, श्री जगत्पावनी भगवती भागीरथी तथा त्रिदेव-वदिता भगवती भारती की अकारण कृपा से जो कुछ बन गया वह अर्पित है"[6] कह कर उन्होने इस दृष्टिकोण को समन्वित रूप मे एक स्थान पर स्पष्ट कर दिया है। प्रतिभा के महत्व को स्वीकार करने के अतिरिक्त उन्होने राज्याश्रय, निपुणता और काव्य शिक्षा के काव्य-हेतुत्व की भी चर्चा की है। आधुनिक युग के कवियो मे राज-सेवा स्वीकार कर राजाज्ञा से काव्य रचना करने वाले वे एकमात्र कवि थे। इस सम्बन्ध म उनकी यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"उन्होने (अवधेश्वरी ने) मुझसे कहा कि तुम भाषा मे गगावतरण-काव्य बना डालो तो बडा अच्छा हो। मैने निवेदन किया कि आपकी आज्ञा तो शिरोधार्य है, पर मेरा कविता-अभ्यास बहुत दिनो से छूटा हुआ है, अत यह आशका होती है कि कदाचित् काव्य रोचक न बन सके।"[7]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राजाज्ञा के अतिरिक्त अभ्यास भी काव्य रचना के लिए आवश्यक है। साथ ही निपुणता की उपलब्धि के लिए उन्होने कवियो को अध्ययन की प्रेरणा भी दी है। उदाहरणार्थ प्रथम भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन, कानपुर म सभापति पद से उनका यह वक्तव्य देखिए—"खडी बोली के कवियों से यह प्रार्थना है कि वे

१ उद्धवशतक, मगलाचरण
२ गगावतरण, मगलाचरण, पृष्ठ १
३ गगावतरण, पृष्ठ १२३
४ गगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ ६
५ रामचरितमानस, बालकाड, पृष्ठ ४१
६ गगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ ६
७ गगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ १ २

ब्रजभाषा के उपलब्ध तथा उपयोगी ग्रन्थों से काव्य-रीति सीखने तथा रचना प्रणाली में सहायता लेने से घृणा न करें, और अपने काव्य को शनैः शनैः अधिकाधिक सुशृंखल एवं हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न करें।"[1]

काव्य रचना के क्षेत्र में काव्य शिक्षा का महत्व कवियों द्वारा बहुमत से स्वीकार्य रहा है। "रत्नाकर" भी प्रारम्भ में मिरजा मुहम्मद हसन फायज से इस्लाह लेकर फारसी तथा उर्दू में काव्य रचना किया करते थे।[2] अतः हिन्दी में काव्य प्रणयन करने पर उन्होंने स्वभावतः काव्य शिक्षा के महत्व का प्रतिपादन किया। यथा—

"उर्दू की शायरी अच्छी होने का मुख्य कारण यह है कि उर्दू शायर बहुत दिनों तक उस्तादों से इस्लाह लेते रहते हैं। × × × × × पर हिन्दी के आधुनिक कविगण अपने को आरम्भ ही से स्वयंसिद्ध समझने लगते हैं और कविता निर्माण पर अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं। अपनी कविता के विषय में किसी को गुरु मानना अथवा उसमें किसी से कुछ सुधार कराना या सम्मति लेना वे बड़ा बुरा समझते हैं तथा निगुरा होने में अपनी परम प्रतिष्ठा मानते हैं।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रतिभा, निपुणता तथा काव्य शिक्षाजन्य अभ्यास को काव्य के प्रेरक तत्व मानते थे। आधुनिक कवियों के विषय में "सक्ति, निपुनता और अभ्यास लेसहू नाहीं"[5] जैसी व्यंगोक्तियों द्वारा भी उन्होंने अप्रत्यक्ष रीति से इसी मान्यता की स्थापना की है। इन काव्य-कारणों में से उन्हें प्रतिभा का महत्व ही विशेष स्वीकार्य रहा है। उनका निश्चित मत है कि प्रतिभा के न्यून होने पर केवल अभ्यास अथवा काव्य शिक्षा के आधार पर निर्मित काव्य में सहृदयों के चित्त को प्रभावित करने की क्षमता का विशेष समावेश नहीं हो पाता। यथा—

"कवि की प्रतिभा एक ऐसी स्वतन्त्र वस्तु है कि वह उसके इच्छानुसार कार्य करने पर बाधित नहीं की जा सकती। अभ्यास तथा शिक्षा के बल से, कवि कुछ न कुछ बना लेने में तो अवश्य समर्थ हो सकता है, पर जिन भावों का उसके हृदय में समयानुकूल स्वयं उद्गार होता है वे जैसे श्रेष्ठ तथा अलौकिक होते हैं, वैसे खींच तान कर नहीं आ सकते।"[4]

काव्य का प्रयोजन

"रत्नाकर" ने काव्य से प्राप्य फलों में लोक हित तथा यश की प्राप्ति का समर्थन किया है और अर्थ-लाभ के काव्य प्रयोजनत्व पर आपत्ति की है। काव्य के अध्ययन अथवा श्रवण से सहृदय द्वारा अलौकिक आनन्द ग्रहण को वे उसकी रचना का मुख्य प्रयो

---

१ माधुरी, फरवरी १९२६, पृष्ठ ६
२ देखिए "रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला", डा० भट्ट, पृष्ठ ५
३ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बसवाँ अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २७
४ रत्नाकर, प्रथम भाग, समालोचनादर्श, पृष्ठ ११
५ कविवर बिहारी, पृष्ठ १६४

जन मानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन, कानपुर में कहा था—"**काव्य-वाक्य का उद्देश्य वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुता के द्वारा श्रोता के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होना है।**"[१] अध्येता के मन में आह्लाद की सृष्टि को काव्य का प्रयोजन मान कर उन्होंने कवि के उदात्त दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया है। काव्य द्वारा क्षुद्र स्वार्थ की परिधि के अतिक्रमण में विश्वास रखने के कारण उन्होंने इस प्रसंग में उसकी लोकोपकारिता पर भी प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ कानपुर के कवि-सम्मेलन में सभापति-पद से उनकी यह घोषणा देखिए—"**कविता की उपयोगिता, आनन्द के अतिरिक्त, उसके द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक सदुपदेशों के, सुख तथा प्रभाव-पूर्वक, देने तथा पाने में है।**"[२] काव्य के मांगलिक रूप पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सहृदय की नैतिक उन्नति में सहायक होता है। उसके द्वारा अदृश्य रूप से प्राप्त होने वाली शिक्षा को लक्षित कर उन्होंने अपने काव्य-पात्र राजा हरिश्चन्द्र द्वारा विष्णु से यह वर-याचना कराई है—"**कुकबिनि को बिसराइ, सुकबिबानी जग गावै।**"[३]

काव्य के बाह्य प्रयोजनों में से "रत्नाकर" ने यशोपलब्धि का समर्थन करने के निमित्त यह प्रतिपादित किया है कि "**समयानुसार रुचिरंजिनी कविता को स्थायी सुयश नहीं प्राप्त होता।**"[४] इससे यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि जिस कृति में सामयिक मनोरंजनकारी भावनाओं के स्थान पर लोकहितपरक गम्भीर भाव धारा का विकास रहता है, उससे कृतिकार को स्थायी यश मिलता है। इस प्रयोजन के अतिरिक्त उन्होंने काव्य से अर्थ-लाभ की सम्भावनाओं पर भी विचार किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अवधेश्वरी द्वारा "गंगावतरण" की रचना पर पारितोषिक प्रदान करने पर अपने वक्तव्य ("**मैंने निवेदन किया कि मैं कविता का पारितोषिक लेना उचित नहीं समझता**"[५]) द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यही व्यक्त किया है कि काव्य की रचना अर्थ-लालसा से मुक्त रह कर करनी चाहिए।

काव्य के वर्ण्य विषय

आलोच्य कवि ने काव्य के लिए उपयुक्त वर्णनीय विषय के चुनाव को विशेष महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य यह है—"**यद्यपि काव्य-वाक्य की रमणीयता वर्णित विषय की रोचकता से भिन्न तथा स्वतन्त्र ही पदार्थ है, तथापि विषय की रोचकता से भी पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता है, जिसके कारण वर्णित विषय के रुचि-अनुकूल होने से पाठकों को उस काव्य में कुछ विशेष आनन्द सम्भावित है।**"[६] इस उक्ति

१. माधुरी, जनवरी १९२६, पृष्ठ ३
२. माधुरी, जनवरी १९२६, पृष्ठ ५
३. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ४८
४. कविवर बिहारी, पृष्ठ २
५. गंगावतरण, प्राक्कथन, पृष्ठ ५
६. कविवर बिहारी, पृष्ठ ४

से स्पष्ट है कि काव्य-वर्ण्य में सहृदय को आनन्दमग्न करने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए। वे इस आनन्द को निश्चय ही साधारण मनोरञ्जन तक सीमित नहीं रखना चाहते। उपर्युक्त उद्धरण में 'विशेष आनन्द' के प्रयोग से यही संकेतित भी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य-वस्तु में गम्भीरतामयी रोचकता को स्थान देने के निमित्त अन्यत्र भी यह लिखा है—"शृंगार रस, भगवद्भक्ति, सच्चा प्रेम तथा सदुपदेश इत्यादि विषयों की रोचकता सब प्रकार से परम व्याप्त है, अर्थात् ये विषय सदैव तथा सब समाज में रुचिकर होते हैं।"[1] अतः यह असन्दिग्ध है कि काव्य के विषय निर्वाचन में कवि का विशेष सतर्क रहना होता है। 'रत्नाकर' के मतानुसार मनोविज्ञान और समाज विज्ञान के ज्ञाता कवि को उपयुक्त विषय के चयन में अधिक सफलता प्राप्त होती है। यथा—

"कवि को अपने काव्य में वर्णन करने के निमित्त मानव प्रकृति तथा समाज-रुचि के अनुसार विषय चुन लेना होता है। जो कवि जितनी चातुरी तथा सूक्ष्म दृष्टि से अपना वर्णनीय विषय चुनता है उसके काव्य में उतनी ही विषय रोचकता आती है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य-वस्तु में बौद्धिक अतिवाद अथवा कल्पना-विलास के स्थान पर मानव-जगत् की अनुभूतियों को स्थान मिलना चाहिए। यह दृष्टि-कोण सर्वथा स्तुत्य है और द्विवेदीयुगीन काव्य में व्याप्त सामाजिक चेतना के अनुकूल है। यद्यपि पूर्ववर्ती कवियों ने ब्रजभाषा-काव्य में शृंगार रस के अतिरिक्त भक्ति और नीति को भी पर्याप्त स्थान दिया था, तथापि रीतिकालीन काव्य धारा के प्रभावस्वरूप कवियों का ध्यान मुख्यतः नायिका-भेद-वर्णन पर केन्द्रित रहने लगा था। भारतेन्दुयुगीन कविता में इस स्थिति का साधारण-सा ही अतिक्रमण दृष्टिगत होता है—उस युग में भी भारतेन्दु 'प्रेमघन' तथा जगमोहन सिंह का ध्यान रीतिकालीन शृंगार-प्रवृत्ति पर पर्याप्त केन्द्रित रहा था। यह स्वीकार करना होगा कि "रत्नाकर" ने काव्य-वर्ण्य में सामाजिक अनुभूतियों के प्रतिनिधित्व की चर्चा भारतेन्दुयुगीन विचार-धारा से प्रभावित रहकर की है। उस युग की काव्य जागृति से प्रभावित रहने के अतिरिक्त वे द्विवेदी युग की नवीन काव्य दिशाओं की ओर भी सजग थे और ब्रजभाषा-काव्य के स्थायित्व के लिए उसमें इन सभी उपलब्धियों को स्थान देने के इच्छुक थे। उदाहरणार्थ भारतीय हिन्दी-कवि-सम्मे-लन, कानपुर में प्रधान सभापति के पद से उनके भाषण का यह अंश देखिए—

"ब्रजभाषा के कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी कविता के रंग-ढंग तथा रचना-प्रणाली में समय की आवश्यकता तथा समाज की रुचि के अनुसार, कुछ परिवर्तन आरम्भ करें और केवल नायिका-भेद-वर्णन तथा पुरानी बातों का पिष्टपेषण न करके राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विषयों की ओर भी ध्यान दें, जिससे सर्व-साधारण का मनोरंजन ही नहीं, प्रत्युत उपकार भी हो।"[3]

---

१. कविवर बिहारी, पृष्ठ ५
२. कविवर बिहारी, पृष्ठ ५
३. माधुरी, जनवरी १९२६, पृष्ठ ८

काव्य-शिल्प

प्रस्तुत कवि ने काव्य के बाह्य रूप की सज्जा मे सहायक उपकरणो मे से विशेषत भाषा और छन्द का विवेचन किया है और सामान्यत अलकार की चर्चा की है। आगे हम इनमे से प्रत्येक के विषय मे उनके मन्तव्य की क्रमश परीक्षा करेंगे।

१ काव्य-भाषा

आचार्य द्विवेदी और "हरिऔध" की भाँति "रत्नाकर" भी भाषा शास्त्र के मर्मज्ञ थे। उन्होनेभाषा--भाषा के स्वरूप पर जिस सफलता से विचार किया है उसका मुख्य कारण यह है कि वे भाषा-विकास के साधनो और तत्सम्बद्ध प्रक्रिया से भली प्रकार परिचित थे।[1] वे भाषा-रहस्य के ज्ञान को कवि के लिए विशेष अपेक्षित मानते थे। उदाहरणार्थ व्रजभाषा की प्रारम्भिक कविता के विषय मे ये विचार देखिए—"जो जितने ही विचारशील होते थे, वे अपनी कविता में भाषा का प्रयोग उतना ही सँभाल कर करते थे। × × × × सामान्य कवि यद्यपि उनकी परिमार्जित भाषा से कुछ न कुछ प्रभावित तो अवश्य होते थे, पर सिद्धान्तों के स्पष्ट ज्ञान के अभाव के कारण भाषा-सुधार की आवश्यकता तथा ढंग नहीं समझ सकते थे।"[2] इस अवतरण से स्पष्ट है कि रचना मे भाव-सयोजन की भाँति काव्य-शिल्प भी अपेक्षित है। उन्होंने काव्य भाषा के सौष्ठव और उसके सहयोगी साधनो का इस रूप मे उल्लेख किया है—

"वाक्य के सुष्ठु न होने से, प्रथम तो उसके अर्थ-बोध में कठिनता पडती है तथा दूसरे कभी कभी वह अरोचक भी हो जाता है। ये दोनों ही बातें काव्यानन्द में बाधक होती हैं। × × × × × वाक्य-सौष्ठव के निमित्त तीन बातो पर ध्यान रखना उचित होता है—शब्दों का चुनाव, पद वाक्य शुद्धि, तथा पदो का पूर्वापर विन्यास।"[3]

उन्होंने काव्य भाषा की इन तीनो आवश्यकताओ का पृथक्-पृथक् विवेचन भी किया है। शब्द-चयन के विषय मे उनका मन्तव्य है--"चतुर कवि अपनी रचना में विरुद्ध गुणव्यजक शब्दों का प्रभाव-प्राबल्य नहीं होने देते।"[4] स्पष्टत वे भाषा के विविध गुण (विशेषत प्रसाद, माधुर्य तथा ओज गुण) के स्वतन्त्र विकास के समर्थक हैं। तथापि उनका मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि काव्य मे प्रसाद गुण को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह लिखा है—"यदि किसी का लिखा पाठकों की समझ में न आया तो उसका श्रम वृथा और दूसरो का समयनाशक मात्र है।"[5] काव्य के अन्य गुण की तुलना मे प्रसाद गुण के महत्व के विषय मे यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—

---

१ देखिए "कविवर बिहारी", पृष्ठ ३८ ५१

२ कविवर बिहारी, पृष्ठ ५२

३ कविवर बिहारी, पृष्ठ २२ ७३

४ कविवर बिहारी, पृष्ठ ११७

५ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बीसवां अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २८

'काव्य सुगम बनाने वाले ही गुण को संस्कृत साहित्यकारों ने प्रसाद गुण कहा है। इस गुण की सत्ता का कुछ वाक्यों में ही नहीं, प्रत्युत अन्य प्रकार के वाक्यों में भी होना आवश्यक है। जिस प्रकार के काव्य में माधुर्य अथवा ओजगुण वाञ्छनीय है, उसमें भी प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। कविता भावों को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से लिखी जाती है, न कि उनको शब्दाडम्बर के पटल में छिपाने के लिए।"[1]

व्रजभाषा-काव्य के अवसान-काल में यह दृष्टिकोण निश्चय ही महत्वपूर्ण है। सम्भवत उन्होंने इसे द्विवेदी जी के काव्य भाषा सिद्धान्त से प्रभावित हो कर उपस्थित किया है। यद्यपि वे उनके मत के अनुकूल खड़ी बोली में काव्य रचना का समर्थन नहीं करते थे, तथापि काव्य में सरल भाषा को प्रश्रय देना उन्हें स्वीकार्य था। विषयानुकूल शब्द-योजना का समर्थन करके भी उन्होंने काव्य शिल्प की इसी समृद्धि में योग दिया है।[2] प्रसाद गुण के उपरान्त उन्होंने स्वभावत काव्य में माधुर्य गुण की स्थिति पर बल दिया है। *व्रजभाषा-काव्य में माधुर्य गुण को केन्द्रवर्ती स्थान प्राप्त* रहा है, किन्तु "रत्नाकर" ने इस दिशा में कवि को कुछ स्वतन्त्रता देने के अभिप्राय से यह प्रतिपादित किया है कि माधुर्य गुणमयी रचना में प्रसंगवश कर्णकटु अक्षरावली का समावेश कवित्व-गुण के लिए हानिकर न हो कर उसके सौन्दर्य विकास में सहायक ही रहता है। यथा—

"यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यदि किसी वाक्य में अधिक मधुर शब्दों का गुम्फन हो, तो एक आध उद्धत अथवा कर्णकटु अक्षरों अथवा शब्दों के आ जाने पर भी उक्त वाक्य में माधुरी ही मानी जाती है। × × × × × कभी कभी अधिक मधुर वर्णों के बीच में कुछ चटपटे वर्ण आ कर माधुर्याधिक्य की अरोचकता को मिटाने का काम देते हैं।"[3]

"रत्नाकर" ने भाषा की सहजता के अतिरिक्त भाषा शुद्धि को भी महत्वपूर्ण माना है। किसी भी भाषा को साहित्य-क्षेत्र में समुन्नत बनाने के लिए यह अपेक्षित है कि उसे यथासम्भव व्याकरण-सम्मत रखा जाए। उन्होंने "साहित्यिक व्रजभाषा तथा उसके *व्याकरण की सामग्री" शीर्षक लेख में बिहारी की भाषा-सम्बन्धी सजगता का उल्लेख करते* हुए उक्त मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया है—

"खेद का विषय है कि उन्होंने जो शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा के व्याकरण का ढांचा अपने लिए स्थिर किया उसका उद्देश्य केवल अपनी कविता में सुन्दर और शुद्ध भाषा लिख पाने का था। उसको उन्होंने व्याकरण का रूप दे कर अन्य कवियों के निमित्त पथप्रदर्शक नहीं बना दिया। यदि वे ऐसा कर जाते तो उनके पश्चात् के कवियों को शुद्ध भाषा के प्रयोग में बड़ा सहारा मिलता।"[4]

व्याकरणबद्ध भाषा के प्रति कवि की यह सजगता भी सम्भवत द्विवेदी जी के

---

१ हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, बीसवां अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २६
२ देखिए "कविवर बिहारी", पृष्ठ ११४
३ कविवर बिहारी, पृष्ठ ११५-११६
४ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, पृष्ठ २६६

भाषा सम्बन्धी आन्दोलन से प्रभावित है। द्विवेदी जी द्वारा खड़ी बोली को शुद्ध रूप में प्रयुक्त करने के प्रचार से प्रेरणा प्राप्त कर तथा "बिहारी-रत्नाकर" में बिहारी के भाषा सौष्ठव को लक्षित कर अपने समकालीन ब्रजभाषानुरागी कवियों को इस ओर प्रवृत्त करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। उन्होंने केशव, बिहारी और घनानन्द की व्याकरण सम्मत भाषा का समर्थन कर के भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का प्रतिपादन किया है।[1] उन्हें ब्रजभाषा-व्याकरण की सूक्ष्मताओं का पर्याप्त ज्ञान था,[2] अतः इस दिशा में उनके प्रतिपादन का विशेष महत्व है।

काव्य भाषा की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उन्होंने अर्थ-बोध में सहजता के लिए कवि को काव्य में शब्दों के पूर्वापर विन्यास के प्रति सजग रहने का परामर्श दिया है। उनके मतानुसार **"पद्य में सामान्य नियमानुसार शब्दों के रखने में छन्द का प्रतिबन्ध बाधक होता है, जिसके कारण प्रायः शब्दों का पूर्वापर क्रम सामान्य नियम का अनुसरण नहीं कर सकता, ऐसे अवसर पर पद्यकर्ता को अपनी चातुरी से शब्दों का पूर्वापर क्रम इस प्रकार रखना होता है कि सामान्य क्रम में भंग होने पर भी अर्थ का बोध स्पष्ट रूप से हो सके।"**[3] यह दृष्टिकोण इस तथ्य का परिचायक है कि काव्य में छन्द-गति होने पर भी उसके गद्यवत् अन्वय में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस मन्तव्य की पृष्ठभूमि में उनका यह सिद्धान्त है कि काव्य में प्रसाद गुण को सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए। हम उनकी इस धारणा से पूर्णतः सहमत हैं—**"खींचातानी के भावों के निमित्त शब्दों तथा वाक्य-विन्यासों का प्रयोग भी खींच-तान ही कर करना पड़ता है, अतः भावों तथा शब्दों में बहुधा वैषम्य आ जाता है।"**[4]

२ अलंकार

"रत्नाकर" के काव्य में अलंकार विधान की व्यापकता लक्षित होती है, किन्तु उन्होंने अलंकार के स्वरूप विवेचन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। उनकी कृतियों का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप में यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे काव्य में अर्थालंकारों के स्वाभाविक निरूपण पर बल देते हैं। प्रत्यक्ष विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने अनुप्रास अलंकार से काव्य में प्रादुर्भूत होने वाली श्रवण सुखदता की ही चर्चा की है। यथा—**"कभी कभी अनुप्रास आदि की श्रवण-सुखदता से वर्णों की कटुता का परिहार हो जाता है। अनुप्रास कानों को बड़े सुखद होते हैं तथा उनका प्रभाव चित्तवृत्ति पर भी वैसा ही पड़ता है।"**[5] श्रवण सौख्य का मन के आनन्द से सहज सम्बन्ध है। अतः अनुप्रास की सुष्ठु योजना से सहृदय के चित्त का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए

---

१ देखिए "कविवर बिहारी", पृष्ठ ५३-५७
२ देखिए "कविवर बिहारी", पृष्ठ ५८-११३
३ कविवर बिहारी, पृष्ठ १२०
४ कविवर बिहारी, पृष्ठ १६४
५ कविवर बिहारी, पृष्ठ ११७

विश्वनाथ ने यह प्रतिपादित किया है—"रस का अनुगमन करने वाली प्रकृष्ट रचना को अनुप्रास कहते हैं—रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेन न्यासोऽनुप्रास ।"[1] स्पष्ट है कि अनुप्रास मण्डित काव्य में रस के अनुकूल वर्णों की योजना से सहृदयों को आनन्द-लाभ होता है।

३ छन्द

"रत्नाकर" ने काव्य की रमणीयता के लिए उसमें भाव प्रवाह के अतिरिक्त गतियुक्त छन्द-योजना को भी अपेक्षित माना है। इस विषय में उनका मन्तव्य है—"पद्यमय काव्य के निमित्त छन्दों का दिलष्ट तथा सुशृंखल होना परम वाञ्छनीय है। × × × × मेरी समझ में छन्दोबद्ध कविता के निमित्त छन्दों का सुशृंखल, सुडौल तथा नियम-संयुक्त एवं विषयानुकूल होना परम आवश्यक है।"[2] छन्द-योजना में प्रवाह, नियम निर्वाह और विषयानुकूलत्व की चर्चा कर उन्होंने इस दिशा में अपने मर्म ज्ञान का उपयुक्त परिचय दिया है। मुक्तक कविता की सफलता के लिए छन्द विधान की इसी रूपरेखा का परिग्रहण अपेक्षित है, किन्तु प्रबन्ध-रचना में इन गुणों के अतिरिक्त छन्द-परिवर्तन का भी आश्रय लिया जाना चाहिए। वे छन्द-वैचित्र्य को काव्य की रस-गति में सहायक मानते थे। "हम्मीर हठ' की भूमिका में उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का प्रतिपादन किया है—"छन्द भी कवि जी जहाँ तहाँ बदलते जाते हैं, जिससे दो कार्य साधन होते हैं। प्रथम तो यह कि पढ़ने वाला नए छन्दों के कारण उकताता नहीं और दूसरे यह कि बहुधा जहाँ जो उचित है वहाँ वह छन्द इस अदल-बदल में पड़ जाता है।"[3]

छन्द में रमणीयता लाने के लिए उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त लय की समष्टि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके मतानुसार छन्द-शास्त्र का विस्तार लय-तत्व पर ही आधृत है। उन्होंने "दोहा और सोरठा छन्द" शीर्षक लेख में लय के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"छन्दों की रचना में लै अर्थात् गति मुख्य वस्तु है और इसी लै अर्थात् गति की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न छन्द होते हैं।"[4] लयात्मकता अथवा संगीतमयता से काव्य में सहृदय को सम्मोहित कर लेने वाली सुकुमारता का सचार होता है। उन्होंने इसी मन्तव्य के निर्धारण के लिए यह लिखा है—"जिन लोगों का यह मत है कि छन्दों में स्वयं कोई रोचकता नहीं होती, उनके उत्तर में इतना ही निवेदन है कि लय की रोचकता की साक्षी संगीत से भली भांति मिलती है।"[5] लय की यही रोचकता काव्य-शिल्प में आनन्ददायी प्रभाव का सृजन करती है। काव्य से प्राप्य भावानन्द की भाँति निश्चय ही यह भी अनुपेक्षणीय है। उनकी धारणा है कि "छन्द की लय का जो एक अपना आनन्द है वह काव्यानन्द में मिल कर उसको अधिक बढ़ा देता है।"[6] अतः यह स्पष्ट है

१. हिन्दी साहित्य-दर्पण, १०१२, कारिका की टिप्पणी, पृष्ठ ६६७
२. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बारहवाँ अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २१ ३०
३. हम्मीर हठ (चन्द्रशेखर वाजपेयी), भूमिका, पृष्ठ ३ ४
४. साहित्य सुधानिधि, अक्तूबर १८९४, पृष्ठ १
५. कविवर बिहारी, पृष्ठ १०
६. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बारहवाँ अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ २१ ३०

कि कवि को काव्य मे गति की योजना के प्रति विशेष सजग रहना चाहिए। तथापि सिद्धान्त के अनुशीलन मात्र से कोई कवि काव्य में लय का समावेश करने में निष्णात नहीं हो सकता। छन्द में लय की सृष्टि सतत प्रयत्न-सापेक्ष है। कविगण अभ्यास से ही छन्द विशेष के अनुकूल गति योजना म कुशलता प्राप्त कर पाते है। उदाहरणस्वरूप "दोहा और सोरठा छन्द' शीर्षक लेख की य पक्तियाँ देखिए—

"गति एक विशेष प्रकार का वानी का बहाव है जो कि अनुभव ही से जाना जा सकता है पर उसके विषय में विशेष कुछ कहा सुना नहीं जा सकता। यह बात निस्सन्देह सूक्ष्म विचार करने पर स्थिर हो सकती है कि अमुक छन्द की गति अमुक प्रकार से ठीक रह सकती है।"[1]

छन्द-योजना के लिए अपेक्षित अन्य तत्वो म से 'रत्नाकर ने तुक योजना पर विचार किया है। वे भावोत्कर्ष मे बाधक तुक-निर्वहन के विरोधी थे, अत उनका प्रति पाद्य यही रहा है कि काव्य मे तुक को भावानुकूल रूप मे उपस्थित किया जाना चाहिए। उनके मतानुसार "कविता में अनुप्रास तथा वर्णमैत्री इत्यादि के लाने की जो निन्दा की जाती है वह इतने अश में तो अवश्य उचित है कि अनुप्रासादि के लालच में पड कर कभी-कभी कविगण भाव व्यजक उचित शब्दो को तिलाजलि दे बैठते हं, पर यदि कवि अपने भाव के अनुकूल शब्दों में अनुप्रास भी ला सके तो इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि अनुप्रासो तथा रसानुकूल शब्दों के प्रयोग से कविता में बडा ही प्रभाव उत्पन्न हो जाता है।"[2] तुक के महत्व का उल्लेख करने पर भी उन्होंने भावापकर्ष के लिए उत्तर दायी तुक-योजना का निषेध कर अपनी समन्वयशील चिन्तन धारा का उपयुक्त परिचय दिया है। तथापि वे नियमित तुक-विधान को काव्य की सुश्रृंखल शोभा मे सहायक मानते थे। इसलिए उन्होंने अपने युग मे अतुकान्त काव्य रचना के प्रवर्तन पर क्षुब्ध हो कर तुकान्त काव्य के समर्थन मे निम्नलिखित उद्गार प्रकट किए थे—

"जात खडी बोली पै कोऊ भयौ दिवानौ।
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानौ॥
अनुप्रास प्रतिबन्ध कठिन जिनकैं उर माहीं।
त्यागि पद्य प्रतिबन्धहू लिखत गद्य क्यों नाहीं?
अनुप्रास कबहूँ न सुकवि की सक्ति घटावै।
बरु सच पूछौ तौ नव सूझ हियै उपजावै।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे छन्द-शास्त्र के मर्मज्ञ कवि थे। छन्द के स्वरूप पर विचार करने के अतिरिक्त उन्होंने कतिपय छन्दो के लक्षणो पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस दृष्टि से "दोहा और सोरठा छन्द" शीर्षक लेख म इन छन्दो की

१ साहित्य सुधानिधि, अक्तूबर १८९४, पृष्ठ २
२ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दसवाँ अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ ३५
३ रत्नाकर, भाग १, समालोचनादर्श, पृष्ठ ५१

निर्भ्रम और विस्तृत समीक्षा द्रष्टव्य है।[1] "घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर" शीर्षक कृति में कवित्त छन्द के स्वरूप का व्यवस्थाबद्ध विवेचन हुआ है। इसी प्रकार "वर्ण सवैया छन्द" शीर्षक लेख में इस छन्द का प्रगल्भ विवेचन उपस्थित किया गया है।[2] इन छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने एक लेख में रोला छन्द पर अपने अधिकार का सुन्दर परिचय दिया है।[3] स्थानाभाव के कारण यहाँ इन छन्दों के विषय में उनके विचारों का अध्ययन सम्भव नहीं है, तथापि इन लेखों से प्रत्यक्ष रूप में यह निष्कर्ष अवश्य मिलता है कि छन्द शास्त्र में उनकी विशेष गति थी। उनके द्वारा इन छन्दों में रचित काव्य का अध्ययन करने पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि हो जाती है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

काव्यानुवाद

"रत्नाकर" ने अनुवाद के स्वरूप पर विचार नहीं किया है, तथापि उन्होंने अनुवाद के महत्व और साहित्य में उसके स्थान पर विचार करते हुए एक स्थान पर यह प्रतिपादित किया है कि "यह लोगों की भ्रांत धारणा है कि अनुवादों से साहित्य की पर्याप्त वृद्धि होती है। वस्तुतः बात यह है कि चाहे इस प्रकार से अपने साहित्य में क्षणिक प्रकाश आ जाय और अन्यान्य साहित्यों की सामग्री से परिपूर्ण हो कर अपना साहित्य भी परिपुष्ट दिखाई पड़ने लगे परन्तु इस प्रकार की परकीय संपत्ति से सम्पन्न होना लज्जास्पद ही है। प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के आचार व्यवहार, परम्परा-प्राप्त संस्कार, इतिहास मर्यादा आदि से ही अनुप्राणित रहता है। अतः दूसरे शरीर में प्रवेश करते ही साहित्य के ये प्राण पूर्व शरीर के साथ छूट जाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि साहित्य की वृद्धि में अनुवादों का कोई स्थान ही नहीं। आरम्भ में प्रायः अनुवादों की ही बाढ़ आती है। पर वह बाढ़ ऐसी संयत और अनुकूल होनी चाहिए जो आगे चल कर मौलिकता की प्रसविनी हो।"[4] द्विवेदीयुगीन कवियों द्वारा काव्यानुवाद के प्रति प्रदर्शित रुचि को ध्यान में रखने पर इस उक्ति के महत्व को सहज ही समझा जा सकता है। किसी भी देश के कवियों की रचना-शक्ति को प्रबुद्ध रखने के लिए यह उचित ही है कि उन्हें अन्य-देशीय रचनाओं के अनुवाद के प्रति आग्रही न होने दिया जाए। "रत्नाकर" ने अनुवाद के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की है, अपितु मौलिक रचना तथा अनूदित रचना के सामंजस्य को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्होंने अपने मन्तव्य को स्वस्थ रूप में ही व्यक्त किया है। वैसे उन्होंने अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि पोप की कविता "एस्से आन क्रिटिसिज्म" का

---

१. देखिए (अ) साहित्य सुधानिधि, अक्तूबर १८९४ का अंक
(आ) कविवर बिहारी, पृष्ठ १०२१
२. देखिए "सरस्वती" का मार्च १९०२ अथवा मार्च १९५८ का अंक
३. देखिए "नागरीप्रचारिणी पत्रिका", भाग ५, अंक ?
४. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बामवाँ अधिवेशन, सभापति का भाषण, पृष्ठ १८-१९

अनुवाद कर अप्रत्यक्ष रूप से यही प्रतिपादित किया है कि सत्कृतियों का अनुवाद साहित्य की समृद्धि मे योगदायक होता है।

सिद्धान्त-प्रयोग

आलोच्य कवि के सिद्धान्तो मे से काव्य हेतु और काव्यानुवाद के अतिरिक्त शेष सभी के रचनागत रूप का अध्ययन किया जा सकता है। उनकी काव्य-मान्यताओ के प्रयुक्त रूप पर 'काव्य का अन्तरग' और 'काव्य शिल्प' के शीर्षको के अनुसार विचार करना सुविधाजनक रहेगा।

१ काव्य का अन्तरग

"रत्नाकर" ने सिद्धान्त चर्चा के अन्तर्गत यह प्रतिपादित किया है कि कवि को काव्य मे भावना (रस) और अभिव्यजना (वक्रोक्ति) के रमणीय सहभाव द्वारा आनन्द और लोक-हित की सिद्धि के लिए विविध विषयो (लौकिक प्रेम, भक्ति, नीति तथा राष्ट्रीय सामाजिक तत्व) का मार्मिक आख्यान करना चाहिए। उनकी रचनाओ म इन तत्वो की खोज के लिए सर्वप्रथम उनके काव्यगत विषयो की समीक्षा उपयुक्त होगी। उन्होने सिद्धान्त और व्यवहार, दोनो की दृष्टि से अपने काव्य मे शृगार (लौकिक प्रेम) को मुख्य स्थान दिया है। रीतिकालीन कवियो की भाँति राधा-कृष्ण को आलम्बन के रूप मे ले कर उन्होने "हिंडोला", "शृगारलहरी", "उद्धव-शतक" और "प्रकीर्ण पद्यावली" मे लौकिक प्रणय-व्यापार का सयोग-वियोगात्मक चित्रण किया है। "हिंडोला" मे राधा-कृष्ण की शारीरिक छवि, वस्त्राभूपण-सज्जा और अनुराग चेष्टाओ (स्पर्श, क्रीड़ा, कटाक्ष, चुम्बन, उल्लास आदि) के उल्लेख[१] और "शृगारलहरी" तथा "प्रकीर्ण पद्यावली" (केवल स्फुट काव्य और दोहावली)[२] मे इनके अतिरिक्त मान, फाग, रति-क्रीड़ा, नख शिख सौन्दर्य और षट् ऋतुओ के उद्दीपनकारी प्रभाव के वर्णन द्वारा उन्होने सयोग शृगार को उसकी पूर्णता मे ग्रहण किया है। इसी प्रकार उन्होने "उद्धव शतक", "शृगार लहरी" और "प्रकीर्ण पद्यावली" (केवल स्फुट काव्याश) मे पूर्वानुरागजन्य विरह का सामान्य एव सीमित रूप से और प्रवासजन्य वियोग का विशेष और विस्तृत चित्रण किया है।

काव्य के अन्य वर्ण्यो मे से उन्होने उद्धव-शतक, गगालहरी, श्रीविष्णुलहरी, गगावतरण, कल-काशी, रत्नाष्टक (केवल श्रीशारदाष्टक, श्रीगणेशाष्टक, श्रीकृष्णाष्टक, गजेन्द्र मोक्षाष्टक) और प्रकीर्ण पद्यावली (श्रीराधा-विनय, श्रीराम-विनय, श्रीशिव-वन्दना, श्रीहनुमद् महिमा आदि) मे सगुण भक्ति का सरस प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने "हरिश्चन्द्र" और "प्रकीर्ण पद्यावली" (केवल "दीपक" और "शान्त रस" शीर्षक कविताएँ) मे सदुपदेश (नीति) को भी उपयुक्त स्थान दिया है। इसी प्रकार "वीराष्टक" (भीष्म प्रतिज्ञा, वीर अभिमन्यु, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महा-

१ देखिए "रत्नाकर", भाग १, हिंडोला, पृष्ठ ७-१५

२ देखिए "रत्नाकर", भाग २, पृष्ठ ११८-२३२

रानी लक्ष्मीबाई आदि कविताएँ) और "प्रकीर्ण पद्यावली" ("भारत" शीर्षक कविता) में राष्ट्रीय-सामाजिक दृष्टिकोण को अपना कर उन्होंने युग धर्म का भी उपयुक्त निर्वाह किया है। काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी विचारों का सफल निर्वाह उनकी काव्य प्रयोजन-सम्बन्धी स्थापनाओं की काव्यगत अभिव्यक्ति में भी सहायक रहा है। काव्य में आनन्द-ग्रहण भावक की मन रुचि पर अवलम्बित है और इस दृष्टि से विभिन्न रुचि के पाठक आलोच्य कवि की विविधतामयी रचनाओं से मनस्ताप का सहज लाभ कर सकते हैं। उनकी भक्तिमयी, नीति-सम्पन्न और समाज-राष्ट्रपरक रचनाएँ लोक-मंगल की सिद्धि में भी सहज सहायक रही हैं। अन्तत उनके काव्य में रस और अभिव्यंजना की स्थिति पर भी विचार करना आवश्यक है। उन्होंने अपनी कृतियों में शृंगार, वीर और करुण रसों को मुख्य स्थान दिया है, तथापि उनकी कविताओं में अन्य रस (शान्त, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, हास्य और वात्सल्य) भी स्फुट रूप स समादृत रहे हैं। वर्तमान युग के ब्रजभाषा कवियों में अभिव्यंजना-क्षेत्र में तो उनकी सफलता सर्वोपरि ही रही है, "उद्धव-शतक' में गोपियों की वक्र उक्तियाँ इस सिद्धान्त की भी प्रमाण हैं कि रस और वक्रोक्ति का सान्निध्य काव्योत्कर्ष में बाधक न हो कर साधक होता है। अत यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य के अन्तर्वर्ती धर्मों के विषय में अपनी मान्यताओं का अपनी कविताओं में भी उचित निर्वाह किया है।

२ काव्य-शिल्प

"रत्नाकर" ने काव्य में शिल्प-सौन्दर्य की योजना के लिए एक ओर कवि को सहज शुद्ध, पूर्वापरक्रमसमन्वित और गुण-सम्पन्न प्रसन्न पदावली (विशेषत प्रसाद और माधुर्य गुणों से विभूषित पद-रचना) के प्रयोग का परामर्श दिया है, दूसरी ओर उसमें अनुप्रासालकार के श्रवण-सौख्य की कामना की है और तीसरे छन्दों में विषयानुकूलत्व लय-सौन्दर्य और अन्त्यानुप्रास को अपेक्षित माना है। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने बिहारी और घनानन्द की भाषा के स्वच्छ सौष्ठव से लाभ उठा कर अपने काव्य को ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल रखते हुए उसमें पद विन्यास-कौशल की ओर उचित ध्यान दिया है। यह विशेषता उनकी सभी रचनाओं में व्याप्त रही है, किन्तु इसका पूर्ण परिपाक "उद्धव-शतक" की सुगठित पदावली में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रसाद गुण का सहज निर्वाह करते हुए "वीराष्टक" में ओज गुण और अन्य कृतियों में माधुर्य गुण का भी सहज सुन्दर प्रयोग किया है। उसकी रचनाओं में अनुप्रास की सहज स्थिति रही है और ब्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरिमा के अनुकूल ये अनुप्रास श्रुति-सुखद भी रहे हैं, किन्तु उन्होंने शाब्दिक छवि के लिए अर्थ-सौन्दर्य को शिथिल नहीं होने दिया है। छन्द रचना की दृष्टि से उन्होंने "उद्धव-शतक" और "शृंगारलहरी" में शृंगार रस के लिए कवित और सवैया का, "वीराष्टक" में वीर रस के लिए कवित्त का और "हिंडोला", "गंगावतरण", "हरिश्चन्द्र" आदि वर्णनात्मक प्रबन्ध रचनाओं के लिए रोला का चयन कर विषयानुरूप छन्द-योजना की ओर भी उचित

ध्यान दिया है। इसी प्रकार तुक विधान और लय प्रसार पर भी उनकी दृष्टि सतत केन्द्रित रही है और छन्द के इन दोनो तत्वो का सफल निर्वाह किया गया है। अत यह स्पष्ट है कि *उन्होने अपने काव्य मे भाव-दीप्ति की भाँति शिल्प सौन्दर्य के प्रतिष्ठान मे भी वाछित सफलता प्राप्त की है।*

विवेचन

खडी बोली के जागरण-काल मे उसके उन्नायको द्वारा काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प के क्षत्रो मे की गई नवीन स्थापनाओ और मध्यकालीन व्रजभाषा-काव्य की विभूतियो को समजित कर व्रजभाषा के रसिको के लिए काव्य पथ का प्रशस्तीकरण ही "रत्नाकर" जी की मूल सिद्धि है। *यद्यपि काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु और काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध म उनके विचारो का अनुशीलन करने पर निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि उन्होने प्राय पूर्वोपलब्ध साहित्यिक मान्यताओं का ही आख्यान किया है, तथापि काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प के अन्तर्गत उन्होने व्रजभाषा मे प्राण-प्रतिष्ठा के लिए कवियो को युग-चेतना के प्रति सजग रहने का परामर्श दे कर अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का सुन्दर परिचय दिया है। वैसे भी उन्होने वक्रोक्ति का तिरस्कार करने वाले युग मे उसके महत्व की प्रतिष्ठा, छन्द में लय के गौरव की घोषणा और काव्यानुवाद की बाढ से साहित्य की अवमानना की चर्चा कर अपने चिन्तन की मौलिकता और तत्वज्ञता को ही स्पष्ट किया है।* अत यह स्पष्ट है कि प्रकृति और कर्म से कवि होने पर भी "रत्नाकर" जी ने काव्य *के रचना सिद्धान्तो की सफल निर्धारणा की है और अपनी कृतियों मे उनका निर्दोष निर्वाह किया है।*

❀

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी का काव्य-रचना-काल द्विवेदी युग से अब तक परिव्याप्त है, किन्तु उनके काव्य-सिद्धान्तों पर मुख्यतः द्विवेदी युग की काव्य प्रवृत्तियों का ही प्रभाव रहा है। उनके काव्य-सम्बन्धी विचारों के विवेचन से पूर्व यह उल्लेखनीय है कि वे काव्य-शास्त्र चिन्तन को कवि का धर्म नहीं मानते। उनकी धारणा है कि "कविता के अंगों का वर्णन करना मम्मट का काम है, कालिदास का नहीं। विश्वनाथ उन बातों की आलोचना करें, भव-भूति को इससे क्या ? यदि कालिदास और भवभूति मम्मट और विश्वनाथ का काम करें तो बताइये, फिर रघुवंश, कुमारसम्भव, शकुन्तला और उत्तररामचरित आदि कहां से आवें ?"[1] तथापि उनकी कतिपय काव्य रचनाओं (पद्य प्रबन्ध, मंगलघट, स्वदेश-संगीत, भारत भारती, साकेत, यशोधरा), 'गुरुकुल', "वीरांगना", 'हिन्दू', 'मेघनाद-वध' और "जयभारत' शीर्षक काव्यों की भूमिकाओं एवं सरस्वती, इन्दु, माधुरी, प्रभा, विशालभारत आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों, कविताओं, पत्रों, भेंट विवरणों आदि का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी स्फुट चिन्तन में उनकी पर्याप्त रुचि रही है। लगभग पांच दशकों की काव्य-प्रवृत्तियों के आलोक में उप-स्थित किए जाने के कारण उनके विचारों का महत्व भी असन्दिग्ध है। उन्होंने काव्य-कला का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्यगत रस, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्या-लोचन के स्वरूप पर विचार किया है।

काव्य-कला का स्वरूप

गुप्त जी ने काव्य के लक्षण का स्वतन्त्र निर्धारण नहीं किया है, तथापि यशोधरा की उक्ति, "रुदन का हँसना ही तो गान"[2] के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वे कविता को कवि के द्रवीभूत हृदय की उल्लासमयी अभिव्यक्ति मानते हैं। इसी प्रकार उर्मिला की निम्नांकित उक्ति के आधार पर भी इस मत को निष्कपित किया जा सकता है—

> "मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है, कुछ गाऊँ।
> उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ॥"[3]

---

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ५०

२ यशोधरा, पृष्ठ ९८

३ साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ २३६

इससे यह स्पष्ट है कि वे काव्य में भावावेग की स्थिति को उसका अनिवार्य लक्षण मानते हैं। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि "क्रौंच-युगल के वियोग से आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में आविर्भूत शोक श्लोक अर्थात् काव्य के रूप में प्रकट हुआ—क्रौंच-द्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागत।"[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुप्त जी ने केवल भावना को पर्याप्त न मान कर उसे संगीत से अनुप्राणित करने में कवि-कर्म की सार्थकता मानी है। यथा—

"केवल भावमयी कला, ध्वनिमय है संगीत।
भाव और ध्वनिमय उभय, जय कवित्व नय नीत॥"[2]

गुप्त जी ने "द्वापर", "झंकार", "साकेत", "यशोधरा", "पंचवटी" आदि काव्य-कृतियों में अप्रत्यक्ष रूप से भी इसी मत का समर्थन किया है। काव्य के इस आदर्श की उपलब्धि के लिए "कुकवि कीर्तन" शीर्षक कविता में काव्य-रचना के नियमों से अनभिज्ञ कवियों पर कटाक्ष करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि काव्य में रस, प्रतिभा, अनुभव, कल्पना, काव्य-गुण एवं छन्द के निर्वाह की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए।[3] इन उपकरणों की प्राप्ति के लिए उन्होंने काव्य में सहानुभूति के समावेश पर विशेष बल दिया है। उनका मत है कि कवि द्वारा सहृदयतापूर्वक काव्य-रचना होने पर ही प्रमाता उसके अध्ययन से भाव की सामान्य भूमि का स्पर्श कर तादात्म्य-स्थिति प्राप्त कर पाता है। इस विषय में "हिन्दी कविता किस ढंग की हो" शीर्षक लेख का यह अंश द्रष्टव्य है—

"साथ-साथ अनुभव करने को सहानुभूति कहते हैं। कवि में इस गुण का होना अनिवार्य है। जब तक हम स्वयं किसी विषय का अनुभव न कर सकेंगे तब तक दूसरों को उसका अनुभव कैसे करा सकेंगे? जिस कविता में सहानुभूति के भाव न हों वह यथार्थ कविता नहीं। सहानुभूति ही ऐसी चीज़ है जो सबके मन को आकर्षित कर सकती है। उसकी उत्पत्ति सहृदयता से होती है।"[4]

यहाँ गुप्त जी ने द्विवेदी जी की भाँति काव्य के अध्ययन से सहृदयों के "साधारण" आनन्द की अनुभूति पर बल दिया है। डॉ० नगेन्द्र ने यहाँ उल्लिखित सहानुभूति-तत्व को ही साधारणीकरण का हेतु मान कर लिखा है—"साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग, भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है, मानवसुलभ सहानुभूति।"[5] कवि द्वारा जीवन के मधुर एवं चिन्तनमय क्षणों में प्रणीत कविता में इस

---

१. हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृष्ठ ४३
२. हिन्दू, भूमिका, पृष्ठ ३६
३. देखिए "पद्य प्रबन्ध", पृष्ठ ६४, छन्द ११-१२
४. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ५४
५. रीति-काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५२

प्रकार के प्रभाव का अनुभव स्वाभाविक है। इसके लिए कलाकार का जीवन का सर्वांगीण परिचय प्राप्त करना होता है--

'जो अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है।
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।'[1]

तात्पर्य यह है कि काव्य के अन्तर्गत वस्तु यथार्थ ग्राह्य नहीं होता अपितु आदर्श का परिग्रहण ही उसका मूल धर्म है। सामाजिक स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए कला एक ओर सौन्दर्य को प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त करती है और दूसरी ओर असुन्दर तत्वों के ह्रास का विधान करती है। गुप्त जी ने 'सुन्दर को सजीव करती है, सौरभ को निर्जीव कला'[2] कह कर प्रकारान्तर से यह स्पष्ट किया है कि काव्य में जीवन के लिए उपयोगी दिशा निर्देश अवश्य होना चाहिए। भारतीय मनीषियों ने कवि को नाद ब्रह्म की साधना का सन्देश दे कर काव्य के जिस उच्चतर प्रयोजन की स्थापना की है उसका स्वरूप भी यही है। इस विषय में कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर का मत भी इसी प्रकार है—"मनुष्य के लिए सत्य और सुन्दरता के सजीव लोक का निर्माण (ही) कला का कार्य है।"[3] गुप्त जी ने इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप कला को केवल कला विलास के उद्देश्य से उपस्थित करने की संकुचित मनोवृत्ति की निन्दा करते हुए उसे जीवन के लिए सहज उपादेय रखने पर बल दिया है। वस्तुतः जहाँ कला जीवन को सौन्दर्य से मण्डित करती है वहाँ जीवन भी कला के समक्ष नवीन प्रेरक प्रतिमान उपस्थित करता है। इस विषय में उर्मिला के प्रति लक्ष्मण की निम्नलिखित उक्ति द्रष्टव्य है—

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए,
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये॥"[4]

स्पष्ट है कि गुप्त जी ने कला के आन्तरिक गौरव पर यथोचित विचार किया है। इस प्रसंग में उन्होंने 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला'[5] कह कर प्रकारान्तर से अभिव्यक्ति कौशल को भी कलाकार का अनिवार्य धर्म माना है। अतः यह सिद्ध

---

१ साकेत प्रथम सर्ग पृष्ठ २७
२ साकेत, एकादश सर्ग पृष्ठ २७८
३ This building of man's true world — the living world of truth and beauty, — is the function of Art'

(Personality, Page 31)

४ साकेत, प्रथम सर्ग पृष्ठ २७
५ साकेत पंचम सर्ग, पृष्ठ १०७

है कि उनके काव्य-कला सम्बन्धी विचार गहन चिन्तन से प्रेरित रहे हैं और उनमें सन्तुलित विवेचन को उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य वह रचना है जिसमें सहृदय के भावों को संवेदित करने की क्षमता हो और जो भाव-गरिमा से संयुक्त होने के अतिरिक्त अभिव्यंजना-कौशल एवं लय से भी अनुप्राणित हो। इसके लिए अपेक्षित काव्य-दृष्टि वैमल्य की उपलब्धि के लिए गुप्त जी ने कवि को अनुभव और विचार के बल पर निरन्तर भाव संस्कार की प्रेरणा देते हुए लिखा है—"जिन्हें अपने लेखों में कभी कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती उनके मानसिक विकास की पहले ही इति श्री हो चुकी होती है। अन्यथा एक अवस्था तक मनुष्य की बुद्धि पोषण प्राप्त करती ही है, नए नए अनुभव और विचार आगे आते रहते हैं और अपनी सीमाओं में अनुशीलन भी वृद्धि पाता है। द्रष्टाओं की दूसरी बात है, परन्तु मेरे ऐसे साधारण जन के लिए यह स्वाभाविक ही है।"[1] उन्होंने कवि प्रेरणा के काव्यगत प्रतिपादन में भाव-परिवर्तन के जिन विविध स्तरों का उल्लेख किया है उन्हें पाश्चात्य काव्य शास्त्र में भी स्वीकृति प्राप्त रही है।[2] अतः सर्वांगीण दृष्टिपात करने पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कवि को यह सन्देश दिया है कि वह काव्य में भावना के लयबद्ध आख्यान के लिए निरन्तर साधना करे।

काव्य की आत्मा

गुप्त जी ने काव्य की आत्मा पर विचार करते हुए रस को काव्य का नित्य गुण कहा है। रस की दीप्तिमयी स्थिति से काव्य में जिस स्वाभाविकता का संचार होता है उससे प्रेरित हो कर ही वे यह कह सके हैं—"रस बिना कविता वृथा है, ठीक है यह बात।"[3] उन्होंने रस को काव्य-वस्तु का धर्म मानते हुए अलंकार को काव्य का अनित्य धर्म कह कर उसे काव्य का साध्य मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया है और इस प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय को मान्यता नहीं दी है। यथा—

"कविता से सप्रेम कहा मैंने, "वर मुझको,
दूंगा मैं उपहार अलंकारों के तुझको।"

---

१. जयभारत, निवेदन, पृष्ठ ३४

२ "A great deal of hard work is needed if the poet is to transform his original impulse into a finished poem × × × × × Perhaps no finished work has ever quite fulfilled the first glimpse that its author had of it, still potential in his mind, though excellences then unseen may have been achieved in the process of writing"
(Oxford Junior Encyclopaedia, Vol XII, Page 347)

३ स्वदेश-संगीत, पृष्ठ ३८

बोली तब वह कि "मैं चाहती हूँ कब इनको ?"[1]

गुप्त जी ने रस को महत्व देकर करुण और वीर रसों को काव्य के लिए आदर्श माना है। रस काव्य को विशिष्ट भाव-सौन्दर्य से सम्पन्न कर सहृदय को आनन्द देते हैं। इसीलिए उन्होंने करुण रस द्वारा काव्य के उपकार के विषय में लिखा है, "सींच करुणे, सरस रस साहित्य।"[2] इसी प्रकार उन्होंने वीररसात्मक कविताओं में निहित उत्साह-तत्व को भी मानव-भावनाओं के उत्कर्ष में सहायक मान कर कहा है—""मृत जाति को कवि ही जिलाते, रस-सुधा के योग से।"[3] यहाँ काव्य का रसास्वादन करने वाले व्यक्ति के जीवन में नव आलोक के प्रादुर्भाव की चर्चा कर प्रकारान्तर से रस को काव्य का मूल तत्व सिद्ध किया गया है। इससे स्पष्ट है कि रस की प्रतीति के अनन्तर हृदय से अज्ञान का आवरण हट जाता है और यही काव्य का लक्ष्य है।

काव्यगत रस

गुप्त जी ने काव्य में समावेश्य रसों में से शृंगार रस और करुण रस के स्वरूप पर विचार किया है। शृंगार रस के विषय में उन्होंने "प्रेमघन", महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'हरिऔध" प्रभृति कवियों की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि मादकता की ओर प्रवृत्त करने वाला शृंगार रस काव्य का दृष्ट नहीं होना चाहिए। शृंगार को रसराज के रूप में मान्यता न देकर उन्होंने काव्य में उसके उद्दाम रूप को स्थान देने का विरोध करते हुए इस प्रवृत्ति को मानव-मन में सत्व-गुण का विलोप करने वाली कहा है। इस मत को निम्नस्थ पंक्तियों में संकेत-विधि से इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"उद्देश कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया।"[4]

इस स्थान पर यह शंका हो सकती है कि क्या गुप्त जी ने काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस का सर्वथा बहिष्कार करने पर बल दिया है ? उनके काव्य में शृंगार रस की स्थिति को देखते हुए अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि उनका मन्तव्य ऐसा नहीं है। वस्तुतः उन्होंने शृंगार रस के अंगों में से नख शिख और नायिका-भेद का सर्वथा विरोध न कर केवल इन्हीं को काव्य का प्रयोजनीय मानने की निन्दा की है।[5] उन्होंने इस मत को सुनिश्चित रूप में ग्रहण करते हुए "कुकवि कीर्तन" शीर्षक कविता में भी काव्य में शृंगार-चित्रण के आधिक्य के प्रति प्रासंगिक रूप से असहमति प्रकट की है।[6] फिर भी अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के अनुरूप गुप्त जी ने काव्य में शृंगार रस को तुलसी के

---

१. मंगलघट, पृष्ठ २८७
२. साकेत, सप्तम सर्ग, पृष्ठ १२५
३. भारत भारती, पृष्ठ १७२
४. भारत भारती, पृष्ठ १२१
५. देखिए "सरस्वती", दिसम्बर १९१४, पृष्ठ ६७०
६. देखिए "पद्य प्रबन्ध" में उक्त कविता के छन्द ७ तथा १०

मर्यादाबद्ध शृंगार वर्णन के अनुरूप रख कर उसकी सात्विकता को उचित गौरव देने पर बल दिया है—

"इससे यह न समझना चाहिए कि वर्तमान समय में हमें शृंगार रस की कविता लिखनी ही न चाहिए अथवा उससे सर्वथा उदासीन हो जाना चाहिए। ऐसा नहीं। यथावसर हमें दाम्पत्य प्रेम के भाव भी प्रकट करना आवश्यक है। दुर्दिनों में भी यह भाव विलुप्त नहीं हो सकता। फिर कैसे कहा जा सकता है कि हमें इसका त्याग करना चाहिए? परन्तु इतना अवश्य कहा जाएगा कि इस विषय में हमारे वर्णन सुरुचि संगत होने चाहिएँ और उनकी एक सीमा रहनी चाहिए।"[1]

शृंगार रस के विषय में इस सन्तुलित विवेक का परिचय देने के अतिरिक्त गुप्त जी ने करुण रस के महत्व का भी संक्षिप्त उल्लेख किया है। उन्होंने इस रस को काव्य में ग्रहण करने पर बल देते हुए संकेतत: यह कहा है कि करुणा कवि विशेष की सिद्धि न होकर सभी कवियों के लिए काम्य है—

"करुणे, क्यों रोती है? "उत्तर"
में और अधिक तू रोई—
"मेरी विभूति है जो, उसको
"भव-भूति" क्यों कहे कोई?"[2]

करुण रस के स्थायी भाव शोक की सर्वव्यापकता को लक्षित करते हुए उसके महत्व का यह आख्यान स्वाभाविक ही है। गुप्त जी ने शृंगार रस की भाँति करुण रस को भी रसराज की संज्ञा नहीं दी है, किन्तु उसके शास्त्रीय पक्ष पर विचार करते समय उनका प्रतिपाद्य यह अवश्य रहा है कि काव्य में लौकिक शोक का उल्लेख भी सुख प्रदायक होता है। उदाहरणस्वरूप "कारुण्य भारती" शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"करुणा रस के रुदन से मिलता जितना मोद।
होता क्या हास्यादि से उतना कभी विनोद?"[3]

यहाँ यह स्पष्ट है कि कवि ने हास्यादि रसों की अपेक्षा करुण रस को अधिक आस्वादनीय मान कर आचार्य विश्वनाथ की भाँति यही माना है कि "करुणादि रसों से भी जो विशिष्ट आनन्द-लाभ होता है, उसमें केवल सहृदय की अनुभूति ही प्रमाण-रूप है—करुणादावपि रसे जायते यत्पर सुखं, सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम्।"[4]

काव्य-हेतु

आलोच्य कवि ने काव्य रचना के साधनों का प्रकीर्ण रूप में उल्लेख किया है,

१. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ५५
२. साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १६४
३. पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ५
४. हिन्दी साहित्य-दर्पण, ३।४, पृष्ठ ११३

तथापि उनकी धारणाएँ अत्यन्त समृद्ध हैं। उन्होंने प्रतिभा, काव्य विषय की सप्राणता, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य के प्रेरक तत्व कहकर कवि की आन्तरिक प्रेरणा को काव्य का मूल कारण माना है। काव्य प्रेरणा प्राय कवि की वंशानुगत विभूति होती है। इस विषय मे उनकी धारणा को काका कालेलकर न "भारत-भारती के गायक से भेंट" शीर्षक लेख मे इस प्रकार उद्धृत किया है—

"कविता भी एक मादक वस्तु है। शुरू शुरू में मैंने सहज विनोदवश या कौतूहल की दृष्टि से ही कविता-लेखन प्रारम्भ किया था, लेकिन मुझे उसने अपने अधीन कर लिया। मेरे पिताजी अपने इष्टदेव को लक्ष्य कर स्तुति-स्तोत्ररूप कविता बनाया करते थे। मुझे भी उन्हीं की तरह स्तुति या गुण-गान करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वही इच्छा प्रेरणा में परिवर्तित हो गई और उसकी परिणति हुई आत्म निवेदन—आत्म समर्पण में।"[3]

गुप्त जी न अपन आस्तिक हृदय के अनुकूल इस प्रारम्भिक काव्य प्रवृत्ति को भी भगवत्कृपा स प्राप्य कहा है, "प्रतिभा तो प्रभु की देन है।"[4] इसीलिए उन्होंने अन्यत्र भी यह उल्लेख किया है—"मेरे शुष्क हृदय में भी भगवत्कृपा से, कविता प्रेम अकुरित हुआ था और मैं कविता के नाम से पद्य रचना करने के लिए दिन-रात उन्मत्तता की पहली अवस्था में व्यस्त रहा करता था।"[5] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य रचना की क्षमता प्राप्त करन के लिए कवि को निरन्तर पुण्य-साधना करनी होती है। उनके मतानुसार "कवि होना ईश्वराधीन है, ईश्वर सन्तत सुकृत-लीन है।"[6] ईश्वर-कृपा के अतिरिक्त उन्होंने अन्य देवी-देवताओं के अनुग्रह को भी प्रतिभादायक माना है। इस दृष्टि से उन्होंने एक ओर "अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे, इधर भी निज वरदपाणि पसार दे।"[1] कह कर "हरिऔध और 'रत्नाकर' की भाँति सरस्वती को काव्य-लाभ कराने वाली कहा है और दूसरी ओर देव-पद को प्राप्त कवि वाल्मीकि की कृपा से कवि-हृदय-स्फुरण को सम्भाव्य माना है—

"करुणा-कजारण्य रवे! गुण-रत्नाकर, आदि-कवे!
कविता-पित! कृपा वर दो, भाव राशि मुझमें भर दो।।"[6]

यह दृष्टिकोण काव्य-शास्त्र का चिर-परिचित सिद्धान्त है। वस्तुत भगवत्कृपा को काव्य-साधन मानने वाले कवि के हृदय मे विशिष्ट आत्म विश्वास की स्थिति रहती है। उसके बल पर वह अपने मन म दिव्य दृष्टि का अनुभव कर तन्मयतापूर्वक सरस काव्य की रचना करता है। गुप्त जी ने "सुकवि सकीर्तन" शीर्षक कविता म प्रासंगिक रूप से

---

१ विशाल भारत, जून १९३७, पृष्ठ ६४६
२ मधुकरशाह (मुशी अजमेरी), भूमिका, पृष्ठ २
३ पद्य-प्रबन्ध, निवेदन, पृष्ठ २
४ पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ ६१, छन्द ३१
५ साकेत, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ११
६ साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ७२

कवि-प्रेरणा के इसी महत्व को स्वीकृति दी है।[1] इसी प्रकार उन्होंने "सम्पादक और लेखक" शीर्षक व्यंग्य कविता[2] में काव्य-रचना को पत्र-सम्पादक के आग्रह-मात्र अथवा प्रलोभन-विशेष के वशीभूत न मान कर अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिभा के महत्व को ही घोषित किया है।

गुप्त जी ने प्रतिभा के अतिरिक्त काव्य विषय की सप्राणता को भी काव्य का कारण विशेष माना है। उन्होंने अम्बिकादत्त व्यास की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि कुछ विषय अपने आप में इतने व्यापक और समर्थ होते हैं कि उनमें कवि को अनायास ही काव्य-रचना की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसीलिए श्रेयस्कर विचार धारा की ओर उन्मुख कवि के मन में सद्भावनामयी काव्य पंक्तियाँ स्वतः उद्भावित हुआ करती हैं। उन्होंने इस प्रसंग में राम-कथा को काव्य-रचना की प्रेरणा प्रदान करने वाला समर्थ विषय मान कर वाल्मीकि द्वारा राम के प्रति यह उक्ति उपस्थित कराई है—

"राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।।"[3]

इस उक्ति से केवल कवि की आत्मीयता का निष्कर्ष प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः गुप्त जी का उद्देश्य कवि के मन में रचना के मूल वृत्त के प्रति अदम्य विश्वास की भावना को जाग्रत करना रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति "भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ"[4] के अनुरूप भक्ति को काव्य का प्रेरक तत्व कह कर काव्य रचना के लिए तल्लीनता को विशेषतः अपेक्षित माना है। काव्य-हेतु का यह प्रतिपादन सर्वथा सशक्त है और इसके माध्यम से उन्होंने कवि को यह सन्देश प्रदान किया है कि उसे काव्य के वर्ण्य विषय के उपयुक्त निर्वाचन को प्राथमिकता देनी चाहिए।

गुप्त जी ने व्युत्पत्ति अथवा निपुणता को भी काव्योद्भव में सहायक मान कर कवि को काव्य और काव्य-शास्त्र, दोनों के अध्ययन की प्रेरणा दी है। उन्होंने द्विवेदी जी की भाँति उपलब्ध काव्य-रचनाओं के सहृदयतापूर्ण अध्ययन से लाभान्वित होने को कवि-कौशल का अंग-विशेष माना है। यथा—

"प्राचीन कवियों को आदर्श रूप में ग्रहण करने से मौलिकता नष्ट नहीं होती, किन्तु उनका अन्ध अनुकरण करने में कृतित्व नहीं। उनकी कल्पना और उनके भाव का अपहरण करने में अपयश है, किन्तु जो पुराने को नया बना सकते हैं, इधर-उधर फैली हुई सामग्री एकत्र कर के उस में प्राण प्रतिष्ठा कर सकते हैं, सामान्य को ले कर असामान्य रचना कर सकते हैं, जो नवीन आशा, नूतन भाषा, नये उत्साह और अभिनव कौशल से जातीय जीवन में नव प्रवाह का संचार कर सकते हैं, उन्हीं को जगत् के महाकवियों में

१. देखिए "पद्य प्रबन्ध", पृष्ठ ५८, छन्द १६
२. प्रभा, मई १६२३ के अंक में प्रकाशित
३. साकेत, पंचम सर्ग, पृष्ठ ११३
४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ ४१

साथ अपनी प्रतिभा एवं मौलिकता का मुकुट धारण करने का अधिकार है।"[1]

पूर्ववर्ती काव्य सामग्री के अध्ययन के प्रति यह दृष्टिकोण दण्डी, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट आदि पौरस्त्य आचार्यों द्वारा समर्थित होने के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों को भी मान्य रहा है। बन जानसन ने शक्ति और अभ्यास के अतिरिक्त निपुणता के काव्य साधनत्व का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया है—"किसी अन्य कवि की सुन्दर भावनाओं का अनुकरण अथवा परिवर्तित रूप में परिग्रहण काव्य-रचना का (तृतीय) साधन है।"[2] हिन्दी के वर्तमान आलोचकों में प० कृष्णविहारी मिश्र ने भी इस मान्यता का समर्थन किया है।[3] संस्कृत के पूर्वोल्लिखित आचार्यों ने काव्य में सफलता प्राप्त करने के लिए कविता के अतिरिक्त शास्त्रावलोकन को भी कवि प्रतिभा का संस्कारक माना है। गुप्त जी ने "काव्य प्रभाकर" शीर्षक लेख में श्री जगन्नाथप्रसाद "भानु" की "काव्य प्रभाकर" नामक काव्य शास्त्र-सम्बन्धी रचना की समीक्षा करते हुए इसी मत के प्रतिपादनार्थ लिखा है—

"जो लोग कवि होने की योग्यता रखते हैं, आशा है, वे भानु जी की इस प्रेमभरी भेंट को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करके कृतकृत्य होंगे, और अपने को धन्य समझेंगे। × × × × × कवि और कविता-प्रेमी, दोनों के लिए यह ग्रन्थ लाभदायक है।"[4]

गुप्त जी ने कवि की रचना-शक्ति के विकास के लिए काव्य-शिक्षा से उपलब्ध काव्य-प्रवृत्ति को अभ्यास से पुष्ट करने पर भी बल दिया है। उन्होंने निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में अपने काव्य गुरु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रति अपनी श्रद्धा को जो वाणी दी है, उससे अप्रत्यक्ष रूप में काव्य शिक्षा के महत्व का ही बोध होता है—

"करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद ?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।।"[5]

इससे स्पष्ट है कि काव्य शिक्षा-सापेक्ष होने के कारण काव्य-रचना श्रम-साध्य है। गुप्त जी ने काव्य की इस प्रकृति को लक्षित कर कवि को रसात्मक काव्य की रचना का अभ्यास करने की प्रेरणा दी है और यह प्रतिपादित किया है कि प्रयासजनित होने पर भी काव्य अन्ततः सहृदय के लिए अलौकिक आनन्द का प्रदाता होता है। यथा—

"विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा !

---

१. मेघनाद वध, मनामन, पृष्ठ १४४

२ "The third requisite in our Poet, or Maker, is Imitation, to bee able to convert the substance, or Riches of another Poet, to his owne use "

(Ben Jonson, Vol VIII, Page 638)

३ देखिए "देव और बिहारी", पृष्ठ ८६-८७

४ सरस्वती, अप्रैल १६१०, पृष्ठ २२४

५ भारतेन्दु, निवेदन, पृष्ठ २

कठिन है कविते, तव भूमि ही,
पर यहाँ श्रम भी सुख सा रहा।।"[1]

यह दृष्टिकोण गोस्वामी तुलसीदास के "कवित बिबेक एक नहिं मोरे"[2] जैसे कथन का ही प्रतिरूप है और इससे गुप्त जी के विनय-भाव की सूचना मिलती है। उन्होंने यहाँ श्रम अथवा अभ्यास को कवि के लिए सर्वथा काम्य न होने पर भी त्याज्य नहीं कहा है। संस्कृत काव्य शास्त्र में भी काव्याभ्यास की सार्थकता की स्पष्ट स्वीकृति रही है। इस विषय में आचार्य दण्डी का मत है कि "नैसर्गिक प्रतिभा, स्वच्छ अध्ययन और श्रवण तथा काव्याभ्यास का निरन्तरत्व काव्य-सम्पदा की उपलब्धि के लिए साधन-रूप हैं—नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुत च बहुनिर्मल, अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पद।"[3] अत यह स्पष्ट है कि गुप्त जी ने काव्य शिक्षा से प्रेरित अभ्यास के काव्य-हेतुत्व का समर्थन कर पौरस्त्य काव्य-मान्यताओं का ही अवलम्बन लिया है।

यद्यपि गुप्त जी को काव्य रचना के विविध साधन मान्य रहे हैं, तथापि उनकी विचार-कोटि में प्रतिभा का विशेष महत्व है। उनके काव्य विषय की सार्थकता-सम्बन्धी विचार भी प्रकारान्तर से प्रतिभा के अन्तर्गत ही गण्य हैं, क्योंकि प्रेरणा अथवा प्रतिभा के अभाव में काव्य में वस्तु का सजाव निर्वाह सन्दिग्ध है। इसी प्रकार उन्होंने "काव्य प्रभाकर" शीर्षक लेख में निपुणता और अभ्यास को भी प्रतिभा के सहायक अंग माना है। यथा—

"मेरी राय में कविता विशेष कर शक्ति या प्रतिभा पर ही अवलम्बित रहती है। अभ्यास तो होता ही है, पर यदि प्रतिभा नहीं है तो कवि होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। और प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। वह उत्पाद्य भी होती है, पर असल असल ही है। असल और नकल में बड़ा भेद है। जो लोग प्रतिभावान होते हैं उन्हें अनायास ही निपुणता प्राप्त हो जाती है। वे थोड़े ही में बहुत कुछ कर दिखलाते हैं।"[4]

काव्य का प्रयोजन

गुप्त जी ने काव्य के प्रयोजन का व्यवस्थाबद्ध निरूपण नहीं किया है, तथापि द्विवेदी युग की प्रवृत्ति के अनुकूल उन्होंने काव्य से लोक मंगल की सिद्धि पर विशेष बल दिया है। उन्होंने काव्य को सामाजिक व्यवस्था में सहायक मान कर कवि को मानव-हृदय में सद्भावों का प्रसार करने वाले काव्य की रचना का सन्देश दिया है। "कुकवि कीर्तन" शीर्षक कविता में इस प्रयोजन की उपेक्षा करने वाले कवियों की निम्नलिखित शब्दों में भर्त्सना की गई है—

---

१ साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १६४
२. रामचरितमानस, बालकांड, पृष्ठ ४१
३ काव्यादर्श, १।१०३
४. सरस्वती, मई १६१२, पृष्ठ २६५

"है जिस कविता का काम लोक-हित करना,
सद्भावों से मन मनुज मात्र का भरना।
पहले तो कान्ता-सदृश हृदय को हरना,
फिर प्रकटित करना विमल ज्ञान का झरना।
हा! उसे आप व्यभिचार-प्रयोग बनाते॥"[1]

यहाँ जीवन के लिए उपयोगी सन्देश की अभिव्यक्ति को काव्य का मूल प्रयोजन मान कर आचार्य मम्मट की भाँति कान्ता-सम्मित उपदेश की स्थिति पर बल दिया गया है। गुप्त जी ने "ग्रन्थ-गुण-गान" शीर्षक कविता में भ. काव्य के उपकारी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके इसी प्रयोजन का संकेत-प्रणाली से समर्थन किया है।[2] यह काव्य का उच्चतर प्रयोजन है और इससे प्रेरित कविता का अध्ययन करने पर पाठक को उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति होती है। गुप्त जी के अनुसार "वही (काव्य) हमें विश्व के सौंदर्य-स्वर्ग का अनुभव करा सकता है, क्योंकि वह हमें लोकोत्तर आनन्द देता रहा है।"[3] विश्व का सौन्दर्य केवल प्रकृति से सम्बद्ध न हो कर मानव की सात्विक भाव भूमि से भी सम्पृक्त है, अत यहाँ काव्य से प्राप्य आनन्द में शिवत्व के प्रसार को सहज स्वाभाविक माना जा सकता है। वस्तुत गुप्त जी ने मनोरंजन को कविता का गौण अंग मान कर उसे जीवन-विकास में सहायक तत्व के रूप में ही देखना चाहा है। यथा—

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥"[4]

अत यह स्पष्ट है कि काव्य का ध्येय जनता को जीवनोपयोगी मूल्यों से अवगत कराना है अर्थात् उसके अध्ययन से अध्येता को अप्रत्यक्ष रूप में आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा मिलनी चाहिए। इसीलिए गुप्त जी ने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—"कवि का यही सबसे बड़ा महत्व है कि वह शिक्षा को सरस बना देता है। वह उपदेश देता है, पर परोक्ष भाव से। और इससे बढ़ कर उपदेश देने की कोई दूसरी रीति नहीं।"[5] लोक-हित को काव्य का विशिष्ट फल मानने के कारण उन्होंने काव्य से सामान्य आर्थिक प्रलोभनों की तुष्टि अथवा उनके माध्यम से सिद्धान्त-विशेष के प्रचार की प्रवृत्ति का विरोध किया है। इस विषय में "हिन्दी की वर्तमान दशा" शीर्षक कविता की निम्नोक्त पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

"बने जो यहाँ लोग साहित्य सेवी,
न तेरा जरा भी उन्हें ध्यान देवी!

---

१. पद्य-प्रबन्ध, पृष्ठ ६२
२. देखिए "पद्य प्रबन्ध", पृष्ठ ५२-५४
३. हिन्दू, भूमिका, पृष्ठ २१
४. भारत-भारती, पृष्ठ १७१
५. पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम, दूसरा भाग, पृष्ठ ५६

धन-प्राप्ति के ध्यान में मग्न कोई,
वृथा-वाद में हाय ! है लग्न कोई ।।"[1]

इस मन्तव्य के द्वारा भी गुप्त जी ने प्रकारान्तर से काव्य की लोकोपकारी वृत्ति का ही समर्थन किया है। अतः सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर यह कहा जा सकता है कि वे काव्य मे आन्तरिक गुणों के विकास पर बल देते हैं।

काव्य के तत्व

गुप्त जी ने काव्य-सर्जना के लिए मूलाधार रूप तीनों तत्वों—सत्य, शिव तथा सुन्दर—पर विचार करते हुए काव्य के भाव-पक्ष की समृद्धि के लिए उसमे इनके अन्त प्रसार की कामना की है। उन्होंने काव्य मे सत्य को सहज अनुस्यूत रखने पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कवि अनुभूति-समृद्ध होने पर ही सफल काव्य की रचना कर पाता है। उनके मतानुसार सत्य के अभिनिवेश से काव्यगत कवि अनुभव पाठक की सामान्य अनुभूतियों का रूप धारण कर लेते हैं और यह स्थिति ही कवि के महत्व की परिचायक है—"अनुभव करता है सब कोई, करा सके जो कवि है सोई।"[2] काव्य-वर्ण्य का यह मानसिक प्रत्यक्षीकरण ही कविता का प्राण है। इसके भावन के लिए कवि हृदय मे अभिप्रेत अनुभूति की चर्चा करते हुए उन्होंने डॉ० कन्हैयालाल सहल को एक पत्र में लिखा था—"यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक लेखक की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ उसकी रचना में भी झलक पड़ती हैं।"[3] केवल सत्य का प्रतिपादन काव्य मे इतिवृत्तात्मकता का जनक हो सकता है, अतः सत्य की आत्मा मे रम्य की प्रतिष्ठा के लिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि उसे कल्पना के आह्लादकारी रूप से सहज सम्पृक्त रखा जाए। इसी विशेषता के कारण कवि का भाव जगत् जीवन के कठोर सत्य का तदनुरूप भावन न कर उसमे स्वतन्त्र कल्पना के माध्यम से मौलिक आनन्द की सृष्टि करता है। गुप्त जी ने इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मुनि-सत्य सौरभ की कली—
कवि-कल्पना जिसमें खिली,
फूले फले साहित्य की वह वाटिका।।"[4]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि काव्य मे सत्य के ऋजु-सरल रूप के साहचर्य मे कल्पना की मनोहर अभिव्यक्ति कवि-भावना की श्री-वृद्धि मे सहायक होती है। इसीलिए पाश्चात्य आलोचक डॉ० जानसन ने लिखा है—"काव्य-कला में कल्पना के सहयोग से

१ पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ७४
२ पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ६१
३ साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव, पृष्ठ १६७
४ साकेत, पृष्ठ ८

तर्क-सम्मत सत्य को आनन्द से समन्वित किया जाता है।"[1] इस सम्बन्ध-स्थापन के लिए दो प्रणालियों को अपनाया जा सकता है—एक ओर कवि काव्य में कल्पना को प्रमुखता देकर उसमें सत्य को प्रकीर्ण रूप में समाविष्ट कर सकता है और दूसरी ओर वह काव्य-कल्पना को इस रूप में संयोजित करता है कि अन्ततः उसकी कल्पना ही सत्य में परिवर्तित हो जाती है। गुप्त जी ने कल्पना के इस द्वितीय रूप को ही वास्तविक कवि-कौशल माना है, "कल्पना भी सत्य हो, कृतित्व तभी अपना।"[2] स्पष्ट है कि काव्य की सर्वग्राहिता के लिए उसमें सत्य की स्थिति अनिवार्य है। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्यगत औचित्य का निरूपण करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि औचित्य रसात्मक काव्य के लिए प्राण-स्वरूप है—"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"[3] गुप्त जी ने काव्य में शक्ति के आधान के लिए सत्य की भाँति सात्त्विक भावनाओं के प्रसार पर भी बल दिया है। उन्होंने 'सुकवि-सकीर्तन' शीर्षक कविता में द्विवेदी जी की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि कवि अपनी दिव्य और लोकरञ्जनकारी भावनाओं से काव्य में हित-तत्त्व का समावेश कर सांसारिक व्यवहार का सम्मुन्नयन करता है। उदाहरणार्थ कवि के प्रति कथित यह उक्ति देखिए—

"दिव्य गान के तुम गायक हो,
कविता-कान्ता के नायक हो।
सुखपूर्वक शिक्षा-दायक हो,
रीति-नीति के उन्नायक हो॥"[4]

प्रस्तुत अवतरण से स्पष्ट है कि काव्यगत भावों में इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिए कि वे अध्येता के मनस्तल में व्याप्त हो सकें। काव्य की इस उपकारिका वृत्ति से सहृदय के भावों का जिस रूप में परिष्कार होता है वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। गुप्त जी ने 'तुलसीदास' शीर्षक कविता में भी काव्य में जीवनोपयोगी आदर्शों के कथन के महत्त्व को अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

"है हमारे अर्थ बन आदर्श ही आराध्य,
और साधन भी उसी का है हमारा साध्य।
जो हमारे सामने कर दे उसे प्रतिभात,
है वही तुम-सा हमारा विश्व-कवि विख्यात॥"[5]

गुप्त जी ने काव्य के अन्य तत्त्वों की तुलना में सौन्दर्य-तत्त्व को अधिक महत्त्व देते

---

१ "Poetry is the art of uniting pleasure with truth, by calling imagination to the help of reason."
(Lives of the English Poets, Vol. I, Page 117)

२ यशोधरा, पृष्ठ १३८

३ औचित्य विचार-चर्चा, छन्द-संख्या ५, काव्यमाला, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५

४ पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ५५

५ सरस्वती, नवम्बर १९१५, पृष्ठ २६५

हुए उसे कवि भावना के विकास में सर्वाधिक सहयोगी उपादान माना है। उन्होंने सौंदर्य में सत्य और शिव की अन्तर्व्याप्ति का इन शब्दों में स्पष्ट प्रतिपादन किया है—"वह लक्ष्य है "सुन्दर" और केवल "सुन्दर"। "सत्य" और "शिव" उसके पहले की बातें हैं। कवित्व के लिए अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, औरों के लिए हो तो हो। फूल में ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।"[1] काव्य शास्त्र के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण की सार्थकता सहज स्वीकार्य रही है। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"कवि की दृष्टि तो सौंदर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूपरंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में।"[2] यहाँ स्पष्टतः सत्य और शिव को सौंदर्य से अनुप्राणित माना गया है।

काव्य के भेद

गुप्त जी ने काव्य रचना के सभी रूपों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन नहीं किया है तथापि उन्होंने कविता और पद्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए महाकाव्य के स्वरूप का जिस रूप में कथन किया है, वह महत्वपूर्ण है। उन्होंने द्विवेदी जी की भांति यह प्रतिपादित किया है कि "कविता और पद्य दोनों में बड़ा अन्तर है। कविता मनोविकारों की सजीव प्रतिमा, अतएव लोकोत्तरानन्द की जननी है। और पद्य, छन्दोबद्ध वाक्य नियम विशेष पर तुला हुआ वर्ण समूह मात्र है।"[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ पद्य में शब्द-रचना, तुक आदि की नियमबद्धता पर बल दिया जाता है वहाँ कविता में सहृदय-संवेद्य रस की प्रबलता रहती है। परम्परागत रूप में उपस्थित किए जाने के कारण यहाँ इस मत की समीक्षा के लिए विशेष अवकाश नहीं है, तथापि यह कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण केवल भारतीय कवियों अथवा आचार्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु पाश्चात्य आलोचना-जगत् में भी इसे सहज स्वीकृति प्राप्त रही है।[4]

काव्य के अन्य भेदों में से गुप्त जी ने महाकाव्य का लक्षण निर्धारण तो नहीं किया, किन्तु उसके मूल तत्वों में से कथावस्तु की स्फुट रूप में चर्चा की है। यदि उन्होंने उसके अन्य तत्वों (रस, शैली, पात्र-योजना और उद्देश्य) का भी निर्देश कर दिया

---

१ हिन्दू, भूमिका, पृष्ठ १०११

२ रस मीमांसा, पृष्ठ ३३

३ पद्य प्रबन्ध, निवेदन, पृष्ठ १

४ इस सम्बन्ध में लार्ड मैकाले की निम्नलिखित उक्ति पठनीय है—

"By poetry we mean not *all writing in verse, nor even all good* writing in verse Our definition excludes many metrical compositions which on other grounds, deserve the highest praise By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination "

(Critical and Historical Essays Page 4)

होता तो उन्हीं के शब्दों में उसकी परिभाषा को निर्धारित करना भी कठिन न होता, किन्तु इसके अभाव में उनके द्वारा उल्लिखित तत्वों की समीक्षा में ही सन्तोष करना होगा। महाकाव्य एक कल्पान्तर स्थायी कथा-काव्य है, अतः गुप्त जी ने उसमें सदाश्रयत्व की स्थिति को महत्व दिया है। कवि-मानस में इस आदर्श की निर्धारणा स्पष्टतः युग-दर्शन और व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधृत है। कथानक में इस आदर्श की योजना के लिए ही भारतीय आचार्यों ने उसे लोक विश्रुत रखने पर बल दिया है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य ऐतिहासिक कथा अथवा किसी अन्य श्रेष्ठ कथानक के आधार पर रचित होना चाहिए—"इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।"[1] गुप्त जी ने महाकाव्य के कथानक में इस आदर्श की योजना के लिए कवि को वन-विहार-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि की अनिवार्यता से मुक्त कर युग-धर्म के अनुकूल नवीन विषयों का अभिधान करने पर बल दिया है। यथा—

"महाकाव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दबाव डालते हैं। जिस कथा में उनकी आवश्यकता न हो उसमें भी उन्हें लाने से अप्रासगिकता का डर है। पर उनके बिना महाकाव्यत्व नहीं रहता। वनविहार-वर्णन, जलकेलि-वर्णन, आखेटवर्णन, षड्ऋतुवर्णन, गिरिवर्णन और समुद्र आदि के वर्णन सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गए हैं। परन्तु इस विषय में हमें परतन्त्र होना उचित नहीं। समय और कथानक के अनुकूल बातों का वर्णन करना ही उचित है। इन बातों के बिना महाकाव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।"[2]

संस्कृत काव्य-शास्त्र में महाकाव्यकार के लिए उपलब्ध इन निर्देशों[3] को यथावत् मान्यता न दे कर कवि ने उचित ही किया है, क्योंकि वस्तु-संघटन में इनका महत्व गौण है। इन्हें आवश्यकतानुसार ग्रहण करने अथवा त्याग देने और समकालीन प्रभावों का तटस्थ अध्ययन करने से महाकाव्य का घटना विधान अधिक विवेक-सम्मत और प्रभावक्षम हो सकता है। वस्तुतः मानवात्मा के उदात्त आशयों और जगत् के समग्र रहस्यों को निरूपित करने वाली ऐसी बृहदाकार रचना में जहाँ कवि के समक्ष कुछ निश्चित नियमों की स्थिति लाभकर होती है वहाँ उनकी परिधि से मुक्त रह कर अपनी आन्तरिक सजगता के अनुकूल यत्र-तत्र शास्त्र में अकथित बातों का उल्लेख भी काव्य-पथ की मर्यादा का संवर्द्धन करता है। गुप्त जी से पूर्व आचार्य द्विवेदी ने महाकाव्य की इस आवश्यकता की ओर इंगित कर दिया था, किन्तु महाकाव्यकार होने के नाते गुप्त जी की अनुभव-प्रेरित उक्तियों का हमारे लिए अधिक महत्व है।

काव्य के वर्ण्य विषय

गुप्त जी ने काव्य-वर्ण्यों का विस्तृत विवेचन तो नहीं किया है, किन्तु इस दिशा

१ काव्यादर्श, १।१५

२ पंचम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, कार्यविवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ५७

३ देखिए "साहित्य-दर्पण", ६।३१५ ३२४

प्रकार कैकेयी के आत्म परिताप[1] और जयभारत के "द्यूत" प्रकरण मे द्रौपदी-दुकूल हरण[2] मे भी रूढिसम्मति के स्थान पर मानववाद की प्रतिष्ठा का सजग प्रयास हुआ है। वस्तु-सघटना मे युगधर्मानुसार इस प्रकार की अन्य नवीन उद्भावनाएँ करने के अतिरिक्त उन्होंने अपने महाकाव्यो मे मुख्य पात्रो (राम, भरत, सीता, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि) के चारित्रिक उत्कर्ष की ओर भी उपयुक्त ध्यान दिया है।

गुप्त जी ने काव्य-रूप के अतिरिक्त कला के सौन्दर्य-विधायक अन्य अगो के विवेचन मे भाषा के सुख-सारल्य (जिसमे सस्कृत शब्द यथावश्यकता परिगृहीत हो) और श्रुति-माधुर्य, अलकारो के स्वाभाविक सघटन और अतुकान्त काव्य के सृजन पर विशेष बल दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से उनकी रचनाओ मे सस्कृत शब्दो का प्रसगानुकूल प्रयोग होने पर भी पदावली की ऋजुता तो सर्वथा अतर्क्य ही है, "द्वापर", "झकार" और "पचवटी" मे मुख्यत तथा अन्य कृतियो मे प्रसगत माधुर्य गुण की भी मनोरम नियोजना हुई है। इसी प्रकार उन्होने काव्य को अलकार-जाल मे बन्दी न कर अर्थालकारो की भाँति अनुप्रासादि शब्दालकारो द्वारा भी भावना की कान्ति को ही सहज सवर्द्धमान रखा है। अतुकान्त काव्य-रचना के प्रति उनकी उदारता "मेघनाद-वध", "सिद्धराज", "विकट भट" और 'युद्ध" मे व्यवहार की दृष्टि से भी सफलतापूर्वक प्रतिफलित हुई है, किन्तु यह स्पष्ट है कि उन्होने अपनी रचनाओ मे प्राधान्येन तुक को ही स्थान दिया है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उनके काव्य मे भाषा, अलकार और छन्द की स्थिति सर्वथा शैथिल्य-मुक्त नही है, तथापि उन्होने उनका जिस सहज रूप मे प्रयोग किया है वह स्तुतियोग्य है।

३ स्फुट काव्य-सिद्धान्त (काव्यानुवाद)

गुप्त जी ने काव्य के अनुवाद को एकान्तत शब्दपरक न रख कर उसे भावाभिव्यजक रूप प्रदान करने पर बल दिया है। उन्होने माइकेल मधुसूदनदत्त की "व्रजागना", "वीरागना" और "मेघनाद-वध" शीर्षक बगला-कृतियो का "विरहिणी-व्रजागना", "वीरागना" और "मेघनाद-वध" के नाम से, बाबू नवीनचन्द्र सेन की बगला-रचना "पलाशीर युद्ध" का "पलासी का युद्ध" शीर्षक से और फारसी-कवि उमर खैयाम की रुबाइयो का "रुबाइयात उमर खय्याम" के रूप मे अनुवाद किया है। अपने दृष्टिकोण के अनुरूप उन्होने इन अनुवादो मे प्राय मूल रचनाओ के भावो और अभिव्यजना प्रकारो को तदनुरूप ही ग्रहण किया है, तथापि "मेघनाद-वध" मे अपने आस्तिक हृदय के आग्रहवश और अन्य कृतियो मे अभिव्यजना सौन्दर्य की दीप्ति के लिए उन्होंने यत्र-तत्र सक्षेपण, परिवर्तन और परिवर्द्धन की प्रवृत्तियो को अपनाया अवश्य है। हम इस विषय मे डॉ० उमाकान्त गोयल के इस निष्कर्ष मे सहमत है—

"आनुगुणत्व उन सबकी विशेषता है। मूलभूत भाव और विचार ही नहीं शब्द-

१. देखिए "साकेत", अष्टम सर्ग पृष्ठ १८८-१८५

२. देखिए "जयभारत", पृष्ठ १३८-१४०

प्रतीक तक अन्तरित है। × × × × × कुछ स्थलों पर अभिव्यंजना-प्रणाली में थोड़ा अन्तर भी मिल जाएगा। अधिकांशतः ऐसे स्थलों पर आप देखेंगे कि मूल की किसी त्रुटि का परिहार हुआ है अथवा उक्ति में विशेष दीप्ति एवं चारुता आ गई है।"[1]

विवेचन

मैथिलीशरण जी के काव्य-विचारों में व्यापकता (द्विवेदी युग में काव्य के सभी अंगों का निरूपण करने वाले वे अकेले कवि हैं) और प्रबलता की सहज स्थिति रही है। यद्यपि उन्होंने अधिकांश काव्यांगों को अपने युग की सामान्य स्वीकृतियों के अनुकूल ही प्रस्तुत किया है, तथापि काव्य-कला का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन और काव्य-शिल्प के विदग्ध विवेचन और महाकाव्य के स्वरूप के प्रथम सजग समीक्षण द्वारा उन्होंने सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए अपेक्षित प्रतिभा और व्युत्पत्ति का यथेष्ट परिचय दिया है। उनके विचारों पर मुख्यतः महावीरप्रसाद द्विवेदी का और सामान्यतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अम्बिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक और "रत्नाकर" की मान्यताओं का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। तथापि उन्होंने अपनी सजग-सशक्त चिन्ता-धारा के अनुकूल काव्य के अन्तरंग और बहिरंग के विवेचन में इन प्रभावों को तटस्थ रह कर ही ग्रहण किया है। पूर्वोपलब्ध साहित्यिक मान्यताओं में सार-संचय की प्रवृत्ति उनके पूर्ववर्ती कवियों में भी रही है, किन्तु इस दिशा में किसी भी कवि की सफलता का मूल्यांकन मौलिकता की अपेक्षा प्रतिपादन की सबलता के आधार पर ही होना चाहिए। मैथिलीशरण जी के सिद्धान्तों में युगानुकूलता तथा औचित्य-विवेक की प्रधानता रही है। इन्हीं गुणों के फल-स्वरूप उन्होंने द्विवेदी युग से अब तक के काव्य-विचारों से केवल स्वयं ही लाभ नहीं उठाया है, अपितु अन्य कवियों (विशेषतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य के प्रणेताओं) पर भी उनका प्रभाव रहा है।

: २ :

द्विवेदी युग के अन्य कवियों के काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी युग के काव्य-विकास मे पूर्वोल्लिखित कवियो के अतिरिक्त सर्वश्री बालमुकुन्द गुप्त, नाथूराम शकर, देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाडेय, सत्यनारायण कविरत्न और ठाकुर गोपालशरणसिंह ने भी भाग लिया है और सिद्धान्त-प्रतिपादन मे भी उनकी सामान्य रुचि रही है। इनमे से नाथूराम शकर, देवीप्रसाद "पूर्ण" और रामनरेश त्रिपाठी ने सिद्धान्त-चर्चा मे विशेष भाग लिया है, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाडेय और गोपालशरणसिंह ने इस ओर सामान्यत सन्तोषजनक रुचि रखी है और बालमुकुन्द गुप्त तथा सत्यनारायण कविरत्न ने इस दिशा मे नितान्त सीमित योग दिया है। तथापि द्विवेदी युग की काव्य-प्रवृत्तियों को निर्धारित करने मे इन कवियो की काव्य-मान्यताओ की उपेक्षा नही की जा सकती। इन्होंने मुख्यत काव्य का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य वर्ण्य और काव्य शिल्प का विवेचन किया है और सामान्यत काव्यात्मा, काव्य के तत्व, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन के विषय मे विचार व्यक्त किये हैं। आगे हम इनमे से प्रत्येक काव्यांग के विषय मे उनके विचारों का समन्वित रूप मे अध्ययन करेंगे।

काव्य का स्वरूप

प्रस्तुत प्रकरण मे विचारणीय कवियो मे से नाथूराम शकर, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाडेय और गोपालशरणसिंह ने ही काव्य के स्वरूप पर विचार किया है, शेष कवियो ने इस दिशा मे कोई महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष उक्ति उपस्थित नहीं की है। शंकर जी ने काव्य के आन्तरिक और बाह्य गुणो की व्यवस्थित चर्चा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ उसमे मर्मस्पर्शी भावो का रसान्वेष्टित उद्घाटन अपेक्षित है वहाँ उसमे अर्थ-कान्ति से सम्पन्न कोमल-कान्त प्रसादमयी पदावली का दोष-रहित, किन्तु अलङ्कृत रूप मे प्रयोग भी होना चाहिये। इस विषय मे उनकी निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "गद्य-पद्य तरु-पुज-कुज नवरस सवारे,
कोमल शब्द सदर्थ दिव्य भूषण दल धारे।"[1]

[1] शकर सर्वस्व, पृष्ठ ३६३

(आ) "सुन्दर शब्द प्रयोग मनोहर भाव रसीले,
दूषण हीन प्रशस्त पद्य भूषण भड़कीले।
प्रिय प्रसादता पाय मर्म महिमा दरसावे,
रसिकों पर आनन्द सुधा-सीकर बरसावे।
जिनके द्वारा इस भांति की परम शुद्ध कविता कढ़े,
उन कविराजों का लोक में सुयश सदा शंकर बढ़े।"[1]

उपर्युक्त अवतरणों में निर्दिष्ट काव्य-लक्षण को गद्य के अन्तर्गत यह पारिभाषित कर दिया जा सकता है—"काव्य वह रचना है जिसमें प्रसाद गुण-सम्पन्न तथा दोषरहित अलंकृत पदावली में रस से परिपूर्ण रमणीय अर्थ का भावन हो।" इस मन्तव्य में भारतीय आचार्यों द्वारा मान्य काव्य-लक्षणों (१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि[2], २. वाक्य रसात्मक काव्यम्[3], ३. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[4]) के अन्तर्भाव को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि इसमें मौलिक कथन की प्रवृत्ति नहीं है, तथापि काव्य के बाह्य और आन्तरिक रूपों के सामंजस्य पर बल देकर कवि ने प्राचीन काव्य-लक्षणों के सविवेक अध्ययन का जो परिचय दिया है वह सराहनीय है।

प० *रामनरेश त्रिपाठी* के मतानुसार, "स्वाभाविकता कविता का प्राण है।"[5] इसीलिए उन्होंने काव्य में भावना के सहज-मधुर प्रसार पर बल देते हुए नागरिक कवियों के प्रति व्यंग-रूप में यह प्रतिपादित किया है कि "सिद्ध कवियों की कविता का आनन्द वही उठा सकता है, जिसने छन्द, व्याकरण और अलंकार-शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन किया है—ऐसी कविता को हम स्वाभाविक कविता नहीं कह सकते।"[6] स्पष्टतः यहाँ कवि भावना को हृद्गत मान कर उसके बुद्धिगत कृत्रिम रूप के प्रति तिरस्कार व्यक्त किया गया है। उनकी निश्चित सम्मति है कि "कविता प्रकृति का गान है, वह मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकलती है।"[7] इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने स्वाभाविकता से आप्लावित ग्राम-गीतों को नागरिक कवियों की कविता से अधिक महत्व दिया है।[8] तथापि काव्य में भावना के महत्व का उल्लेख करते समय उन्होंने उसमें शिल्प-सौंदर्य के प्रतिष्ठान की अवहेलना नहीं की है। इस दिशा में उनका प्रतिपाद्य यही है कि "भाव भी उत्तम हों और भाषा भी विशुद्ध हो, तभी कविता का गौरव है।"[9] अतः यह स्पष्ट है कि

१. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ३६६
२ मम्मट, हिन्दी काव्य प्रकाश, पृष्ठ १०
३ विश्वनाथ, हिन्दी साहित्य-दर्पण, पृष्ठ २३
४ पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, पृष्ठ ६
५ कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ १०३
६. कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ७४
७ कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ६६
८. देखिए "कविता कौमुदी", भाग ३, पृष्ठ ८, ३७ तथा ६६
९ हिन्दी-पद्य-रचना, पृष्ठ २१

उन्होंने काव्य को जन साधारण की सम्पत्ति मानते हुए उसमें भावना के सहज-स्वाभाविक उच्छलन और भाषा की तदनुरूप समृद्धि को ही कवि का अभीष्ट माना है। ग्राम-गीतों की पृष्ठभूमि में नागरिक कवि की कविता के लिए आदर्श निर्धारण की दिशा में यह प्रथम पग है और विवेकसंगत होने के कारण इसके आख्याता अभिनन्दन के पात्र हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में प्राकृत भावों का उद्घाटन उसका गुण-विशेष है। इसके फलस्वरूप कवि रचना में जिस माधुर्य अथवा अलौकिक आनन्द-भाव का प्रसार होता है वह कवि और प्रमाता, दोनों के लिए समान रूप से काम्य है। इसीलिए श्री रामचरित उपाध्याय ने अर्थ, नारी और सांसारिक सौंदर्य को मानव की लौकिक उपलब्धियाँ कह कर काव्य से प्राप्य सुख को उनसे पृथक् रखा है। इस विषय में उनके ये काव्यावतरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) "मन ! रमा, रमणी, रमणीयता
मिल गई यदि ये विधि-योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा,
रसिकता सिकता-सम है उसे॥"[1]

(आ) "सिता-स्वाद से बढ़ कर, मधुर सुधा में मिठास होता है।
उससे कहीं अधिकतर, मिलता है स्वाद काव्यों में॥"[2]

द्विवेदी युग के अन्य कवियों में पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने काव्य के स्वरूप का विधिवत् निरूपण नहीं किया है, तथापि उन्होंने इस दिशा में नितान्त पूत भावनाओं को व्यक्त किया है। उन्होंने काव्य में सद्भावनाओं के चित्रण पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उसमें देश की प्राचीन समृद्धि और गरिमा का जातीय मनोवृत्ति के अनुकूल कथन होना चाहिए। इस विषय में उनकी "मातृभाषा हिन्दी" शीर्षक कविता की अग्रलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"है साहित्य प्रधान शक्ति मानव उन्नति की।
है यह दुर्लभ खान जाति के सुख सम्पति की॥
दर्पण है साहित्य देश के विद्या, बल का
रीति, नीति, विज्ञान, ज्ञान, कृषि, कल, कौशल का।
प्रबल मानसिक शक्ति-रूप साहित्य नित्य है।
जिससे होता दृष्ट पुरातन काल-कृत्य है॥"[3]

उपर्युक्त उद्धरण में काव्य में जातीय भावना की देशकालोचित अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यह दृष्टिकोण द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों (महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त आदि) को मान्य रहा है।

---

१ सरस्वती, मई १६१५, पृष्ठ २६६
२ सूक्ति मुक्तावली, "कविता" शीर्षक कविता, छन्द १
३ पद्य पुष्पांजलि, पृष्ठ ६०

पांडेय जी की भाँति *ठाकुर गोपालशरणसिंह* ने भी कवि द्वारा युग-धर्म के निर्वाह को काव्य का गुण-विशेष माना है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि "साहित्य युग का दर्पण है, उस पर समय की छाप लगे बिना नहीं रह सकती।"[1] इसी दृष्टिकोण के फल-स्वरूप उन्होंने तत्कालीन जन-जागरण के आलोक में काव्य में मानवतावादी भावनाओं की प्रतिपत्ति पर बल देते हुए निम्नलिखित पंक्तियों में काव्य की सत्वोद्रेककारिणी शक्ति का उल्लेख किया है—

"मानव का जीवन ही जग में,
मानवता का माप हुआ।
भव्य भावनाओं का आकर
बन कर काव्य-कलाप हुआ॥"[2]

यद्यपि ठाकुर साहब ने उपर्युक्त अवतरणों में काव्य के स्वरूप की सुस्पष्ट व्याख्या नहीं की है, तथापि इतना स्पष्ट है कि वे कविता को कवि-हृदय की मधुरिम अभिव्यक्ति मानते हैं। इसीलिए उन्होंने अपनी रचना-प्रणाली के विषय में कहा है—"जब जो भाव जिस प्रकार मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है, तब उसे उसी प्रकार मैंने व्यक्त किया है।"[3] प्रत्यक्ष उक्ति के अतिरिक्त उनकी कविताओं में उपलब्ध होने वाला मधुर भावोद्बोध भी अप्रत्यक्षतः इसी मत की स्थापना में सहायक है। इस प्रसंग में उन्होंने कवि को मनो-विज्ञान के आधार पर भाव-कथन करने का परामर्श देते हुए अन्यत्र यह प्रतिपादित किया है—"कवि का मुख्य कर्म हृदय का रहस्योद्घाटन करना है × × × × × अतएव उसमें मनोवैज्ञानिक विदग्धता अत्यन्त आवश्यक है।"[4] पारिभाषिक शब्दावली की नवीनता के कारण यह दृष्टिकोण ठाकुर साहब की मौलिक उद्भावना प्रतीत होता है, किन्तु संकेत-रूप में इसका प्रतिपादन इससे पूर्व द्विवेदी जी तथा गुप्त जी द्वारा किया जा चुका था। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने काव्य-स्वरूप-निर्धारण में प्रायः अपने समका-लीन कवियों का अनुसरण किया है।

काव्य की आत्मा

द्विवेदी युग के आलोच्य कवियों में से काव्य की आत्मा के विषय में केवल राम-नरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, सत्यनारायण कविरत्न और ठाकुर गोपालशरण-सिंह के मन्तव्य विचारणीय हैं। इनमें से भी इस काव्यांग का विवेचन मुख्यतः *त्रिपाठी जी* ने किया है। उनके मतानुसार रस काव्य का प्राण-तत्व है और अलंकार तथा वक्रोक्ति उसके सहायक अंग हैं। रस और अलंकार के काव्यगत रूप का विवेचन करते समय उन्होंने इसी धारणा को प्रतिपादित किया है—"जिस रचना के सुनने से हृदय में रस की

१ प्रेमांजलि, संकेत, पृष्ठ ३
२. सागरिका, पृष्ठ ११०
३. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ १
४ आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ १४

उत्पत्ति न हो, उस रचना को कविता कहना ही क्यों चाहिए ? रस स्वाभाविक है, अलंकार यदि रस का सहायक हो तो स्वाभाविक, नहीं तो अस्वाभाविक है।"[1] ग्राम गीतों की रस धारा को अलंकार-भार से आक्रान्त काव्य रचनाओं से अधिक महत्व देकर भी उन्होंने इस मत को इस प्रकार उपस्थित किया है—"रस स्वाभाविक है, अलंकार मनुष्य-निर्मित। रस मनुष्यमात्र के लिए है, अलंकार केवल उन थोड़े से लोगों के लिए, जो उससे परिचित हैं। इसी से ग्राम-गीतों की महिमा महाकवियों की वाणी से कहीं अधिक है।"[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि त्रिपाठी जी अलंकार-प्रधान काव्य को गौरव नहीं देते, तथापि काव्य में अलंकारों का एकांत निषेध भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसीलिए उन्होंने 'नए कवि के लिए' शीर्षक लेख में यमक श्लेषादि अलंकारों को कवि-कर्म के निष्पादन में सहायक मानते हुए कहा है—"अनेकार्थवाची शब्दों को कण्ठस्थ रखने से बड़ी सहायता मिलती है और उनके उचित प्रयोग से कविता में रोचकता बढ़ती है।"[3]

त्रिपाठी जी ने अलंकार के अतिरिक्त काव्य में उक्ति-चमत्कार के महत्व को स्वीकार कर वक्रोक्ति की प्रमुखता का भी समर्थन किया है। उनका मत है कि "कवि की कोई बात चमत्कार से खाली नहीं होनी चाहिए। चमत्कार या विलक्षणताहीन कविता में सुनने वाले को कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। कवि में चमत्कारोत्पादन शक्ति का अभाव कदापि न होना चाहिए।"[4] चमत्कार-योजना पर बल देकर भी उन्होंने अपनी दृष्टि को काव्य के अन्तरंग पर केन्द्रित रखा है। इसीलिए शब्द की अपेक्षा अर्थ की चमत्कृति को अधिक महत्व देते हुए उन्होंने कहा है—"काव्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों होने चाहिएँ, किन्तु अर्थ-चमत्कार प्रधान है, शब्द-चमत्कार गौण।"[5] काव्यात्मा का यह प्रतिपादन "रत्नाकर" जी की मान्यताओं से स्पष्ट साम्य रखता है। त्रिपाठी जी ने प्रायः उन्हीं के समान यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की आत्मा तो रस ही है, किन्तु अलंकार और उक्ति चमत्कार भी उसके अनिवार्य माध्यम हैं, आत्म-रूप न होने पर भी उनकी स्थिति बाह्य व्यक्तित्व के समान अवश्य है। इस विषय में उनकी यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"किसी ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है, किसी ने चमत्कार-युक्त उक्ति को काव्य माना है, किसी ने मनोहर अर्थ उत्पन्न करने वाले शब्दों को काव्य कहा है, और किसी ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहा है। यह तो ठीक है कि शब्द और अर्थ परस्पर अभिन्न हैं, इसलिए शब्द और अर्थ दोनों मिल कर ही काव्य कहलाता है। पर शब्द और अर्थ काव्य का शरीर मात्र है, काव्य की आत्मा तो रस है।"[6]

पं० रामचरित उपाध्याय ने काव्य में प्राण प्रतिष्ठा के लिए उसमें रस और अलं-

---

१ कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ १२७
२ कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ७६-७७
३ कवि-कौमुदी, श्रावण भाद्रपद, सवत् १६८१, पृष्ठ १६१
४ कवि-कौमुदी, श्रावण भाद्रपद, सवत् १६८१, पृष्ठ १६०
५. कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ २
६ कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १२

कार को समान महत्व देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनों धर्मों से सम्पन्न होने पर ही कविता सहृदयों को आनन्दमग्न कर पाती है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित काव्योक्तियाँ अवतरणीय हैं—

(अ) "रस,भूखन, दूखन, अमर जानहिं काव्य कबिन्द।
अरविन्दन मकरन्द ज्यों, बिन्दत एक मलिन्द॥"[1]

(आ) "स्तुति से, गुण से रस से, अलंकृता भी तथा अलंकृति से।
कविता हो या वनिता, दोनों सबको सुहाती हैं॥"[2]

यहाँ स्तुति" से कवि का अभिप्राय काव्य के समादरपूर्ण अध्ययन से है और "गुण" शब्द काव्य के आन्तरिक सौंदर्य का वाचक है। तथापि यहाँ यह विचारणीय है कि प्रकृत शोभा से सम्पन्न होने पर भी क्या काव्य और नारी के लिए अलंकार-सज्जा अनिवार्य है? वस्तुतः काव्य में रस की प्रतिष्ठा ही सत्काव्य का लक्षण है, उसमें अलंकार की अनिवार्यता मान्य नहीं है। काव्य के अध्ययन से भावक के अन्तःकरण में जिस आनन्द अथवा रस-दशा का उद्रेक होता है उसी की सिद्धि के लिए कवि सतत प्रयत्नशील रहता है। अतः उपाध्याय जी द्वारा प्रयुक्त "स्तुति", "गुण" एवं "रस" शब्दों की पारस्परिक सापेक्षता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे अलंकार की अपेक्षा रस को अधिक गौरव देना चाहते हैं, यद्यपि रस की सन्निधि में अलंकार-योजना भी उन्हें किंचित् काम्य रही है।

पं० *सत्यनारायण कविरत्न* ने काव्य की आत्मा का प्रत्यक्ष विवेचन नहीं किया है, किन्तु "ब्रजभाषा" शीर्षक कविता का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे रस को काव्य की आत्मा मानते थे। इस विषय में उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"सजन सरस घनश्याम अब, दीजै रस बरसाय।
जासों ब्रज-भाषा लता, हरी भरी लहराय॥"[3]

यहाँ सरसता को ब्रजभाषा का प्राण-तत्व कह कर कवि ने फलित-रूप में रस को काव्य की आत्मा माना है। इससे यह स्पष्ट है कि रस काव्य शिल्प का उपकारक है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि यद्यपि कर्म से रस का उत्पादक कवि ही है, तथापि उसका प्रेरक ईश्वर है और ईश्वरीय प्रेरणा से सर्जित वस्तु के सभी अंगों को पुष्ट होना ही चाहिए।

द्विवेदी युग की मूल प्रवृत्ति के अनुकूल *ठाकुर गोपालशरणसिंह* ने भी रस को काव्य की आत्मा माना है। उन्होंने काव्य की रसशीलता पर बल देते हुए अलंकार को रस के पोषक अंग के रूप में ग्रहण किया है। उनके विचारानुसार "काव्यत्व रसात्मकता में है। वह रचना जिसमें रस का परिपाक नहीं है, अलंकृत होने पर भी विशेष महत्व नहीं

---

१ ब्रज-सतसई, पृष्ठ ४८
२ सूक्ति मुक्तावली, "कविता" शीर्षक कविता से उद्धृत
३ इन्दु, मार्च १९१५, पृष्ठ २४८

रखती।"[1] उक्त प्रत्यक्ष मन्तव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने काव्य की मधुरता और भाव-सम्पन्नता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से भी इसी धारणा को बल दिया है।

काव्य-हेतु

प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय कवियों ने काव्य-हेतुओं के निर्धारण में विशेष रुचि ली है। *बालमुकुन्द गुप्त* ने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति कवि-प्रतिभा को प्रभु-प्रदत्त माना है। इसीलिए उन्होंने "कविता पर कविता' शीर्षक लेख में प० श्रीधर पाठक के विषय में यह लिखा है—"*जिनमें विधाता ने ऐसी अच्छी कविता शक्ति दी है, वह यों चुपचाप कोने में बैठे रहें, इसमें प० श्रीधर जी का दोष नहीं, इस देश के जलवायु का दोष है।*"[2] इस अवतरण में प्रकारान्तर से प्रतिभा के काव्य-कारणत्व का निष्पादन हुआ है, किन्तु बालमुकुन्द जी ने प्रतिभा की सफल गति में अभ्यास को भी उपयोगी माना है। उन्होंने इस धारणा को "भारतमित्र' के दिनांक २५ ९ १६०३ के अंक में सत्यनारायण कविरत्न की कविता के विषय में प्रकारान्तर से इस प्रकार व्यक्त किया था—"*यह एक बालक की कविता श्रीयुत प० श्रीधर पाठक की मारफत हमारे पास पहुँची है। बालक तबियतदार है, यदि अभ्यास करेगा तो भविष्य में अच्छी कविता कर सकेगा।*"[3] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य का मूल हेतु प्रतिभा है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिए माध्यम-रूप में अभ्यास का महत्व भी कम नहीं है। इन काव्य-कारणों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य में स्वाधीन चेतना की अभिव्यक्ति पर बल देते हुए देश की स्वतन्त्रता को भी काव्य का प्रेरक स्रोत माना है। देश की पराधीन अवस्था में कवि की बन्दिनी आत्मा उचित स्फुरण प्राप्त करने में असमर्थ रहती है और उसकी भावाभिव्यक्ति में सजीवता नहीं आ पाती। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"*भारत में अब कवि भी नहीं हैं कविता भी नहीं है। कारण यह कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश, देश था और यहाँ के लोग स्वाधीन थे, तब यहाँ कविता भी होती थी। × × × × × कविता के लिए अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहाँ?*"[4]

उपर्युक्त मन्तव्य का विश्लेषण करने पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ भी प्रतिभा को काव्य हेतु मान कर सम्भवत यह प्रतिपादित किया गया है कि पराधीन देश में कवि की प्रतिभा का ह्रास होता है। यह मत मनोविज्ञान की दृष्टि से कुछ अंशों में सत्य हो सकता है, किन्तु काव्य शास्त्र की परम्परा में प्रतिभा को अकुण्ठित रहने वाली कहा गया है। सत्य तो यह है कि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर सामान्य विषय को भी विशिष्ट

---

१. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म कथन, पृष्ठ ४

२ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १०३ १०४

३ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ २०१

४. स्फुट कविता, निवेदन, पृष्ठ १०

अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है। अत पराधीन होने पर वह इस दिशा में कुछ असमर्थता का अनुभव कैसे करेगा ? वस्तुत कवि-कौशल तो उसकी पुनर्निर्माण की शक्ति में निहित है। वह अपनी प्रतिभा के बल पर साधारण वस्तु को भी नवीन रूप में उपस्थित कर सकता है। इस विषय में संस्कृत-आचार्य भट्ट तौत के ग्रंथ 'काव्य-कौतुक' का निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

"प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुण कवि।
तस्य कर्म स्मृत काव्यम्॥"[1]

कविवर शंकर ने काव्य-हेतु के विषय में संक्षिप्त विचार प्रतिपादन किया है। पूर्ववर्ती कवियों की भांति उन्होंने भी ईश्वर की कृपा से प्राप्त प्रतिभा को काव्य रचना का मूल कारण मानते हुए ये उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(अ) "रहती है जो शारदा, कवि मंडल के साथ।
क्या शंकर के शीश पै, वह न धरेगी हाथ॥"[2]

(आ) "हे कविराज वेदमंत्रों के तू कविकुल का नेता है।
गद्य, पद्य, रचना की मेधा दिव्य दया कर देता है॥"[3]

(इ) "दिन फेर पिता, वर दे सविता।
कर दे कविता, कवि शंकर को॥"[4]

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि ईश्वर के अनुग्रह से कवि के हृदय में कविता-शक्ति स्वयमेव प्रवाहित हुआ करती है। शंकर जी को काव्य-शक्ति की उपलब्धि संस्कार-रूप में भगवत्प्रसाद से ही हुई थी। इस विषय में उनकी अद्भुत गति को लक्षित कर के ही साहित्याचार्य भीष्मप्रताप भास्कर शास्त्री ने "कवि-शिरोमणि शंकर" शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है—"सचमुच शंकर जी में कविता करने का संस्कार विशेष था। संस्कारी कवि ही इस प्रकार की हृदयाह्लादिनी, मनमोहिनी कविता-सुधा का आस्वादन कर जनता को करा सकता है, और नहीं।"[5] इसी प्रकार शंकर जी के समकालीन विद्युत विद्वान् प० काशीनाथ ने भी उनकी जन्मगत प्रतिभा को लक्षित कर के यह कहा था कि प० नाथूराम शंकर निश्चित रूप से सरस्वती हैं, क्योंकि मनुष्य में तो इस प्रकार के काव्य की रचना की सामर्थ्य ही नहीं है—

"नून "सरस्वती" नाथूराम शंकर पंडित,
अन्यथेदृश पद्यानि को निर्मिमीत मानवः।"[6]

---

१ काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृष्ठ ३ में उद्धृत
२. अनुराग-रत्न, भूमिकोद्भास, पृष्ठ १४
३ शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ४१
४. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ८७
५. सुधा, अक्तूबर १९३२, पृष्ठ ३५२
६. आजकल, फरवरी १९५७, पृष्ठ ५८ से उद्धृत

शंकर जी की भाँति कविवर देवीप्रसाद "पूर्ण" ने भी काव्य के उद्भावक तत्वों में से केवल प्रतिभा का ही संकेत किया है। उन्होंने काव्य-रचना के मूल में दैवी प्रेरणा अथवा सरस्वती की कृपा की अवस्थिति मान कर प्रकारान्तर से कवि-प्रतिभा का ही समर्थन किया है। उदाहरणार्थ "सरस्वती" शीर्षक कविता की अधोलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"ज्ञातन की प्रतिभा सुमति कविनायन को,
गायन की सिद्धि तेरे हायन बिकी सी है।"[1]

कवि के हृदय में इस दैवी प्रेरणा का स्फुरण अवसर-विशेष पर स्वतः हुआ करता है। "पूर्ण" जी ने इसकी चर्चा द्वारा कोई मौलिक स्थापना नहीं की है, तथापि यह निर्विवाद है कि पूर्व प्राप्त साहित्यिक परम्पराओं की स्वीकृति भी युग-विशेष के काव्य-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में सहायक होती है।

काव्य हेतु के विषय में पं० रामनरेश त्रिपाठी की धारणा भी परम्परा-प्रेरित रही है। कवि प्रतिभा के महत्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है—"पद्य के लिए प्रतिभा चाहिए। सब मनुष्य प्रतिभा-सम्पन्न नहीं, अतएव जिनमें प्रतिभा है, पद्य-रचना के अधिकारी वे ही हैं।"[2] इसी प्रकार उन्होंने "गीतों की रचना न किसी राजा-महाराजा की प्रेरणा से होती है और न किसी सम्पादक की प्रार्थना से"[3] कह कर अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रतिभा के महत्व की ही घोषणा की है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि त्रिपाठी जी ने आचार्य जयदेव की उक्ति "यदि कविता-रूपी लता के लिए प्रतिभा बीज-स्वरूप है तो व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके पल्लवन में कारण-विशेष हैं"[4] के अनुकूल अभ्यास, अध्ययन और काव्य-शिक्षा को प्रतिभा के उन्मेष में सहायक कारण माना है। "नए कवियों के लिए" शीर्षक लेख में उन्होंने इस मत को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"किसी-किसी में कविता-शक्ति स्वाभाविक होती है, ऐसे जन थोड़े ही अभ्यास से अच्छे कवि हो सकते हैं। जिनमें कवित्व शक्ति बीज-रूप से नहीं रहती उनके कवि बनने में बड़े परिश्रम की आवश्यकता होती है। × × × × × कुछ कविता-शक्ति प्राप्त हो जाने पर कवि को उचित है कि वह काव्य के और अंगों का ज्ञान प्राप्त करे, सत्कवियों की संगति करे।"[5]

पं० रामचरित उपाध्याय ने काव्य-कारणों का व्यवस्थित विवेचन नहीं किया है, तथापि उनकी कतिपय उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे प्रतिभा,

---

१. कविता कलाप (सम्पादक—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ १
२. कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४६
३ कविता-कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ७३
४ "प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्दमृम्बुसम्बद्धा बीजव्यक्तिर्लतामिव॥"
(चन्द्रालोक, १।६)
५ कवि-कौमुदी, श्रावण भाद्रपद १९८१, पृष्ठ १८६

अध्ययन और काव्य शिक्षा को काव्य-हेतु मानते हैं। "ब्रह्म मिलन हू ते कठिन, कविता-सकति दुराप"[1] में काव्य-रचना की शक्ति को दुष्प्राप्य (दुराप) कह कर और "प्रतिभा-प्रभा कवि को प्रभावित है किये जग-दृष्टि को"[2] जैसी उक्ति में प्रकारान्तर से प्रतिभा को काव्य का मूल कारण मान कर इसी दृष्टिकोण की स्थापना की गई है। पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उन्होंने भी प्रतिभा को जन्मना प्राप्य कह कर कवि की पिक से तुलना करते हुए प्रतिभा विहीन व्यक्ति को 'काक' की संज्ञा दी है और इस प्रकार उसे काव्य-रचना में अक्षम माना है। यथा—

"अट पट पद रच रच कर, कभी न कोई कवीन्द्र बनता है।
कांकां अधिक करे पर, काक कभी भी न पिक होगा॥"[3]

पिक की स्वरलहरी उसकी वंशानुगत उपलब्धि है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से जन्मजात प्रतिभा का ही स्तवन हुआ है और उसे कवि के हृद्गत भावों के आवेगपूर्ण प्रकटीकरण में सहायक माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि प्रतिभा सहजात होती है, प्रयास से प्राप्य नहीं।[4] प्रतिभाजनित कवित्व को सार्थक मानने पर भी उपाध्याय जी ने काव्य और काव्य-शास्त्र के अनुशीलन को कवित्व शक्ति के परिपाक में सहायक माना है। उनके मतानुसार काव्य के अध्ययन से कवि के विचारों में प्रौढ़ता आती है और वह अपनी काव्य दिशा को निश्चित कर सकता है। यथा—

"काव्य बिना जाने जो, कवि बनता है वही सही कपि है।
चाल नकल करने से, हंस बराबर न बक होगा॥"[5]

यह दृष्टिकोण संस्कृत काव्य-शास्त्र में सामान्यतः स्वीकृत रहा है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसकी सार्थकता असन्दिग्ध है। उपाध्याय जी ने इन काव्य-कारणों के अतिरिक्त काव्य शिक्षा को भी काव्य का प्रेरक तत्व मान कर गुरु के अभाव में काव्य-रचना की सफलता में सन्देह प्रकट किया है। इस विषय में उनकी मान्यता को कविवर वाल्मीकि के प्रति कथित निम्नलिखित उक्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष रीति से ज्ञात किया जा सकता है—

"रत्नाकर हैं आप, अन्य कवि क्षुद्र जलाशय।
कौन हुआ कवि! बिना लिए गुरवर का आशय॥"[6]

यद्यपि उपाध्याय जी ने कवि प्रतिभा को जन्मजात कह कर इस उक्ति से स्वयं साधारण अन्तर्विरोध रखा है, तथापि गुरु की प्रेरणा से नैसर्गिक प्रतिभा का उन्मेष होना

---

१. ब्रज-मनमट, पृष्ठ ५०
२. सरस्वती, फरवरी १९२४, पृष्ठ १८९
३. सूक्ति मुक्तावली, पृष्ठ ३
४. Poets are born, not made.
५. सूक्ति मुक्तावली, पृष्ठ ३
६. रामचरित चन्द्रिका, "वाल्मीकि" शीर्षक कविता, छन्द १३

स्वाभाविक ही है। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवि को प्रतिभा के "सहजा" और "उत्पाद्या" नामक दोनों रूप स्वीकार्य रहे हैं।

द्विवेदी युग के अवशिष्ट कवियों में प० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने काव्य-साधनों का अत्यन्त सामान्य विवेचन किया है। उन्होंने "हे मात कविते" शीर्षक कविता की निम्नोद्धृत पंक्तियों में अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की रचना के लिए प्रेरणा और प्रयास, दोनों की अपेक्षा होती है—

"निद्रा में निमग्न हो जाता
है यह सारा जग जिस काल।
मैं केवल जगता रहता हूँ,
करने को तब तव गुणगान॥"[1]

इन पंक्तियों में किसी मत का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है, तथापि यह निष्कर्षित करना असंगत न होगा कि रात्रि के समय कवि की कर्तृत्व शक्ति के प्रबुद्ध होने के मूल में एक हेतु तो कवि प्रेरणा है और दूसरा सम्भावित कारण काव्य शक्ति की स्वच्छता के लिए किया गया कवि का श्रम अथवा अभ्यास है। इसके अतिरिक्त यहाँ आचार्य वामन के मत के अनुकूल यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की निर्मल एकाग्रता के सम्पादन के लिए प्रातिभ कवि रात्रि के समय को (वामन ने इसके लिए रात्रि के चतुर्थ प्रहर का समर्थन किया है)[2] काव्य रचना के लिए उपयुक्त मानते हैं। यह एकाग्रता अन्तःस्फूर्त प्रेरणा के धनी कवियों के लिए तो वाञ्छनीय है ही, आभ्यासिक कवि भी इसकी साधना करते हैं। इसीलिए फारसी के किसी कवि ने कहा है कि काव्य में एक मनोरम शब्द की प्रतिष्ठा के लिए कवि उस रात्रि को जागृत रह कर दिन में बदल देता है, जिसमें पक्षी से ले कर मछली तक सभी प्राणी निद्रा में बेसुध रहते हैं—

"बराय पाकिये लफ्जे शबे बरोज आरन्द,
कि मुर्ग माहीओ बाशन्द खुफता ऊ बेदार।"[3]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पाण्डेय जी ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में मौलिकता का परिचय न दे कर काव्य-शास्त्र की परम्परा प्राप्त मान्यता का ही समर्थन किया है।

प० सत्यनारायण कविरत्न ने प्रतिभा को काव्य प्रेरक के रूप में ग्रहण करते हुए कवि के मन में स्थित स्वाभाविक संवेदनशीलता को उसकी दीप्ति में योग देने वाली शक्ति माना है। उनके मतानुसार कवि की सहृदयता से उसके मन में जिस संवेदन-क्षमता का प्रादुर्भाव होता है वह काव्य-प्रवृत्ति में विशेष सहायक होती है। यथा—"कवि का प्रधान गुण सहृदयता है। हृदय की शृंगार, वीर, करुणादि जो भिन्न भिन्न वृत्तियाँ हैं वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप से अनुभूत होनी चाहिएँ। उक्त भिन्न भिन्न वृत्तियों का विषय इन्द्रिय-गोचर होते ही कवि का मन क्षुब्ध हो जाता है और उस क्षुब्धता के आवेग

१ माधव-मंजरी, पृष्ठ १३
२ देखिए "हिन्दी-काव्यालंकार सूत्र", १।३।२०, पृष्ठ ५४
३. वैदेही-वनवास, वक्तव्य, पृष्ठ ६ में उद्धृत

में उसके मुख से जो बातें निकलती हैं वही यथार्थ कविता है।"[1] इस उद्धरण में स्पष्टत सवासनता को प्रतिभा का अंग माना गया है। इस मत के अतिरिक्त श्री लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज के "कविवर सत्यनारायण—एक अध्ययन" शीर्षक लेख में कविरत्न जी के छात्र-जीवन की इस प्रवृत्ति के उल्लेख से, **"इस समय तक सत्यनारायण जी का कविता करने का शौक इतना बढ़ चला था कि वे अपने समय का अधिकांश भाग काव्य सम्बन्धी पुस्तकों के ही पठन-पाठन में व्यतीत करते थे और खूब कविता लिखा करते थे,**[2] अप्रत्यक्ष रूप में यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे व्युत्पत्ति का भी उचित महत्व देते थे।

उपर्युक्त कवियों की भाँति *ठाकुर गोपालशरणसिंह* ने भी काव्य रचना के लिए प्रतिभा को मुख्य प्रेरक तत्व माना है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को सहायक काव्य-साधनों के रूप में परिगृहीत किया है। उन्होंने प्रतिभा को भावना और कला के सौंदर्यपरक मूल्यों से अनिवार्यत सम्बद्ध मान कर इस विषय में यह प्रतिपादित किया है—**"कवि अपनी प्रतिभा, सौन्दर्य-भावना और कलानुभूति के अनुसार कविता की सृष्टि करता है।"**[3] इस सौन्दर्य भावना की उपलब्धि में व्युत्पत्ति अथवा लोक-दर्शन मुख्य सहायक तत्व है। इसीलिए उन्होंने यह स्वीकार किया है कि **"कविता लिखने में अध्ययन की अपेक्षा जीवन से मुझे अधिक प्रेरणा मिली है।"**[4] इस प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि काव्य के अन्तरंग पर केन्द्रित रही है। वस्तुत काव्य-व्युत्पत्ति के अन्तर्गत उनकी महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि कवि प्रकृति-दर्शन से भी काव्य रचना की प्रेरणा प्राप्त करता है। यथा—

"फूली हुई कदम्ब लताएँ,
खिली मौलश्री की शाखाएँ,
करती थीं हिल कर क्रीड़ाएँ,
नाच रही थी उर में कविता,
गूंज रहा था झींगुर का स्वर,
मैं लेटा था निज शय्या पर।"[5]

इस दृष्टिकोण की सत्यता कवि जगत् में अनुभूति सिद्ध है, किन्तु आधुनिक हिन्दी-कवियों में इसके सर्वप्रथम प्रतिपादन का श्रेय ठाकुर गोपालशरणसिंह को ही है। इन काव्य-साधनों के अतिरिक्त उन्होंने कवि के सत्संग लाभ को भी काव्य रचना के लिए प्रेरक माना है। उत्कृष्ट काव्य के प्रणयन के लिए किसी काव्यज्ञ के परामर्श से रचना के अभ्यास को उपयोगी मान कर उन्होंने यह लिखा है—**"पूज्यस्मृति आचार्य महावीरप्रसाद**

१. उत्तररामचरित नाटक, भूमिका, पृष्ठ ६
२. माधुरी, जून १६४१, पृष्ठ ५७१
३. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ १५
४. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ ५
५. प्रेमांजलि, पृष्ठ १२६

द्विवेदी की मुझ पर विशेष कृपा थी। कविता लिखते रहने के लिए पत्र द्वारा वे मुझे बराबर प्रोत्साहित किया करते थे और समय समय पर काव्य सम्बन्धी उपदेश भी दिया करते थे।"[1] यह दृष्टिकोण काव्य जगत् में नवीन नहीं है। यद्यपि कवि अपनी असाधारण मानसिक शक्ति से ही काव्य की रचना करता है, तथापि इस विशिष्ट बुद्धि-बल की उपलब्धि में गुरु से प्राप्त मार्ग दर्शन का महत्व अतर्क्य है। ठाकुर साहब ने द्विवेदी जी के प्रति अपनी अमित श्रद्धा को अन्यत्र भी लगभग इसी रूप में प्रकट कर काव्य-शिक्षा की उपयोगिता को निश्चित स्वीकृति दी है। यथा—

"पुण्यस्मृति श्रद्धेय पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की मुझ पर सदैव कृपा रही है और कविता लिखने के लिए वे मुझे बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं। यदि उनका करावलम्बन न मिलता, तो मैं अधिक दिन तक कवि-कर्म में प्रवृत्त रह सकता था नहीं, इसमें सन्देह है। मेरे आरम्भिक कविता काल में तो वे मेरे पथ-प्रदर्शक ही थे।"[2]

काव्य का प्रयोजन

द्विवेदी युग में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के अतिरिक्त शेष सभी कवियों ने काव्य-प्रयोजनों पर विचार किया है। कविवर नाथूराम शंकर ने अपने युग के सामान्य काव्य-मत के अनुकूल लोक-हित की व्यवस्था को काव्य का मूल प्रयोजन माना है। काव्य द्वारा मानव-मन के परिष्कार तथा समाज के हित-साधन को आवश्यक मान कर उन्होंने "परोपकारी क्या है" शीर्षक कविता में अपने मत का यह सकेतात्मक प्रतिपादन किया है—"कुत्सित कथानकों के परिष्कर्ता चुका है, शंकर सरस्वती का वर है परोपकारी।"[3] इस उद्धरण में स्थूल मनोरंजन प्रदान करने वाले कुत्सित साहित्य की निन्दा की गई है। यह उचित भी है, क्योंकि केवल मनोरंजन के लिए लिखित काव्य कवि की संकीर्ण हृदयता का परिचायक है। उन्होंने इस मत को आर्य संस्कृति तथा वैदिक साहित्य से प्रभावित रह कर उपस्थित किया है। इसी कारण उन्होंने लोकहितपरक काव्य की रचना के लिए वैदिक दर्शन के अवलम्बन का परामर्श दिया है। उदाहरणार्थ "नैसर्गिक शिक्षा" शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए—

"सर्व शिरोपर वेदों के ये आशय अटल अनूप।
जानो भाव भरी कविता को निपट निदर्शन-रूप।।"[4]

शंकर जी की "प्रचण्ड प्रतिज्ञा", "भारतोदय", "मेरा मनोराज्य", "कर्मवीरता" आदि कविताओं का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कवि को लोकोपकारी विषयों की उपदेशात्मक चर्चा करने का परामर्श देते थे। यहां यह आपत्ति हो सकती है कि उन्होंने काव्य में जिस उपदेश-वृत्ति को स्थान देने का

१. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ २
२ मधिना, भूमिका से उद्धृत
३ शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ १०५
४ शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ५०

समर्थन किया है वह काव्य की अपेक्षा धर्म की अंगभूत प्रवृत्ति है। यह शंका उचित है, क्योंकि काव्य में उपदेश-कथन की व्यापकता का स्वागत नहीं किया जा सकता। शंकर जी ने भी सत्काव्य में कल्पना की स्थिति को महत्व दे कर सिद्धान्त-रूप से इस तथ्य को स्वीकार किया है। यथा—

"भव्य कल्पना-शक्ति से, प्रतिभा करे सहाय।
ब्रह्मानन्द सहोदरा, सत्कविता बन जाय॥"[1]

आनन्द की उपलब्धि तो धर्मोपदेशिनी कविता में भी हो सकती है, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है जब वह कल्पना की कान्ति से विभूषित रसमयी, किन्तु शिवत्व-सम्पन्न कविता से प्राप्त हो। इस प्रकार की कविता जनानुरंजन के अतिरिक्त कवि को भी आत्म-सुख का बोध कराती है। यद्यपि इस दिशा में कवियों की उपलब्धियों में सूक्ष्म अन्तर हो सकता है (जैसे सूर और तुलसी जैसे भक्त कवियों ने अपने काव्य में भक्ति की प्रमुखता के कारण आनन्द-लाभ किया और केशव ने काव्य-कला की ललित क्रीडाओं में ही आनन्द माना), किन्तु आत्म-सुख कवियों का प्राप्तव्य अवश्य है। उदाहरणार्थ "सरस्वती की महावीरता" शीर्षक कविता की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ देखिए—

"मान-दान माघ को महत्व दान मम्मट को
दान कालिदास को सुयश का दिला चुकी,
रामामृत तुलसी को, काव्य-सुधा केशव को
राधिकेश भक्तिरस सूर को पिला चुकी॥"[2]

यद्यपि यहाँ यश-प्राप्ति को भी काव्य का लक्ष्य माना गया है, तथापि शंकर जी की दृष्टि मूलतः काव्य के आन्तरिक मूल्यों (लोक-हित तथा सात्विक आनन्द का लाभ) पर केन्द्रित रही है। इसीलिए वे काव्य से अर्थ-लाभ को भी महत्व न देते थे। श्री मंगलदेव शर्मा ने "महाकवि शंकर जी के संस्मरण" शीर्षक लेख में "अनुराग-रत्न" को पं० पद्मसिंह शर्मा के स्थान पर अर्थ-मोहवश किसी देशी नरेश को समर्पित करने के प्रस्ताव पर शंकर जी की प्रतिक्रिया को उद्धृत कर हमारे इसी मत की पुष्टि की है—"यह कैसे हो सकता है कि धन के लोभ से मैं अपने हृदय की निधि किसी अपात्र को समर्पित कर दूँ?"[3] इसी प्रकार श्री रामस्वरूप शास्त्री के "महाकवि शंकर" शीर्षक लेख की इन पंक्तियों से भी इसी धारणा को बल मिलता है कि वे सम्पत्ति-लाभ को कवि का इष्ट नहीं मानते थे—

"शंकर जी ने अपनी कविता-कला को कभी अपनी आय का साधन नहीं बनाया। वे सब कुछ स्वान्तः सुखाय ही लिखते थे। कई महाराजों (हिज़ हाइनेसों) ने उन्हें बड़े बड़े प्रलोभन दे कर अपने प्रशंसात्मक चरित लिखाने चाहे, परन्तु उन्होंने साफ़ इन्कार

---

१ अनुराग-रत्न, भूमिकोद्भास, पृष्ठ १६
२. शंकर सर्वस्व, पृष्ठ ८३
३. विशाल भारत, अगस्त १९३३, पृष्ठ २१४

कर दिया।"[1]

शंकर जी की भाँति कविवर *देवीप्रसाद "पूर्ण"* ने भी काव्य से लोक हित-साधन और यश-लाभ का समर्थन किया है। उन्होंने प० लोचनप्रसाद पांडेय की कृति "नीति कविता" के लिए लिखित सम्मति में यही प्रतिपादित किया है कि काव्यगत नीतिमयी उक्तियों से भाव-ग्राहक को संकेत रूप में व्यावहारिक ज्ञान की उपलब्धि होती है—"ईश्वर किसी को काव्य करने की सामर्थ्य दे तो लोकोपकारी विषयों की रुचि भी दे जिससे उसका कवित्व सफल हो। मैं आशा करता हूँ आपकी पुस्तक नीति जगत् में आदर पावेगी।"[2] इस उक्ति में प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्य—"जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नहीं हो सकती, उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है"[3]—के पुनर्कथन को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। स्वभावत यहाँ भी यह आशंका प्रकट की जा सकती है कि क्या "पूर्ण" जी काव्य और आचार-शास्त्र में कोई अन्तर नहीं मानते ? उनकी कविताओं का अध्ययन करने पर यह शंका निर्मूल ठहरती है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपने युग की चिन्ता-धारा के अनुकूल वे लोकोपकार को काव्य का विशिष्ट फल मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य के उत्पादक को अपनी प्रतिभा और मनीषा के अनुरूप यशोपलब्धि अवश्य होनी चाहिए। "चन्द्रकला भानुकुमार नाटक" के भरत-वाक्य में "पावें पूरी प्रतिष्ठा कविवर जग के शुद्ध साहित्य ज्ञानी"[4] कह कर उन्होंने कवि-हृदय के लिए स्वाभाविक यश कामना को ही वाणी दी है।

पूर्वोल्लिखित दोनों कवियों की भाँति कविवर *रामनरेश त्रिपाठी* ने भी लोक-हित को काव्य का मूल प्रयोजन मानते हुए आनन्द और यश को उससे प्राप्य अन्य फल कहा है। "कविता क्यों की जानी चाहिए" शीर्षक लेख में "× × × × × हम ऐसे कवियों से सादर निवेदन करते हैं कि वे लोक-हित को लक्ष्य में रख कर कविता लिख सकें तो लिखें"[5] जैसी उक्ति द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि जो रचना मानव-मात्र के कल्याण में प्रवृत्ति रखती है, वही मान्य है। अनिंद्य काव्य की रचना के लिए इस गुण को आवश्यक मान कर उन्होंने "स्वप्नों के चित्र" शीर्षक कृति की भूमिका में लिखा है—

"सैकड़ों वर्षों से शृंगारी कविता ने हिन्दुओं में आलस्य, बेकारी, कायरता, कुरुचि और चरित्रहीनता का विष फैला रखा है। मैं उसको अब अधिक फैलने देने का विरोधी हूँ। पुराने शृंगारी कवियों ने जो कुछ कहा है, वह कला की दृष्टि से चाहे जैसा

---

१ आनन्द, फरवरी १९५७, पृष्ठ ५८
२ नीति कविता, पृष्ठ "ट"
३ सरस्वती, जुलाई १९०७, पृष्ठ २७७
४ सरस्वती अक्तूबर १९०३, पृष्ठ ३१७
५. कवि कौमुदी, कार्तिक मार्गशीर्ष १९८२, पृष्ठ ३५७

उत्कृष्ट हो, पर उपयोगिता की दृष्टि से वह समय के अनुकूल नहीं है × × × × × इसी बात की ओर हिन्दी के कवियों और रसिकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मैंने ये कहानियाँ और प्रहसन लिखे हैं।"[1]

यह दृष्टिकोण आचार्य द्विवेदी और "हरिऔध" से प्रभावित रह कर उपस्थित किया गया है। यहाँ कवि का प्रतिपाद्य यही रहा है कि काव्य के अनुशीलन से सहृदय को हित-लाभ होना चाहिए, किन्तु इसके लिए यह नितान्त अपेक्षित है कि कविता केवल अप्रत्यक्ष रूप से उपदेशवाहिनी हो। सत् मार्ग की ओर प्रवृत्ति रखने वाली ऐसी कविता की अलौकिक आनन्ददायिनी शक्ति को लक्षित कर के ही त्रिपाठी जी ने कहा है—"काव्य से आनन्द और उपदेश दोनों प्राप्त होते हैं। काव्य के रूप में नीति के वचन जितना आकर्षण उत्पन्न करते हैं, उतना तत्त्वज्ञान के रूप में नहीं।"[2] इस काव्य-फल के अतिरिक्त उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से यश को भी कवि का प्राप्य माना है, किन्तु वे उसे कवि के लिए साध्य बनाने की प्रवृत्ति के विरोधी हैं—"कविता के कितने ही मर्मज्ञ और सहृदय कवि गाँवों में अप्रकट रूप से निवास करते हैं। न वे समाज में प्रसिद्धि के लोलुप हैं, न समाज अभी अपने गुणियों को प्रसिद्ध करने का महत्व ही समझता है।"[3]

पण्डित रामचरित उपाध्याय ने काव्य प्रयोजनों का विशेष विवेचन न कर प्रसंगवश केवल यह प्रतिपादित किया है कि काव्य-रचना के मूल में अप्रत्यक्ष रूप से यश-प्राप्ति की लालसा विद्यमान रहती है। उन्होंने कवि के अतिरिक्त काव्य-रचना की शक्ति प्रदान करने वाले कवि-गुरु को भी यश का भागी कहा है। यथा—

(अ) "दो ही अमर हुए हैं, होंगे भी और हो रहे हैं भी।
जो कविता करते हैं, या कविता को कराते हैं॥"[4]

(आ) "नरता अमरता के सहित है प्राप्त कवि को निर्मला।
कवि-कीर्ति कविता है अमिट जब तक शशी की है कला॥"[5]

यहाँ यशोपलब्धि को काव्य की प्रेरक शक्ति कह कर पूर्ववर्तियों का अनुसरण किया गया है, तथापि काव्य शिक्षा के प्रदाता के लिए भी यश को काम्य मान कर स्पष्टतः मौलिक स्थापना की गई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी को कवि गुरु के रूप में जो ख्याति प्राप्त है वह इसकी प्रमाण है। उपाध्याय जी के कथन में कवि के प्राप्य यश का जो निश्चयात्मक उद्घाटन हुआ है वह भी विचारणीय है। वस्तुतः जिस काव्य में रस की अन्तःसलिला प्रवाहित रहती है उसके कर्ता को यश-प्राप्ति के लिए बाह्यतः चिन्तित रहने की आवश्यकता नहीं होती।

प० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने काव्य के प्रयोजनों पर ग्राहक और उत्पादक, दोनों

---

१. स्वप्नों के चित्र, अपनी कहानी, पृष्ठ १-२
२. कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १
३. मारवाड़ के मनोहर गान, पृष्ठ ५
४. सूक्ति मुक्तावली, पृष्ठ ३
५. सरस्वती, फरवरी १९-४, पृष्ठ १८८

को दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने काव्य से समाज-सस्कार की प्रेरणा प्रदान करने मे ही कवि का साफल्य मानकर जीवन की मर्यादाबद्ध व्याख्या को काव्य का आदर्श कहा है। इसीलिए उन्होने "माधव मजरी" के विषय मे यह लिखा है—"विचार कर देखोगे तो इस जीवन का चित्र तुम्हे इसमें मिलेगा और अवश्य मिलेगा। बस उसी चित्र को आदर्श रख कर अपने चरित्र को पवित्र करने में यत्नवान् होना।"[1] इस आदर्श की उपलब्धि के लिए यह अभिप्रेत है कि कवि अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतियो मे से जीवन के लिए उपयोगी तथ्यो का काव्य मे स्मृति के आधार पर भावन करे। काव्य मे आन्तरिक गरिमा के उद्भावन के लिए यह स्वभाविक ही है कि उसमे नैतिकता का अतिक्रमण न होने दिया जाए। उन्होने इस धारणा को अन्यत्र भी प्रतिपादित किया है—"इस प्रकार की छोटी-छोटी पद्य-पुस्तको की अतीव आवश्यकता है कि जिनके पढने से बालको के चरित्र का सुधार और उनके कलुषित मन का सस्कार हो जिससे समाज एव देश, दोनो का उपकार हो सके।"[2] इसी प्रकार उन्होने स्व सम्पादित "कविता कुसुम माला" शीर्षक कृति की अग्रेजी भूमिका मे भी काव्य-सौन्दर्य से मानव को नैतिक प्रेरणा की उपलब्धि की चर्चा की है। यथा—"कविता को साहित्य का प्राण और सौन्दर्य माना जा सकता है। वह मानव की नैतिक उन्नति में महत्वपूर्ण योग देती है। अत मनुष्य की भौतिक समृद्धि में सहायक विज्ञान से उसका महत्व कम नहीं है।"[3]

यहाँ काव्य और आचार-शास्त्र को गहन रूप मे सम्पृक्त माना गया है, किन्तु काव्य के रस भाव की चर्चा के अभाव मे इस दृष्टिकोण को यथातथ्य रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। व्यवहारत उनके काव्य में रस की एकान्त उपेक्षा नही हुई है, तथापि सिद्धान्त-प्रतिपादन के अन्तर्गत काव्य से प्राप्य सामाजिक हित के समत्व का उल्लेख भी होना चाहिए था। इस प्रयोजन के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-रचना से अभीप्द फलो मे अर्थार्जन पर विशेष बल दिया है। "हे मात कविते" शीर्षक कविता मे "दे सत्कविता धन की भिक्षा, कर माता तू मुझे निहाल"[4] कह कर इस इच्छा का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह सत्य है कि जगत् मे जीवन निर्वाह के लिए धन की उपेक्षा नही की जा सकती, तथापि काव्य की आदर्श-सम्पन्नता पर बल देने वाले कवि द्वारा अर्थ-लाभ जैसी बाह्य सिद्धि की उपर्युक्त याचना शोभन प्रतीत नही होती। यद्यपि उन्होंने सत्कविता से

---

१. "माधव मजरी" का समर्पणाश

२. न नि कविता, भूमिका, पृष्ठ "ग"

३. "Poetry, which may be called the very life and beauty of litera-ture and which plays an important part in improving the moral side of man, does not serve a less useful purpose than science which contributes to the material comforts of mankind."

(कविता कुसुम माला, भूमिका, पृष्ठ १)

४. माधव-मजरी, पृष्ठ १३

ही अर्थ-सिद्धि की कामना की है, तथापि यह स्पष्ट है कि इस दिशा में उनका आग्रह अत्यन्त प्रबल है। "राजा सज्जनसिंह और बाबू हरिश्चन्द्र" शीर्षक कविता में कवित्व का सम्मान करने वाले सहृदय नरेशों का स्तवन कर के भी अप्रत्यक्षत इसी मत का समर्थन किया गया है—

"सत्कवि जो इस मर्त्यधाम में हैं स्वर्गीय सुधा के स्रोत
जो इस काल रूप सागर में हैं विख्यात सुयश के पोत,
जिनके काव्यों पर निर्भर है पतित जातियों का उद्धार
उनके गुणग्राही नृपवर ही हैं इस वसुधा के शृंगार।।"[1]

उपर्युक्त काव्यांश में अर्थ-लाभ के अतिरिक्त कवि के यश सौरभ के प्रसार को भी काव्य का फल माना गया है। अतः यह स्पष्ट है कि वे काव्य में प्राप्य अन्तरंग सिद्धियों की भाँति उससे बाह्यत प्राप्त होने वाले परिणामों को भी सजग रहे हैं।

पं० सत्यनारायण कविरत्न ने काव्य के प्रयोजनों की विशेष चर्चा नहीं की है, तथापि किसी मित्र के प्रति कथित इस उक्ति से, "मैं तो ब्रजभाषा की पुकार लै के जरूर जाऊँगो और कहूं नायँ तो ब्रज-भाषा-सुरसरी की हिलोर में सब को भिजायँ तो आऊँगो,"[2] यह निष्कर्ष उपलब्ध होता है कि वे सुसम्पन्न साहित्यिक भाषा के प्रति जन-रुचि के निर्माण को काव्य का लक्ष्य मानते थे। इससे पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, "प्रेमघन" और प्रतापनारायण मिश्र ने भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी के प्रसार को काव्य का प्रयोजन माना था। काव्य से भाषा की उपकृति उससे प्राप्य प्रासंगिक फल है, किन्तु उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार कविरत्न जी द्वारा केवल ब्रजभाषा को प्रोत्साहन देने की नीति को सकुचित दृष्टिकोण की परिचायक कहना भी उपयुक्त न होगा, क्योंकि काव्य-भाषा के प्रति ऐसा सात्विक और अनन्य अनुराग रखने वाले कवि अधिक नहीं होते। कविरत्न जी के मन में इस भाव का इतना प्राबल्य था कि काव्य के सामान्य बाह्य प्रयोजनों (यश तथा सम्पत्ति का लाभ) की सिद्धि की उन्हें चिन्ता ही नहीं रही थी। इसकी पुष्टि के लिए पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की इस उक्ति का अध्ययन पर्याप्त होगा—

"सत्यनारायण का चरित हम इसलिए आदर्श मानते हैं कि उन्होंने साहित्य-सेवा को कभी वणिक् वृत्ति के अधीन नहीं किया। जिस प्रकार उपवन में गाने वाली कोकिल इस बात का ख्याल नहीं करती कि मेरा गाना सुन कर मुझे कोई दाना पानी देगा, उसी प्रकार यह ब्रज-कोकिल सर्वथा निस्स्वार्थ भाव से साहित्याकाश को अपनी मधुर वाणी द्वारा गुंजायमान करता रहा।"[3]

कविरत्न जी की भाँति ठाकुर गोपालशरणसिंह ने भी काव्य-प्रयोजनों की संक्षिप्त चर्चा की है। उन्होंने आनन्द और यश की प्राप्ति को काव्य के सहज परिणाम

१ मेवाड़-गाथा, पृष्ठ ७५
२ पद्म-पराग प्रथम भाग (पं० पद्मसिंह शर्मा), पृष्ठ ११६
३ साहित्य और जीवन, पृष्ठ ८८

कहा है, किन्तु इस सम्बन्ध में उनके विचारों को लगभग अप्रत्यक्ष आधार पर ही निरूपित किया जा सकता है। काव्य के ग्राहक और उत्पादक को प्राप्य आनन्द की संकेतात्मिका चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है—"यदि मेरी कतिपय पंक्तियों ने सरस हृदयों का स्पर्श किया तो मेरे लिए सुख अनुभव करना स्वाभाविक ही होगा।"[1] यह उक्ति कवि के *विनयावनत हृदय की सहज प्रतिफलन-मात्र है, तथापि यहाँ काव्यजन्य आनन्द की अप्रत्यक्ष* स्वीकृति असन्दिग्ध है। इसी प्रकार कालिदास के प्रति निम्नांकित श्रद्धांजलियों में भी अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकृति रही है कि सत्काव्य से यश की उपलब्धि स्वाभाविक है—

(अ) "कर विरचित कुमारसम्भव सा, काव्य रसाल मनोरम।
हुए यशस्वी भरत भूमि में, कालिदास कवि सत्तम॥"[2]

(आ) "छोड कर अनुपम कीर्ति विभूति,
किया जग से तुमने प्रस्थान।
किन्तु निज कृतियों को अमरत्व,
यहाँ भी तुम कर गये प्रदान॥"[3]

काव्य के तत्व

द्विवेदी युग के अवशिष्ट कवियों में से काव्य के तत्वों के विवेचन की ओर नाथूराम शंकर, रामनरेश त्रिपाठी और ठाकुर गोपालशरणसिंह ने ध्यान *दिया है। कविवर शंकर* ने बुद्धि-तत्व को काव्य का मूल आधार माना है, किन्तु काव्य के अन्य तत्वों के विषय में वे मौन रहे हैं। उन्होंने कवि को ज्ञानार्जन का सन्देश देते हुए ज्ञान विहीन कविता को तुकबन्दी कहा है और सत्काव्य की रचना को केवल बुद्धि-तत्व के माध्यम से सम्भव माना है। इस विषय में निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है—

(अ) "कविता देवी का सदा रे शंकर धर ध्यान।
क्या आदर देगी तुझे तुकबन्दी बिन ज्ञान॥"[4]

(आ) "कवि शंकर तो बिन ज्ञान किसे,
पदवी मिल जाय महाकवि की।"[5]

प्रथम उद्धरण के आधार पर यह शंका स्वाभाविक है कि बुद्धि-तत्व के अभाव में काव्य में हृदय-तत्व को स्थान प्राप्त होने पर उसे तुकबन्दी कैसे कहा जा सकेगा? यदि खड़ी बोली की कविता के उस प्रारम्भिक युग में कतिपय कवियों द्वारा भाव और शैली, दोनों के महत्व से शून्य कविताओं की रचना को देखते हुए इस मत को किसी सीमा तक स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी द्वितीय अवतरण के आधार पर कवि के दृष्टिकोण

१. कादम्बिनी, "निवेदन" से उद्धृत
२. जगदालोक, पृष्ठ १६
३. सागरिका, पृष्ठ ५८
४. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ४३१
५. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ६२

की सदोषता स्पष्ट है। इसमें बुद्धि-तत्व और हृदय-तत्व के सहभाव को अस्वीकार कर काव्य की रागात्मकता के प्रति अनास्था प्रकट की गई है। वस्तुतः केवल बुद्धि-तत्व के आधार पर तो सरस कविता की रचना ही असम्भव है। इसीलिए पाश्चात्य समीक्षक मरी ने कहा है कि "साहित्य में शुद्ध विचारात्मकता (बुद्धि) की स्थिति नहीं होती, बुद्धि सदैव भावना की सेविका रहती है।"[1]

शंकर जी के दृष्टिकोण की एकांगिता का परिहार *पं० रामनरेश त्रिपाठी* की इस उक्ति में हुआ है—"काव्य कवि के हृदय का गान है, उसकी बुद्धि का सौन्दर्य है।"[2] इस प्रकार उन्होंने काव्य में हृदय-तत्व और बुद्धि-तत्व अथवा अनुभूति और विचार के सहज सामंजस्य पर बल दिया है। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त उक्ति का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है कि उन्होंने काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति को समान महत्व दिया है। इनमें से सौन्दर्य-तत्व के प्रति विशेष अनुराग रखते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि "कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ है।"[3] सौन्दर्य की समष्टि काव्य के लिए प्राणतत्व-स्वरूपिणी है, अतः "कवि सौन्दर्य देखता है, चाहे वह सौन्दर्य बहिर्जगत का हो चाहे अन्तर्जगत का।"[4] यह दृष्टिकोण एकांगिता के दोष से मुक्त है, क्योंकि सौन्दर्य-ग्रहण के लिए कवि को रागात्मिका शक्ति के अतिरिक्त विचारात्मिका शक्ति से भी सम्पन्न होना होगा और बुद्धि एवं हृदय का यह समन्वय ही काव्य का लक्ष्य है।

त्रिपाठी जी की भाँति *ठाकुर गोपालशरणसिंह* ने भी काव्य की मूल प्रेरणा उसकी हृदय-संवेद्यता को माना है, किन्तु बुद्धि-तत्व के समावेश को काव्य की प्रमुख आवश्यकता न मानने पर भी वे उसके महत्व के प्रति सतर्क अवश्य हैं। इसीलिए उन्होंने भावावेग को बुद्धि से नियन्त्रित करने पर बल देते हुए कहा है—"काव्य की प्रेरणा चाहे जहाँ से मिले, किन्तु उसका उद्‌गम स्थान हृदय ही है। केवल बौद्धिक निरूपण कविता नहीं है और चाहे जो कुछ हो। कविता की सप्राणता भावना में ही है, परन्तु भावना के लिए बुद्धि का नियन्त्रण आवश्यक है।"[5] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में हृदय-परकता के अतिरिक्त विचार-विवेक भी होना चाहिए। तथापि उन्होंने कवि के हृदय में संवेदनशीलता अथवा अनुभूति-प्रवणता की स्थिति पर विशेष बल दिया है। "तेरे मन की दुख ज्वालाएँ, मेरे मन में कुछ छन्द हुईं"[6] कह कर उन्होंने कवि-हृद्‌गत संवेदन को ही गौरव दिया है। मनोविज्ञान के अनुसार हृदय की संवेदन-क्षमता के विकास के लिए व्यक्ति की

---

१. "In literature there is no such thing as pure thought, in literature thought is always the handmaid of emotion."
(The Problem of Style, J. Middleton Murry, Page 73)

२. कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १

३. कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ६

४. कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ८

५. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ १३-१४

६. मानवी, पृष्ठ ६३

प्रत्यक्ष अनुभूतियों में व्यापकता होनी चाहिए। ठाकुर साहब ने इसके अनुरूप मानव के सासारिक अभावों का आत्म-साक्षात्कार करते हुए उनके निवारणार्थ अपने मन में ईश्वर की इच्छा से उद्भूत प्रतिक्रियाओं को वाणी देने को कवि-कर्म माना है। यथा—

"सासारिक उत्पीडन और दु ख दैन्य का ध्यान आते ही अदृष्ट करुणामय की ओर चित्त अनायास आकर्षित हो जाता है और कुछ कहने के लिए हृदय आतुर हो उठता है। × × × × × इन गीतों में अधिकतर पीडित आत्माओं का कातर स्वर ही सुनाई पड़ेगा।"[1]

यहाँ वैचारिक प्रतिक्रिया के स्थान पर सहृदयता को महत्व दिया गया है। पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि रखने के कारण ठाकुर साहब ने काव्य में सौन्दर्य तत्व को सर्वश्रेष्ठ मान कर भी *कविवर मैथिलीशरण गुप्त की भाँति उसे सत्य तथा शिव मे सम्पृक्त रूप में ही* देखना चाहा है—"**कविता प्रत्येक वस्तु को सुन्दर रूप में ग्रहण करती है, परन्तु वह सुन्दर उसी को मानती है जिसमें सत्य और शिव सन्निहित हो।**"[2] इस प्रत्यक्ष प्रतिपादन के अतिरिक्त उन्होंने जीवन-दर्शन पर आधृत नीतिमयी कविताओं में अप्रत्यक्ष रूप से भी काव्य में भावना और बुद्धि के सहयोग की कामना की है। इस दृष्टि से "कादम्बिनी", "सुमना" तथा "मानवी" शीर्षक काव्य सकलन विशेषत पठनीय हैं।

काव्य-वर्ण्य

आलोच्य युग में प० नाथूराम शकर के अतिरिक्त शेष सभी कवियों ने काव्य में वर्णनीय विषयों पर विचार किया है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने इस दिशा में विशेष योग तो नहीं दिया है, तथापि कविवर "प्रेमघन" एव प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति उनका *प्रतिपाद्य भी यही है कि काव्य में शृगार रस के सयोग वियोग पक्ष अथवा* नायिका-भेद का विवेचन ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसमें नवीन सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप विषय प्रतिपादन होना चाहिए। यथा—"**प्यारी की विरह-व्यथा-वर्णन और नायिका-भेद बताने का समय अब नहीं है। पिछले कवि उक्त विषय में जो कुछ कर गए हैं, वह कम नहीं है। इस समय के कवि उनकी नकल करके नाम नहीं पा सकते। अब दूसरा मार्ग तलाश करना चाहिए।**"[3] यद्यपि आलोच्य कवि ने नवीन काव्य-दिशा के प्रेरक विषयों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, किन्तु उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य में राष्ट्रीय भावना, भक्ति-भावना, प्रकृति-सौन्दर्य और हास्यप्रेरक तत्वों का उल्लेख करने का समर्थन करते हैं। इस दृष्टि से उनकी राम, दुर्गा और लक्ष्मी *की स्तुतिपरक कविताओं में निहित भक्ति-तत्व, 'सर सैयद अहमद का बुढ़ापा" तथा* "वसतोत्सव" शीर्षक कविताओं में समाविष्ट राष्ट्रीयता, 'मेघ मनावनि", "वसन्त बन्धु", "वर्षा" आदि कविताओं में प्राप्य प्रकृति-छटा एव "भैंस का स्वर्ग", "पोलिटि-

१. ज्योतिष्मती, "निवेदन" से उद्धृत

२. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म-कथन, पृष्ठ १४

३ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ १२०

कल होली" आदि कविताओं में उपलब्ध समाज तथा राजनीति से सम्बद्ध हास्य-व्यंग्य द्रष्टव्य है।[1]

कविवर देवीप्रसाद *"पूर्ण"* ने "सत्कविता पर बातचीत" शीर्षक परिसंवाद में सुकवि के प्रति रसिक की उक्ति, **"ऐसा कोई विषय नहीं जो काव्य का विषय न हो सके,"**[2] *के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि कवि बाह्य दर्शन एवं आत्म-दर्शन के आधार* पर संसार की प्रत्येक वस्तु से परिचित रहता है और उसे अपने काव्य में स्थान प्रदान करता है।[3] काव्य में सृष्टि के स्थूल रूप न दृश्य तत्वों की ही चर्चा नहीं होती, अपितु कवि उसमें अन्तर्दर्शन के आधार पर उन प्रसंगों का भी रमणीय भावन करता है जो सामान्य लौकिक जन को अप्राप्य रहते हैं। "पूर्ण' जी ने अपनी कविताओं में समाज, प्रकृति तथा देश-प्रेम को स्थान देकर अप्रत्यक्षतः काव्य-वर्ण्य की व्यापकता के मत को ही प्रतिफलित किया है, किन्तु सिद्धान्त-निरूपण के अन्तर्गत उन्होंने काव्य में केवल लोक-हितकारी विषयों की चर्चा पर ही बल दिया है। **"इतना मैं अवश्य कहूँगा कि यदि काव्य के गुणों के साथ-साथ उसका विषय भी उपयोगी हो तो सोने में सुगन्ध हो"**[4] जैसी उक्ति द्वारा उन्होंने कवि को यही सन्देश प्रदान किया है कि वह अपनी अन्तरंगिनी दृष्टि से काव्य-वस्तु में समाज-संस्कार की प्रेरणा को अवश्य स्थान दे। उन्होंने इस प्रसंग में सन्तुलित विचार प्रणाली को अपनाते हुए काव्य में सौन्दर्यविधायक तत्वों एवं जीवन के मांगलिक मूल्यों के सहभाव को ही उसकी सफलता का मापक माना है। इसीलिए उन्होंने काव्य में आनन्द की प्रतिष्ठा को महत्व देकर केवल नैतिक भावना की प्रतिपत्ति को काव्य का उद्दिष्ट मानने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कहा है—

"काव्य और वस्तु है और रिफार्मरी और वस्तु है। काव्य में सार वस्तु होती है रस वा आनन्द, जो अनेक विषयों के आधार से हो सकता है। रिफार्म के विषय उसके लिए अपरित्याज्य नहीं है।"[5]

प० रामनरेश त्रिपाठी ने "प्रेमघन", द्विवेदी, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, बालमुकुन्द गुप्त आदि की भाँति यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि **"अब समाज में उत्साह, शौर्य और सुरुचि उत्पन्न करने वाले भावों की आवश्यकता है, कामुकता और विलासिता बढ़ाने वाले भावों की नहीं।"**[6] वे काव्य में विप्रलम्भ शृंगार के अतिशयोक्तिमय अस्वाभाविक भेद-कथन, नायिका-भेद-प्रस्तार तथा नख-शिख वर्णन के एकान्त विरोधी हैं।[7] काव्य-विषयों को परम्परा के अनुसार ही प्रस्तुत करने से मतभेद प्रकट करते हुए उन्होंने

---

१ इस स्थान पर उल्लिखित सभी कविताएँ "गुप्त निबन्धावली, भाग १" में संकलित हैं।

२ सरस्वती, सितम्बर, १६०६, पृष्ठ ३६६

३ वहां भी गया है—"कवय किं न पश्यन्ति ?"

४. सरस्वती, सितम्बर १६०६, पृष्ठ ३६६

५ सरस्वती, सितम्बर १६०६, पृष्ठ ३६६

६ स्वप्नों के चित्र, अपनी कहानी, पृष्ठ ?

७ देखिए "कविता-कौमुदी", भाग १, पृष्ठ १०६-१११

"हिन्दी कविता के नवीन विषय" शीर्षक लेख में भी यह लिखा है—"प्राचीन कवियों से टक्कर लेना छोड़ कर हिन्दी कवियों को बीसवीं शताब्दी को मानसिक अवस्था के अनुकूल बिलकुल नवीन विषय-विलास में लिप्त होना चाहिए।"[1] इससे यह सिद्ध है कि वे काव्य में लोक-हित के अनुकूल गम्भीर और उपयोगी विषयों के कथन को महत्व देते हैं। उपर्युक्त उक्तियों के अतिरिक्त "कविता क्यों की जानी चाहिये" शीर्षक लेख में भी लगभग इन्हीं विचारों को प्रकट किया गया है।[2]

प्रत्यक्ष विवेचन के अतिरिक्त त्रिपाठी जी की काव्य-वर्ण्य विषयक मान्यताओं का अनुगम शैली से भी विश्लेषण किया जा सकता है। इस दृष्टि से कविवर तुलसीदास के प्रति कथित उनकी उक्ति, "हम संसार में बहुत सी चीजें, बहुत सी घटनाएँ नित्य देखते और सुनते रहते हैं, पर हम उन पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं और कुछ देते भी हैं, तो अपनी अल्पज्ञतावश उससे कोई अच्छा परिणाम नहीं निकाल सकते, पर तुलसीदास उसी जगत् को कवि की दृष्टि से देखते थे और वे सहज ही में एक सुन्दर परिणाम निकाल लेते थे,"[3] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में जागतिक दृश्यों का यथातथ्य उल्लेख न कर कवि को अपनी अन्तर्भावना और कल्पना के आधार पर उनका उपयुक्त संस्कार कर लेना चाहिए। इसी प्रकार निम्नलिखित काव्यावतरणों का अध्ययन करने पर भी यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि काव्य में देश प्रेम का अभिव्यंजन कवि का पुनीत धर्म है—

(अ) "यह प्रत्येक देशवासी का सत्कर्तव्य अटल है।
करे देश-सेवा में अर्पण उसमें जितना बल है॥"[4]

(आ) "जितने भी सुन पाया उसका हृदय विमोहक गान।
हुआ उसी का देश-प्रेम से पूरण प्लावित प्राण॥"[5]

द्विवेदी जी तथा "पूर्ण" जी की भाँति प० रामचरित उपाध्याय ने भी "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि" की उक्ति के अनुकूल यह प्रतिपादित किया है कि कवि अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर सृष्टि के प्रत्येक तत्व को उल्लिखित करने में समर्थ होता है। यथा—

"ऐसा कौन विषय है, कवि की प्रतिभा जहाँ नहीं जाती।
नभ से अद्भुत कोई, वस्तु नहीं देख पड़ती है॥"[6]

उपाध्याय जी के समकालीन कवियों में प० गुरुलाल प्रसाद पाण्डेय ने इसी मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "पहुँच न प्रतिभा की होय यों स्थान है न, नहीं विषय

---

१. कवि-कौमुदी, वैशाख-ज्येष्ठ, संवत् १६८१, पृष्ठ ८१
२. देखिए "कवि कौमुदी", कार्तिक-मार्गशीर्ष, संवत् १६८१, पृष्ठ ३४६
३. तुलसी और उनका काव्य, पृष्ठ २७८
४. पथिक, पृष्ठ ५६
५. मिलन, पृष्ठ ६६
६. सूक्ति मुक्तावली, पृष्ठ ४

अहो! यों है जिसे गा सकें न।"[१] काव्य में गोचर तथा ज्ञात जगत् के अतिरिक्त कवि के अन्तर्जगत् का भी उद्घाटन रहने के कारण कवि-हृदय का यह विश्वास स्वाभाविक ही है। यद्यपि प्रतिभावान् कवि किसी भी विषय को ले कर काव्य-प्रणयन कर सकता है, तथापि युग-धर्म का अनुसरण अथवा युग विशेष में मानव-जीवन का उसकी समग्रता में परिग्रहण काव्य का आदर्श है। इसीलिए "हरिऔध" जी की भांति उपाध्याय जी ने भी कुंवर हिम्मतसिंह के "महिषासुर-वध" काव्य की समीक्षा करते हुए लिखा है—**"जो कवि समय की प्रगति का अनुसरण करता है, वही संसार में सफल कवि समझा जाता है और आदर का भाजन होता है।"**[२] द्विवेदी युग में युग धर्म के निर्वाह का अर्थ लोक-हित का दृष्टि में रख कर कुछ विशेष विषयों का चयन था। उपाध्याय जी ने इसके लिए काव्य में राष्ट्रीय विचार धारा के समावेश पर बल दिया है। अपनी कृति "देवदूत" को **"हृदय-पट पर जननी जन्मभूमि के चित्र को स्वर्ग से भी बढ़ कर सुन्दर और सुखद चित्रित करने वाला एक कल्पित कवि कौशल"**[३] *कह कर इन्होंने प्रकारान्तर से इसी मत का प्रतिपादन किया है।* इसके अतिरिक्त उनकी "रामचरित चिन्तामणि", "रामचरित-चन्द्रिका"[४] तथा "मुक्ति-मन्दिर"[५] शीर्षक कृतियों का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वे आदर्शमूलक भक्ति भावना के *कथन को भी काव्य का आदर्श मानते थे,* किन्तु प्रत्यक्ष उक्ति के अभाव में यहां इस विषय की विशेष चर्चा हमारी अनधिकार चेष्टा होगी।

पं० *लोचनप्रसाद पांडेय* ने काव्य में वर्णनीय विषयों की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की है, तथापि "पल्ली कवि" शीर्षक कविता के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे लोक-कविता के मूलभूत तत्वों (विशेषतः ग्राम की वनस्थली और प्रकृति के अन्य दृश्यों का चित्रण) के काव्यगत उल्लेख पर बल देते थे। काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य के अभिनिवेश के सम्बन्ध में उनकी निम्नस्थ पंक्तियां अवलोकनीय हैं—

"खग, मृग, कीट, पतंग, वृक्ष, वल्ली, लता,
मृदुल फूल फल मूल तुम्हारे काव्य के
विमल विषय हैं। रम्य प्रकृति शोभामयी
पर्वत माला, गुफा, झील, गह्वर, नदी
झरने जल प्रपात आदि सुख शान्ति के
स्थान तुम्हारे कविता के आधार हैं।"[६]

यहां ग्राम-कवि के प्रति केवल श्रद्धा का प्रतिपादन नहीं है, अपितु प्रकृति-निरूपण से काव्य-वस्तु में वर्द्धमान रस-तत्व का अप्रत्यक्ष निरूपण हुआ है। यह दृष्टिकोण निश्चय

---

१. प्रभा, अगस्त १९१३ के अंक से उद्धृत
२. माधुरी, वर्ष १२, खण्ड २, संख्या ५, पृष्ठ ६४७
३. "देवदूत" के मुख-पृष्ठ पर प्रकाशित वक्तव्य
४. इस कृति में रामायण के विविध पात्रों को ले कर काव्य-रचना की गई है।
५. इस कृति में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता के उपदेश का उल्लेख हुआ है।
६. माधव मंजरी, पृष्ठ ४९

ही अभिनन्दनीय है। उन्होंने "नीति कविता" शीर्षक कृति मे अप्रत्यक्षत काव्य मे नैतिकता अथवा समाजोपयोगी आदर्शों के कथन पर भी बल दिया है। इसी प्रकार "मेवाड-गाथा" तथा "पद्य पुष्पाजलि" की अधिकाश कविताओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वे काव्य मे राष्ट्रीय चेतना को भी आवश्यक मानते थे।[1]

पं० सत्यनारायण कविरत्न ने काव्य-वर्ण्य का स्वतन्त्र विवेचन किया है, तथापि उपलब्ध उक्तियो के आधार पर यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे काव्य में भक्ति, लोकहितकारी विषयो की चर्चा और प्राकृतिक छवि के निरूपण मे विशेष आस्था रखते थे। काव्य-वस्तु के हितकारक रूप की प्रसग प्राप्त चर्चा करते हुए उन्होने सत्काव्य मे सहृदयो के चरित्र-सस्कार के लिए जातीय प्रेम के प्रेरक उज्ज्वल आदर्शों के कथन पर बल दिया है। उदाहरणार्थ "ब्रजभाषा" शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

"कवि-कोकिल सत्काव्य-कूक अपनी उच्चारें
गुनि गुन-गाहक रसिक-भ्रमर मजुल गुजारें !
जगमगाय जातीय प्रेम, सुधरे चरित्र-बल।
सबके हों आदर्श उच्च, उत्तम अरु उज्ज्वल॥"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवियो के वचन सहृदय के मन का परिष्कार करने मे सहायक होते हैं। अत उन्हें अपने काव्य मे हित-सम्पन्न और लोक-रजक विषयो का अभिनिवेश करने की ओर उचित ध्यान देना चाहिए। यह दृष्टिकोण परम्परागत होने पर भी इसलिए महत्वपूर्ण है कि कविरत्न जी ने इस प्रकार के हितकारी विषयो की अभिव्यजना के लिए कवियो को मधुर और सगीतमयी शैली का अवलम्बन लेने का परामर्श दिया है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होने महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", बालमुकुन्द गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति कवियो की भाँति काव्य मे शृगार रस की स्थिति का विरोध न कर के उदार दृष्टिकोण अपनाकर यह सकेत किया है कि काव्य मे शृगाररसानुकूल परिस्थितियो का सहज आख्यान होना चाहिए। यथा—"आजकल नई रोशनी वालों को ब्रजभाषा से कुछ चिढ़ सी हो गई है। शृगार का नाम सुनकर तो उनकी आँखों में खून उतर आता है। इसीलिए इस अभागी भाषा तथा उक्त विषय पर पहले तो लोग लिखते ही बहुत कम हैं,—जो लिखता है उसका ग्रन्थ आर्थिक दुर्दशा के कारण इस कपट विनय-मय ससार में अपनी सूरत ही नहीं दिखा सकता।"[3] यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से इस युग के अन्य कवियो ने भी शृगार रस की एकान्त उपेक्षा नहीं की है, तथापि उनके विरोधी स्वर के प्रत्युत्तरस्वरूप कविरत्न जी ने मानव हृदय मे निसर्गत उद्भूत होने वाले रति भाव के प्रति जो न्यायपरक दृष्टि रखी है, उसके लिए उनकी

---

१. इस विषय में "पद्य पुष्पाजलि" में सकलित "भारत-स्तुति", "मेरी जन्मभूमि", "हमारा अध पतन", "भारत दुर्भिक्ष", "देशोद्धार सोपान" आदि कविताएँ विशेष पठनीय हैं।

२. हिन्दी-पद्य-रत्नाकर (सम्पादक—वियोगी हरि), पृष्ठ १३९

३. मालती-माधव नाटक, अनुवादक का निवेदन, पृष्ठ ७

प्रशंसा करनी होगी। संक्षेप में उन्हें मान्य काव्य-वर्ण्य यही है, किन्तु "पावस-प्रमोद" शीर्षक कविता का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि वे प्रकृति को काव्य का एक महत्वपूर्ण वर्णनीय विषय मानते थे। उनके मतानुसार प्रकृति के निसर्ग रूप को तदनुरूप अंकित कर सकना सहज कार्य नहीं है। यथा—

"यद्यपि कविगन गाई गाई ताकी थाह न।
मनही मनहि समाई आई नहि अवगाहन॥"[1]

यहाँ उनका प्रतिपाद्य यह है कि काव्य-वर्ण्य की व्यापकता के अनुकूल कवि के मनोभाव भी विशद होने चाहिएँ। इसकी योजना के लिए यह अपेक्षित है कि कवि काव्य वस्तु को प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा आत्मसात् कर ले, किन्तु काव्य-वर्ण्य से आत्मा के तदाकृत होने पर यह भी स्वाभाविक है कि वह पदार्थ के मूल रूप का स्पर्श करने पर भी भावातिरेक में अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को यथावत् अभिव्यक्ति प्रदान न कर सके। अन्तर्लोक के अधीश्वर कवि से यह अपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि वह सृष्टि के जिन पदार्थों का मनःसाक्षात्कार करे उन्हें अभिव्यक्ति भी अवश्य दे। "गूँगे के गुड़" की भाँति प्रकृति सौन्दर्य भी उनके लिए ऐसा ही आस्वादनीय तत्व है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह ने अपनी काव्य प्रवृत्तियों के अनुरूप कविता में प्राकृतिक छवि और मानवतापरक भावनाओं को स्थान देने पर बल दिया है। प्रकृति को काव्य के लिए अनिवार्य उपादान के रूप में ग्रहण करते हुए उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, "**है कवि का उद्गार अनन्त, है छवि का संसार अनन्त।**"[2] इनसे पूर्व श्रीधर पाठक और सत्यनारायण कविरत्न द्वारा काव्य में प्रकृति के अभिनिवेश का सामान्य उल्लेख किया जा चुका था, किन्तु काव्य की इस आवश्यकता के स्पष्ट सैद्धान्तिक प्रतिपादन का श्रेय ठाकुर साहब को ही है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "**ग्रामों में प्रकृति और जीवन का जो सामंजस्य दिखाई देता है, उसका प्रभाव मेरी रचनाओं पर सदैव पड़ता रहा है।**"[3] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह उल्लेख किया है—"**ग्रामवासी होने के कारण मैं ग्राम के जीवन तथा प्राकृतिक दृश्यों से सदैव प्रभावित होता रहा हूँ और उनके विषय में मेरे मनोभाव समय-समय पर स्वभावतः कविता के रूप में प्रस्फुटित होते आए हैं।**"[4] प्रकृति-दर्शन से कवि-हृदय का चमत्कृत होना और उसके सौंदर्यांकन द्वारा काव्य-श्री को वर्द्धमान करना कवि-मात्र के लिए सहज-स्वाभाविक है, किन्तु इस प्रेरणा की अनुभूति विभिन्न हृदयों को पृथक्-पृथक् रूप में होती है। उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त अशोक वृक्ष के विषय में कथित निम्नलिखित उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि ठाकुर साहब प्रकृति को कविता का सहज उपकरण मानते थे—

---

१ मधुकर, १ जून, सन् १९४२, पृष्ठ १६
२ कादम्बिनी, पृष्ठ ३७
३ सागरिका, "विज्ञप्ति" से उद्धृत
४. ग्रामिका, "निवेदन" से उद्धृत

"जब मैं कवित्व का करता हूँ
अनुभव अपने मन में अभाव।
तब तुम कर देते हो मेरे
उर में कोमल प्रस्फुटित भाव।।"[१]

उपर्युक्त वर्ण्य विषय के अतिरिक्त ठाकुर साहब ने काव्य मे मानव प्रेम को स्थान देने के प्रतिपादनार्थ "प्रेम" शीर्षक कविता मे सकेत-रूप मे लिखा है कि "कवि जनो का पवित्र उद्गार, प्रेम है जीवन का आधार।"[२] 'अनन्त प्रेम' शीर्षक कविता मे भी प्रेम तत्व को "काव्य-कुसुम के हो परिमल"[३] कहकर काव्य मे प्रमुख स्थान दिया गया है। इसी कविता म प्रेम को सम्बोधित करते हुए अन्यत्र भी कहा गया है, "कोमल कविता के आधार, अहे प्रेम जग-जीवन-सार।"[४] यह मन्तव्य कवि की अन्तरगिनी दृष्टि का परिचायक है, किन्तु यह उनकी मौलिक उद्भावना नही है। हिन्दी-काव्य धारा मे जीव-मात्र के प्रति मानव के प्रेम का उल्लेख भक्ति काल से ले कर अद्यावधि अनेक कवियो द्वारा किया जा चुका है। द्विवेदी युग मे "हरिऔध" जी ने भी "एक कवि छोड कौन है ऐसा, प्रेम में मस्त मन रहा जिसका"[५] कहकर इसी धारणा को वाणी दी है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कवि को अनुभूति-सजग होना चाहिए अर्थात् उसे सृष्टि के सरल मधुर सौंदर्य के सचय मे सक्षम होना चाहिए। ठाकुर साहब ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के स्वागतार्थ आयोजित मेले मे स्वागताध्यक्ष के पद मे भाषण देने के अनन्तर निम्नलिखित काव्य-पक्तियो मे अपने मन की इसी भावना को वाणी दी थी—

"मैं भी एक कवि बन जाऊँ, यही कामना है,
मेरी प्रतिभा का हो विकास क्षण-क्षण में,
और मैं बटोर लूं मनोज्ञ, मृदु भाव सभी,
जो भरे पड़े हैं जगती के कण-कण में।
भर दूँ सरलता, मधुरता त्रिलोक की मैं—
निज रचनाओं के सुवर्ण-आभरण में,
फिर वे समस्त भावनाएँ भारती की भव्य
भक्ति से चढ़ा दूँ गुरुदेव के चरण में।।"[६]

काव्य-शिल्प

द्विवेदी युग मे प० रामचरित उपाध्याय के अतिरिक्त शेष सभी कवियो ने काव्य-सज्जा के लिए अपेक्षित बाह्य उपकरणों का विवेचन किया है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने

१ प्रमिला, पृष्ठ १०३
२. कादम्बिनी, पृष्ठ २२
३. कादम्बिनी, पृष्ठ ८७
४. कादम्बिनी, पृष्ठ ६१
५. चोखे चौपदे, पृष्ठ ८
६. सुधा, जुलाई १९३३, पृष्ठ ५४७

इस दिशा में केवल-काव्य-भाषा के स्वरूप का सामान्य उल्लेख किया है। उन्होंने भाषा की दुर्बोधता का विरोध कर संस्कृत के सरल शब्दों के साहाय्य से उसकी समृद्धि पर बल देते हुए यह सन्देश दिया है—"हमारे लिए इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिन्दी बोलने वाले तो समझ ही सकें उनके सिवा उन प्रान्तों के लोग भी उसे कुछ न कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिएँ, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे।"[1] इस दृष्टिकोण को "हरिऔध" जी के "अधखिला फूल" उपन्यास की समीक्षा करते हुए हिन्दी-भाषा के विषय में सामान्य कथन के रूप में उपस्थित किया गया है, तथापि प्रकारान्तर से इसे कविता जैसे प्रमुख साहित्य-रूप के लिए भी स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त मन्तव्य के अतिरिक्त उनकी कृति "हिन्दी-भाषा" एवं "भाषा की अनस्थिरता" शीर्षक लेख[2] में भी काव्य-भाषा का विवेचन अपेक्षित हो सकता था, किन्तु इनमें हिन्दी-भाषा के व्याकरण और ब्रजभाषा, फारसी एवं अरबी भाषाओं के साथ उसके सम्बन्ध के स्पष्टीकरण को ही महत्व दिया गया है। तथापि आचार्य द्विवेदी के साथ भाषा के प्रश्न पर उनके विवाद को दृष्टि में रखते हुए इन कृतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में सामान्य व्याकरणिक भूलों को सहज सम्भाव्य मान कर वे कवि को भाषा-प्रयोग की रूढ़ियों में बाँध देने की प्रवृत्ति का विरोध करते थे।

कविवर नाथूराम शंकर ने काव्य-शिल्प के अन्तर्गत केवल छन्द विधान की चर्चा की है, किन्तु उनकी विवेचन-प्रणाली से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य के आन्तरिक धर्म की भाँति उसके बाह्य धर्म की शोभा के प्रति भी जागरूक थे। छन्द-योजना को नियमबद्ध रखने के प्रति विशिष्ट सजगता के फलस्वरूप उन्होंने अपनी सर्वांगशुद्ध छन्द-रचना को "शंकर छन्द" की संज्ञा दी है—

"अक्षर तुल्य वर्ण वृत्तों में, सहित गणों के पावेंगे।
मुक्तक, छन्द, मात्रिकों में भी वर्ण बराबर पावेंगे॥
देखो पद प्रत्येक पद्य के, सकल विधान प्रमान।
समता से दल, खंडों में भी, गुरु, लघु गिनो समान॥"[3]

आलोच्य युग में छन्द के प्रति इतनी दृढ़ आस्था का परिचय केवल शंकर जी ने दिया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि काव्य की बाह्य छवि की योजना के लिए छन्द जैसे उपकरणों को नियम विहित रखने के अतिरिक्त वे उसमें भाव-सौन्दर्य को भी अपेक्षित मानते थे। इसीलिए उन्होंने केवल तुकबन्दी करने वाले कवियों के लिए कहा है कि "शंकर सुजान अधिकारी न रहेंगे जब, आदर को बोझ तब तुक्किया उठावेंगे।"[4]

---

१. गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ५७०
२. देखिए "गुप्त निबन्धावली", प्रथम भाग, भारतमित्र प्रेस, पृष्ठ १६०-२१०
३. अनुराग-रत्न, भूमिकोद्भव, पृष्ठ १६
४. शंकर-सर्वस्व, पृष्ठ ३२४

बाबू देवीप्रसाद "पूर्ण" ने उपर्युक्त दोनो कवियो की अपेक्षा काव्य के वाह्य रूप के विवेचन मे अधिक श्रम किया है। उन्होने काव्य-भाषा की रमणीयता के लिए भाषा को प्रसाद गुण-सम्पन्न रखने पर बल दे कर यह प्रतिपादित किया है कि भाषा के प्रसादत्व से कवि का अभिप्राय सहृदय तक सहज सप्रेषणीय रहता है। इसीलिए उन्होने लिखा है—"कविता का प्रसादपूरित होना एक उत्तम गुण है यह तो सभी जानते हैं परन्तु प्रसादता के लक्षण क्या हैं ? कविता के सुनते ही उसका अर्थ प्रकट हो जाये तो जान लेना चाहिए कि कविता प्रसाद गुण सयुक्त है।"[1] काव्य की भाषा को सहज बोध्य रखना निश्चय ही कवि का धर्म है। इसीलिए "पूर्ण" जी ने काव्य मे एक ओर उर्दू के प्रचलित शब्दो के समावेश का परामर्श दिया है[2] और दूसरी ओर संस्कृत की सरल शब्दावली को ग्रहण करने का समर्थन करते हुए कहा है, "हमारे मत से कविता में ऐसे रोचक संस्कृत शब्दो का लाना जिनके अर्थ जानने के लिए पाठक में कुछ योग्यता अपेक्षित है प्रसादता की हानि नहीं करता।"[3] यहाँ संस्कृत के प्रति विशिष्ट आग्रह का प्रदर्शन नही किया गया है। उन्होने प्रकारान्तर से संस्कृत की समासमयी पदावली के प्रयोग का निषेध कर हिन्दी-कवियो को उसके सहजता-सम्पन्न मधुर शब्द विन्यास से लाभान्वित होने का सन्देश देते हुए काव्य-भाषा की समृद्धि के लिए ही ऐसा कहा है। इससे पूर्व अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त और "हरिऔध" ने भी लगभग इसी मत का प्रतिपादन किया था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत की सहज शब्दावली से पोषण प्राप्त करना हिन्दी-कविता के लिए स्वाभाविक है। प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने "कविता की भाषा" शीर्षक लेख में इसी मत को इस प्रकार उपस्थित किया है, "हिन्दी कविता की भाषा का संस्कृतगर्भित होना दोष नहीं, यह उसका स्वाभाविक गुण है, जन्मसिद्ध अधिकार है।"[4] वस्तुत काव्य की रचना सहृदय और साहित्य-मर्मज्ञ सामाजिक के लिए ही की जाती है और उसका भी कर्तव्य है कि वह काव्य की शब्दावली को विशिष्ट अध्ययन के द्वारा हृदयगम करने की क्षमता प्राप्त करे। इसीलिए "पूर्ण" जी ने लिखा है, "हम समझते हैं कि हिन्दी काव्य के श्रोता में कम से कम दो गुण अवश्य होने चाहिएँ, प्रथम यह कि वह ऐसे हिन्दी शब्दों के अर्थ जानता हो जो बहुधा तुलसी रामायण, सूरसागर इत्यादि हिन्दी के विख्यात ग्रथों में आए हैं और दूसरे उसको थोडा बहुत साहित्य में अभ्यास होना चाहिए।"[5] इस समीक्षण से स्पष्ट है कि वे काव्य भाषा मे प्रसाद गुण की स्थिति को अनिवार्य मानते है, किन्तु इसके लिए काव्य भाषा की मर्यादा को शिथिल करना उन्हें स्वीकार्य नही है।

"पूर्ण" जी काव्य मे अलकारो के सहज प्रयोग के समर्थक थे, उनका बलात् सग्रहण उन्हे अभीष्ट नही था। उन्होंने इस धारणा का स्पष्ट निर्धारण नहीं किया है, तथापि

---

१ धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका पृष्ठ ७-८
२ देखिए "स्वदेशी कुण्डल", भूमिका, पृष्ठ "ग"
३ धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ६
४. माधुरी, सन् १९२२, खंड १, संख्या २, पृष्ठ ११०
५ धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ८

अर्थ-लालित्य के पोषक शब्दालंकारों को ही ग्रहणीय मान कर प्रकारान्तर से इसी मत का प्रतिपादन किया गया है। उनके मतानुसार "**शब्दालंकार यदि अनायास आवें और अर्थ के पोषक हों तो ग्रहणीय हैं क्योंकि उनसे कविता की विशेष सुन्दरता होती है अन्यथा उनकी कोई आवश्यकता नहीं है।**"[1] इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने कविता में शब्द चमत्कार के प्रेरक अलंकारों की अपेक्षा रमणीय अर्थ की सृष्टि में सहायक भूषणों को गौरव दिया है। उनकी निश्चित सम्मति है कि "**शब्दों का सौंदर्य जितना अधिक होगा उतनी ही कविता अधिक रोचक होगी, परन्तु शब्द-सौंदर्य के लिए अर्थ बिगड़ने न पावे।**"[2] काव्य को केवल शब्द-क्रीडा तक सीमित न रख कर उसमें अर्थ-लालित्य की पोषक रमणीय पदावली के संघटन पर बल दे कर उन्होंने उचित ही किया है। इस विषय में कविवर मैथिलीशरण गुप्त का मत भी यही है, "**शब्दालंकारों के पीछे अर्थालंकारों को बिगाड़ना ठीक नहीं। भाव को अक्षुण्ण रख कर यदि अनुप्रास आवें तो निस्सन्देह कविता की कर्णप्रियता बढ़ जाती है।**"[3] उपर्युक्त प्रत्यक्ष निर्धारण के अतिरिक्त "पूर्ण" जी की कविताओं का अध्ययन करने पर श्रीहरदयालु सिंह की भाँति अप्रत्यक्ष रूप से भी यह निष्कर्षित किया जा सकता है—"**कविता में वे अलंकारों का ठूंसना बुरा समझते थे और अलंकारों के अनुरोध से भावों की हत्या करना वे गुरुतर अपराध मानते थे।**"[4] स्पष्ट है कि वे काव्य में भाव-सौंदर्य की सहज प्रतिष्ठा में ही उसका गौरव मानते थे। उनके मत में अलंकार कवि के लिए निषेध्य नहीं है, किन्तु वे साध्य भी नहीं होने चाहिएँ।

काव्य में शिल्प-सौंदर्य के उत्कर्षकारी अंगों में से "पूर्ण" जी ने छन्द के स्वरूप का विशेष तन्मयता के साथ अध्ययन किया है। उन्होंने एक ओर छन्द में लय के महत्व का उद्घाटन कर सूक्ष्म चिन्तन का परिचय दिया है और दूसरी ओर काव्यगत छन्दों एवं काव्य में तुक-योजना का अपने युग की स्वीकृतियों के आलोक में अध्ययन किया है। उन्होंने छन्द को काव्य के परिधान के रूप में ग्रहण करते हुए उसमें लय अथवा गति की व्यवस्था को अनिवार्य माना है। काव्य को छन्द शास्त्र की मान्य प्रणालियों के अनुसार उपस्थित करने का समर्थन करने पर भी उन्हें लयात्मक रूप की योजना के लिए नियमों में यत्र-तत्र शिथिलताएँ भी स्वीकार्य हैं। यति नियम की अपरिहार्यता का विरोध कर उन्होंने इसी मत को प्रतिपादित किया है, "**यति वह स्थान है जहाँ एक शब्द का अन्त होना चाहिए नहीं तो यतिभंग दोष होता है तथापि कतिपय छन्द ऐसे हैं कि उनमें कभी कभी यति का नियम न पालन करने से भी कोई अरोचकता प्रतीत नहीं होती। हमने अपने छन्दों में इतना ध्यान रक्खा है कि पढ़ने में गति न बिगड़े।**"[5] यहाँ यति के महत्व की अस्वीकृति नहीं है, तथापि कवि ने गति को उसकी अपेक्षा अधिक गौरव दिया है। अतः यह स्पष्ट है

---

१. धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ७
२. सरस्वती, सितम्बर १९०६, पृष्ठ ३६६
३. सरस्वती, दिसम्बर १९१४, पृष्ठ ६७८
४. पूर्ण-पराग, भूमिका, पृष्ठ ६५
५. धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ५-६

कि उन्होंने "रत्नाकर" जी की भाँति लय को छन्द का प्राण-प्रतिष्ठापक तत्व मान कर सन्तुलित विवेक का उपयुक्त परिचय दिया है।

"पूर्ण" जी ने द्विवेदी जी और "हरिऔध" जी की भाँति काव्य में मात्रिक छन्दों के रूढ़ आधार-ग्रहण का विरोध करते हुए कवियों को यह परामर्श दिया है कि वे काव्य की भाषा और भावना की समृद्धि के लिए वर्णिक छन्दों में काव्य रचना की ओर प्रवृत्त हों। उनके मतानुसार "हिन्दी में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रचार होना चाहिए, ऐसा कहना सर्वथा उचित और समयानुकूल है क्योंकि इन्द्रवज्रा, मालिनी, द्रुतविलम्बित, स्रग्धरा इत्यादि अनेकानेक मनोहर छन्दों के प्रयोग से केवल भाषा का गौरव ही अधिक नहीं होगा, किन्तु यदि वे छन्द समर्थ लेखनी से निकले तो काव्य की सुन्दरता भी बढ़ जावेगी।"[1] इससे स्पष्ट है कि छन्द से काव्य के शब्द-विन्यास और भाव-गति, दोनों का उपकार होता है। यहाँ मात्रिक छन्दों का तिरस्कार नहीं हुआ है, अपितु उनका अभिप्राय केवल यही है कि लयात्मक वृत्ति से अनुप्राणित होने के कारण वर्ण-वृत्तों का प्रयोग भी मनोमुग्धकारी सिद्ध होगा। यहाँ यह शंका हो सकती है कि छन्द-रचना के निश्चित नियमों के होने पर भी समर्थ और असमर्थ लेखनी के प्रश्न की आवश्यकता ही क्या है? इसका समाधान सहज है। काव्य में छन्द विधान का मूल आधार कवियों की अभिव्यंजना-प्रणालियों में लय के सामंजस्य की विविधता है। कविगण एक ही छन्द को सूक्ष्म अन्तर के साथ विभिन्न रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं। इसीलिए परवर्ती आचार्यों में श्री लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने यह प्रतिपादित किया है, "प्रत्येक छन्द, जिसकी कुछ मर्यादा निश्चित कर दी गई है, विषय तथा कवि के व्यक्तित्व के साथ एकान्त रूप से बदल जाता है।"[2]

"पूर्ण" जी ने छन्द में तुक की स्थिति का मार्मिक विवेचन किया है। उनकी प्रवृत्ति उसके बाह्य रूप के उल्लेख की अपेक्षा अन्तरूप के उद्घाटन की ओर रही है। इसीलिए तुक को काव्य के लिए अपरिहार्य न मान कर काव्यगत राग के आधार पर रोचकता को उसका प्रतिमान कहा गया है। उदाहरणार्थ "सत्कविता पर बातचीत" शीर्षक परिसंवाद में सुकवि और रसिक की निम्नलिखित वार्ता देखिये—

"सुकवि—तुक हो कि न हो?

रसिक—हो, तो रोचकता के हेतु है। न हो, तो दोष नहीं। परन्तु बहुत से छन्दों में तुक का न होना उचित नहीं है—जैसे दोहा, चौपाई, मनहरण इत्यादि। इनमें कानों को तुक का अभ्यास हो रहा है। इसी तरह बहुत से छन्द ऐसे हैं जिनमें तुक का न होना कानों को नहीं खटकता जैसे द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलक, शिखरिणी इत्यादि।"[3]

छन्द में अन्त्यानुप्रास की योजना स्वर-माधुरी में सहायक होती है, किन्तु यह छन्द का अनिवार्य धर्म नहीं है। "पूर्ण" जी ने तुक को कतिपय छन्दों की श्रवण सुखदता

---

१. धाराधर धावन, द्वितीय भाग, भूमिका, पृष्ठ २
२. अध्ययन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १३१
३. सरस्वती, दिसम्बर १९०६, पृष्ठ ३६६

में उपयोगी मान कर मार्मिक तथ्य का उद्घाटन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है। अन्त्यानुप्रासरहित कविता के विषय में उनकी इस धारणा को श्री लोचनप्रसाद पांडेय ने "हिन्दी में अनुकान्त कविता" शीर्षक लेख में इस प्रकार उद्धृत किया है—

"तुक के विषय में मुझे इतना ही कहना है कि जैसे संगीत में सुरावट का बाधक ताल है, वैसे ही काव्य में तुक का नियम भी एक बाधा है, तो क्या बेतुकी हाँकी जाय? जी नहीं! जिन छन्दों में तुक अपरित्याज्य है उनमें तुक को न लाना अवश्य बेतुकापन होगा, परन्तु बहुत से ऐसे छन्द हैं जो धारा प्रवाह कविता करने के लिए उपयोगी हैं और जिनमें तुक के न लाने से काव्य-सौन्दर्य की हानि न होगी। जैसे "रोला छन्द"। गणात्मक छन्दों में भी तुक की आवश्यकता कम प्रतीत होती है।"[1]

पं० रामनरेश त्रिपाठी भी "पूर्ण" जी की भाँति काव्य-शिल्प के विवेचन के प्रति सजग रहे हैं। यद्यपि उन्होंने काव्य के कलात्मक उपकरणों को भाव-विभूति से गौण माना है—"भाषा तो शरीर मात्र है, प्राण तो भाव है,"[2] तथापि वे उनके विवेचन की ओर से उदासीन नहीं हैं। उपर्युक्त मन्तव्य के अनुरूप उन्होंने "काव्य की भाषा सदा अर्थ का अनुसरण करती हुई होनी चाहिए"[3] जैसी उक्ति द्वारा भाषा को अर्थ-सौन्दर्य के विवर्द्धन में सहायक माना है। भाव की उपेक्षा कर केवल भाषा के अलंकरण में निमज्जित रहने की प्रवृत्ति को वे कवि का धर्म नहीं मानते।[4] इसीलिए उन्होंने "खड़ी बोली की कविता" शीर्षक लेख में कवि को गम्भीर अर्थवाही शब्दों के प्रयोग का परामर्श दिया है, क्योंकि ऐसी शब्दावली ही अध्येता की विचार-शक्ति को उद्बुद्ध करती है। इस विषय में उनकी उक्ति इस प्रकार है—

"बहुत बड़ी बात को थोड़े में कहना कविता का प्रधान गुण होना चाहिए × × × × × कविता का आनन्द तो तब मिलता है जब सुनना कम पड़े और विचारना अधिक। इसलिए पते की बात को थोड़े में ही कह देने से पद्य में प्राण आ जाता है।"[5]

इससे यह भ्रम हो सकता है कि उन्होंने काव्य में संश्लिष्ट पदावली को स्थान देने का समर्थन किया है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। "मानसी" में संकलित संक्षिप्त मुक्तक कविताओं में जो गहन भावाभिव्यक्ति हुई है, उसकी सरल पदावली हमारी इसी धारणा को अप्रत्यक्षतः सिद्ध करती है। वैसे भी उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि "प्रसाद गुण से रहित काव्य को तो काव्य कहना ही न चाहिए।"[6] इसी प्रकार उन्होंने "हिन्दी कविता के नवीन विषय" शीर्षक लेख में भी लिखा है—"भाषा ऐसी बामुहावरे और सरल

१ नवम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बम्बई, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ६५
२ स्वप्नों के चित्र, अपनी कहानी, पृष्ठ ७
३ कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ३
४ देखिए "कवि-कौमुदी", वैशाख-ज्येष्ठ १६८१, "हिन्दी कविता की भाषा" शीर्षक लेख
५ कवि कौमुदी, चैत्र १६८१, पृष्ठ १०
६ कविता-कौमुदी, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ३

हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग भी कवि का भाव समझ लें।"[1] यहाँ भाषा की प्रसाद-गुण-सम्पन्नता के अतिरिक्त "हरिऔध" जी की भांति मुहावरो को स्थान देने पर भी बल दिया गया है। इस सम्बन्ध मे उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि "मुहावरे भाषा के प्राण हैं, मुहावरों का ठीक प्रयोग न जानने वाला न अच्छी भाषा बोल सकता है, न लिख।"[2] इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने काव्य-भाषा के विषय मे अपने मन्तव्य को द्विवेदी युग की सामान्य विचार-धारा के अनुरूप ही उपस्थित किया है।

त्रिपाठी जी ने काव्य मे छन्द प्रयोग की स्थिति का विशेष विवेचन न कर महावीर-प्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त, "पूर्ण" आदि की भाँति अतुकान्त काव्य-रचना का समर्थन किया है, किन्तु वे तुक को सर्वथा त्याज्य नही मानते। इसीलिए उन्होने अतुकान्त रचना को मात्रा-वृत्तो के स्थान पर गणात्मक वृत्तो के लिए अधिक उपयुक्त माना है—"आजकल खडी बोली में अतुकान्त कविता भी लिखी जाने लगी है परन्तु वह वर्ण वृत्तों में ही अच्छी लगती है। अतुकान्त कविता लिखने में इतना सुभीता तो अवश्य है कि भावों को प्रकट करने में तुकबन्दी का बन्धन नहीं रह जाता, परन्तु मात्रिक छन्दो में यह खटकती है।"[3] यद्यपि "हरिऔध" जी ने अतुकान्त रचना का मात्रा-वृत्तो के लिए भी समर्थन किया है, तथापि उस समय काव्य-जगत् मे इसके लिए वर्ण-वृत्तो के प्रयोग को ही अधिक महत्व दिया जाता था। अत त्रिपाठी जी का मन्तव्य सीमाबद्ध होने पर भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने "तुक" शीर्षक लेख मे यह प्रतिपादित किया है कि कवि को तुक-योजना के लिए शब्दो का शुद्ध रूप में प्रयोग करना चाहिए,[4] अन्यथा काव्य को तुक-विहीन रखना ही श्रेयस्कर है।[5] इस प्रतिपादन से उनके विचारो की स्वच्छता और स्वस्थता का सहज बोध हो जाता है। तुक योजना के महत्व के विषय मे उनकी धारणा इस प्रकार है—"ठीक तुक मिलने से छन्द पढते समय कान को बहुत मधुर जान पड़ते हैं।"[6] तुक की इस श्रवणप्रियता का सहृदय को काव्य के रसास्वादन का आमन्त्रण देने मे विशेष योग रहता है। इस विषय मे श्री हरिरामचन्द्र दिवेकर का यह मत द्रष्टव्य है—

"गायन में जिस प्रकार वादी-सवादी स्वरों के पुनरुच्चारण से गीत अधिक सुरीला और रसीला हो जाता है उसी प्रकार अनुप्रास और तुकान्त से कविता कानों को सुरीली और रसीली मालूम होती है।"[7]

श्री लोचनप्रसाद पाडेय ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत केवल काव्य मे छन्द-

---

१. कवि कौमुदी, वैशाख-ज्येष्ठ १९८१, पृष्ठ ८१

२ कविता कौमुदी, भाग ३, पृष्ठ ५२

३ हिन्दी-पद्य-रचना, पृष्ठ ६

४ देखिए "कवि-कौमुदी", वैशाख-ज्येष्ठ १९८१, पृष्ठ ७६

५ देखिए "कवि-कौमुदी", वैशाख-ज्येष्ठ १९८१, पृष्ठ ७४-७८

६. हिन्दी-पद्य-रचना, पृष्ठ ६

७ सरस्वती फरवरी १९१७, पृष्ठ ७८

विधान पर विचार किया है। उन्होंने छन्द के स्वरूप का पूर्ण विवेचन न कर केवल यति और तुक के स्वरूप की चर्चा की है, तथापि उनके प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे छन्द रचना के रूढ़िगत नियमों को आवश्यकतानुसार परिहार्य मान कर इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने छन्द में विराम की स्थिति का विशेष निरूपण नहीं किया है, तथापि "नीति कविता" के ग्रन्थ में प्रकाशित यह वक्तव्य पठनीय है—**"इस पुस्तिका में जो पद्य पूर्वोक्त वृत्तों में हैं[1] उनमें यति का नियम पालन नहीं हुआ है।"[2]** यहाँ अप्रत्यक्षत यह प्रतिपादित किया गया है कि छन्द रचना के अंगों में साधारण परिवर्तन काव्य के लालित्य का विघातक नहीं है। उन्होंने छन्द में विराम के महत्व को अस्वीकार न कर "पूर्ण जी की भाँति उसे छन्द का अनिवार्य धर्म नहीं माना है। काव्य में तुक-योजना के विषय में भी उनका दृष्टिकोण इसी प्रकार का रहा है। उन्होंने "हिन्दी में *तुकान्तहीन पद्य रचना" शीर्षक लेख में अपने युग की बहु-स्वीकृत विचार-प्रणाली के अनुकूल* अतुकान्त कविता का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि उसमें कवि के उद्‌गार प्रवाह को स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्राप्त रहती है। उनके मतानुसार **"हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जब अतुकान्त रचना कर रहे हैं तो क्यों? उद्‌गारों के प्रवाह को छन्द-बन्धन से स्वच्छन्द कर हमें उसके अनुसार वाक्य और भाव को सङ्कुचित एवं वर्धित करना चाहिए।"[3]** इस उद्धरण में निहित कवि-स्वातन्त्र्य का भाव अभिनन्दनीय है, किन्तु अतुकान्त कविता और छन्द मुक्त कविता में कोई अन्तर न मान कर पाडेय जी ने सैद्धान्तिक भूल की है। तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे अन्त्यानुप्रासरहित कविता के मर्म से अवगत नहीं रहे हैं। 'हिन्दी में अतुकान्त कविता" शीर्षक लेख की निम्नोक्त पंक्तियों में उन्होंने इस दिशा में अपने विचारों की गहनता का सहज उद्‌घाटन किया है—

"*अतुकान्त रचना का प्रधान गुण सबलता है,* और *जब तक यह* पूर्ण मात्रा में विकसित न हो, तब तक उसके उद्देश की सिद्धि न होगी। वीर-भाव, वचनावली का प्रवाह-प्राबल्य, वर्णित विषय की पूर्णतामयी सत्याग्रहता और वर्णन शैली की उत्तेजनाभरित तेजस्विता जिस रचना में हो वह अनायास पाठकों एवं श्रोताओं को स्ववश में कर सकती है। जिस रस का वर्णन किया जाय वही जीवन्त हो, जोरदार हो—यही बेतुकी कविता की विशेषता है।"[4]

प्रस्तुत उद्धरण में निहित प्रचार ध्वनि हिन्दी में अतुकान्त काव्य-रचना के उस प्रवर्तन-काल में स्वाभाविक है। तथापि पाडेय जी ने यहाँ तुकान्तहीन कविता की सफलता के लिए उसमें वर्ण्य की सजीवता और भाषा की प्रबलता को अपेक्षित मान कर इस सम्बन्ध में गुप्त जी की धारणा को, कि **"इस तरह की कविता में न तो भावों की खींच-तान**

---

१ ये पूर्वोक्त वृत्त हैं—वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, उपजाति आदि।
२ नीति कविता, विशेष विज्ञप्ति, पृष्ठ १
३ इन्दु, जुलाई १९१५, पृष्ठ ४१
४. नवम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बम्बई, सवत् १९७६, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ ६५

करनी पड़ती है न शब्दों की तोड़ मरोड़, इस कारण कविता में एक प्रकार की ओजस्विता आप ही आप आ जाती है,"[1] और भी सजीव रूप मे उपस्थित किया है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि वे कवि को सृजनात्मिका शक्ति को केवल छन्द-कौशल पर अवलम्बित नहीं मानते। "रायबहादुर कविवर राधानाथ राय" शीर्षक लेख मे इस मत को इस प्रकार प्रकट किया गया है—**"काव्य-उत्कर्ष छन्द-सापेक्ष नहीं, क्षमता-सापेक्ष है।"**[2] इस उक्ति के आधार पर सकेत-रूप मे यह कहा जा सकता है कि कवि अपनी सृजन-शक्ति के बल पर प्रत्येक छन्द मे सजीवता का सचार कर सकता है। उपर्युक्त प्रतिपादन के अतिरिक्त पाडेय जी ने काव्यगत छन्दो मे से सोनेट छन्द के स्वरूप की सामान्य चर्चा की है। यद्यपि उनके "हिन्दी मे चतुर्दशी पद्य अर्थात् सोनेट" शीर्षक लेख मे इस विषय का मार्मिक विवेचन हो सकता था, किन्तु वे इस ओर विशेष प्रयत्नशील नही रहे हैं। इस विषय में उनका प्रतिपादन सोनेट की परिभाषा से आगे नही जा सका है। उनका मत है कि **"विषय एक ही हो, दो या भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन एक ही सोनेट में नहीं किया जाता।"**[3] यहाँ सोनेट में विषय की एकसूत्रता पर बल दे कर उसके स्वरूप का उद्घाटन तो किया गया है, किन्तु छन्द-क्षेत्र मे उसके महत्व की विवेचना के प्रति वे सर्वथा उदासीन रहे हैं।

पं० सत्यनारायण कविरत्न ने काव्य-शिल्प के सयोजक तत्वो का प्रत्यक्ष निरूपण नही किया है, तथापि "ब्रजभाषा" शीर्षक कविता के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि वे मधुरता और अक्षर-आभा को काव्य-भाषा के विशिष्ट गुण मानते थे। यद्यपि इस कविता में इस विषय की प्रत्यक्ष चर्चा सम्भव थी, तथापि ब्रजभाषा के प्रति भावुकतापूर्ण अनुराग के कारण उन्होने इसकी रचना खड़ी बोली आन्दोलन की पृष्ठभूमि में की है। अत इसमें सिद्धान्त-प्रतिपादन के स्थान पर प्रचार-प्रवृत्ति की प्रमुखता रही है। तथापि इसकी निम्नलिखित पक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य-भाषा में माधुर्य, स्वच्छता और दीप्ति के अतिरिक्त भावानुकूल परिवर्तित हो सकने का गुण भी होना चाहिए—

"देस-काल-अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥"[4]

यहाँ यह स्मरणीय है कि ब्रजभाषा को देशकालानुसार भावाभिव्यक्ति में अक्षम मान कर ही कवियो ने उसकी उपेक्षा करते हुए खड़ी बोली को अपनाया था। डॉ० कपिलदेवसिंह ने इस दिशा मे शोध कर के यह प्रतिपादित किया है कि **"ध्यान देने योग्य बात यह थी कि ब्रजभाषा में देशकाल को व्यक्त करने की वह तत्परता तथा व्यापकता नहीं थी जो खड़ी बोली में दिखलाई दे रही थी।"**[5] ब्रजभाषा के कवियों का कार्य प्राय परम्परा-

---

१. वीरांगना, पृष्ठ ३
२. माधुरी, अप्रैल १९२६, पृष्ठ ४०४
३. प्रभा, मई १९१३, पृष्ठ १०९
४. हिन्दी-पद्य-पारिजात (सम्पादक—वियोगी हरि), पृष्ठ १३७
५. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली, पृष्ठ १९०

प्राप्त विभूति के विस्तार तक ही सीमित था, उसे उक्त अभाव से मुक्त करने की कामना उस समय केवल "रत्नाकर" तथा कविरत्न ने ही की थी, अतः उनकी यह जागरूकता विशेष महत्व रखती है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत काव्य-भाषा और छन्द के स्वरूप का सामान्य उल्लेख किया है। उन्होंने काव्य में भाषा की सुबोधता पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "**कविता में प्रासादिकता अत्यन्त वाञ्छनीय है। यह सच है कि कभी-कभी गम्भीर भावों की अभिव्यंजना में कुछ अस्पष्टता आ जाती है, किन्तु जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ दुर्बोधता बहुत खटकती है।**"[1] कवि से यह अपेक्षित है कि वह भाव-गाम्भीर्य को अग्राह्य न होने देने के लिए भाषा की सहजता की ओर उपयुक्त ध्यान दे। ठाकुर साहब की कविताओं का अध्ययन करने पर उनकी शब्द-योजना की संक्षिप्तता तथा वाक्यों की सारगर्भितता के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से भी यह कहा जा सकता है कि वे भाषा को सरल-स्पष्ट रखने तथा भाव-पक्ष के संस्कार के लिए उसका सन्तुलित आयोजन करने का समर्थन करते हैं। यह दृष्टिकोण उनकी सभी कविताओं में समान रूप से व्याप्त रहा है। भाषा के इस संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त उन्होंने छन्द के विषय में भी यह कहा है कि उसमें काव्य में (सन्तुलन स्थापित रहने के कारण) रस की सृष्टि में सहायता मिलती है। यथा—

"हो कंद कंज-कलिका में, अलि ने मँडराना सीखा।
हो छन्द-बद्ध कविता ने, प्रिय रस सरसाना सीखा॥"[2]

यहाँ कवि ने न तो तुकान्त और अतुकान्त कविता के विषय में अपने युग में प्रचलित विवाद में भाग लिया है और न छन्दोबद्ध तथा मुक्तछन्दमयी काव्य-रचना के अन्तर के स्पष्टीकरण का ही प्रयास किया है। कवि का अभिप्रेत केवल यही है कि छन्द-रचना कवि-भावना की परिपक्वता में बाधक न हो कर रस-सृष्टि में सहायक रहती है। उन्होंने अपने काव्य में विविध मात्रा-वृत्तों की सहज-मधुर योजना कर के भी अप्रत्यक्षतः इस मत का सुन्दर समर्थन किया है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी युग के अन्य कवियों ने उपर्युक्त काव्य मान्यताओं के अतिरिक्त काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन के विषय में भी स्फुट रूप से मत-प्रतिपादन किया है। आगे हम इनके सम्बन्ध में उनके विचारों की क्रमशः समीक्षा करेंगे।

१ काव्य के अधिकारी

आलोच्य कवियों में से प्रस्तुत काव्यांग के विवेचन की ओर केवल नाथूराम शंकर तथा रामचरित उपाध्याय ने ध्यान दिया है। *शंकर जी* के विचार से काव्य का यथार्थ अनुशीलन करने की क्षमता केवल कवि में होती है। यथा—

१. आधुनिक कवि, भाग ४, आत्म कथन, पृष्ठ १४
२. कादम्बिनी, पृष्ठ ५३

"को जाने कवि के बिना कविता को आनन्द।
सुख चकोर को-सो कहो कौन लहै लखि चन्द।"[१]

काव्य की रचना हृदय के आवेग से सम्बद्ध है, अत उसमे प्राप्य आत्मिक आनन्द के आस्वाद के लिए प्रमाता को भी कवि हृदय रखना ही चाहिए। इस विषय मे द्विवेदी जी का दृष्टिकोण भी यही है—"**कविता की यथार्थ जांच वही कर सकता है जो कवि है, जो सहृदय है, जो रसिक है, जो मानवी स्वभाव और प्राकृतिक नियमों का उत्तम ज्ञाता है।**"[२] इसी प्रकार *पण्डित रामचरित उपाध्याय* ने भी काव्य के अध्ययन से प्राप्य आनन्द के स्वरूप का उल्लेख करते हुए यह कहा है कि केवल कवि अथवा सहृदय ही काव्य के मूल अभिप्राय को हृदयगम करने मे सक्षम होता है। "काव्य-सुधा प्रत्यक्ष लहि, क्यों न चखत **जग बीच**"[3] कह कर सहृदय को काव्य के अध्ययन का आमन्त्रण देते हुए उन्होंने इसी मत को इस प्रकार उपस्थित किया है—

"कवि के बिना न कोई पाता है स्वाद काव्यों का।
भौंरा ही लेता है स्वाद कमल का, न भेक कभी॥"[४]

यहाँ सहृदय को काव्य-कुसुम के रस का आस्वादन करने वाला रसिक भ्रमर कह कर यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार काव्य मे भाव-दीप्ति के सचार के लिए कवि के अत करण मे निर्मलता अपेक्षित होती है उसी प्रकार काव्य-रस के ग्रहण के लिए सहृदय के चित्त का सत्व-गुण प्रधान होना आवश्यक है। इस विषय मे सस्कृत की यह सूक्ति स्मरणीय है—"अमर्ष-भाव से रहित होने के कारण सहृदय को अन्य कवियों के काव्य के अनुशीलन से स्वरचित काव्य की भाँति ही आनन्द प्राप्त होता है, (क्योंकि काव्य में प्राकृत भावों का उद्घाटन होने पर वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।)" यथा—

"अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासै स्वकीयै।
परिभणितिषु तृप्ति यान्ति सन्त कियन्त॥"[५]

२. काव्यानुवाद

आलोच्य कवियो मे काव्यानुवाद के विषय मे केवल देवीप्रसाद "पूर्ण" और सत्यनारायण कविरत्न के मत उपलब्ध होते हैं। "*पूर्ण*" जी ने कालिदास के "मेघदूत" का "धाराधर धावन" शीर्षक से अनुवाद करके इस कृति के प्रथम भाग की भूमिका मे अनुवाद-कला की पर्याप्त चर्चा की है। उन्होंने अन्य अनुवादकर्ताओं (जगमोहनसिंह, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त) की भाँति अनुवाद को सजीवता के लिए

१ शकर-सर्वस्व, पृष्ठ ४३०
२. कविता-कलाप, भूमिका, पृष्ठ २
३ मन-सतसई, पृष्ठ ४१
४ सूक्ति मुक्तावली, पृष्ठ ३
५ सूक्ति मुक्तावली (सग्रहकार—बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ १७०

शब्दानुवाद का विरोध करते हुए अनुवादक को यह अनुमति दी है कि वह मूल कृति के भाव को स्पष्ट करने के लिए आवश्यकतानुसार भाव-विस्तार का भी आश्रय ले सकता है। इसीलिए उन्होंने अपनी अनुवाद-पद्धति के विषय में कहा है—"कहीं-कहीं (जहाँ ऐसा करने से कविता की सुन्दरता में अन्तर नहीं पड़ता) अनुवाद में भी गूढ़ता को खोल दिया है जैसे ४५वें श्लोक के अनुवाद में "सेत" और "सौत" ये दोनों शब्द मूल के शब्दार्थ के बाहर परन्तु भावार्थ के भीतर हैं।"[1] इसी प्रकार उनकी यह उक्ति, "अनुवाद करने में हमने इस बात का ध्यान रखा है कि मूल का भाव न छूटे और उसके समस्त आवश्यक पदों का अर्थ भी आ जावे"[2] भी इसी तथ्य की परिचायक है कि काव्यानुवाद केवल शब्दार्थबोधक न हो कर भावार्थबोधक होना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार पं० श्रीधर पाठक ने "श्री गोपिकागीत" में समश्लोकी अनुवाद की प्रणाली को ग्रहण किया है उसी प्रकार "पूर्ण" जी ने भी मूल काव्य के प्रत्येक छन्द को एक ही छन्द में स्थान देने का समर्थन करते हुए "धाराधर धावन" के विषय में लिखा है—"अनुवाद का नियम छन्द प्रति छन्द ही होना चाहिए इसलिए इनसे छोटे वृत्त के लेने में अनुवाद ठीक न बन पड़ता, क्योंकि यद्यपि हिन्दी भाषा में भी अर्थ समेटने की बड़ी शक्ति है तथापि व्रजभाषा में समास आ सकता है तो केवल अति सरल रूप में।"[3] इस मन्तव्य के अतिरिक्त "पूर्ण" जी ने अन्य अनुवादकों की अपेक्षा यह मौलिक धारणा व्यक्त की है कि अनूदित काव्य में भावना की स्वच्छ अभिव्यक्ति के लिए अर्थ-सौन्दर्य की सन्निधि में पद-लालित्य को उचित महत्व प्राप्त होना चाहिए। इस विषय में उनका मत इस प्रकार है—

"जहाँ तक हमारी अल्प शक्ति ने सहायता की हमने अनुवाद की कविता की शब्द रचना सोहावनी की है जिससे अर्थ सौन्दर्य के साथ पद-लालित्य की सन्धि से पाठक का प्रसन्नता हो, कालिदास की सुन्दर कविता स्वरूपी वनिता के लिए शृंगाराभूषण भी सुन्दर होने चाहिएँ।"[4]

पं० सत्यनारायण कविरत्न ने काव्यानुवाद के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि "मालती माधव" के अपने अनुवाद के विषय में उनका यह मत, कि "इस असमर्थ लेखनी प्रसूत अनुवाद में त्रुटि न रहना आश्चर्य की बात होती, क्योंकि मूल ग्रंथ के भाव की सम्पूर्ण रक्षा करके अन्य भाषा में छन्द-माधुर्य के साथ कवि की उक्ति का सच्चा चित्र खींचना सहज सामान्य कार्य नहीं है"[5] इस तथ्य का प्रतीक है कि अनुवाद में मूल रचना के स्वालक्षण्य का पूर्ण अनुवाद न हो पाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रचनाकार की शैली उसके व्यक्तित्व से इतनी ग्रथित रहती है कि अनुवादक उसे उसी रूप में ग्रहण करने में प्रायः असफल रहता है। इससे स्पष्ट है कि कविरत्न जी ने अनुवाद में अनु-

१. धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ६ १०
२. धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ७
३ धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ५
४ धाराधर धावन, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ७
५. मालती माधव नाटक, अनुवादक का निवेदन, पृष्ठ २

वाद की भावनाओं के यथासम्भव संग्रहण को ही अनुवादकर्ता का गुण माना है।

३ काव्यालोचन

प्रस्तुत काव्यांग कवि मात्र द्वारा विवेचनीय विषय नहीं है, द्विवेदी युग के विवेच्य कवियों में से इस दिशा में केवल बालमुकुन्द गुप्त और लोचनप्रसाद पाडेय ने मत प्रतिपादन किया है। *बालमुकुन्द जी* ने 'प्रमघन", महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त की भाँति आलोचना में समीक्षक के निःसग भाव को महत्व देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए प्रशंसायुक्त आलोचना या किसी के साथ अपना वैमनस्य निकालने के लिए किसी पुस्तक की दुरालोचना नहीं करता, परन्तु सद् आलोचना करता हूँ।"[१] इसी धारणा के फलस्वरूप उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है कि "आलोचक में केवल दूसरों की आलोचना करने का साहस ही न होना चाहिए वरच अपनी आलोचना दूसरों से सुनने और उसकी तीव्रता सहने की हिम्मत भी होनी चाहिए। जिस प्रकार वह यह समझता है, कि मेरी बातों को दूसरे ध्यान से सुनें, उसी प्रकार उसे स्वयं भी दूसरों की बातें बड़ी धीरता और स्थिरता से सुननी चाहिएँ।"[२] यह दृष्टिकोण आलोचना के क्षेत्र में नवीन नहीं है, किन्तु यह असन्दिग्ध है कि पूर्व-कथित मन्तव्य का सबल समर्थन भी युग विशेष के साहित्यकारों के लिए उद्बोधक होता है।

कवि श्री लोचनप्रसाद पाडेय ने आलोचना के स्वरूप का विधिवत् उल्लेख नहीं किया है, तथापि पूर्वोक्त कवियों की भाँति उन्होंने भी आलोचक के लिए पूर्वाग्रहों पर संयम रखने को आवश्यक मान कर यह लिखा है, "समालोचना से भाषा और साहित्य को बड़ा लाभ होता है, पर वह सत्य और निष्पक्ष होनी चाहिए।"[३] यह दृष्टिकोण स्पष्टतः परम्परागत है, किन्तु किसी भी कवि द्वारा इसका प्रतिपादन इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह प्रायः आलोचक की निरंकुशता से पीड़ित हो कर ही ऐसा कहता है। पाडेय जी के निम्नोक्त काव्यांश में हृदय की इसी मार्मिक पीड़ा की स्पष्ट अभिव्यक्ति रही है—

"लिखें लेख पुस्तक कविता तो लेयें समालोचकगण पर।
हाय हमारी चोटी करते दुर्गति गाली दे दे कर॥
कहें बने ये ग्रन्थकार नहिं मानें "व ब" में भी कुछ भेद।
"न को ण स" लिखते ये क्या पुस्तक लिख सकते मूढ़ अचेत॥"[४]

यहाँ आलोचना के प्रति कवि की असहिष्णुता की व्यंजना नहीं है, अपितु अप्रत्यक्ष रूप से यह मन्तव्य प्रकट किया गया है कि आलोचक को कृति के शिल्प विधान की साधारण भूलों में ही न उलझ कर उसमें निहित अर्थ-गौरव पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

---

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ३२२
२ गुप्त निबन्धावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६६
३ तृतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ १०४ १०५
४ प्रवासी, पृष्ठ ८

आलोचक द्वारा कवि के मन की इस एकान्त व्यथा की उपेक्षा निश्चय ही सराहनीय न होगी।

सिद्धान्त-प्रयोग

प्रस्तुत कवियों के काव्य मतों की सक्षिप्तता को देखते हुए पूर्वचर्चित कवियों की भांति उनके विचारों की व्यावहारिक स्थिति का भी काव्य का अन्तरंग (काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य प्रयोजन काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य), काव्य शिल्प और स्फुट काव्य सिद्धान्त (काव्यानुवाद) के शीर्षकों के अनुसार अध्ययन करना उपयुक्त होगा।

१ काव्य का अन्तरंग

आलोच्य कवियों द्वारा काव्य की अन्तःपुष्टि के लिए उल्लिखित उपादानों का विश्लेषण करने के उपरान्त उनके काव्यगत रूप के विवेचन के लिए बालमुकुन्द गुप्त के अतिरिक्त (उन्होंने इस दिशा में केवल काव्य-वर्ण्य की चर्चा की है, किन्तु वह भी अपने आप में सीमित और अपर्याप्त है) शेष सभी कवियों के विचारों का अध्ययन किया जा सकता है। *कविवर नाथूराम शंकर* ने काव्य में अन्त शोभा के विधान के लिए कवि की बुद्धि और भावना से उपकृत लोकहितकारी विषयों की सरस-सुन्दर रूप में चर्चा करने का सन्देश दिया है। उनकी "नैसर्गिक शिक्षा", "कर्मवीरता", "प्रचड प्रतिज्ञा", "उद्बोधनाष्टक" आदि कविताओं[1] में अनुभूति और चिन्तन से सम्पन्न हितात्मकता के अतिरिक्त शान्त रस और सुगठित पदावली की स्थिति इस बात की प्रमाण है कि उन्होंने अपने विचारों के व्यवहार की ओर भी समुचित ध्यान दिया है। उपदेशगर्भित विचारों के कारण उनकी कुछ कविताओं में सहज सौरस्य के स्थान पर शुष्कता और जटिलता की स्थिति को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उनके वसन्त सेना, केरल की तारा, वियोग-वज्राघात, तागड़ दिन्ना नागर वेन, सलोने की आल्हा, अफीमी की आपत, समस्या-पूर्तियाँ और विविध रचनाएँ आदि काव्य-प्रकरणों[2] में शृंगार रस और करुण रस का भी सम्यक् परिपाक है। *देवीप्रसाद "पूर्ण"* ने भी उन्हीं की भांति काव्य में अनुभव और मनन के आधार पर समाज हितकारी विषयों का उल्लेख करने को महत्व दिया है। उनके भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी छन्दों तथा "गीत-गुण-गान", "स्वदेशी कुंडल", "नए सन् का स्वागत", "नवीन सवत्सर का स्वागत" आदि कविताओं[3] में इस दृष्टिकोण की सहज व्याप्ति रही है, किन्तु उपदेश-प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण इन रचनाओं में भी शंकर जी की कृतियों के समान ही काव्य-माधुरी का सर्वत्र अन्तःप्रसार नहीं हो पाया है।

कविवर रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य में शृंगार रस की अतिशयता का विरोध करते हुए उसमें समाज और राष्ट्र के मंगल-साधक विषयों के भावन द्वारा रस के विशेष

१. देखिए "शंकर-सर्वस्व", पृष्ठ ४४-५०, ६३ ६५, ८५-८८, १७३-१७५

२ देखिए "शंकर सर्वस्व", पृष्ठ १७५-१८४, १८६ १६३, २०३-२०६, २१० २२२, २८१ २८३, २६१ ३८४, ४३७-५०४

३ देखिए "पूर्णपराग", पृष्ठ १६२-१७३, १७६-१८३, १६६-२०६

प्रतिष्ठान को कवि-धर्म माना है। इस दृष्टिकोण का उनकी सभी कृतियों में समान सफलता के साथ निर्वाह हुआ है—"मानसी" की स्फुट कविताएँ सामाजिक चेतना की उद्बोधक हैं और "पथिक", "मिलन" तथा "स्वप्न" में लौकिक प्रेम की सात्विकता, समाज-हित और राष्ट्रीय जागृति का कथा-शैली से रस-स्निग्ध चित्राकन हुआ है। उनके समवर्ती कवियों में प० रामचरित उपाध्याय ने युग-चेतना-वाहिनी विषय-सामग्री की रस-मर्मी और आनन्ददायिनी चर्चा को कवि का इष्ट माना है। उन्होंने "सूक्ति मुक्तावली" और "देवदूत" के अतिरिक्त "राष्ट्र-भारती" की राष्ट्रीय विनय, जातीय गीत, स्वराज्य सोपान, मन कामना आदि कविताओं में उस युग की राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त कर इस दिशा में अपने सिद्धान्तों का प्रायश परिपालन किया है, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि उनकी रचनाओं में काव्य-माधुरी का अभाव न होने पर भी उनके मत के अनुरूप प्रकर्ष नहीं हो सका है। पं० लोचनप्रसाद पांडेय का प्रतिपाद्य भी यही रहा है कि काव्य में आन्तरिक सत् चेतना की प्रतिष्ठा द्वारा लोक हित की सिद्धि होनी चाहिए। उनकी "नीति कविता" और "मेवाड-गाथा" शीर्षक कृतियों के अतिरिक्त "कविता कुसुम माला" की अधिकांश कविताओं और "पद्य-पुष्पाञ्जलि" की भारत-स्तुति, हमारा अधःपतन, हमारी दशा, हमारी अस्वस्थता, देशोद्धार सोपान, उद्बोधन, उपदेश, हृदयोद्गार आदि कविताओं में इस सिद्धान्त की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है। अन्य कवियों में पण्डित सत्यनारायण कविरत्न के भक्ति-पदों और अन्य मुक्तक कविताओं (ब्रजभाषा, पावस-प्रमोद आदि) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भी काव्य की अन्त दीप्ति के विषय में अपने विचारों (काव्य में रस और सामाजिक आदर्शों की अभिव्यक्ति) का सफल निर्वाह किया है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने काव्य में अनुभूति, चिन्तन और सौन्दर्य की सहज-मधुर व्याप्ति और मानववादी भावनाओं की रसमयी प्रतिपत्ति को काव्य का आदर्श माना है। उनकी कृतियों में माधुर्य और रस की अन्त सलिला सर्वत्र समभाव से प्रवाहित रही है और उन्होंने "माधवी" की "राधिकारमण", "गोपाल", "नन्दलाल", "वह" आदि कविताओं तथा "ज्योतिष्मती" की "आराधना", "आत्म-समर्पण" आदि कविताओं में भक्त-हृदय की अनुभूतियों और मंगलदायक पूत भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा अपनी काव्य-तत्व-सम्बन्धी धारणाओं का सहज निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त "मानवी" में नारी-जीवन की वेदना, "जगदालोक" में गांधी जी की चिन्ता-धारा और "ग्रामिका" में कृषक-वर्ग की जीवन-प्रणाली की मार्मिक व्याख्या द्वारा मानववादी दृष्टिकोण को अपनाने और "सुमना" में प्रकृति-सौन्दर्य के माध्यम से सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने में भी उन्हें सफलता प्राप्त हुई है।

२. काव्य-शिल्प

द्विवेदीयुगीन कवियों में बालमुकुन्द गुप्त, रामचरित उपाध्याय और सत्यनारायण कविरत्न काव्य शिल्प के प्रत्यक्ष विवेचन के प्रति लगभग उदासीन रहे हैं, अत. उनके विचारों के काव्यगत व्यवहार की समीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य कवियों में श्री

नाथूराम शंकर ने छन्द-सौष्ठव को काव्य का अनिवार्य अंग माना है और अपनी कविताओं मे छन्द के सहज शुद्ध प्रयोग द्वारा इस मत का निर्वाह भी किया है। उनकी छन्द-रचना के विषय मे "निराला" जी का यह मन्तव्य उल्लेखनीय है, **"इनकी तरह वर्णवृत्तों और मात्रिक छन्दों का कुशल कवि हिन्दी में हुआ ही नहीं। मुझे इनकी वर्णन-शक्ति से छन्दोधिकार जबरदस्त जान पड़ता है।"**[1] शकर जी के सहवर्ती कवियो म *बाबू देवीप्रसाद "पूर्ण"* ने काव्य म सुख-सरल भाषा, स्वाभाविक अलकरण और मात्रिक-वर्णिक छन्दो के तुकान्त अथवा भिन्न तुकान्त रूप म लयात्मक सयोजन को काव्य के गुण माना है। उनकी रचनाओ मे "स्वदेशी कुडल" सर्वाधिक सरल है, किन्तु उनकी अन्य कृतियो मे भी प्रसाद गुण की सहज व्याप्ति रही है। उनकी "सुन्दरी सौन्दर्य" और "सरस्वती" शीर्षक कविताओ[2] का अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अलकारो द्वारा भावोत्कर्ष की योजना मे भी उन्हे उपयुक्त सफलता प्राप्त हुई है। इसी प्रकार उन्होंने "कादम्बरी"[3] और "वसन्त वियोग'[4] आदि रचनाओ मे श्रवण प्रिय तुक और लय का भी मनोहारी सघटन किया है। छन्द चयन की दृष्टि से भी उन्होंने अपने सिद्धान्तो के अनुकूल कोष्ठको मे उल्लिखित कविताओ मे रूपमाला (शकुन्तला-जन्म), नरेन्द्र, हरिगीतिका (धाराधर-धावन, पूर्वमेघ[1], कुडलिया (स्वदेशी कुडल), छप्पय (हिन्दू विश्वविद्यालय के डेपुटेशन का स्वागत) आदि मात्रिक छन्दो और स्रग्धरा, दडक (धाराधर धावन, उत्तरमेघ), सवैया (कादम्बरी) आदि वर्णिक छन्दो मे सफलतापूर्वक काव्य-रचना की है।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य मे प्रसाद गुण और मुहावरो से सम्पन्न भावानुकूल पदावली, श्रवण-मधुर तुकान्त रचना और भिन्न तुकान्त कविता को महत्व दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से उनकी भाषा सस्कृतनिष्ठ होने पर भी प्रसाद गुण मे समृद्ध रही है और मुहावरों के प्रयोग की ओर विशेष प्रवृत्ति न होने पर भी उनके काव्य मे **"परदा डालना", "हृदय खोलना", "मुख का कौर काढ लेना"** आदि मुहावरो[5] का प्रयोग भावकान्ति का सवर्द्धक रहा है। छन्द विधान के अन्तर्गत उन्होंने सर्वत्र अन्त्यानुप्रास की मधुर सयोजना की है, किन्तु अतुकान्त काव्य से विरोध न होने पर भी उसकी रचना उन्हें इष्ट नहीं रही है। इस युग के अन्य कवियो में *पण्डित लोचनप्रसाद पाडेय* ने अतुकान्त काव्य-रचना का प्रबल समर्थन किया है। यद्यपि उन्होंने अपनी कृतियो की रचना अधिकतर *अन्त्यानुप्रास-सहित ही की है, तथापि उन्होंने "मेवाड-गाथा" के "अलौकिक धैर्य" प्रकरण* और "पद्य-पुष्पान्जलि" की "हमारी दु खमयी दशा" तथा "उपदेश" शीर्षक कविताओं

---

१ चयन, पृष्ठ ७५

२ देखिए "पर्ण-पराग", पृठ १५८-१६१, २११ २१४

३ देखिए "पूर्ण-पराग", पृष्ठ २१५ २१६

४. देखिए "धर्म-कुसुमाकर", मई तथा जून १९१२ के अक

५ (अ) मिलन, तीसरा सर्ग, पृठ ४५

(आ) स्वप्न, चौथा सर्ग, पृष्ठ ६२

(इ) पथिक, तीसरा सर्ग, पृष्ठ ४५

मे अतुकान्त पद-रचना-प्रणाली का भी सफल निर्वाह किया है।[1] *ठाकुर गोपालशरण-सिंह* ने भाषा की सरलता और काव्य की छन्दोबद्धता को कवि द्वारा अभिलषित तत्व माना है। उनकी रचनाओं में अभिधा वृत्ति की प्रधानता और छन्द-योजना की स्वच्छता से यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस सिद्धान्त के निर्वाह मे कहीं भी त्रुटि नही की है।

३ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

आलोच्य कवियो द्वारा निरूपित स्फुट काव्य सिद्धान्तो (काव्यानुवाद और काव्या लोचन) मे से केवल काव्यानुवाद का व्यावहारिक रूप ही विवेचनीय है, क्योकि काव्यालोचन के स्वरूप प्रतिपादक कविया (बालमुकुन्द गुप्त तथा लोचनप्रसाद पाडेय) ने आलोचना की दिशा मे प्राय नगण्य काय किया है। काव्यानुवाद के विषय म *बाबू देवीप्रसाद "पूर्ण"* ने यह मत व्यक्त किया है कि अनुवादक को मूल कृति का भावार्थबोधक अनुवाद करते हुए उसमे पद-लालित्य के सरक्षण की ओर उचित ध्यान देना चाहिए। इसीलिए उन्होने "धाराधर धावन" मे "मेघदूत" की भावनाओ मे यत्र-तत्र सक्षिप्त परिवर्तन-परिवर्द्धन करने के अतिरिक्त उसम ब्रजभाषा के रमणीय पद-गुम्फ की भी सहज स्थिति रखी है। इस कृति मे शब्दात्मक अनुवाद के स्थान पर रसात्मक भावान्तरण मे कवि की सफलता के कारण ही श्री हरदयालु सिंह ने यह मत व्यक्त किया है—"अनुवाद होते हुए भी धाराधर-धावन में जैसा काव्य सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है, वैसा उनकी अन्य रचनाओं में नहीं।"[2] पूर्ण जी के अतिरिक्त *श्री सत्यनारायण कविरत्न* ने भी कृति-विशेष के अनुवाद मे मूल काव्य-भावनाओ को यथासम्भव ग्रहण करने पर बल दिया है। उन्होने "पूर्ण" जी की भाँति किसी काव्य-कृति का अनुवाद तो नही किया है, तथापि भवभूतिकृत "उत्तररामचरित" और "मालती-माधव" के अनुवाद मे पद्यासा के रूपान्तरण मे उन्होंने इस दृष्टिकोण को व्यवहृत किया है।

विवेचन

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर सार-रूप मे यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन कवियो ने काव्य शास्त्र के विविध अगो की सीमित और परम्परा-प्राप्त रूप मे ही चर्चा की है, तथापि द्विवेदी युग की काव्य-स्थिति को समझने मे इनकी मान्यताएँ भी पर्याप्त महत्व रखती है। इनमे से प० रामनरेश त्रिपाठी के अतिरिक्त अन्य कवियो की आलोचना की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति नही रही है, किन्तु उनकी काव्य मान्यताओ का विश्लेषण करने पर इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि वे सभी प्रकृति और कर्म से कवि होने पर भी विचारक की मेधा से रिक्त नहीं है। काव्य के प्रति विशेष अनुराग रखने के कारण जहाँ नाथूराम शकर और रामचरित उपाध्याय ने पद्य के माध्यम मे सिद्धान्त-निरूपण को प्राथमिकता दी है वहा रामचरित उपाध्याय ने इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही

---

१. देखिए (अ) मेवाड़ गाथा, पृष्ठ ३७-४२
(आ) पद्य-पुष्पाञ्जलि, पृष्ठ २१ २६, ५५ ५६

२. पूर्ण-पराग, भूमिका, पृष्ठ ६५

अपने सिद्धान्तों को प्राय प्रकृति के किसी क्रिया व्यापार को पृष्ठभूमि में रख कर उपस्थित किया है। अन्य कवियों में से सत्यनारायण कविरत्न ने भी शास्त्रीय सिद्धान्तों के उद्भावन में विशेष अभिरुचि न रख कर अपने काव्य में भावना की सहज स्निग्धता के मार्मिक उद्घाटन द्वारा मूलत कवित्व-शक्ति का ही सुन्दर परिचय दिया है। तथापि इन कवियों की उपलब्धियों का समग्रत अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि इन्हें काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प के विवेचन में आशानुरूप सफलता प्राप्त हुई है।

: ३ :

द्विवेदी युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

समन्वित विवेचन

द्विवेदी युग के कवियो ने यथास्थान मौलिक दृष्टि को अपनाते हुए मुख्यत भारतेन्दु युग से प्रेरणा प्राप्त कर के ही काव्यांग-विवेचन किया है, किन्तु उन्होने रस और अलकार की विशेष और शब्द-शक्ति (अभिधा), काव्य-गुण (प्रसाद और माधुर्य) तथा काव्य-दोष (ग्राम्यता, असभ्य पद-प्रयोग, क्लिष्टता आदि) की साधारण चर्चा कर रीतिकालीन शास्त्र-चिन्तन की प्रणाली का भी सामान्य आधार लिया है। उन्होने काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प की प्राधान्येन समीक्षा की है और रस, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन की अपेक्षाकृत कम, किन्तु सबल पर्यालोचना की है। इनमे से काव्य के तत्व, काव्य के भेद और काव्य के अधिकारी भारतेन्दु युग मे चर्चा के विषय नही रहे हैं, अत आलोच्य काल के कवियो द्वारा उनका स्वरूप चिन्तन विशेष महत्व रखता है। स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग मे काव्य शास्त्र कवियों का विशेष विवेच्य नही था, किन्तु द्विवेदीयुगीन कवि इस ओर प्रारम्भ से ही सतर्क थे, तथापि रीतिकालीन काव्याचार्यों की भाँति इसे अपनी काव्य-साधना का अनिवार्य अग उन्होने भी नही बनने दिया है। काव्य-लक्षणों को घटित करने के लिए ही *काव्य-रचना की रीतियुगीन प्रणाली केवल "हरिऔध" के "रसकलस" मे उपलब्ध होती है, पर वहाँ भी उसका स्वरूप यत्किंचित् भिन्न रहा है।* आगे हम प्रस्तुत युग के काव्य-सम्बन्धी विचारो का समग्र दृष्टि से समीक्षण करेंगे।

१. काव्य का स्वरूप

प्रस्तुत युग के कवियो मे से काव्य के स्वरूप निर्धारण मे महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", "रत्नाकर" और मैथिलीशरण गुप्त ने विशेष भाग लिया है और श्रीधर पाठक, नाथूराम शकर, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय तथा गोपालशरणसिंह ने उसकी सामान्य रूप मे चर्चा की है। बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद "पूर्ण" और सत्यनारायण कविरत्न ने इस दिशा मे प्रत्यक्ष विचार निरूपण नहीं किया है। तथापि उनके काव्य का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रीति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे भी अन्य कवियों की भाँति रागात्मक जीवन (मानव-जगत् एव प्रकृति की प्रत्यक्ष कोमल अनुभूतियाँ एव समाज, जाति और राष्ट्र की उन्नति के प्रेरक भाव) के

सहृदय-मधुर अभिव्यक्ति को काव्य का आदर्श मानते थे। यह दृष्टिकोण भारतेन्दुयुगीन कवियों की काव्य शास्त्र-ज्ञान का सहज परिचय देता है और इनके प्रतिपादन-कर्ताओं के प्रौढ़ चिन्तन का उपयुक्त बोध हो जाता है।

२ काव्य की आत्मा

इस स्थान पर विचारणीय कवियों में से काव्य की आत्मा के विवेचन में मुख्यतः महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध" और "रत्नाकर" ने और श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, लक्ष्मीनारायण कविरत्न और गोपालशरणसिंह ने भाग लिया है। भारतेन्दुयुगीन कवियों की भाँति इन सभी ने रस के काव्य-जीवित्व का एक स्वर से समर्थन किया है। लक्ष्मीनारायण कविरत्न तथा ठाकुर गोपाल-शरणसिंह ने तो केवल रस को ही काव्य का सर्वस्व माना है। अन्य काव्य-सम्प्रदायों में से "हरिऔध", "रत्नाकर", रामनरेश त्रिपाठी और रामचरित उपाध्याय ने अलंकार-सिद्धान्त को भी स्वीकृति दी है, किन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य में अलंकार की प्रमुखता का विरोध किया है। इसी प्रकार श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और "रत्नाकर" ने रीति को भी काव्य की आत्मा माना है (यहाँ यह उल्लेख्य है कि "हरिऔध" और "रत्नाकर" ने रीति को अलंकार से अधिक गौरव दिया है), किन्तु द्विवेदी जी ने अलंकार की भाँति उसका भी निषेध किया है। वक्रोक्ति को काव्य का जीवनाधार मान कर रस के उपरान्त उसे ही सर्वाधिक महत्त्व देने वाले कवि-आलोचकों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, "रत्नाकर" और रामनरेश त्रिपाठी मान्य हैं। ध्वनि के काव्यगत महत्त्व का इस युग में विशेष प्रतिपादन नहीं हुआ है, तथापि "हरिऔध" ने उसे रस और रीति के पश्चात् एवं "रत्नाकर" ने उसे रस, वक्रोक्ति और रीति के उपरान्त स्थान दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि इस युग के कवियों ने भारतेन्दुयुगीन कवियों की भाँति केवल रस को गौरव न देकर काव्य के सभी सम्प्रदायों पर किंचित् चिन्तन किया है। उन्होंने रस को मूर्धन्य स्थान देते हुए वक्रोक्ति तथा रीति को यथेष्ट महत्त्व दिया है और ध्वनि तथा अलंकार को इनके अनन्तर इसी क्रम से स्वीकृति प्रदान की है। यद्यपि व्यवहार में वे काव्य के इन आधारभूत तत्वों को उनका प्राप्य देने में किसी सीमा तक असफल भी रहे हैं, किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त-प्रतिपादन की सफलता का प्रश्न है, हम उनके विचारों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

३. काव्य में रस की स्थिति

द्विवेदीयुगीन कृतिकारों का रस-विवेचन भारतेन्दु युग के सिद्धान्त-प्रतिपादकों की अपेक्षा अधिक व्यापक और स्पष्ट रहा है। इस दिशा में कविवर "हरिऔध" के चिन्तन को तो रीति युग के रसवादी आचार्यों की मान्यताओं की कोटि में ही रखा जा सकता है। अन्य सिद्धान्तकारों में मैथिलीशरण गुप्त की शृंगार रस और करुण-रस-सम्बन्धी धारणाएँ भी अपनी स्पष्टता के कारण अनुप्रेक्षणीय हैं। इस युग में जहाँ "हरिऔध" और "रत्नाकर" ने भारतेन्दु युग की रस-सम्बन्धी मान्यताओं (क्रमशः भक्ति और वात्सल्य

के रसत्व की स्वीकृति और शृंगार के रसराजत्व का समर्थन) को यथावत् ग्रहण किया है, वहाँ "हरिऔध" ने "रसकलस" में रस के स्वरूप का विशद उल्लेख कर और गुप्त जी ने शृंगार रस और करुण रस की स्थिति का विशिष्ट विवेचन कर आधुनिक हिन्दी-कवियों को रस-समीक्षा के प्रति जागरूक रहने का अभिनन्दनीय सन्देश दिया है।

४ काव्य-हेतु

द्विवेदीयुगीन कवियों ने अन्य काव्यांगों की अपेक्षा काव्य-हेतु के विवेचन में अधिक उत्साह के साथ भाग लिया है। इस दिशा में महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'हरिऔध', 'रत्नाकर' और मैथिलीशरण गुप्त का योगदान विशेष व्यापक रहा है। अन्य कवियों ने प्राय उनके विचारों का ही पुनर्कथन किया है। उन्होंने एक ओर भारतेन्दुकालीन काव्यकारों को मान्य काव्य-साधनों (प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास, काव्य विषय की सप्राणता) का विशेष विस्तार से प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर बालमुकुन्द गुप्त ने देश जाति स्वातन्त्र्य और ठाकुर गोपालशरणसिंह ने प्रकृति-दर्शन को काव्य रचना के प्रेरक तत्व मान कर मौलिक स्थापनाएँ की हैं। परम्परानुमोदित काव्य-कारणों में से प्रतिभा की प्रमुखता को श्रीधर पाठक के अतिरिक्त शेष सभी कवियों ने स्वीकार किया है। अधिकांश कवियों ने प्रतिभा को ईश्वरप्रदत्त माना है, किन्तु उसे केवल श्रीकृष्ण, राधा और सरस्वती की कृपा से ही प्राप्य न मान कर शिव, पार्वती, गंगा, सूर्य तथा देव-पद को प्राप्त ऋषि वाल्मीकि को भी काव्य प्रेरणादायक माना है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत उन्होंने भारतेन्दु काल के कलाकारों की भाँति काव्यानुशीलन को महत्व देने के अतिरिक्त लोक दर्शन (महावीरप्रसाद द्विवेदी, सत्यनारायण कविरत्न तथा गोपालशरणसिंह द्वारा उल्लिखित) और काव्य-शास्त्र के अध्ययन (मैथिलीशरण गुप्त को मान्य) पर भी बल दिया है। इनके अतिरिक्त "रत्नाकर" ने राज्याश्रयी कवि को प्राप्त राजाज्ञा को काव्य प्रेरक मान कर रीतिकालीन कवियों की मान्यता के प्रति आस्था व्यक्त की है। सब मिला कर यह स्पष्ट है कि इस युग के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवि-आलोचकों की अपेक्षा काव्य-हेतु की मीमांसा में अधिक विदग्धता का परिचय दिया है। इस विषय में संस्कृत आचार्यों को मान्य सभी सिद्धान्तों की चर्चा करने के अतिरिक्त उन्होंने कहीं-कहीं मौलिक दिशा-संकेत भी किया है।

५ काव्य प्रयोजन

आलोच्यकालीन कवियों में बालमुकुन्द गुप्त के अतिरिक्त शेष सभी कवि काव्य प्रयोजनों की निर्धारणा के प्रति सजग रहे हैं। इस ओर विशेष ध्यान देने का श्रेय महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध" और मैथिलीशरण गुप्त को प्राप्त है। सत्यनारायण कविरत्न और ठाकुर गोपालशरणसिंह के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों ने लोक मंगल को काव्य का मूल प्रयोजन माना है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरणसिंह ने काव्य से कवि और सहृदय को आनन्द-लाभ का भी उल्लेख किया है। इस स्थान पर यह कहना अनुचित न होगा कि जिन कवियों ने काव्य के इन प्रयोजनों का प्रत्यक्ष निरूपण नहीं किया है उनकी कृतियों में भी युगीन

प्रभाव के फलस्वरूप इनकी सहज व्याप्ति रही है। काव्य के बाह्य प्रयोजनों के अन्तर्गत सत्यनारायण कविरत्न के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों ने यश को कवि का काम्य माना है। काव्य से अर्थ लाभ का समर्थन केवल लोचनप्रसाद पाण्डेय ने किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, "रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त तथा नाथूराम शकर ने कवि की इस दुर्बलता का विरोध किया है। काव्य के इन प्रयोजनों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने उसके अध्ययन से भक्ति प्रेरणा की उपलब्धि और सत्यनारायण कविरत्न ने उसके माध्यम से भाषा के उपकार की भी चर्चा की है। स्पष्टत काव्य रचना के ये सभी लक्ष्य भारतेन्दु और उनके सहवर्ती कवियों द्वारा पूर्वचर्चित रह हैं। इस युग के कविया न इनके प्रतिपादन म मौलिकता तो नही दिखाई है, किन्तु काव्य से प्राप्य प्रासगिक फलो की अपेक्षा उसके अन्तर्वर्ती धर्मों के प्रति विशिष्ट अनुराग रख कर उन्होंने चिन्तन की सजगता का परिचय अवश्य दिया है। विशेषत काव्य से लोक-हित के प्रति तो उनके मन म इतना प्रबल आग्रह रहा है कि इस युग के नामोल्लेख-मात्र से यह प्रवृत्ति हमारे मानस मे प्रत्यक्ष हो उठती है। तथापि काव्य को सत् असत् का मापक बनाने के प्रसग मे उन्होंने आनन्द-पक्ष की लगभग उपेक्षा ही कर दी है। वे उसकी ओर से उदासीन नहीं हैं, किन्तु रस का आत्मा मानने वाले कवियों से अपेक्षित यही था कि वे आनन्द पर अधिक बल दें। कविता के नैतिक आधार की प्रतिपत्ति महत्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु आनन्द की सृष्टि द्वारा आत्मा के उत्कर्ष को उससे महान् मानना होगा।

६ काव्य के तत्त्व

आधुनिक हिन्दी-कवियों मे इस काव्याग के विवेचन को आरम्भ करने का श्रेय मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शकर, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरणसिंह को है। इनमें से मैथिलीशरण, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरणसिंह ने भावना (हृदय) और चिन्तन (बुद्धि) के सहज सामजस्य द्वारा सत्य, शिव और सुन्दर की सिद्धि को कवि का लक्ष्य कहा है। शकर जी ने काव्य में केवल बुद्धि-तत्व के अवस्थान की चर्चा की है, किन्तु उनकी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि बुद्धि से उनका तात्पर्य मात्र शुष्क ज्ञान से नही है, अपितु वे उसमें सत्य और शिव को सहज सन्निहित मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि आलोच्य कवियों ने काव्य के तत्वों का आद्यन्त विवेचन नही किया है, तथापि परवर्ती कवियों को चिन्तन के लिए नवीन दिशा प्रदान करने के कारण उनकी सीमित सिद्धान्त-चर्चा भी अपने आप मे गौरव की अधिकारिणी है।

७ काव्य के भेद

काव्य के तत्वो की भाँति उसके रचना-रूपो की समीक्षा का श्रीगणेश करने का श्रेय भी द्विवेदीयुगीन कवियों को ही देना होगा। इस काव्याग के प्रतिपादकों (महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त) ने कविता और पद्य के अन्तर को स्पष्ट कर अपने युग के कलाकारों को पद-सघटना और छन्द के नियमों के अनुकूल पद्य-रचना मे ही

सन्तुष्ट न हो जाने का प्रबोध दे कर रस-स्निग्ध और भाव-समृद्ध कविताओ के सृजन का सन्देश दिया है। इसी प्रकार महाकाव्य के विषय मे परम्परा-प्राप्त सिद्धान्तो को युग की नवीन चेतना के अनुकूल संस्कार प्रदान करने का उद्बोधन दे कर भी उन्होने मौलिक कवि-दृष्टि का परिचय दिया है। इस काव्यांग के विषय मे "हरिऔध" का मत प्रतिपादन भी अपेक्षित था, किन्तु उन्होने इस विषय की प्रत्यक्ष चर्चा न कर अपने महाकाव्यो की सामग्री का नवीन दृष्टि के अनुकूल संयोजन कर इसे अप्रत्यक्ष रूप मे ही स्वीकार किया है। वैसे तो द्विवेदी जी और गुप्त जी ने भी महाकाव्य के स्वरूप की अत्यन्त सीमित चर्चा की है, तथापि इसमे कोई सन्देह नही है कि उनके विचार भावी कवियो के लिए मार्ग-दर्शक रहे हैं।

८. काव्य-वर्ण्य

काव्य मे वर्णनीय विषयो को सिद्धान्तबद्ध करने की ओर मुख्यत महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध" और "रत्नाकर" ने तथा सामान्यत नाथूराम शकर के अतिरिक्त शेष सभी कवियो ने ध्यान दिया है। लोक-हित को काव्य का मूल प्रयोजन मानने के कारण उन्होने भारतेन्दुकालीन कृतिकारो की भाँति काव्य मे समाज, जाति और राष्ट्र के लिए हितकारी विषयो को स्थान देने का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप म समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और सत्यनारायण कविरत्न ने क्रमश भक्ति, नायिका भेद और शृगार रस को भी काव्य के विषय माना है। इसी प्रकार श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न और गोपालशरणसिंह ने काव्य मे प्रकृति-चित्रण के महत्व को भी स्वीकृति प्रदान की है। ये सभी विषय भारतेन्दु युग मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे उल्लिखित किए जा चुके थे, तथापि द्विवेदीयुगीन कवियो द्वारा इनके प्रतिपादन का महत्व इतना अवश्य है कि उन्होन इनके काव्यगत रूप को अपने पूर्ववर्ती कवि-आलोचको की अपेक्षा अधिक स्पष्ट कर दिया है। उनके प्रतिपादन के महत्व का एक अन्य कारण यह भी है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, बालमुकुन्द गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य में शृगार रस के अतिरेक और नायिका-भेद निरूपण का विरोध कर क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसी प्रकार द्विवेदी जी ने समस्यापूर्ति के रूप मे रचित कविताओ को भी काव्य की प्रगति के लिए अनिष्टकर माना है।

९. काव्य-शिल्प

इस युग के काव्य प्रणेताओ ने काव्य-शिल्प के विवेचन मे विशेष मनोयोग से भाग लिया है। काव्य-भाषा के विवेचन मे भाग लेने वाले कवि (नाथूराम शकर, रामचरित उपाध्याय और लोचनप्रसाद पाडेय के अतिरिक्त सभी कवि) भाषा की सरलता के विषय मे एकमत रहे है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", मैथिलीशरण, बालमुकुन्द गुप्त और देवीप्रसाद "पूर्ण" ने इस सरलता के लिए संस्कृत-शब्दो के बहिष्कार को आवश्यक नही माना है। प्रसाद गुण के अतिरिक्त "हरिऔध" और मैथिलीशरण ने प्रत्यक्षत और "रत्नाकर", सत्यनारायण कविरत्न तथा गोपालशरणसिंह ने अप्रत्यक्षत

माधुर्य गुण को भी भाषा की दीप्ति में सहायक माना है। तथापि इनमें से किसी एक गुण के निर्वाह के प्रति आग्रह न रख कर "रत्नाकर", रामनरेश त्रिपाठी और सत्यनारायण कविरत्न ने भाषा की भावानुकूल स्थिति को अनिवार्य माना है। भाषा-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों में महावीरप्रसाद द्विवेदी और "हरिऔध" द्वारा बोलचाल की भाषा में काव्य-रचना का प्रतिपादन, मैथिलीशरण द्वारा अभिधा वृत्ति की महत्व-स्वीकृति, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और "रत्नाकर" द्वारा काव्य-भाषा में व्याकरणिक नियमों के निर्वाह की चर्चा और महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और रामनरेश त्रिपाठी द्वारा काव्य में मुहावरों के ग्रहण का समर्थन भी उल्लेखनीय है। अतः यह असन्दिग्ध है कि इन कवियों ने काव्य की माध्यम भाषा, काव्य-गुण, काव्य-वृत्ति, भाषा-शुद्धि, काव्य-दोष आदि के उल्लेख द्वारा भारतेन्दुयुगीन कवियों की तुलना में भाषा के स्वरूप का कहीं अधिक विस्तृत और प्रौढ़ विवेचन उपस्थित किया है।

आलोच्य युग में कवियों की अलंकार-सम्बन्धी धारणाएँ भाषा विवेचन के समान व्यापक और सुगठित नहीं हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि उनके प्रतिपादकों (महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", "रत्नाकर", मैथिलीशरण और "पूर्ण") ने अलंकार के प्रति हठ-धर्मिता का परिचय नहीं दिया है। उन्होंने अलंकार को काव्य की शोभा-वृद्धि में सहायक मान कर कवियों को अर्थालंकारों की स्वाभाविक योजना का सन्देश दिया है। "रत्नाकर", मैथिलीशरण और "पूर्ण" ने अर्थ की कान्ति में सहायक शब्दालंकारों (विशेषतः अनुप्रास अलंकार) को भी काव्य में ग्रहणीय माना है। अलंकार-योजना के प्रति यह दृष्टिकोण निश्चय ही विवेकसम्मत है। प्रस्तुत कवियों ने भारतेन्दुयुगीन काव्य-सिद्धान्तों में इसके अनुल्लेख के दोष का कुछ सीमा तक मार्जन अवश्य किया है, किन्तु उनके विवेचन को भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

आलोच्य कवियों ने छन्द के विवेचन में भी पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक विदग्धता का परिचय दिया है। उन्होंने (महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरि-औध", मैथिलीशरण, "पूर्ण" और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने) अतुकान्त पद-रचना के विषय में अम्बिकादत्त व्यास से प्रेरणा प्राप्त करने पर भी वर्णवृत्त-रचना, विषयानुकूल छन्द-योजना और मात्रिक छन्दों में अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता को स्वीकार कर अपने दृष्टि-कोण की व्यापकता को सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने उर्दू और बंगला के छन्दों में काव्य-रचना का समर्थन करके तो प्रायः भारतेन्दु युग की छन्द-सम्बन्धी धारणाओं को ही स्वीकृति दी है, किन्तु सवैया और सोनेट के विषय में उनके विचार इसी युग की देन हैं। छन्द के क्षेत्र में प्रस्तुत युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि "रत्नाकर" और "पूर्ण" द्वारा लय के महत्व का उद्घाटन है। इसी प्रकार "रत्नाकर" द्वारा अन्त्यानुप्रास के महत्व की स्वीकृति और नाथूराम शंकर तथा गोपालशरणसिंह द्वारा शुद्ध छन्द-रचना की आवश्यकता की प्रतिपत्ति भी इसी युग की उल्लेखनीय धारणाएँ हैं। इन सभी मान्यताओं का विश्ले-षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य युग में भाषा तथा अलंकार के अतिरिक्त

छन्द के विवेचन का भी सजग प्रयास हुआ है।

१० स्फुट काव्य-सिद्धान्त

उपरिकथित काव्यांगों के अतिरिक्त प्रस्तुत युग में काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन के स्वरूप चिन्तन की ओर भी सामान्य ध्यान दिया गया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", मैथिलीशरण, नाथूराम शंकर और रामचरित उपाध्याय ने काव्य के अधिकारी के लिए वांछित गुणों की प्रथम बार चर्चा की है। उन्होंने काव्य के रस को प्राप्त करने के लिए काव्योत्पादक की भाँति काव्य के ग्राहक को भी सहृदयता से सम्पन्न रहने का सन्देश दिया है। इस विषय में सभी कवियों के विचार आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं से प्रभावित रहे हैं और स्वयं द्विवेदी जी ने इस मत को संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के काव्य-शास्त्र के आधार पर उपस्थित किया है। प्रस्तुतकालीन कवियों में काव्यानुवाद के स्वरूप का उल्लेख आचार्य द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "रत्नाकर", मैथिलीशरण, "पूर्ण" और सत्यनारायण कविरत्न को इष्ट रहा है। उन्होंने अनुवाद में मूल कृति के शब्द-रूपान्तरण मात्र को ही पर्याप्त न मान कर ठाकुर जगमोहनसिंह की भाँति भाव ग्राहक अनुवाद को ही महत्त्व दिया है। इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त उन्होंने अनुवादकर्ता के लिए अपेक्षित गुणों, पंक्ति-प्रतिपंक्ति अनुवाद और अनूदित कृति में शिल्प-विधान की चर्चा कर अपने मौलिक चिन्तन को भी स्पष्ट किया है। यद्यपि इस क्षेत्र में *उनकी उपलब्धियाँ ही अलम् नहीं हैं, तथापि ये उनके दृष्टिकोण की स्वच्छता की प्रत्यायक* अवश्य हैं। काव्य के अनुवाद की भाँति उन्होंने उसकी आलोचना के विषय में भी इसी कोटि के विचारों को अभिव्यक्त किया है। इस दिशा में मत-प्रतिपादन करने वाले कवियों में आचार्य द्विवेदी मुख्य हैं और मैथिलीशरण, *बालमुकुन्द गुप्त तथा लोचनप्रसाद* पांडेय का योगदान सामान्य है। इन सभी का प्रतिपाद्य यह रहा है कि आलोचक को गम्भीर अध्ययन का आश्रय ले कर कृति अथवा कृतिकार की समीक्षा करनी चाहिए। *यह दृष्टिकोण "प्रेमघन" द्वारा प्रतिपादित विचारों का ही प्रतिरूप है।*

मूल्यांकन

द्विवेदी युग के कवियों की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं पर सर्वांगीण दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्य के सभी अंगों पर विचार कर के न केवल व्यापकता का ही परिचय दिया है, अपितु उनके सिद्धान्त भारतेन्दुयुगीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक नियमबद्ध और व्यवस्थित रहे हैं। यद्यपि उनके विवेचन की भी परिसीमाएँ हैं (उन्होंने काव्य के तत्त्वों, काव्य रूपों, काव्यालंकार और काव्यालोचन की प्रौढ समीक्षा नहीं की है और अन्य काव्यांगों में भी उन्होंने यत्र-तत्र साधारण शिथिलताओं का परिचय दिया है), किन्तु काव्य शास्त्र की सांगोपांग रचना उनका ध्येय भी तो नहीं था। महावीरप्रसाद द्विवेदी और "हरिऔध" की आचार्य शैली से प्रभावित कतिपय मान्यताओं को छोड़ कर इस युग की धारणाएँ प्राय हृदय-सम्प्रेरित रही हैं। इसीलिए उनकी स्थापनाओं का सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों द्वारा किए गए कार्य के आधार पर

मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा, किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि उनका विवेचन स्वानुभूत, प्रौढ़, विवेकपुष्ट और निर्भ्रान्त रहा है। काव्य के विविध अंगों पर एक साथ विचार न होने के कारण साधारणतः उनकी धारणाओं पर कहीं-कहीं दौर्बल्य का आरोप लगाया जा सकता है, किन्तु बिखरी हुई सामग्री को एकत्र कर उसका सहृदयता-पूर्वक मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने युग के लिए कुछ निश्चित काव्यादर्शों की उपलब्धि के प्रति सतत सजग थे। काव्य के भाव-विधायक अंगों (विशेषतः काव्य के प्रयोजनों और वर्ण्यों) के प्रतिपादन में कुछ सीमा तक वे भारतेन्दु काल के कवि आलोचकों के ऋणी रहे हैं, किन्तु इस दिशा में उनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-विवरणात्मक दृष्टि रखने के अतिरिक्त उन्होंने काव्य-शिल्प के उत्कर्षाधायक तत्त्वों की जो व्यवस्थित पर्यालोचना की है, उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि उन्होंने परम्परा का सम्मानपूर्वक ग्रहण करते हुए भी अपने काव्य-दर्शन का स्वयं निर्माण किया है।

वर्तमान युग के कवियों के काव्य-सिद्धान्त

(अ) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियो के काव्य-सिद्धान्त
(आ) छायावादी कवियो के काव्य-सिद्धान्त
(इ) वैयक्तिक कविता के रचयिताओं के काव्य-सिद्धान्त
(ई) प्रगतिवादी कवियो के काव्य-सिद्धान्त
(उ) प्रयोगवादी कवियो के काव्य-सिद्धान्त

तृतीय प्रकरण

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त

भारतेन्दु युग में राष्ट्र-प्रीति की भावना की उद्‌बुद्धि और द्विवेदी युग में उसकी सन्तोषप्रद प्रगति के उपरान्त वर्तमान युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के अन्तर्गत उसका चरम विकास उपलब्ध होता है। इस धारा के कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में किए गए कार्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए काव्य चिन्तन में उनके समान ही उत्साह प्रदर्शित किया है। यद्यपि उन्होंने अधिकांशतः पूर्व प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तों का ही समर्थन किया है, तथापि देश भक्ति की गौरवमयी अभिव्यक्ति के आलोक में उपस्थित किए जाने के कारण उनकी विचार-शैली अपनी पृथक् विशेषता रखती है। उनके द्वारा विचारित काव्यांगों के अनुशीलन के लिए हमने निम्नस्थ वर्गीकरण का आधार लिया है—

१ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

प्रस्तुत काव्य-सरणि के अन्तर्गत काव्य चिन्तन करने वाले कवियों में श्रीयुत माखनलाल चतुर्वेदी और कवि रामधारीसिंह "दिनकर" मुख्य हैं। चतुर्वेदी जी की अपेक्षा "दिनकर" जी ने काव्य-चर्चा में अधिक भाग लिया है, तथापि इस काव्य-धारा के लिए दिशा-सकेत प्रस्तुत करने में चतुर्वेदी जी का योग-दान अविस्मरणीय है। इन कवियों ने देश के सामाजिक और राजनैतिक वातावरण की पृष्ठभूमि में सजग-स्वस्थ काव्य चिन्तन किया है। यही कारण है कि रचना-काल के अनुसार परवर्ती कवि होने पर भी चिन्तन की व्यापकता के फलस्वरूप "दिनकर" जी प्रमुख कवियों में गण्य रहे हैं। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि जहाँ इन दोनों कवियों ने अपने रचना सिद्धान्तों में समयुगीन कवियों को प्रभावित किया है वहाँ वे स्वयं भी यथास्थान उनके ऋणी रहे हैं।

२. राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के अन्य सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त आलोच्य काव्य-धारा के अन्तर्गत कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान, सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा "नवीन", सियारामशरण गुप्त, उदयशंकर भट्ट (छायावाद में विशेषत और प्रगतिवाद में सामान्यतः भाग लेने पर भी भट्ट जी प्रधान रूप से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवि हैं) और जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" ने भी काव्य-रचना के सिद्धान्तों की प्रस्तुति में भाग लिया है। इनमें से "मिलिन्द", "नवीन" और उदयशंकर भट्ट इस दिशा में इसी क्रम से विशेष सचेष्ट रहे हैं, किन्तु समग्रतः दृष्टिपात करने पर इनके

विचारो मे सक्षिप्तता और आन्तरिक साम्य को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। अत इनकी मान्यताओ का पृथक्-पृथक् पर्यवेक्षण न कर उन पर विविध काव्यागो की दृष्टि से एक साथ विचार करना ही अधिक उपयोगी रहेगा।

उपर्युक्त अध्ययन विधि का आश्रय लेते समय हमने पिछले अध्यायो की भाँति इस प्रकरण मे भी प्रतिपादित सिद्धान्तो की व्यावहारिक स्थिति के उल्लेखन, सम्पूर्ण काव्य-धारा के सिद्धान्तो के समन्वित विवेचन और काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे उनके मूल्यांकन की प्रणाली को यथावत् अपनाया है।

: १ :

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

माखनलाल चतुर्वेदी

कवि हृदय की भावुकता और पत्रकार की सजग-सशक्त चिन्तनशीलता के धनी होने के कारण चतुर्वेदी जी ने अपने युग की सामाजिक और साहित्यिक गतिविधियों के आलोक में काव्य चिन्तन की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार उन्होंने अपने काव्य को मौलिकता से अनुप्राणित रखा है उसी प्रकार उनके काव्य विचार भी अनुभवजनित चिन्तन की प्रौढ़ता और मौलिकता से अनुप्राणित रहे हैं। उनकी उक्तियों में आलोचक की शास्त्र-गूढ़ता के स्थान पर कवि की भावुकता ही प्रमुख रही है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वे युग-प्रेरक विचारशील कवि हैं। उनकी मान्यताओं से परिचित होने के लिए उनकी प्रमुख रचनाओं (हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी, साहित्य-देवता, माता, युग चरण और समर्पण), अन्य कवियों की कृतियों के लिए लिखित भूमिकाओं (रमाशंकर शुक्ल "हृदय" की कृति "शैवाल" के 'दो शब्द' और रामेश्वरलाल खण्डेलवाल "तरुण" की कृति "प्रथम किरण" का आशीर्वाद) और विविध पत्र-पत्रिकाओं (प्रभा, विशाल भारत, त्यागभूमि, नया समाज, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सुप्रभात और मधुकर) में प्रकाशित लेखों तथा भाषणों का अनुशीलन अपेक्षित है। उन्होंने काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य वर्ण्य और काव्य-शिल्प का लगभग एक-जैसी सजगता के साथ विवेचन किया है। इन काव्यांगों के विवेचन में "कवि" और "कलाकार" नामक शब्दों का इच्छानुरूप प्रयोग किया गया है, किन्तु काव्य और कला के स्वरूप अथवा कवि और कलाकार के कर्तव्य-कर्म में विशेष तात्विक अन्तर न होने के कारण इनके विषय में उनके विचारों को परस्पर पूरक मतों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

काव्य-कला का स्वरूप

चतुर्वेदी जी ने काव्य के स्वरूप का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है, किन्तु प्रसंग-प्राप्त उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे उसे कवि की गम्भीर साधना का फल मानते हैं। इसीलिए उन्होंने उसमें स्थूल मनोरंजन के स्थान पर युग निर्माण की सूक्ष्म चेतना की स्थिति पर बल दिया है। वे उसे जीवन की परिष्कृति में सहायक मान कर उसमें शिव-

तत्व के स्थायी और ऊर्जस्वित प्रतिपादन को महत्व देते हैं। उनके अनुसार, "कविता को कुछ लोग, विलास या विनोद मानते हैं, × × × × × किन्तु यथार्थ कविता विलास नहीं, वह तो एक निर्माण है, महान् निर्माण है। हिमालय की तरह स्थायी, गंगा की तरह उपयोगी, सूर्य किरणों की तरह आवश्यक और वायु की तरह अनिवार्य।"[१] इस उक्ति से स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य के स्वरूप निर्देश के लिए द्विवेदीयुगीन धारणा को अपनाया है। उन्होंने कवि जीवन को लोक-सम्पृक्त मान कर यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जब उसकी चेतना समाज-दर्शन में प्रबुद्ध हो जाती है तब वह मानव-जगत् की विषमताओं के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं का उल्लेख करता है। बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के तृतीय अधिवेशन (१६ नवम्बर, सन् १९५१) में पदवी-दान-समारोह के अवसर पर दीक्षान्त भाषण देते हुए उन्होंने कवि के इस गुण का इस प्रकार उल्लेख किया था, "वह कवि है। लोक-जीवन के आँसुओं से गीला, लोक-जीवन की वाहों से दरदीला, और इस इच्छा से दूर कि वह कवि हो, और इस बात को बिना जाने कि वह कवि है।"[२] लोकानुभूति के उपरान्त कवि के लिए समाज-संस्कारक काव्य का प्रणयन स्वाभाविक ही है। चतुर्वेदी जी ने "पुष्पांजलि" शीर्षक कविता में कविवर मैथिलीशरण गुप्त की काव्य प्रवृत्तियों का स्वागत करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से भी यही प्रतिपादित किया है कि काव्य में स्थूल मनोरंजन पर आधृत शृंगार रस की अपेक्षा मानव हृदय का संस्कार करने वाले भावों का समावेश होना चाहिए। यथा—

"कन्दर्प के रस रंग में भी भंग का शुभ ढंग कर,
है अब दिखाया काव्य का सन्मार्ग भावी उच्चतर।"[३]

कवि अपनी सहृदयता और संवेदना के बल पर लोक-जीवन के अभावों को दूर करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है, किन्तु कवि-जीवन का यह रूप स्पष्टतः साधना की अपेक्षा रखता है। इसकी सिद्धि के लिए उसे "कवयः क्रान्तदर्शिनः" (कवि क्रान्त-दर्शी होते हैं) की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार अपने अन्तर्नेत्रों से विश्व का साक्षात्कार करना होता है। चतुर्वेदी जी ने कवि की इस तत्वदर्शिता को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"तम में खलबली मचाता, रे गायक! क्या तू कवि है?
दावों में तू योद्धा है, भावों में वीर सुकवि है।"[४]

इससे स्पष्ट है कि जब काव्य में जीवन की सहज, अकृत्रिम और मार्मिक व्याप्ति रहती है तब उसके अध्ययन से सहृदय को उत्साह के नूतन आलोक की उपलब्धि होती है। आलोच्य कवि ने अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप "नवीन सर्जक की सावधानी" शीर्षक लेख में भी यह प्रतिपादित किया है, "नए युग की आवश्यकता नया विचार-दान

१. साहित्य-देवता, पृष्ठ १३३
२. विशाल भारत, दिसम्बर १९५१, पृष्ठ ५३६
३. प्रभा, फरवरी १९१४ के अंक से उद्धृत
४. हिम-तरंगिनी, पृष्ठ ८८

है, हमें दीपक की तरह स्पष्ट और ऋतुओं की तरह सधे हुए बोल बोलने होंगे।"[1] यहाँ नए विचारों से उनका तात्पर्य सर्वथा मौलिक अभिव्यक्ति से है। अन्यदेशीय विचारों के अनुकरण का विरोध करते हुए उन्होंने इस मत को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"नया युग क्या आया, कला, स्थापत्य, पुरातत्व और इतिहास का आधार ले कर लिखने वालों को छोड़ कर शेष साहित्यिक चिन्तन का मानो दिवाला-सा बढ़ा जा रहा है। हमारी लिखने की आदत में विशेषता यह रही कि विश्व में फैले हुए विचारों को यदि पढ़ लिया, तो उनका कुछ अजीर्ण, कुछ अपहरण, कुछ आधार, कुछ अवतरण ले-लेकर अपनी मौलिकता की दूकानदारी चलने लगी।"[2] यहाँ काव्य के अध्ययन के महत्व का तिरस्कार नहीं हुआ है, अपितु उनका प्रतिपाद्य यह है कि निर्दोष काव्य रचना के लिए कवि को हृदय के मौलिक स्वरों के प्रति आस्था रखनी चाहिए। इसीलिए वर्ड्सवर्थ ने यह प्रतिपादित किया है कि कवि अपने भाव-संवेदन और ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की भावनाओं को आत्मसात् कर उन्हें काव्य में व्यक्त करता है।[3] सम्भवतः चतुर्वेदी जी ने इसी प्रकार की धारणा रखते हुए कवि को अन्य रचयिताओं के भावों के अन्धानुकरण की ओर से सचेत किया है। काव्य में मौलिकता के मूल्य को उर्दू के कवि आतिश ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"नज़र मेरी नहीं मद्दे नज़र पर ग़ैर के पड़ती।
वह शाइर हूँ नहीं जो आइना बेगाना मज़मूँ का॥"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि युगद्रष्टा होता है और अन्तर्भेदिनी दृष्टि से लोक का साक्षात्कार करने के उपरान्त मौलिक काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। दूसरे शब्दों में, काव्य वह रचना है जिसमें मानव मन के उन्नयन को लक्ष्य में रख कर साधारण मनोरंजन को तिरस्कृत कर उत्तम भावनाओं का समावेश रहता है। चतुर्वेदी जी ने इन धारणाओं के प्रतिपादन में हृदय की, जिस एकाग्रता का परिचय दिया है, वह निश्चय ही प्रशस्य है। उनकी "साहित्य-देवता" शीर्षक कृति में काव्य के स्वरूप के विषय में इसी कोटि की मान्यताओं को पा कर "दिनकर" जी ने ठीक ही कहा है—"साहित्य के सम्बन्ध में आलोचक और कवि आलोचक दोनों ही श्रेणियों के लोग बहुत बार अपना मत प्रकट

---

१ नया समाज, फरवरी १९५८, पृष्ठ ८०

२ नया समाज, फरवरी १९५८, पृष्ठ ७४

३ "Inspite of difference of soil and climate, of language and manners, of laws and customs · inspite of things silently gone out of mind, and things violently destroyed, the poet binds together by passion and knowledge the vast empire of human society, as it is spread over the whole earth, and over all time"

(The Critical Opinions of William Wordsworth, Page 105)

४ सरस्वती, मई १९२०, पृष्ठ २८० से उद्धृत

कर चुके हैं, किन्तु साहित्य के सम्बन्ध में शुद्ध कवि की वाणी पहले-पहल इसी में प्रस्फुटित हुई है।"[1]

काव्य-हेतु

चतुर्वेदी जी ने काव्य-हेतु के विवेचन में सामान्य रूप से भाग लिया है, किन्तु इस दिशा में उनकी धारणाएँ सहज स्पष्ट हैं। उन्होंने प्रतिभा को काव्य का मूल प्रेरक तत्व मान कर व्युत्पत्ति और काव्य-शिक्षा को उसकी प्रखरता और प्रौढ़ता में सहयोगी ठहराया है। पूर्ववर्ती कवियों की भाँति प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त शक्ति-विशेष मानने के कारण उन्होंने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ में सरस्वती से यह याचना की थी—

"जाही हाथ ताने सूर, तुलसी व कालिदास,
वाही हाथ मेरो मात मोको तान दीजिए।"[2]

इससे स्पष्ट है कि कवि दैवी अनुग्रह से अन्तस् में प्रतिभा की विशिष्ट स्फूर्ति का अनुभव कर स्वस्थ एवं प्राणवान् कृतियों की रचना करता है। इस विषय में उनका मत अन्यत्र भी यही रहा है, "वह (कलाकार) अपने युग को, स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान प्रेरक और कल्पक कूँची है।"[3] प्रतिभा का स्फुरण होने पर कवि अन्तस् में विशिष्ट आनन्द का अनुभव कर समाधि-स्नान करता है। चतुर्वेदी जी ने "काव्य-सृष्टि काव्य-दृष्टि" शीर्षक लेख में समाहितचित्त कवि के विषय में कहा है—"वह जब सूझो के बाग में उतर चुकता है, और सूझी हुई बारीकियों में और रंगीनियों में डूब चुकता है, तब दीखते दृश्य, उन पर उगते चमत्कार और मानव के कोमलतर या प्रखरतम स्वभाव-चित्र उसी की कलम से उतरते हैं, किन्तु अपने होश की मधुरतम बेहोशी में ही। नियति और नीयत दोनों के नृत्य या कृत्य का उसे ज्ञान नहीं रहता।"[4] यहाँ काव्य को कवि की स्वतन्त्र प्रेरणा का उन्मेष मान कर उसकी आनन्द-शक्ति की चर्चा की गई है। प्रतिभा प्रेरित काव्य में कवि की आत्माभिव्यक्ति के सहज उच्छलन को लक्षित कर उन्होंने श्री रामेश्वरलाल खंडेलवाल "तरुण" के "प्रथम किरण" शीर्षक काव्य की भूमिका में यह प्रतिपादित किया है—

"कवि जब अपनी सरल साँसों तक गीतों की मधुरिमा का अनुभव करने लगता है तब उसे अपने अभिमत के प्रति किए गए वाणी के प्रत्येक आरोप में काव्य का स्वाद आने लगता है और कुछ झिझक से, कुछ आनन्द से और कुछ समर्पण से वह अनुभव कर उठता है कि मानो काव्य की बेचैनी के रूप में अपनी प्रतिभा के गरीबखाने में बैठ कर वह आत्मप्रकटीकरण का अपराध किए बिना न रह सकेगा।"[5]

---

१ हिमालय, पुस्तक माला १, संवत् २००२, पृष्ठ ८३

२. मील के पत्थर, रामवृक्ष बेनीपुरी, पृष्ठ १२०

३ साहित्य-देवता, पृष्ठ २०

४. मधुकर (मासिक), सितम्बर १९४७, पृष्ठ ४१

५. प्रथम किरण, आशीर्वाद, पृष्ठ "क"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि काव्य की रचना भावावेग के क्षणो मे होती है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र मे वर्ड्सवर्थ की मान्यता भी यही है—**"काव्य में प्रबल भावनाओं का सहज उच्छलन रहता है।"**[1] इस भावावेशमयी स्थिति मे कवि जिस रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देता है वह उसके आत्मानुभव की अभिव्यक्ति होती है और उसमें कवि और प्रमाता, दोनो को आनन्दमग्न करने की सहज क्षमता होती है। *वस्तुत कवि भाव प्रेरणा की समृद्धि से ही काव्य में युगप्रभावी मूल्यो का समावेश कर* पाता है। चतुर्वेदी जी ने इस प्रसग मे कवि की अन्तर्दृष्टि को युग-युगान्तर का साक्षात्कार करने वाली शक्ति मान कर यह प्रतिपादित किया है, **"उसका (कला का) वाहन तो वह प्रेरणा है जिस पर वह अपने सम्पूर्ण इरादों और स्वप्नो को ले कर बैठ जाती है तिस पर भी वह समय की दौड से आगे बढ जाया करती है।"**[2] यह दृष्टिकोण कवि प्रतिभा का अत्युक्तिपूर्ण स्तवन नही है, अपितु यह उसके अभिनवोन्मेषशाली रूप का सहज उद्घाटन है।

चतुर्वेदी जी ने काव्य के अन्य साधना मे मे व्युत्पत्ति के अन्तर्गत अन्य कवियो की कृतियो के अध्ययन को काव्य के सृजन मे सहायक माना है। उन्होंने इस अध्ययन के लिए कोई सीमा रेखा न रख कर इसे व्यापक रूप मे प्रोत्साहित किया है, किन्तु उनका मत है कि इस प्रकार के अध्ययन को रचना की सहजता मे बाधक नहीं होना चाहिए। उन्होंने "जीवन से उलझ कर जनवाणी से सुलझ कर' *शीर्षक लेख मे इस मत को इस प्रकार व्यक्त* किया है—**"हम दूर के, दूर-दूर के साहित्यों से प्रेरणा ग्रहण कर लिखें, किन्तु वह इस-लिए लिखें कि, हमारे पास के आदमी समझ सकें।"**[3] इससे स्पष्ट है कि कवि को काव्य-*रचना के लिए अध्ययन से प्रेरणा प्राप्त होती है, किन्तु इस प्रेरणा को जन-कल्याण से* सम्पृक्त रखना उसका प्रमुख कर्तव्य है। काव्य-हेतु और लोक हित का यह समन्वय चतुर्वेदी जी के राष्ट्रीय दृष्टिकोण के सर्वथा अनुरूप है। व्युत्पत्ति के अतिरिक्त उन्हे काव्य-*शिक्षा का महत्व भी स्वीकार्य है, किन्तु इस विषय मे प्रत्यक्ष कथन उपलब्ध न होने के कारण* श्री दीनानाथ व्यास के "माखनलाल चतुर्वेदी" शीर्षक लेख की इस उक्ति को ही प्रमाण मानना होगा—**"चतुर्वेदी जी आज भी मीर जी (सैयद अमीर अली मीर) को अपना काव्य-गुरु मान कर बडी ही श्रद्धा से नमन व स्मरण करते हैं।"**[4]

काव्य का प्रयोजन

चतुर्वेदी जी ने काव्य प्रयोजनो के स्वरूप चिन्तन म काव्य के आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने काव्य मे कवि को यश और अर्थ की

---

१ *"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings "*
(The Poetical Works of William Wordsworth, Page 935)

२ साहित्य-देवता, पृष्ठ २२

३ सुप्रभात, मार्च १९५७, पृष्ठ ६, कालम २

४. माधुरी, फरवरी १९५२, पृष्ठ ७१

प्राप्ति को विगर्हणीय मान कर उससे प्रमाता को प्राप्य उत्साह तथा जीवन-प्रेरणा का समर्थन किया है। उन्होंने काव्य में जन जीवन की अभिव्यक्ति को उसका विशिष्ट प्रयोजन मानते हुए मानव-मन के उन्नयन का उसमें प्राप्य मूल सिद्धि कहा है। उन्होंने हिस्लप कॉलेज, नागपुर की साहित्य-समिति में सभापति-पद से भाषण देते हुए इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया था, **"कविता युग-निर्माण की वस्तु रही है और यदि रहे, तो वह आगे भी जिन्दा रहेगी।"**[१] कवि को प्रणय लालसा की अभिव्यक्ति के स्थान पर राष्ट्र-धर्म का निर्वाह करने की प्ररणा देने के लिए उन्होंने अन्यत्र भी व्यंग्य-रूप में यह प्रतिपादित किया है, **"हुंकारों से बदल-बदल कर, कवि ले रहा प्रणय की आहें।"**[२] राष्ट्रीय विचार-धारा के आलोक में अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ "हुंकार" शब्द राष्ट्रीय प्रेरणा का द्योतक है। अत यह सिद्ध है कि कवि को काव्य-लक्ष्य-चिन्तन के समय युगीन परिस्थितियों से सम्यक् प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।

काव्य-जगत् मे कवि द्वारा यश और अर्थ की प्राप्ति के लिए काव्य लेखन की ओर अग्रसर होने का व्यापक उल्लेख हुआ है, किन्तु चतुर्वेदी जी ने अपनी दृष्टि को काव्य के अन्तरग मूल्यों पर केन्द्रित रख कर इन दोनों का तिरस्कार किया है। उनका मत है कि जो व्यक्ति केवल यश-प्राप्ति के लिए काव्य-रचना करता है, उसकी कृति में उन्नत भावना का स्पष्ट अभाव रहता है। इसीलिए उन्होंने "हमारी राष्ट्रभाषा" शीर्षक निबन्ध मे व्यंग्यात्मक रूप मे लिखा है, **"वर्तमान कलाकार जब दिमाली खिलौने बना कर कीर्ति पा लेता है, तब शहराती भोग-विलास छोड कर वह सत्तत्व का पीछा पकड़ने का पागल-पन क्यों ग्रहण करे ?"**[३] स्पष्ट है कि यहाँ काव्य से यश-प्राप्ति को कवि का एकमात्र काम्य मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया गया है। यश लिप्सा से प्रेरित काव्य-कृति मे कवि के मूल कर्त्तव्य-कर्म की उपेक्षा को सहज-सम्भव मान कर उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है, **"सच तो यह है कि हमें तालियों और वाहवाही पर अवलम्बित साहित्य रचने की आदत पड गई है। वह शहर के गिने-चुने व्यक्तियों से हमें मिल जाता है। उस समय हमें गाँवों की याद नहीं आती।"**[४] यश लिप्सा की भाँति उन्होंने कवि को धन की कामना मे भी मुक्त रहने का सन्देश दिया है, अन्यथा यह सम्भव है कि वह कला के प्रति अपने धर्म का सहज रूप मे निर्वाह न कर पाए। इस सम्बन्ध में निम्न-लिखित काव्योक्ति द्रष्टव्य है—

"मेरी कलाइयों में तरसती रही कला,
तूने अमीरी, कह मुझे कितना नहीं, छला ?"[५]

अर्थ-लाभ काव्य से प्राप्य बाह्य सिद्धि है। यह सत्य है कि व्यावहारिक जीवन मे

१. त्यागभूमि, वैशाख, सवत् १९८६, पृष्ठ २००
२. माता, पृष्ठ २
३. "हिन्दी-गद्य विभूति" (सम्पादिका—दमयन्ती सिहल) में सकलित लेख से उद्धृत
४ सुप्रभात, मार्च १९५७, पृष्ठ ६, कालम २
५. माता, पृष्ठ ९८

उसकी चिन्ता अनिवार्यतः करनी होगी, किन्तु उसे प्रमुख मान कर चलने वाला कवि निश्चय ही कला के प्रति अपने दायित्व से विमुख है। इसीलिए उन्होंने सन् १६४१ में बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ में दीक्षान्त भाषण देते हुए यह प्रतिपादित किया था, "सूझ के क्षेत्रों को धन, महत्वाकांक्षा, स्वार्थ और मूर्खता ने प्रतिभा-हीनता से भर दिया है।"[1] इस दृष्टिकोण को युक्तिसंगत न मानने का कोई कारण नहीं है। बंगाल के सुधी साहित्यकार बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भी इस विषय में यही मत व्यक्त किया है—

"रुपए के लिए लिखने से लोकरंजन की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। और, हमारे देश के वर्तमान साधारण पाठकों की रुचि और शिक्षा पर ध्यान दे कर लोकरंजन की ओर झुकने से रचना के विकृत और अनिष्ट का कारण हो उठने की सम्पूर्ण सम्भावना है।"[2]

काव्य के तत्व

चतुर्वेदी जी ने काव्य के तत्वों का स्वतन्त्र अध्ययन उपस्थित नहीं किया है, किन्तु इस ओर उनकी गहन रुचि रही है। उन्होंने काव्य की रागात्मिका शक्ति को स्वीकार करते हुए उसमें अनुभूति-तत्व के समावेश पर सर्वाधिक बल दिया है। उनका मत है कि कवि अनुभूति के बल पर काव्य और जीवन को सहज सम्बद्ध कर मानव-मन को परितोष देता है। अतः उसका मुख्य कर्तव्य-कर्म यही है कि वह अनुभव को आत्मा का अंग बना कर जीवन को स्वस्थ, चिन्तनमयी और प्रेरणादायी अभिव्यक्ति प्रदान करे। उन्होंने श्री वीरेन्द्रकुमार जैन को १४ अक्तूबर, सन् १९३३ को लिखे गए एक पत्र में इस मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"काव्य जीवन बिन्दुओं में भाग बन कर उभरने वाला अमर उल्लास तो है, परन्तु मैं उसे जीवन की बूंदों का खिलवाड़ नहीं मानता।"[3] जीवन के प्रति निष्ठावान् कविता का आदर करने के कारण ही उन्होंने "क्या हम वास्तव में कविता की कायापलट कर रहे हैं" शीर्षक लेख में भी अपने हृदय की मर्मस्पर्शी पुकार को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"अपनी रचनाओं में भावनाओं के जो चित्र हम खींचते हैं, वे यथार्थ भावनाओं से कितने दूर पड़ते हैं, क्या यह भी हमने कभी सोचा है?"[4] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अनुभूति-संचय कवि-जीवन की मुख्य प्रवृत्ति है। लोक-जीवन के निकट सम्पर्क में रहने से कवि को जिस निर्मल अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति होती है वह काव्य की मार्मिकता के लिए सहज काम्य है। इसके अभाव में जिस कविता की रचना होती है उसमें कृत्रिमता, बौद्धिक विलास तथा आत्म-जड़ता के प्रभाव को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। चतुर्वेदी जी ने आधुनिक हिन्दी-कविता को इसी अभाव से ग्रस्त देख कर कहा है—"मुझे तो लगता है कि कबीर, तुलसी, सूर और मीरा के बाद मानो हमें कुछ सूझ

---

१. विशाल भारत, दिसम्बर १९४१, पृष्ठ ५३३

२ बंकिमचन्द्र चटर्जी, रूपनारायण पांडेय, पृष्ठ २२२

३ माखनलाल चतुर्वेदी—एक अध्ययन (सम्पादक—पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी), पृष्ठ ४०

४ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २३ फरवरी १९५८, पृष्ठ ११, कालम १

नहीं पड़ रहा। जीवन और कथन को हम कितनी दूरी पर रखने लगे हैं ?"[1]

लोक-जीवन से असम्पृक्त रह कर काव्य-रचना करने वाले कवियों के प्रति यह एक तीव्र व्यंग्य है। यद्यपि आधुनिक हिन्दी-कवि इस ओर से सर्वथा उदासीन नहीं रहे हैं, तथापि उपर्युक्त उक्ति में निहित सत्य को सहसा अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वर्तमान युग के विडम्बनात्मक वातावरण में चतुर्वेदी जी का काव्य के प्रति यह आरोप स्वाभाविक ही है। इस विषय के तुलनात्मक अध्ययन के लिए श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—

"हमारे जो लेखक अथवा कवि केवल अपने मन-मन्दिर में प्रगतिशील बनने का अभिमान करते हैं, पर जिनके जीवन के रहन-सहन तथा नित्यप्रति के कार्यों में वही पुरानी प्रतिक्रियात्मक पद्धति विराजमान है, वे साधारण जनता को कभी स्फूर्ति दे सकेंगे, इसकी कोई संभावना नहीं। जिनका हम उद्धार करना चाहते हैं, उनके बीच में जाने से झिझकते हैं, इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है ?"[2]

चतुर्वेदी जी ने अनुभूति के अतिरिक्त काव्य के अन्य तत्वों की केवल संकेतात्मक रूप में चर्चा की है। उनका मत है कि कवि जीवन की एकान्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर कल्पना (आकांक्षाओं की मूरत) की मधुरता का आश्रय लेता है और दूसरी ओर उसे चिन्तन की प्रौढ़ता से विशिष्ट प्रेरणादायी स्वरूप प्रदान करता है। इसी-लिए उन्होंने यह कहा है—"एकान्त जीवन का अवकाश कलाकार का वह मन्दिर है, जहाँ वह × × × × आकांक्षाओं को मूरत बनाता है, चिन्तन पर रंग चढ़ाता है और इस तरह अपने मूक वैभव को कलम पर उतार कर विश्व में भेजता है कि जिसे देख कर दुनिया की दांत-दांत सूझे वाचाल हो उठें।"[3] इस उक्ति से स्पष्ट है कि काव्य की सहजता, स्पष्टता और प्रौढ़ता के लिए उसमें अनुभूति, चिन्तन और कल्पना का सहभाव आवश्यक है। चतुर्वेदी जी ने "कवि का दायित्व" शीर्षक लेख में भी काव्यगत भाव-तत्व और बुद्धि-तत्व में पारस्परिक समन्वय पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है, "वह दिन धन्य होगा जिस दिन भावना-प्रधान कविता विचारकता को साथ ले कर चलने लगेगी। × × × × × जो भाव विचारों के पास जाते डरते हैं, वे मोहक हो सकते हैं, मगर अमर हर्गिज नहीं हो सकते।"[4] यह स्थापना चतुर्वेदी जी की गहन अन्तर्दृष्टि की परिचायक है और काव्य-वर्ण्य की प्रौढ़ता के लिए इसका पालन कवि-मात्र से अपेक्षित है।

काव्य के वर्ण्य विषय

चतुर्वेदी जी ने द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों की भाँति कवि द्वारा सृष्टि के अणु-अणु को वर्णनीय माना है। इसीलिए उन्होंने कवि के विषय में कहा है, "उसे कौन

१. समर्पण, भूमिका, पृष्ठ ४
२. साहित्य और जीवन, पृष्ठ १७
३ साहित्य-देवता, पृष्ठ २२
४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ दिसम्बर १९५७, पृष्ठ ५, कालम १

कौन सी परिस्थिति गढ़ नहीं उठी ? और जगत के किस कोने पर उसकी अंगुलियाँ पहुँच नहीं उठीं ?"[1] कवि की इस प्रवृत्ति को लक्षित कर के ही राजशेखर ने कहा है—"कवि-वाणी का सभी दिशाओं में निर्बाध प्रसार रहता है—सर्वतोदिक्का हि कविवाच ।"[2] समाहित-हृदय होने पर कवि के लिए इस क्षमता को प्राप्त करना दुष्कर नहीं है। इसीलिए पाश्चात्यों मे विक्टर ह्यूगो ने भी कहा है, "कवि स्थान और समय का स्वामी है, अत उसे इन्हें इच्छानुसार ग्रहण करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है।"[3]

कवि-वाणी को निर्बन्ध मानने पर भी चतुर्वेदी जी ने काव्य की भाव-दीप्ति के लिए उसमे राष्ट्रीयता के प्रतिपादन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनके राष्ट्रवादी विचारों की दो दिशाएं है—उन्होने एक ओर देश की परतन्त्र अवस्था मे कवि को उसके गुरुतर कर्तव्य के प्रति जागरूक किया है और दूसरी ओर काव्य मे जन-जीवन के प्रतिनिधित्व को आवश्यक माना है। राष्ट्रीय दायित्वो के प्रति जागरूक कवि की कृतियो मे अत प्रेरणा की स्थिति आवश्यक है। इसीलिए उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य मे राष्ट्रीय भावनाओं की प्रतिपत्ति सामान्य काव्य विषयो की भाँति सहज नही है।[4] इस दिशा मे उनके विचार भारत के स्वतन्त्रता सग्राम की पृष्ठभूमि पर आधृत रहे है। अत उन्होने राष्ट्रीय काव्य के रचयिता को आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत रहने की प्रेरणा प्रदान करते हुए कहा है, "बलि और गीत, ये, युग की बीहड भूमि पर, एक दूसरे के पूरक पंथी हैं।"[5] स्पष्ट है कि राष्ट्रीय काव्य की रचना का मार्ग सहज नही है। इसके लिए कवि के हृदय में अनुभूति और चिन्तन की गहनता अनिवार्यत अपेक्षित है। पराधीन देश के कवि की भाँति स्वाधीन देश के कवि से भी यह अपेक्षित है कि वह राष्ट्रवाद और मानववाद का व्यापक आधार ले कर काव्य-रचना मे प्रवृत्त हो। चतुर्वेदी जी ने जनपदीय जीवन धारा की काव्यगत चर्चा का समर्थन कर इस मान्यता को इस प्रकार वाणी दी है—"हम जब अपनी बारीक खयालो से खुद पराजित होते हैं, तब यह क्यों नहीं सोचते कि हमारी रचनाओं को गाँवों में भी जाना है।"[6] इस उक्ति से स्पष्ट है कि कवि के भाव-कोष मे जन-जीवन की अनुभूतियाँ होनी चाहिएँ। काव्य मे कल्पना के सूक्ष्म विलास (बारीक ख्याली) के स्थान पर जन-जीवन की सहज अभिव्यक्ति से प्रौढि का सचार करने की स्थापना उचित ही है।

---

१. शैवाल, (रमाशकर शुक्ल "हृदय"), दो शब्द, पृष्ठ ५
२ काव्य-मीमासा, पचम अध्याय, पृष्ठ ३७
३. "Space and time are the domain of the poet. Let him go where he will and do what he pleases : this is the law."

(Loci Critici, Page 419)

४. देखिए "माता", भूमिका, पृष्ठ २ ४
५. माता, भूमिका, पृष्ठ ३
६ प्रभात, मार्च १९५७, पृष्ठ ४, कालम २

चतुर्वेदी जी ने काव्य में उदात्त विषयों के उल्लेख को अपेक्षित मानने के कारण साहित्यिक वाद विशेष की संकीर्णताओं में अवरुद्ध काव्य-विषयों का विरोध किया है। काव्य में अनुभूति की व्यापकता में ही उसकी सार्थकता मानने के फलस्वरूप वे काव्य-क्षेत्र के समय-प्रेरित आन्दोलनों (छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि) के प्रति आस्था नहीं रखते। इसीलिए उन्होंने कहा है—**"वादों में मेरी आस्था न कभी थी, न आज है। छाया, रहस्य, प्रगति, प्रयोग, प्रतीक और रीति—इन वादों में से किसी वाद पर ठहरने की मैंने कभी आवश्यकता अनुभव नहीं की।"**[1] आधुनिक हिन्दी-कविता की विविध प्रवृत्तियों के प्रति कवि की उपेक्षा अन्यत्र भी सहज रूप में सकेतित है।[2] स्पष्टतः यह दृष्टिकोण इस रूप में समर्थनीय नहीं है, किन्तु उनके काव्य में मानवता की प्रतिष्ठा को लक्षित कर यह निष्कर्षित करना असगत न होगा कि कवि को वाद-विशेष की परिधि में आबद्ध न रहकर हृदय की सांस्कृतिक रेखाओं के अनुकूल काव्य रचना करनी चाहिए।

काव्य-शिल्प

चतुर्वेदी जी ने काव्य के बाह्य रूप के विवेचन के लिए भाषा और छन्द की स्थिति पर विचार किया है। उन्होंने भाषा को जनता की जीवन-धारा से सम्पृक्त रखने का अनुरोध करते हुए शोध-ग्रन्थों और विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं की भाषा को काव्य की भाषा से भिन्न माना है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है, **"हम भी अब लौटें भाषा की सरलता की ओर। शोधक और वैज्ञानिक शास्त्रों में कठिन शब्दों का उपयोग चाहे करें, किन्तु जन-जन को रसदान करने वाली वाणी में यह कठिनता नहीं शोभेगी।"**[3] यहाँ द्विवेदीयुगीन कवियों की भाँति भाषा की सहजता और मधुरता को विशेष गौरव दिया गया है, किन्तु चतुर्वेदी जी की कथन-शैली पूर्ववर्ती कवियों से निश्चय ही भिन्न है। राष्ट्रीय मनोवृत्ति से प्रेरित रहने के कारण उन्होंने द्विवेदी युग के परवर्ती कवियों की कल्पनात्मक भाव धारा को भी जन-सुलभ भाषा में ही व्यक्त करने का सन्देश दिया है। उदाहरणार्थ बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ के सन् १९४१ के दीक्षान्त भाषण से निम्नोद्धृत मान्यता देखिए—

"शोध के, मौलिकता के पथ के, पागल हम कभी-कभी आकाश की तरह ऊँचे विचारों को व्यक्त करते हैं—हम बुरा नहीं करते। किन्तु उस समय बोली भी आसमान की तरह पहुँच के बाहर की बोलने लगते हैं। नहीं, आसमान के-से विचार हों, परन्तु हम जमीन पर हैं, यह न भूलें। हमें जो बोलना होगा, जमीन की बोली में बोलना होगा। वे जमीन पर रहते हैं, जिनमें हम जनमे हैं।"[4]

काव्य भाषा में सहजता के महत्व को लक्षित कर के ही गोस्वामी तुलसीदास ने

---

१ युग-चरण, भूमिका, पृष्ठ ४
२ देखिए "माता", भूमिका, पृष्ठ ३
३ मुक्रमान, मार्च १९५७, पृष्ठ ६, कालम २
४ विशाल भारत, दिसम्बर १९४१, पृष्ठ ५३७

कहा है, "सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।"[१] उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब की कठिन शब्दावली से युक्त कविता को सुन कर एक मुशायरे मे हकीम आगाजान ने भी इसी धारणा को व्यक्त किया था—

"अगर अपना कहा तुम आप ही समझे, तो क्या समझे,
मजा कहने का तब है इक कहे, और दूसरा समझे।
कलामे "मीर" समझे और ज़बाने "मीरज़ा" समझे,
मगर इनका कहा यह आप समझें या खुदा समझे।।"[२]

भाषा की सार्थकता इसी मे है कि वह भावना का उचित रीति से वहन कर सके इसीलिए उन्होंने कहा है, "कवि के पास, भाषा, ज्ञान में और अज्ञान में, सदैव हृदय के ईमानदार प्रकटीकरण का साधन होती है।"[३] कवि के हृदय की ईमानदारी उसकी आत्माभिव्यक्ति है और चतुर्वेदी जी की आत्म-प्ररणा स्पष्टत लोक-जीवन के प्रकटीकरण से सम्बद्ध है। इसीलिए उन्होंने भाषा को लोक-ग्राह्य रखने के उद्देश्य से उसमे सरलता के अतिरिक्त जन-जीवन मे सहज रूप से व्याप्त मुहावरो को भी ग्रहण करने पर बल दिया है। मुहावरों की शक्ति और भाषा के विकास मे उनके महत्व के विषय मे यह उक्ति द्रष्टव्य है—"हिन्दी के जिन मुहावरों को हम शब्द-कोषों में देखते हैं, वे गाँव की ग्रामीण बोलियों मे अभी भी जीवित हैं, किन्तु हमारी नागरिक बोली में बिना नमक के स्वाद की तरह मुहावरों का अभाव है।"[४] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को भाषा के उपकारक अगो की खोज मे जन-जीवन का निकटता से अध्ययन करना चाहिए। इस स्थान पर यह उल्लेख्य है कि व्यावहारिक रूप से चतुर्वेदी जी की भाषा का मूल तत्व अभिव्यक्ति में वक्रता का समावेश है, किन्तु उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष मत प्रतिपादन नही किया है।

चतुर्वेदी जी ने काव्य मे छन्द-योजना के स्वरूप का विशेष विवेचन न कर अम्बिकादत्त व्यास, महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त आदि की भाँति छन्द मे तुक के आग्रह को कविता के स्वस्थ विकास मे बाधक माना है। उनके मतानुसार, "जो लोग, तुक मिलाने × × × × × को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो कितनी ही बार मर चुकी, आज भी वह कविता मरने ही के लिए है।"[५] काव्य के वाह्य रूप को मानव की परिवर्तनशील जीवन धारा के अनुरूप सहज परिवर्तनीय मान कर उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है कि "ग्रन्थों के नियमों का नियमन व्यक्तियों के व्यवहारों से होता आया है। स्वयं ग्रन्थो में आराध्य, आदर्श या प्रभु छुप कर नहीं बैठता। जिन दिनों तरुणाई लोह लडों को तोड कर मुक्त होने के लिए छटपटा रही हो, उन दिनों

---

१. रामचरितमानस, बालकांड, पृष्ठ ४७
२ माधुरी, चैत्र, सवत् १६८८, पृष्ठ ३६४ मे उद्धृत
३. साहित्य-देवता, पृष्ठ १३३
४ मुक्तधारा, मार्च १६५७, पृष्ठ ५, कालम १
५. साहित्य देवता, पृष्ठ १३४

हम व्याकरण और पिंगल के नियमों के टूट पड़ने पर शोक प्रस्ताव पास न करें।"[1] यह दृष्टिकोण मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त पर आधृत है कि मानव-व्यवहार में समय-समय पर मौलिक अन्तर का सूत्रपात हुआ करता है। अतः आलोच्य कवि द्वारा व्याकरण और पिंगल शास्त्र के रूढ़िगत नियमों में परिवर्तन की इच्छा रखना स्वाभाविक ही है।

सिद्धान्त-प्रयोग

चतुर्वेदी जी के सिद्धान्तों के कृतिगत रूप के अध्ययन के लिए उनके काव्य-कला, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी विचारों का, रचना के अन्तर्वर्ती धर्म होने के नाते, एक स्थान पर विवेचन करना उचित होगा। इसी प्रकार काव्य शिल्प सम्बन्धी धारणाओं पर पृथक् रूप से विचार करना उपयुक्त रहेगा।

१ काव्य का अन्तरंग

चतुर्वेदी जी ने काव्य को जीवन-परिष्कार और युग-निर्माण में सहायक मान कर कवि को अनुभूति और चिन्तन के आधार पर राष्ट्रीय और मानववादी कविताएँ उपस्थित करने का सन्देश दिया है। उनकी अनुभूति का सम्बन्ध मुख्यतः देश-भक्ति से रहा है, किन्तु उन्होंने प्रकृति और रहस्य चिन्तन को भी आत्मानुभवों के आधार पर सजग वाणी दी है। उनके काव्य का मुख्य स्वर बलिदान की भावना से ओतप्रोत राष्ट्रीयता का प्रबल प्रतिपादन है। इस दृष्टि से "माता" शीर्षक कृति विशेषतः पठनीय है, किन्तु उनकी अन्य रचनाओं में भी राष्ट्र-प्रीति का ही प्राधान्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भावुकता और रहस्यात्मकता के प्रभावस्वरूप वे अपनी अनुभूतियों को सर्वत्र स्पष्ट वाणी नहीं दे पाए हैं, कहीं-कहीं उनकी अभिव्यक्ति में धूमिलता और अस्पष्टता की भी स्थिति रही है। फिर भी यह स्पष्ट है कि इन रचनाओं में निहित ओजस्विता जीवन की परिष्कृति और युग-चेतना की समृद्धि में सक्षम है। लोक-जीवन से सम्पृक्त होने के कारण उनकी कविताओं में मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति की भी सहज स्थिति रही है। भावनाओं की स्पष्टता और गम्भीरता प्रदान करने के लिए उन्होंने अनुभूति के अंचल में चिन्तन को भी वांछित गौरव दिया है। फिर भी यह सिद्ध है कि उन्होंने काव्य को अन्तःसौष्ठव प्रदान करने वाले काव्यांगों को अपनी रचनाओं मे प्रतिफलित करने की ओर उचित ध्यान दिया है।

२ काव्य-शिल्प

चतुर्वेदी जी ने काव्य में शिल्प-साधना के लिए कवि को भाषा-सारल्य, मुहावरों के वैदग्ध्य, और आवश्यकता होने पर अतुकान्त का आश्रय लेने का परामर्श दिया है। विचार-प्रयोग की दृष्टि से उनकी भाषा उक्ति-वक्रता से समन्वित होने पर भी सहजता-सम्पन्न रही है। उन्होंने अपनी कविताओं को भावुकता, ओजस्विता, करुणा और माधुर्य से ओतप्रोत रखते हुए उनमें अभिव्यंजना की लोक-ग्राह्यता को स्थान देने की ओर उचित ध्यान दिया है। उनकी रचनाओं में संस्कृत के उत्तम शब्दों का अभाव नहीं है, किन्तु इन

---

१ साहित्य-देवता, पृष्ठ १०२

दिशा में केवल प्रचलित सरल शब्दों को ही ग्रहण किया गया है। तथापि यह कहना होगा कि उन्होंने अपनी रचनाओं को जन-देवता के प्रति समर्पित करने की झोंक में दूख (दुःख), पै (पर), मूरख (मूर्ख), तलक (तक) आदि शब्दों[1] को अशुद्ध रूप में उपस्थित कर उचित नहीं किया है। इस प्रकार के शब्द उनकी रचनाओं में व्यापक रूप में उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं प्रकरण के अनुकूल होने के कारण उनके औचित्य को भी स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उनके आधिक्य को शोभन नहीं माना जा सकता। चतुर्वेदी जी ने मुहावरों को "हरिऔध" जी जैसे आग्रह के साथ तो प्रयुक्त नहीं किया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे इस ओर से उदासीन नहीं हैं। इस दृष्टि से "आँखें लाल करना", "जी का पानी ढालना", "बूते से बाहर होना", "बेड़ा पार होना" आदि मुहावरों का प्रयोग द्रष्टव्य है।[2] उन्होंने मुहावरों को भाषा के प्रवाह में निमज्जित कर उनके द्वारा रचना को सजीव बनाया है, भाराक्रान्त नहीं। छन्द-रचना नियमों के अन्तर्गत उन्होंने तुक को काव्य के लिए अपरित्याज्य नहीं माना है, किन्तु उनकी कविताओं में तुक का सर्वत्र पालन हुआ है—किसी अन्त्यानुप्रासमयी रचना के एक-दो पदों में संयोगवश अतुकान्त-प्रवृत्ति का ग्रहण केवल अपवाद ही है। इस दृष्टि से "मुझको कहते हैं माता" शीर्षक कविता को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[3]

विवेचन

चतुर्वेदी जी के विचारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सम-कालीन पृष्ठभूमि पर आधृत रहे हैं। काव्य शास्त्र की गम्भीरता से युक्त होने पर भी उनके अन्तराल में भावुकता का यथेष्ट वितरण हुआ है। वस्तुत ये कर्मणा आलोचक न हो कर कवि हैं। इसके फलस्वरूप उनके सैद्धान्तिक वक्तव्यों में विशिष्ट ओज और प्रभावक्षमता की स्थिति रही है। यह विशेषता आधुनिक युग के अन्य कवि-आलोचकों के वक्तव्यों में कठिनाई से ही प्राप्त होती है। चतुर्वेदी जी का व्यक्तित्व कवि और विचारक, दोनों के ही रूप में न केवल अनुभूति-सम्पन्न है, अपितु उसमें चिन्तन की प्रखरता और औज्ज्वल्य का भी उपयुक्त समावेश है। इसीलिए जहाँ उन्होंने समाज, राष्ट्र और संस्कृति की प्राण-वान् अभिव्यक्ति को काव्य का आदर्श माना है वहाँ अपनी काव्य-दृष्टि में औदार्य का समा-वेश कर अतुकान्त पद रचना और व्याकरण के बोझिल नियमों से रहित कविता की सार्थ-कता का भी प्रतिपादन किया है। समाज-चेतना के प्रति सतत जागरूकता के फलस्वरूप उनके साहित्यिक विचार परम्परा से सामान्वित होने पर भी मौलिकता और ओजस्विता से दीपित हैं।

●

---

१ देखिए "युग-चरण", पृष्ठ २२, २४, ४५, ५३ तथा ६१

२ (अ) हिमकिरीटिनी, पृष्ठ ६५ तथा ७५
(आ) माता, पृष्ठ ६४ तथा ६५

३ देखिए "माता", पृष्ठ ६१

रामधारीसिंह "दिनकर"

"दिनकर' जी ने अपनी रचनाओं में विविध काव्य सिद्धान्तों की केवल प्रसंग-प्राप्त अभिव्यक्ति ही नहीं की है, अपितु आचार्य द्विवेदी और कविवर "हरिऔध" की भाँति स्वतन्त्र काव्य चिन्तन भी किया है। वस्तुतः उनका मन्तव्य तो यह है कि "यद्यपि काव्य के सम्बन्ध में चर्चाएँ सभी तरह के लोग किया करते हैं, किन्तु काव्य की उच्चतम कोटि की आलोचनाएँ केवल उन्हीं लोगों ने लिखी हैं जो स्वयं कवि थे।"[1] इसी प्रकार उन्होंने "नूतन काव्य शास्त्र" शीर्षक लेख में भी कवि को सजग शास्त्र चिन्तन की प्रेरणा देते हुए यह प्रतिपादित किया है, "तेरा काव्य-शास्त्र वह नहीं है जो पुस्तकों में वर्णित है, बल्कि, वह जो तेरे अन्तराल में प्रच्छन्न है, जिसकी अज्ञात प्रेरणाओं से तू पुराने नियमों को तोड़ रहा है और जिसके अज्ञात संकेतों पर तू चाव पर कविता के नए रूपों का निर्माण कर रहा है।"[2] कवि-कर्म और काव्य चिन्तन के समन्वय में विश्वास रखने के कारण उन्होंने काव्यांग विवेचन की ओर व्यापक ध्यान दिया है। उन्होंने अपनी काव्य रचनाओं (रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, रसवन्ती, इतिहास के आँसू, कुरुक्षेत्र, धूपछाँह, रश्मिरथी, नील कुसुम, सीपी और शंख, नए सुभाषित और चक्रवाल) की कविताओं और भूमिकाओं, निबन्ध-कृतियों (मिट्टी की ओर, रेती के फूल, काव्य की भूमिका, अर्धनारीश्वर, पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, उजली आग) तथा "हिमालय", "नई धारा", "आजकल", "अवन्तिका" आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में प्रभूत शास्त्र-चिन्तन किया है। आगे हम उनके द्वारा विवेचित काव्यांगों (काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य शिल्प, काव्यानुवाद और काव्यालोचन) की क्रमशः मीमांसा करेंगे।

काव्य का स्वरूप

"दिनकर" जी के मतानुसार "कविता वह है जो अदृश्य को दृश्य बनाने का प्रयास करे।"[3] अरूप में रूप विधान की यह क्षमता प्रजापति के सृष्टि-निर्माण-कौशल के समान ही है और इसी को लक्षित कर के कवि की महत्ता के प्रतिपादनार्थ "यजुर्वेद" में परमात्मा को कवि, मनीषी, सर्वव्यापी और स्वयम्भू कहा गया है—"कविर्मनीषी परिभू

१ हिमालय, अप्रैल १९४६, पृष्ठ ८५
२ उजली आग, पृष्ठ ३६
३ उजली आग, पृष्ठ ४७

स्वयभू ।"[1] अवर्ण्य को वर्ण्य बनाने के लिए कवि को स्पष्टत मनीषी होना चाहिए। इसीलिए "दिनकर" जी ने कहा है, "कविता मनोरजन नहीं, आत्मानुसन्धान का उन्मेष है।"[2] काका कालेलकर ने इसी को कवि की आत्मनिष्ठा कहा है--"कवियो के लिए सर्वप्रथम सरक्षणीय वस्तु आत्मनिष्ठा है, अपना अनुभव, अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धा जैसी हो, वैसी ही वह प्रकट होनी चाहिए।"[3] आत्म-दर्शन-जनित भावोन्मेष का अध्यात्मपरक होना सहज स्वाभाविक है। इसीलिए "दिनकर" जी ने सेमुएल कॉलरिज की उक्ति, "कोई भी व्यक्ति सजग दार्शनिक हुए बिना कवि नहीं हो सकता"[4] की भाँति यह प्रतिपादित किया है—"प्रत्येक कविता, किसी न किसी हद तक, आध्यात्मिक होती है।"[5] इन उक्तियो से स्पष्ट है कि कवि किसी विशिष्ट विषय के माध्यम से आत्मा का उन्मेष करता है। इस प्रकार की कविता मे भावुकता की स्थिति सहज अभिलषित होगी, अत 'दिनकर' जी ने यह उल्लेख किया है, "भावुकता साहित्यकार का बहुत बड़ा गुण है, बल्कि, कहना चाहिए कि उचित मात्रा में इस गुण के हुए बिना कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता।"[6] भाव-प्रवाह के लिए भावुकता अथवा सहृदयता का सचय कविता का गुण है, किन्तु उसकी अपनी परिसीमाएँ भी हैं—काव्य-वर्ण्य को सप्राण रखने के लिए कवि को अति भावुकता से मुक्त ही रहना चाहिए।[7] इसीलिए 'दिनकर" जी ने काव्य मे भावना के अतिरिक्त वैज्ञानिक की दृष्टि के सतुलन को भी अपेक्षित माना है—

"कविता न तो कोमल भाषा, न गेय छन्द, न कोरी भावुकता में है। वह मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है, जो वस्तुओ के उन आभ्यन्तर रूपों को देखती और दर्शाती है, जो रूप विज्ञान में देखे नहीं जा सकते। किन्तु जो वस्तु विज्ञान के स्वभाव के परे है, उसका वर्णन आगामी कविता वैज्ञानिक एकुरेसी के साथ करेगी।"[8]

इन अवतरणो से स्पष्ट है कि "दिनकर" ने कवि के हृदय मे आलोकित प्रतिभा के दर्शन करते हुए भावना और बुद्धि मे सयोग-स्थापना द्वारा काव्य-रचना की प्रेरणा दी है। इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त उन्होंने काव्य मे करुणा अथवा युग-वेदना के सहज प्रसार

---

१. यजुर्वेद, ४०।८
२ उर्वशी भाग, पृष्ठ ४४
३. बापू (आत्मनिष्ठा और सरलता), भूमिका, पृष्ठ १७
४. "No man was ever yet a great poet, without being at the same time a profound philosopher."
(The Oxford Dictionary of Quotations, Page 152)
५. उर्वशी भाग, पृष्ठ ४४
६ काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३६
७. देखिए "काव्य की भूमिका", पृष्ठ ३५
८. धूप और धुआँ, भूमिका, पृष्ठ "ड"

को भी कवि का काम्य माना है।[1] "इतना ही है ज्ञात कि मेरी व्यथा उमड़कर छन्द हुई"[2] और "आँखों से पूछो, स्यात्, आँसुओं में गीतों का भेद मिले"[3] जैसी पंक्तियाँ इसी तथ्य की प्रत्यायक हैं। उन्होंने वाग्देवी द्वारा कवि को वरदान भी यही दिलाया है—"कभी-कभी मन की पीड़ा को, श्लोक बना कर गाएगा।"[4] उन्होंने पीड़ित मानवता के उल्लेख को कवि का सहज धर्म मान कर करुणा को काव्य रचना का विशिष्ट प्रेरक तत्व कहा है। यद्यपि उन्होंने काव्य में आनन्द की अभिव्यक्ति का निषेध नहीं किया है, तथापि केवल सुख को वाणी देने वाली रचना उन्हें इष्ट नहीं है। इसीलिए उनकी कविता कवि से कहती है—

"करुणा की मैं सुता बिना पतझड़ कैसे जी पाऊँगी?
कवि! वसन्त मत बुला, हाय, मैं बिना-मौत खो जाऊँगी?"[5]

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर "दिनकर" जी को मान्य काव्य-लक्षण को लगभग उन्हीं की शब्दावली में इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—"जब कवि का भावुक हृदय उन्मेष-लाभ कर जीवन के हर्ष-विषाद का आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वच्छ निरूपण करता है तब उसी को काव्य कहते हैं।"

काव्य की आत्मा

"दिनकर" जी ने काव्य के विविध सम्प्रदायों में से रस, अलंकार, रीति और ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया है और इनमें से किसी का भी निषेध न करते हुए अन्तत रीति और ध्वनि को काव्य के आन्तर तत्व माना है। रस के काव्य-जीवत्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है, "कविता तो कवि की आत्मा का आलोक है, उसके हृदय का रस है जो बाहर की वस्तु का अवलम्ब लेकर फूट पड़ता है।"[6] यहाँ लोकानुभूति से प्राप्त संवेदन को रस का हेतु माना गया है। "दिनकर" जी ने काव्य को कवि का हृदय-द्रव मान कर अन्यत्र भी यह प्रश्न किया है—"सीपी के आत्मक्षरण से मोती और बाँस के आत्मक्षरण से वंशरोचन बनता है। वह कवि कब आएगा जिसका आत्मक्षरण उसका काव्य होगा?"[7] यहाँ "आत्मक्षरण" से कवि का तात्पर्य आत्म-रस के स्रवित होने से है। कविता में आत्मा का प्रकटीकरण अथवा वासना की परिणति ही रस है। अत यह स्पष्ट है कि विवेच्य कवि काव्य में रस के महत्व के प्रति सतत सजग है।

"दिनकर" जी ने रस के उपरान्त अलंकार को गौरव देते हुए उसे काव्य में शोभा

---

१ देखिए "नए सुभाषित", पृष्ठ ४३
२ द्वन्द्वगीत, पृष्ठ ८
३. रसवन्ती, पृष्ठ ७७
४ धूपछाँह, पृष्ठ ६१
५ हुंकार, पृष्ठ ८२-८३
६ मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४४
७. उजली आग, पृष्ठ ५०

की सृष्टि करने वाला धर्म कहा है। कवि अप्रस्तुत-योजना के माध्यम से वस्तु के सामान्य रूप को जो विशिष्ट छवि प्रदान करता है वह काव्य के लिए अपरित्याज्य है। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"मैं अलंकारों के महत्व को नहीं भूल सकता, किसी प्रकार भी उनका अनादर नहीं कर सकता, क्योंकि अलंकारों ने काव्य-कौशल के बहुत-से ऐसे भेद खोले हैं, जो अन्यथा अविशिलिष्ट रह जाते।"[1] अलंकार-समन्वित काव्य की अभिव्यंजना चातुरी से बोद्धा की अन्त चमत्कृति स्पष्टत अनुपेक्षणीय है। 'दिनकर" जी ने साधर्म्य अथवा औपम्य के द्वारा सृष्टि के स्थूल दृश्य पदार्थों की चित्रात्मक प्रस्तुति के उल्लेख द्वारा भी अलंकार के महत्व की स्थापना की है। उनका मत है, "चित्र-रचना की सामग्री, अवसर, अलंकारों की सामग्री होती है, किन्तु, चित्र अलंकार लाए बिना भी रचे जा सकते हैं। × × × × × चित्र कविता का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत कहना चाहिए कि यह कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी भी नहीं छूटता। × × × × × भामह आदि ने अलंकारों को जो काव्य की आत्मा कहा था, वह उचित इसी प्रसग में सार्थक प्रतीत होती है।"[2] यहाँ कवि ने काव्य मे चित्रालंकार के महत्व का प्रस्ताव नहीं किया है, अपितु उसका अभीष्ट भाषा के चित्र-धर्म की स्तुति करना है। चित्र-योजना के महत्व का यह उल्लेख प० रामदहिन मिश्र की इस उक्ति के अनुरूप ही है—"प्रकृत कवि की भाषा चित्रमय होती है। यदि भाषा चित्रमय न हो तो भाव-प्रकाश प्राय दुरूह हो जाता है। सगीत और चित्र से भाषा-भाव ग्राह्य बन जाते हैं। इससे अन्य भी वैसे ही रसतृप्त होते हैं, जैसे भाषा के चित्रकार भावुक कवि। भाषा के इसी चित्र-धर्म से अधिकाश अर्थालंकारों की उत्पत्ति होती है।"[3] तथापि यह निर्विवाद है कि चित्र को काव्य का शरीर अथवा बाह्य रूप ही माना जा सकता है, अन्तर्तत्व नहीं। अत यह स्पष्ट है कि अलंकार के प्रति सहज भाव रखने पर भी आलोच्य कवि ने उसे मूर्द्धन्य स्थान नहीं दिया है और यह उचित भी है।

"दिनकर" जी ने रीति को काव्य का सर्वस्व मानने के प्रसग मे उसके लिए "शैली" शब्द का प्रयोग किया है। डॉ० नगेन्द्र की उक्ति, "रीति और शैली का वस्तु-रूप एक ही है"[4] के अनुसार यह उचित भी है क्योंकि उन्होंने सम्बद्ध उद्धरणों मे शैली के वस्तु-रूप की ही चर्चा की है, उसके व्यक्ति-तत्व का उल्लेख उन्हें अभीष्ट नहीं रहा है। तथापि इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने काव्य मे रीति के महत्व के विषय मे परस्पर विरोधी विचारों को व्यक्त किया है। जहाँ उन्होंने "जार्ज रसल का साहित्य-चिंतन" शीर्षक लेख मे यह लिखा है, "यद्यपि शैली और भाव दोनों मिल कर ही साहित्य की रचना करते हैं, फिर भी साहित्य में भाव का स्थान पहले और शैली का पीछे आता

१. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४८-१४६
२. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७१, ७३
३. काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृष्ठ ४६
४. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, भूमिका, पृष्ठ ५६

है"[1] वहाँ उन्होंने परवर्ती रचना "चक्रवाल' में यह प्रतिपादित किया है—"पहले मैं काव्य की शैली पर कम, उसके द्रव्य पर अधिक ध्यान देता था, किन्तु, अब मैं मानता हूँ कि, यद्यपि, शैली और भाव एक-दूसरे से अलग कर के देखे नहीं जा सकते, फिर भी, साहित्य की शक्ति उसकी शैली में है।"[2] इसी प्रकार उन्होंने इस कृति में जहाँ यह घोषणा की है, "शैली साहित्य का सर्वस्व है"[3] वहाँ उन्होंने स्वयं ही यह उल्लेख किया है, "असल में, शैली भावों से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं होती। अभिव्यक्ति के धुंधलेपन को मैं इस बात का प्रमाण मानता हूँ कि कवि भावों की सुस्पष्ट अनुभूति नहीं कर सका है।"[4] यद्यपि इन उद्धरणों से यह असन्दिग्ध है कि वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, किन्तु इसके प्रति-पादन में एक प्रकार की हिचकिचाहट मिलती है।

उन्होंने रीति के काव्य-जीवनत्व के प्रतिपादन के लिए 'कविता का भविष्य' शीर्षक लेख में यह उल्लेख किया है कि "कविता का प्रधान गुण उक्ति या वर्णन का सौंदर्य है। कविता में शब्दों की लड़ी मनोमुग्धपूर्ण होती है और उसके भीतर एक मोहक चित्र होता है, जो आनन्द के प्रवाह में मनुष्य के मन को बहा ले जाता है।"[5] रीति के द्वारा शब्द-सौष्ठव की योजना स्पष्टतः माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता और कान्ति नामक शब्द-गुणों की अन्तर्भूत विशेषता है। रीति-सिद्धान्त के अधिष्ठाता आचार्य वामन के अनुसार माधुर्य गुण से पद-रचना मधु धारा की सृष्टि करती है, सौकुमार्य गुण में रचना का अभाव और कोमलता का विशिष्ट प्रकार रहता है, "उदारता' में पदों की नृत्यमयता की मनोहा-रिता होती है और कान्ति गुण पद औज्ज्वल्य का विधायक होता है।[6] "दिनकर' जी ने उपरोक्त उद्धरण में इन्हीं काव्य-गुणों से लाभ उठा कर रीति के महत्व की स्थापना की है। इस प्रसंग में उनकी एक अन्य उक्ति यह है—"कवि की जो सबसे बड़ी शक्ति है वह न तो छन्द रचना में परखी जा सकती है, न ऊँचे-ऊँचे विचारों को बाँधने में। उसकी जाँच विशेषणों के प्रयोग में होती है या फिर ऐसे शब्दों के प्रयोग में जिनके बैठने की अदा से ही कविता चमक उठती है।"[7] कवि-उक्ति में विशेषण प्रयोग अथवा विशिष्ट पद-रचना की स्थिति भी रीति के अन्तर्गत मान्य है। आचार्य वामन ने अर्थ-गुणों के अन्तर्गत ओज का विवेचन करते हुए साभिप्राय विशेषण-प्रयोग को अर्थ-प्रौढ़ि का प्रकार-विशेष मान कर इसी मत का प्रतिपादन किया है।[8] "दिनकर" जी ने काव्यगत विशेषणों के महत्व के विषय में "कविता की परख" शीर्षक लेख में भी लिखा है—"जहाँ यह जानने की आव-

---

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ १८१
२. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ १
३ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७४
४ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ २१
५ अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ६०
६ देखिए "हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र", तृतीय अधिकरण, पृष्ठ १२६-१२७
७. आजकल, अक्तूबर १९५६, पृष्ठ ६४
८. देखिए "हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र", तृतीय अधिकरण, पृष्ठ १४१

स्पष्ट्ता हो कि दो कवियों में से कौन बड़ा और कौन छोटा है, वहाँ केवल यह देख लो कि दोनों में से किसने कितने विशेषणों का प्रयोग किया है तथा किसके विशेषण प्राणवान् और किसके निष्प्राण उतरे हैं।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवि को काव्य में रीति का महत्व विशेषतः मान्य रहा है।

उपरिविवेचित काव्य-सम्प्रदायों के अतिरिक्त "दिनकर" जी ने ध्वनि सिद्धांत की भी प्रतिष्ठा दी है। इस सम्बन्ध में उनकी यह धारणा है—"आनन्दवर्धन ने × × × × × घोषणा की कि कविता की आत्मा ध्वनि है अर्थात् कविता वह नहीं है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर संकेत किया जाता है। मेरा विचार है, सारे संसार की आलोचनाओं को निचोड़ डालें, तब भी उससे अधिक गहरी बात का पता नहीं चलेगा, जिसका पता ध्वनिकार को चला था।"[2] ध्वनि के गौरव की ऐसी निर्भ्रान्त स्थापना "दिनकर" जी ने अन्यत्र भी की है। उनके अनुसार, "कवि शब्दों को इस उद्देश्य से बिठाता है कि वे अपनी ध्वनि को झंकृत कर सकें, एक नहीं अनेक अर्थों का संकेत दे सकें, उनसे प्रभावोत्पादकता टपके और वे पाठकों के भीतर किंचित् आवेश भी उत्पन्न कर सकें।"[3] यहाँ व्यंग्यार्थ में रमणीयता के अधिवास से पाठक के चित्त में रम्य भाव के उद्बुद्ध होने का उल्लेख कर ध्वनि मत की सार्थकता को स्पष्ट शब्दों में स्थिर किया गया है। काव्यगत शब्दों से प्रभावशाली ध्वनि की झंकृति के अतिरिक्त उन्होंने उनसे अनेकार्थ-संकेत की भी उचित स्थापना की है। वस्तुतः अभिधा से जिस अन्वित अर्थ की प्रतीति होती है, वह एक ही होता है, किन्तु व्यंजना से जो अनन्वित अर्थ व्यंजित होते हैं, वे वक्ता, बोद्धा और प्रसंग के भेद से अनेक हो सकते हैं।[4] वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का यह भेद ही ध्वनि के महत्व का मूल उद्घोषक है। इसीलिए "दिनकर" जी ने सार-रूप में यह प्रतिपादित किया है कि "शायद, ध्वनि से बारीक तत्व कविता में और कोई है ही नहीं।"[5] उपर्युक्त मीमांसा के आलोक में यह कहा जा सकता है कि "दिनकर" जी प्रधानतः रीतिवादी और ध्वनिवादी कवि आलोचक हैं, किन्तु "रत्नाकर" जी की भाँति उनकी प्रवृत्ति भी समन्वय-स्थापन की ओर रही है। इसीलिए रीति और ध्वनि के अतिरिक्त काव्य में रस और अलंकार का महत्व भी उन्हें यथास्थान स्वीकार्य रहा है।

काव्य-हेतु

"दिनकर" जी ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के काव्य-कारणत्व का उल्लेख किया है, किन्तु इनमें से प्रतिभा की अपेक्षा शेष दोनों तत्वों का महत्व ही उन्हें विशेष मान्य है। वे प्रतिभा को निसर्गसिद्ध मानते हैं, "प्रथम किरण जिस दिन फूटी थी, उस

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ १४५
२. नील कुसुम, दो शब्द, पृष्ठ "घ"
३ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ६६
४ देखिए "हिन्दी-साहित्यदर्पण", प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३४५
५. काव्य की भूमिका, पृष्ठ १

दिन× × × × ×फूटा कवि का कंठ× × × × ×"[1], किन्तु उसे ईश्वरीय देन मानने में उन्हें आपत्ति है। उन्होंने काव्य प्रेरणा की रहस्यमयी व्याख्या न कर उसे कवि की बुद्धि, अनुभूति और संस्कारों का स्वाभाविक फल माना है। यथा—"अपने अनुभवों के आधार पर मैं कभी-कभी यह मानने को विवश हो जाता हूँ कि प्रेरणा यदा-कदा ईश्वरीय भी होती होगी। किन्तु, ईश्वरीय विशेषण कौन ग्रहण करेगा? × × × × × इसलिए, जो बात कही जा सकती है, वह यह है कि प्रेरणा बुद्धि के केन्द्रीकरण से उत्पन्न कोई अनिर्वचनीय शक्ति है जिसके मूल हमारे संस्कारों में रहते हैं, जिसकी शिराएँ हमारी स्मृतियों में गड़ी होती हैं तथा जो मनुष्य की सद्बुद्धि से समन्वित होती है।"[2] इन उक्तियों में प्रेरणा (प्रतिभा) को काव्य का स्पष्ट हेतु माना गया है। प्रेरणा से समाधि की उपलब्धि और उससे सात्विक भावों (रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि) के प्रस्फुरण का उल्लेख कर उन्होंने अन्यत्र भी प्रतिभा के महत्व की घोषणा की है,[3] किन्तु प्रतिभा का यह महत्व उन्हें सर्वत्र स्वीकार्य नहीं रहा है। वस्तुतः वे प्रतिभा को व्युत्पत्ति का फल विशेष मानते हैं। इस सम्बन्ध में ये उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "प्रेरणा उन संस्कारों के उभार का नाम है जिन्हें हमने रहन सहन, विचार-विमर्श, अध्ययन और संगति के द्वारा अर्जित किया है।"[4]

(आ) "प्रेरणा का उद्गम शिक्षा-दीक्षा, संस्कार और भावुकता होती है। × × × × ×प्रेरणा का धरातल संस्कार का और रचना का धरातल परिश्रम और अभ्यास का धरातल होता है।"[5]

(इ) "कवि जिन संस्कारों में पल कर युवा होता है, जिस वातावरण में सांस ले कर बढ़ता है, वह वातावरण और वे संस्कार उसके भावों और सन्देशों का आप से आप निश्चयन कर देते हैं।"[6]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि काव्य रचना के लिए प्रेरणा अपेक्षित तो होती है, परन्तु वह अनायास लभ्य न होकर कवि के मानव-दर्शन और अध्ययन जन्य संस्कारों का परिणाम होती है। प्रेरणा के उद्गम और पोषण में व्युत्पत्ति की सहायता की घोषणा सामान्यतः परम्परा से भिन्न सिद्धान्त है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि कवि का लक्ष्य प्रतिभा की उपेक्षा करना नहीं है। यद्यपि उन्होंने "कलाकार का कार्य भी प्रतिभा से कम, परिश्रम से अधिक सम्पन्न होता है"[7] कह कर प्रतिभा की प्रमुखता का स्पष्ट निषेध किया है, परन्तु प्रतिभा के अभाव में काव्य की रचना को भी वे सम्भाव्य नहीं मानते। उदाहरणतया

---

१ द्वन्द्वगीत, पृष्ठ १६
२ काव्य की भूमिका, पृष्ठ १२६
३ देखिए "चक्रवाल", भूमिका, पृष्ठ २९-३०
४ काव्य की भूमिका, पृष्ठ १३०
५ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ४७
६ काव्य की भूमिका, पृष्ठ ४४
७ रेती के फूल, पृष्ठ ६६

"प्रेरणा का स्वरूप" शीर्षक लेख में यह अभिमत देखिए—"रचना में प्रेरणा का अधिक महत्व है या प्रयास का, यह प्रश्न बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा यह पूछना कि अच्छी फसल उगाने के लिए भूमि की उर्वरता आवश्यक है या कृषक का श्रम। प्रेरणा मात्र इस बात की गारंटी है कि ऋतु अनुकूल है। रचना के बाकी काम तो साधना और प्रयास से ही किए जा सकते हैं।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि 'दिनकर' जी ने प्रतिभा का तिरस्कार न करने पर भी काव्य-रचना में व्युत्पत्ति (लोक-दर्शन और काव्यानुशीलन) और अभ्यास के साहाय्य को विशेष माना है। लोक दर्शन से प्राप्य निपुणता में विश्वास रखने के कारण उन्होंने अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन के विषय में यह लिखा है, "जीवन के अनुभवों तथा अर्जित साहित्यिक संस्कारों के कारण मैं, कदाचित्, वैसा कवि अवश्य बनना चाहता था जिसकी प्रेरणा उसके सामाजिक कर्तव्य ज्ञान से आती है।"[2] इसी प्रकार उन्होंने "नई कविता के उत्थान की रेखाएँ" शीर्षक लेख में भी यह प्रतिपादित किया है कि "अनुभूति की विह्वलता काव्य की असली प्रेरणा होती है।"[3] वस्तुतः "शिक्षा-दीक्षा, संगति और संस्कार के कारण ही उसका (कवि का) उद्भव और विकास होता है तथा औरों को सिखाने के पूर्व उसे स्वयं भी बहुत कुछ सीखना पड़ता है।"[4] लोकानुभव के काव्य-हेतुत्व की यथापूर्व स्वीकृति की भाँति 'दिनकर' जी ने यह उल्लेख किया है कि कवि पूर्ववर्ती काव्य के अनुशीलन से भी लाभान्वित होता है—"साहित्य में प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्ती युग के अनुभवों से शिक्षा लेकर आगे बढ़ता है।"[5] काव्य में मौलिकता के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने अन्यत्र भी कविवर मैथिलीशरण की भाँति यह प्रतिपादित किया है—"विभिन्न कवियों के द्वारा एक ही भाव के पूर्वापर प्रयोगों से यह सिद्ध है कि पहले के प्रयोगों पर पर कुछ उन्नति करना, यही सच्ची मौलिकता है।"[6]

काव्य में भाव-साम्य की इस स्वाभाविकता को लक्षित कर आनन्दवर्धन ने कहा है, "यदि कवि अपने भाव के अनुकूल (किसी पूर्ववर्ती कवि की) वस्तु को देख कर उसके भाव का छायानुकरण करे तो यह भाव निबन्धन निन्दनीय नहीं है—अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्, सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति।"[7] हिन्दी के आचार्यों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार का भी मत है, "परवर्ती कवि की रचना में भाव-साम्य होने पर भी किसी प्रकार की अपूर्वता आ जाती है तो वहाँ भाव अपहरण-दोष नहीं समझा जाता

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ११३
२. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ३१
३. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ७०
४. काव्य की भूमिका, पृष्ठ १४१
५. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ २
६. रसवन्ती, भूमिका, पृष्ठ १०
७. हिन्दी ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृष्ठ ४८८

है।"[1] आलोचक-प्रवर प० कृष्णविहारी मिश्र ने भी काव्य में भाव-सादृश्य का उत्साहपूर्वक समर्थन किया है।[2] कविवर वियोगी हरि ने "मनमौजी कवि" शीर्षक लेख में इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—"यह माना कि कवि कैसा ही प्रतिभाशाली हो, बिना किसी आधार या छाया के वह नूतन रचना नहीं कर सकता, किन्तु जो वास्तविक कवि होगा, वह दूसरे के आधार को ऐसा अपूर्व और नूतन रूप दे देता है कि उसमें असाधारण चमत्कार चमकने लगता है और यह अर्थापहरण के दोष में नहीं आ सकता।"[3] तथापि यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्व-कथित भावों को नूतन रूप में ग्रहण करने का समर्थन करने पर भी "दिनकर" जी मूलतः अनुकरण के विरोधी हैं। उनके शब्दों में, "कवि की कम से-कम पहचान यह है कि वह अपने पूर्वज अथवा समकालीन कवियों में से किसी का भी अनुकर्त्ता नहीं हो।"[4]

पूर्ववर्ती काव्य-ग्रन्थों के अनुशीलन के अतिरिक्त "दिनकर" जी ने कविवर मैथिलीशरण गुप्त के मन्तव्य के अनुरूप काव्य शास्त्र के अध्ययन को भी व्युत्पत्ति के अंग-रूप में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की कृति "साहित्य-दर्शन" की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है, "यह पुस्तक केवल साहित्य के विद्यार्थियों ही नहीं—बल्कि उन सभी उदीयमान कवियों के द्वारा भी पढ़ी जानी चाहिए जो कविता के भीतर से अपनी राह बना रहे हैं। यह सच है कि इसके पारायण और मनन से उनकी काव्यात्मक योग्यता नहीं बढ़ेगी—किसी भी आलोचना से यह योग्यता नहीं बढ़ सकती; किन्तु इसके अध्ययन का परिणाम उनके लिए अत्यन्त कल्याणकर सिद्ध होगा तथा कारीगरी के क्षेत्र में वे बहुत सी ऐसी बातें जान जाएँगे जो उन्हें दुर्घटनाओं से बचा सकेंगी।"[5]

काव्य-नैपुण्य की उपलब्धि के लिए उपरिवर्णित तत्वों के अतिरिक्त "दिनकर" जी ने अनुकरण-प्रवृत्ति की भी चर्चा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह प्रतिपादित किया है, "जहाँ तक याद है, कविता लिखने की प्रेरणा मुझमें नाटक और रामलीला देख कर उत्पन्न हुई। जब भी मैं नाटक वालों के मुख से कोई गीत सुनता, दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता।"[6] अनुकरण की इस भावना की सार्थकता को लक्षित कर के ही पाश्चात्य साहित्यकार बेन जानसन ने अध्ययन की भाँति अन्य व्यक्तियों के व्याख्यानों के श्रवण को भी काव्य का उत्पादक माना है।[7] इससे स्पष्ट है कि "दिनकर" जी ने प्रतिभा

---

१ साहित्य समीक्षा, पृष्ठ १२३
२. देखिए "देव और बिहारी", पृष्ठ ८० ६०
३. साहित्य विहार, पृष्ठ १४३
४ काव्य की भूमिका, पृष्ठ १४०
५ हिमालय, अप्रैल १९४६, पृष्ठ ८६
६ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ २५
७ "For a man to write well, there are required three necessaries—to read the best authors, observe the best speakers, and much exercise of his own style."
(The Works of Ben Jonson, Volume IX, Discoveries, Page 212)

की अपेक्षा व्युत्पत्ति के काव्य-कारणत्व का अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। अन्य काव्य-साधनों में से उन्होंने श्री रामगोपाल रुद्र की कृति "शिंजिनी" की भूमिका में अभ्यास के महत्व की भी स्पष्ट चर्चा की है—"प्रेरणा को ठीक से ग्रहण करने और उसे ठीक-ठीक लिखने के अभ्यास और प्रयास को मैं कविता की साधना कहता हूँ।"[1]

काव्य का प्रयोजन

'दिनकर' जी ने काव्य से प्राप्य फलों का विशद विश्लेषण नहीं किया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि काव्य के अन्तरंग प्रयोजनों पर केन्द्रित रही है। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति काव्य से उसके कर्ता अथवा ग्राहक को परमानन्द की सद्य अनुभूति होने को ही उसका 'सकल प्रयोजन मौलिभूत" लक्ष्य माना है। इस विषय में उनकी उक्ति है, "आनन्द कला की पहली शर्त है। कविता रचने के समय कवि को आनन्द होता है, कविता पढ़ने के समय पाठक को आनन्द होता है।"[2] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है, "कविताएँ रचता तो कवि अपने आनन्द के लिए है, किन्तु संग्रह प्रकाशित करने में उसका उद्देश्य पाठकों को आनन्द देना होता है।"[3] यह आनन्द स्थूल मनोरंजन का पर्याय न हो कर चित्त में वैमल्य का आधान करने वाला है। इसीलिए उन्होंने कविवर मैथिलीशरण की प्रौढ़ोक्ति, "केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए" को अपने आक्रोशमय तरुण कवि-हृदय के अनुकूल यह रूप दिया है—"मनोरंजन के निमित्त विरचे जाने वाले छन्दों को तोड़ डालना ही पुण्य है।"[4] काव्य के सृजन अथवा अनुशीलन से कवि अथवा पाठक के हृदय में विशुद्ध आनन्द की उद्भूति निश्चय ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य है और परम्परानुप्रेरित होने पर भी कवि की अनुभूति-सजगता का परिचायक है।

'दिनकर" जी ने काव्य में युग धर्म के पालन को भी उसका अन्यतम प्रयोजन माना है। उनके अनुसार "प्रत्येक लेखक को सबसे पहले अपने ही समय के लिए लिखना चाहिए × × × × × अपने युग के लिए लिखने का अर्थ है उस युग के मूल्यों की रक्षा करने अथवा उन्हें बदलने का प्रयास।"[5] इस प्रेरणा की उपलब्धि के लिए कवि हृदय में लोक-दर्शन की रुचि का होना अत्यावश्यक है और यह भारतीय आचार्यों को मान्य 'हित" या "लोकोपदेश" के सिद्धान्त का ही अन्य प्रकारेण कथन है। काव्य के इस आन्तर लक्ष्य में विश्वास रखने के कारण ही आलोच्य कवि ने लोकहितकारक काव्य का ही यश का प्रदाता मान कर यह व्यवस्था दी है—"तालियों की गड़गड़ाहट और महज

---

१ शिंजिनी, द्वितीय संस्करण, भूमिका से उद्धृत
२ रेती के फूल, पृष्ठ ७०
३. नील कुसुम, दो शब्द, पृष्ठ "ग"
४ उजली आग, पृष्ठ ४३
५ रेती के फूल, पृष्ठ ८१

सिर हिलाने को हम कविता के लोकप्रिय होने का प्रमाण नहीं मान सकते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि समाज में फैली हुई अन्य विद्याओं से लोग जो प्रेरणा ग्रहण करते हैं, वह प्रेरणा वे कविता से लेते हैं या नहीं ?"[1] तालियों और वाहवाही को कविता का मापदंड न मान कर उसे युग-निर्माण की दम्भ कहकर श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। तथापि आलोच्य कवि ने चतुर्वेदी जी की भाँति यश और सम्पत्ति-लाभ को कवि के लिए सर्वथा अकाम्य नहीं माना है। उनका स्पष्ट मत है कि "प्रशंसा और प्रोत्साहन—ये कवि-प्रतिभा के आहार हैं।"[2] इसी प्रकार उन्होंने "समाजवाद के अन्दर साहित्य" शीर्षक लेख में भी यह प्रतिपादित किया है कि "कला की ऊँची कृतियों का निर्माण कलाकार इस भाव से नहीं करता कि समाज उनके बदले उसे पुरस्कारों और रुपयों से लाद देगा, किन्तु, रचनात्मक प्रवृत्ति को जीवित रखने के लिए तथा लेखक को लिखने का अवसर और क्षेत्र देने के लिए समाज में अनुकूल परिस्थितियों का कायम रहना बहुत जरूरी है।"[3] इन अनुकूल परिस्थितियों से "दिनकर" जी का अभिप्राय सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक सुविधा से ही है। तथापि इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे काव्य के बहिरंग प्रयोजनों को उसके अन्तरंग प्रयोजनों की सिद्धि में सहायक तत्वों के रूप में ही मान्यता देने के इच्छुक हैं।

काव्य के तत्व

"दिनकर" जी ने काव्य के भाव विधायक तत्वों में से अनुभूति (सत्य) की विशेष चर्चा की है, किन्तु सारतः उनका प्रतिपाद्य यही रहा है कि काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर का सहज समवेत कथन होना चाहिए। अनुभूति की महत्ता के विषय में उन्होंने "मुहम्मद इकबाल" शीर्षक लेख में लिखा है—"कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज के भीतर से आती है।"[4] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है, "मनुष्य का अनुभूतिशील हृदय ही कविता के जन्म और उसके विहार की भूमि है। हृदय की सचाई से काव्य में तेज और सौन्दर्य प्रकट होता है, कल्पना से नहीं।"[5] यहाँ यह उल्लेख्य है कि कल्पना के प्रति उनके दृष्टिकोण में सतुलन का अभाव रहा है। जहाँ उन्होंने उपर्युक्त उद्धरण में कल्पना के प्रति अनास्था प्रकट की है वहाँ अन्यत्र उन्होंने यह मत व्यक्त किया है, "कल्पना के सिवा और कौन साधन है, जिससे कवि वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा कल्पना को छोड़ कर और कौन शक्ति है, जो वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा × × × × × वस्तुओं की आन्तरिकता के ज्ञान को चित्रों में परिवर्तित कर सके ?"[6] इसी प्रकार जहाँ उन्होंने "कविता, राज-

---

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ५६
२ अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ५७
३ अर्धनारीश्वर, पृष्ठ १२२-१२३
४ आजकल, दिसम्बर १९५५, पृष्ठ ११
५. रसवन्ती, भूमिका, पृष्ठ ३
६ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ५४

नीति और विज्ञान" शीर्षक लेख मे यह कहा है कि "कल्पना केवल कवि के लिए ही नहीं, बल्कि, इतर जनों के लिए भी आवश्यक गुण है"[1] वहाँ निम्नोक्त काव्य पंक्तियों मे उसके स्थान पर सत्य अथवा अनुभूति को ही महत्व दिया गया है—

(अ) "तारों में है संकेत ? चाँदनी में छाया ?
बस यही बात हो गई सदा दुहराने की ?
सनसनी, फेन, बुदबुद, सब कुछ सोपान बना,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने को ।।"[2]

(आ) "पर नभ में न कुटी बन पाती, मैंने कितनी युक्ति लगाई,
आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी-बनाई ।"[3]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि "दिनकर' जी ने काव्य म कल्पना के सापेक्षिक महत्व का उल्लेख तो किया है, किन्तु उसके स्वरूप निर्धारण मे वे निश्चयात्मक दृष्टिकोण को नही अपना सके हैं । तथापि उनकी मान्यताओं की मीमासा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने कल्पना की अपेक्षा अनुभूति-वैभव को अधिक महत्व दिया है, और यह स्वाभाविक भी है । डॉ० नगेन्द्र ने अनुभूति (रस) और कल्पना (ध्वनि) के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करने के अनन्तर यही मत व्यक्त किया है—"अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का सवेद्य वही है । कल्पना इस सवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परन्तु सवेद्य नहीं है ।"[4] काव्य मे सत्य की व्याप्ति को उसका नैसर्गिक गुण मानने के कारण "दिनकर" जी ने कवि की अनुभूति को प्रमाता के अन्तस् तक प्रेषित करने मे ही काव्य का आदर्श मान कर यह उल्लेख किया है, "मेरी सारी समाधि का एकमात्र लक्ष्य यह रहता है कि जो कुछ मुझे अनुभूत हुआ है, वह ज्यों का त्यों श्रोताओं को अनुभूत होगा या नहीं ।"[5]

काव्य मे अनुभूति की श्रेयात्मक अभिव्यक्ति के लिए उसे चिन्तन से पुष्ट करना कवि-मात्र के लिए स्वाभाविक है । अत 'दिनकर"जी को मान्य काव्य-तत्वों का उपर्युक्त निर्धारण स्पष्टत सत्य (अनुभूति) और शिव (चिन्तन) के पारस्परिक सहयोग का घोषणा-पत्र है । काव्य के तृतीय तत्व "सौन्दर्य" के विषय मे उनके विचार सक्षिप्त है । उनके द्वारा कल्पना का उल्लेख प्रकारान्तर मे सौदर्य का ही उल्लेख है, किन्तु उपर्युक्त अनुच्छेदों के अनुसार वे उसे कवि का मूल काम्य नहीं मानते । तथापि उन्होंने काव्य मे सौन्दर्य के निसर्ग प्रसार का तिरस्कार नही किया है—कर भी नहीं सकते—वे तो उसकी अतिरंजना के ही विरोधी हैं । उदाहरणार्थ प्रकृति विभव के दर्शन मे कवि मानस मे सौंदर्य-चेतना के जागरण और आत्मा तथा बुद्धि मे सहभाव की स्थापना करने वाली कल्पना के

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ १४२
२. नील कुसुम, पृष्ठ ५०
३. हुंकार, पृष्ठ २०
४. हिन्दी-चन्द्रलोक, भूमिका, पृष्ठ ७०
५. कल्पना, जनवरी १९५३, पृष्ठ ८८

विषय में क्रमशः निम्नस्थ काव्य-पंक्तियाँ देखिए—

(अ) "सुन्दरता को जगी देख कर जी करता मैं भी कुछ गाऊँ।
मैं भी आज प्रकृति-पूजन में निज कविता के दीप जलाऊँ॥"[1]

(आ) "आत्मा की है आंख, बुद्धि की पांख है,
मानस की चांदनी विमल है कल्पना।"[2]

वस्तुतः 'दिनकर' जी ने सनन्दनवादी आचार्य के अनुरूप काव्य के तत्त्वों को प्रतिस्पर्धी के रूप में न देख कर उन सभी को उचित मान्यता दी है—"कला का सर्वोपरि धर्म सौन्दर्य है, किन्तु, सर्वोत्तम कलाकृति हम उसे कहते हैं जो सुन्दर होने के साथ सत्य भी हो और शिव भी।"[3] उन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्र के मन्तव्य, "सत्य के साथ मंगलमय के पूर्ण सामंजस्य को यदि हम देख सकें, तो फिर सौन्दर्य हमारे लिए अगोचर नहीं रहता,"[4] के अनुकूल ही यह प्रतिपादित किया है कि "साहित्य के त्रिविध ऐश्वर्य (सत्य, शिव और सुन्दर) में से किसी एक को तोड़ कर अलग नहीं किया जा सकता और न किसी की पक्षपातपूर्ण एकांगी उपासना ही की जा सकती है।"[5] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह उल्लेख किया है, "सत्य, शिव और सुन्दर में से प्रत्येक तत्त्व अपने भीतर बाकी दो तत्त्वों का निचोड़ लिए हुए है।"[6] इससे स्पष्ट है कि काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर अथवा भावना और ज्ञान का संयोग आनन्द की निष्पत्ति का मूल हेतु है और इसकी उपलब्धि कवि का चरम काम्य है। इस सम्बन्ध में कवि के निम्नलिखित उद्गार भी महत्त्वपूर्ण हैं—

(अ) "निरी बुद्धि से कविता नहीं बनती, किन्तु, कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। अनुभूति के समय भावुकता, किन्तु, रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊँचे साहित्य का सृजन हो सकता है।"[7]

(आ) "देखा कवि का स्वप्न मधुर था,
उमड़ी अमिय धार जीवन में।
पूर्ण चन्द्र बन चमक रहे थे,
"शिव-सुन्दर" "आनन्द"-गगन में।"[8]

(इ) "स्वप्न-बीच जो कुछ सुन्दर हो, उसे सत्य में व्याप्त करूँ।
और सत्य-तनु के कुत्सित मल का अस्तित्व समाप्त करूँ॥"[9]

---

१ हुंकार, पृष्ठ ३६
२. नए सुभाषित, पृष्ठ १४
३. काव्य की भूमिका, पृष्ठ १३४
४. साहित्य (अनुवादक—वर्णाश्रम विद्यालंकार), पृष्ठ ३५
५. रसवन्ती, भूमिका, पृष्ठ ५
६. रेती के फूल, पृष्ठ ६५
७ काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३७
८. रेणुका, पृष्ठ ८२
९. हुंकार, पृष्ठ ३६

काव्य के भेद

"दिनकर" जी ने काव्य-रचना के रूपों में से केवल प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य, कथा-काव्य) के स्वरूप की समीक्षा की है। इस दिशा में भी उन्होंने उसके प्रयोजन, मूल तत्वों और प्रभाव की व्यवस्थित मीमांसा न कर केवल कथावस्तु और पात्र-योजना का परस्पर सापेक्षिक उल्लेख किया है। उनका प्रथम प्रतिपाद्य प्रबन्ध काव्य की प्रेरणा के मूल स्रोत की खोज करना रहा है। उन्होंने जीवन के अनुकूल और प्रतिकूल व्यापारों के पारस्परिक संघात को प्रबन्ध रचना का प्रेरक तत्व मान कर यह धारणा व्यक्त की है, "अगर परस्पर-विरोधी भावों का आक्रमण कवि को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दे सकता है, तो उसका समय आज है। अगर महाकाव्य की रचना का समय वह युग होता है, जबकि प्रश्नों की विभिन्न धाराएँ अपना समाधान पाने के लिए किसी समुद्र की खोज में वेग से दौड़ती होती हैं, तो वह समय आज ही आया हुआ है।"[1] आधुनिक हिन्दी-कवियों में इस मन्तव्य को उपस्थित करने का श्रेय "दिनकर" जी को ही है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि इसकी सार्थकता संदिग्ध नहीं है। हिन्दी-आलोचकों में डॉक्टर नगेन्द्र की इस उक्ति को प्रमाण माना जा सकता है—"महाकाव्य मानव-मन की समस्त सम-विषम वृत्तियों को समंजित करता है।"[2]

"दिनकर" जी ने समाख्यानात्मक काव्यों में वस्तु-योजना के विषय में संक्षिप्त, किन्तु अनुभूत विचार व्यक्त किए हैं। उनके मतानुसार "स्थूलता और वर्णन के संकट का मुकाबिला किये बिना कथा-काव्य लिखने वाले का काम नहीं चल सकता। कथा कहने में, अक्सर ऐसी परिस्थितियाँ आ कर मौजूद हो जाती हैं जिनका वर्णन करना तो जरूरी होता है, मगर, वर्णन काव्यात्मकता में व्याघात डाले बिना निभ नहीं सकता।"[3] यह उल्लेख कवि-प्रतिभा के महत्व की अस्वीकृति नहीं है, अपितु यहाँ वस्तु स्थिति का अनुभव के आधार पर निर्भ्रान्त कथन हुआ है। वस्तुत कथा-काव्य के रचयिता को अनेकता में एकता की स्थापना के लिए वर्णन-संकट का सामना करना ही होता है। इस एकान्विति को सहज बनाने के लिए ही द्विवेदीयुगीन कवियों में महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त ने महाकाव्य को रूढ़ रचना-नियमों से मुक्त करने की व्यवस्था दी है। जीवन के नियत क्रम का निर्वाह करने वाली आख्यानपरक रचना में स्थूल वर्णनों का एकान्ततः त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु इस अवस्था में भी काव्य को रससिक्त बनाने में ही प्रणेता की वास्तविक उपलब्धि है।

कविवर "दिनकर" ने समाख्यान-काव्य में प्रभाव-गरिमा की सृष्टि के लिए कवि को समकालीन समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वाह के विषय में सजग रहने का सन्देश दिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत प्रतिपादन तो नहीं किया है, किन्तु इतिहास

---

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ५

२ अरस्तू का काव्य शास्त्र, भूमिका, पृष्ठ १४१

३. रश्मिरथी, भूमिका, पृष्ठ "ग"

के किसी काल-खंड पर आधृत रचना में पात्रों को समय संगति का ध्यान रखते हुए भी समकालीनता के आलोक में उपस्थित करने का उद्बोध दे कर उन्होंने युग-चेतना के प्रति जागरूकता को कवि का धर्म माना है। उदाहरणस्वरूप 'कुरुक्षेत्र' और "रश्मिरथी" के पात्रों के विषय में क्रमश: ये उक्तियाँ देखिए—

(अ) "मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात न निकल जाय जो द्वापर के लिए सर्वथा अस्वाभाविक हो। हाँ, इतनी स्वतन्त्रता जरूर ली गई है कि जहाँ भीष्म किसी ऐसी बात का वर्णन कर रहे हों जो हमारे *युग के अनुकूल पड़ती हो, उसका वर्णन नए और विशद रूप में कर दिया जाय।* कहीं कहीं इस अनुमान पर भी काम लिया गया है कि उसी प्रश्न से मिलते-जुलते किसी अन्य प्रश्न पर भीष्म पितामह का उत्तर क्या हो सकता था।"[1]

(आ) "मुझे इस बात का सन्तोष है कि अपने अध्ययन और मनन से मैं कर्ण के चरित को जैसा समझ सका हूँ, वह इस काव्य में ठीक से उतर आया है और उसके वर्णन के बहाने मैं अपने समय और समाज के विषय में जो कुछ कहना चाहता था, उसके अवसर भी मुझे यथास्थान मिल गए हैं।"

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रबन्धकाव्यकार को काल-संगति और युगधर्मानुसरण के प्रति समान रूप से सचेत रहना चाहिए। आख्यानबद्ध काव्य से प्रमाता के चित्त के ऊर्ध्व विकास के प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह उचित ही है कि उसके पात्रों के व्यक्तित्व में समकालीन परिस्थितियों का सहज समंजन रहे। अन्तत: उपर्युक्त विवेचन का सर्वांगीण अवलोकन करने पर यह कहा जा सकता है कि "दिनकर" जी के मतानुसार *प्रबन्ध काव्य के कथानक में सुसंहित सघनता के स्थान पर विस्तार-वैविध्य की स्वाभाविक* प्रवृत्ति रहनी है और उसमें तत्कालीन तथा समकालीन देश-काल के अनुरूप वस्तु और पात्र का नियोजन विशेषत: अभिप्रेत है।

काव्य के वर्ण्य विषय

"दिनकर" जी ने काव्य-वर्ण्य के विषय में विस्तृत चिन्तन नहीं किया है, तथापि कविवर माखनलाल चतुर्वेदी और अन्य पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उनका प्रतिपाद्य भी *यही है कि कवि अपनी सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि से गोचर-अगोचर दृश्यों का स्वाभाविक उद्‌घाटन करता है। यथा—*

"ऐसा दो वरदान, कला को कुछ भी रहे अजेय नहीं।
रजकण से ले पारिजात तक कोई रूप अगेय नहीं।।"[3]

उमग-प्राप्ति अथवा समाधि-लाभ के अनन्तर तथ्य चयन की यह क्षमता कवि के लिए अलभ्य नहीं है। आलोच्य कवि ने सृष्टि के विविध तत्वों में से काव्य में प्रकृति और

---

१ कुरुक्षेत्र, निवेदन, पृष्ठ २
२ रश्मिरथी, भूमिका, पृष्ठ "ख"
३. इतिहास के आँसू, पृष्ठ ४

राष्ट्र प्रेम की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दिया है। उनके मतानुसार काव्य में नैसर्गिक दृश्यों का चित्राकन साहचर्य-प्रभूत होने पर ही प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, बौद्धिक रूढ़ि उसके लिए स्वरूप विघातक है। इसीलिए उन्होंने अपने कवि हृदय को यह परामर्श दिया है—"**बनो कवि ! फूलों की मुस्कान × × × × × बनो कवि ! लह का मर्मर पात।**"[1] यहाँ प्रकृति चित्रण में सूक्ष्म निरीक्षण के अवलम्बन को कवि का गुण माना गया है। काव्य में प्रकृति चित्रण के लिए त्रिव ग्रहण की यह प्रवृत्ति रचना की सजीवता के लिए सहज काम्य है। प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करने वाले कवि को केवल सहज गोचर सृष्टि तक ही सीमित रह कर अथवा साधारण नेत्र-व्यापार की पहुँच से बाहर के उपादानों की उपेक्षा कर विच्छिन्न दृष्टि का परिचय नहीं देना चाहिए। इसीलिए 'दिनकर" जी ने "**फूल-फूल पर फिरे न क्यों, कविता तितली सी दीवानी**"[2] कह कर काव्य-दृष्टि में व्यापकत्व को अभीप्सित मान कर कवि को वन्य सुमनों के हृप विषाद में भी भाग लेने का आमन्त्रण दिया है। यथा—

> "**कविते ! देखो, विजन विपिन में वन्य कुसुम का मुरझाना।**
> *व्यर्थ न होगा इस समाधि पर दो आँसू-कण बरसाना॥*"[3]

'दिनकर' जी ने काव्य में राष्ट्र धर्म के सम्पादन का अपनी कविताओं में अप्रत्यक्ष रूप से तो पर्याप्त समर्थन किया है, किन्तु प्रत्यक्ष कथन की दृष्टि से वे इस ओर विशेष सचेष्ट नहीं रहे हैं। इस दिशा में उनका महत्वपूर्ण योगदान यह है कि वे काव्य में राष्ट्रीय चेतना की उद्भूति को अनुभूति-योग से समृद्ध रखने के पक्षपाती हैं। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीय काव्य धारा पर छायावादी कविता के प्रभाव का उल्लेख करते हुए यह मत निर्धारित किया है कि "**हिन्दी की राष्ट्रीय कविताएँ जो अब तक उपदेशों और प्रवचनों का नीरस भार ढोती आई थीं, इसी काल में आ कर अनुभूतियों के सच्चे आलोक से जगमगा उठीं और सीधे उपदेशों का आश्रय बनना छोड़ कर उन्होंने अनुभूति के जोर से जनता का हृदय हिलाना शुरू कर दिया।**"[4] भाव योग की इस उच्च दशा की उपलब्धि से काव्य-वर्ण्य में शाश्वत सजीवता का संचार प्रकृत कवि का निसर्ग धर्म है। यद्यपि यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन कवि राष्ट्रीय अनुभूतियों के प्रति अनत्यर नहीं थे, तथापि यह निश्चित है कि 'दिनकर" जी के मन में उनके प्रति अश्रद्धा का भाव नहीं है। उनका अभिप्राय केवल यही है कि राष्ट्रीय काव्य में उपदेशात्मक शैली की प्रत्यक्षता के स्थान पर भाव-व्यञ्जना का आश्रय लिया जाना चाहिए। इसी मन्तव्य के फलस्वरूप उन्होंने कविता से कवि के प्रति निम्नस्थ उक्ति उपस्थित कराई है—

> "**कवि ! असाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,**
> **कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।**

---

१. रेणुका, पृष्ठ ७४,७५
२ द्वन्द्वगीत, पृष्ठ १३
३ हुंकार, पृष्ठ ६१
४ काव्य की भूमिका, पृष्ठ ४२

दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।"[1]

काव्य में प्रकृति और राष्ट्रीय तत्व के समावेश का यह प्रयत्न श्रीधर पाठक की विचार-धारा का विकसित रूप है, किन्तु आलोच्य कवि ने इस प्रभाव को उनसे सीधे ग्रहण न कर अपने प्राणवान् व्यक्तित्व के अनुरूप इन निजी सौन्दर्यानुभव और सामाजिक कर्तव्यानुभूति के आधार पर व्यक्त किया है।

काव्य-शिल्प

कविवर "दिनकर" ने काव्य की वाह्य सज्जा के लिए अपेक्षित उपकरणों में से भाषा और छन्द का विशद तथा अलंकार का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया है। आगे हम इनमें से प्रत्येक शिल्पांग के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निरूपण करेंगे।

१ काव्य-भाषा

"दिनकर" जी ने रीति सिद्धान्त के समर्थक होने के नाते भाषा सौन्दर्य को काव्य का प्राण-तत्तु माना है—"कविता का चरम सौन्दर्य उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौन्दर्य होता है।"[2] उनके मतानुसार "भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि कवि को करनी ही चाहिए, जिसमें यह शक्ति नहीं है उसे कवि कह कर हम कवि-प्रतिभा का अनादर करते हैं।"[3] कलात्मक शब्द-गुम्फ के प्रति यह आस्था उसी समय तक वरेण्य है जब तक पद-रचना की गरिमा से काव्य में अर्थ-वैमल्य का समावेश भी सम्भाव्य रहता है। "दिनकर" जी ने अभिव्यंजना के धर्मों का स्वतन्त्र विश्लेषण नहीं किया है, किन्तु शब्द-श्रम को भावानुरूप रखने पर बल दे कर उन्होंने इसी धारणा को वाणी दी है। उनके मतानुसार "कविताओं में अनुभूतियों की बारीकियाँ या ऊँचे-ऊँचे भाव मुझे तभी जँचते हैं, जब वे अनुरूप शैली में स्वच्छता से अभिव्यक्त किए गए हों।"[4] भावना और शैली के तारतम्य में कवि-रचना में प्रभविष्णुता का समावेश अनुभूति-सिद्ध है। प्रस्तुत कवि ने इस धारणा को अन्यत्र भी इस प्रकार स्थापित किया है—

"ऊँची-से-ऊँची और बारीक-से-बारीक अभिव्यक्तियों के लिए केवल चिन्तक को ही नहीं, भाषा को भी साधना तथा व्यायाम करना पड़ता है, यद्यपि, भाषा की साधना और व्यायाम के माध्यम चिन्तक ही होते हैं। इसलिए, ऊँची कविताएँ उसी भाषा में लिखी जाती हैं, जिसमें ऊँची कविताएँ लिखी जाने की परम्परा रही है × × × × × ऐसा नहीं हो सकता कि भाषा तो शरीर की अभिव्यक्ति के लिए बनी हो और आत्मा उसमें पूरी सहजता से बोल जाय, अथवा भाषा तो रोमांस और छायावाद के लिए बनी

---

१ रेणुका, पृष्ठ १५

२ पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ७१

३. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १५१

४. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ २७

हो, किन्तु, वह बिना पसीना बहाए बौद्धिक काव्य का भी भार वहन कर ले।"[1]

"दिनकर" जी ने भावानुसार भाषा-व्यवहार के प्रसंग में प्रसन्न पदावली के महत्व का भी उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने केवल प्रसादत्व की साधना को कवि का लक्ष्य न मान कर उसकी सन्निधि में गरिमा को भी अपेक्षित माना है। इसीलिए उन्होंने प्रसाद गुण के विषय में कहा है—"वह कविता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इतना आवश्यक नहीं कि हम उसकी प्राप्ति के प्रयास में उन भावों को लिखना ही छोड़ दें जो अखबारी विज्ञापन की सुस्पष्टता से लिखे नहीं जा सकते।"[2] यहाँ प्रसादमयी शैली का तिरस्कार न कर भावोपयुक्त शब्द-योजना को गौरव दिया गया है। इस सम्बन्ध में अपने मत के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने पुनः यह प्रतिपादित किया है, "गहन-गम्भीर अनुभूतियों को अत्यधिक सरल बनाने की इच्छा सदैव साधु नहीं होती। अनेक बार हम ऐसी अनुभूतियों के सामने आ जाते हैं जिन्हें यदि बहुत सुस्पष्टता से लिखने की कोशिश की जाय तो उनका मिथ्या रूप ही चित्रित हो जाता है। प्रसाद गुण की भी एक सीमा है।"[3] काव्य-शैली में औदात्य की योजना के लिए यवनाचार्य अरस्तू ने भी अति-व्यवहृत सरल शब्दों के प्रयोग को ही पर्याप्त न मान कर उसमें गरिमा की स्थिति पर भी बल दिया है। उनके अनुसार "शैली का पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न हो, किन्तु क्षुद्र न हो। सबसे अधिक प्रसाद गुण उस शैली में होता है जिसमें केवल प्रचलित या उपयुक्त शब्दों का प्रयोग रहता है—किन्तु साथ ही वह क्षुद्र होती है।"[4] "दिनकर" जी ने शैली की इस क्षुद्रता अथवा असाधारणता से बचने के लिए कवि को गहन अनुभूतिमयी रचनाओं में प्रसाद गुण के यथोचित ग्रहण का परामर्श दिया है।

२ अलंकार

आलोच्य कवि ने काव्य के अन्य शिल्प सौन्दर्याधायक तत्वों में से अलंकार-विधान के विषय में संक्षिप्त, किन्तु महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने अलंकार को बाह्य शोभा-संवर्द्धन का साधन-मात्र न मान कर उसे काव्य की आन्तरिक शोभा के विकास में सहायक कहा है। इस सम्बन्ध में उनका मत इस प्रकार है—

"अलंकार शब्द से, यों तो, अनावश्यक बनाव सिंगार की भी ध्वनि निकलती है, किन्तु, कविता में अलंकारों के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजन नहीं, वस्तुओं का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में जब भी हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते हैं, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है। × × × × × सच्चे अर्थों में मौलिक कवि वह है जिसके उपमान मौलिक होते हैं।"[5]

---

१. ईषा और शान्त, भूमिका, पृष्ठ "घ ङ"
२. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५३
३. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ५३ ५४
४. अरस्तू का काव्य शास्त्र, अनुवाद भाग, पृष्ठ ५७-५८
५. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७३

यहाँ काव्यालंकारों में परिश्रमसाध्यता तथा परिस्थिति प्रेरित अतिरंजना से उत्पन्न कृत्रिम चमत्कार का निषेध करते हुए उन्हें सहज ध्वनिमूलक अथवा वस्तु-सौन्दर्य के उद्घाटक कहा गया है। अलंकार के इस गुण को लक्षित कर के ही आचार्य शुक्ल ने कहा है, "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[1] "दिनकर" जी ने अलंकार की सार्थकता को हिन्दी और संस्कृत के काव्याचार्यों की सम्मतियों के आलोक में ही उपस्थित किया है। उन्होंने मौलिक उपमानों से समृद्ध रचना में ही दबिम्ब का अधिवास मान कर अलंकार प्रेम का स्पष्ट परिचय दिया है। मौलिक उपमान-संयोजन से उनका अभिप्राय काव्य रूढ़ि से विलग रह कर उपमान-सृष्टि करने से है। यद्यपि संस्कृत में वामनाचार्य ने उपमा अलंकार में लोक प्रसिद्ध उपमेय और उपमान को ही ग्रहण करने पर बल दिया है (यदेवोपमेयमुपमानञ्च लोकप्रसिद्ध तदेव परिगृह्यते नेतरत्[2]), तथापि उन्होंने गुण-बाहुल्य के आधार पर उपमेयोपमान में समता-स्थापना की अनुमति देकर कवि कल्पित नूतन उपमानों को भी मान्यता प्रदान की है (गुणबाहुल्यतश्च कल्पिता[3])। इस प्रकार "दिनकर" जी ने प्रस्तुत प्रसंग में शास्त्र विरुद्ध स्थापना तो नहीं की है, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि केवल मौलिक उपमान-योजना के सामर्थ्य को ही कवि का एकमात्र लक्षण नहीं माना जा सकता।

३ छन्द-विधान

कवि श्री "दिनकर" ने छन्द के आन्तरिक तत्वों (लय और तुक), मुक्त छन्द और नवीन छन्दों की आवश्यकता के विषय में पर्याप्त चिन्तन किया है। उन्होंने जगन्नाथदास "रत्नाकर" तथा देवीप्रसाद "पूर्ण" की भाँति छन्द में लय की रमणीयता अथवा वर्णसुखद मधुर शब्द विन्यास को अपेक्षित मान कर जहाँ विद्यापति की कविताओं के अनुशीलन के विषय में यह कहा है, "कुछ मैं स्वर में दुहराता हूँ, निज कविता मधुर बनाता हूँ,"[4] वहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियाँ ला सकेंगे जिनमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिन्तन के अधिक उपयुक्त होंगे।"[5] यहाँ नव युग की बौद्धिकता के प्रभावस्वरूप कवि के मानस स्वप्नों को साकार करने वाली संगीतमयी तरल शब्दावली के स्थान पर अनुभूति और चिंतन से पुष्ट योजना का समर्थन किया गया है। स्पष्टतः यह पदावली भी संगीतात्मक प्रवाह से शून्य नहीं होगी, किन्तु श्री लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" के शब्दों में "यह कहना बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि पुराने छन्दों में नवीन जीवन का उल्लास व्यक्त नहीं

---

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १४७

२. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, पृष्ठ १८६

३ हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, चतुर्थ अधिकरण, पृष्ठ १८६

४. रेणुका, पृष्ठ ६०

५ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ६८

किया जा सकता।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "दिनकर" जी ने लय-साधना को कवि-कर्म का अंग मान कर भी पूर्वनिश्चय के आरोपण के कारण उसको वांछित गौरव नहीं दिया है। तथापि काव्य में तुक निर्वाह के विषय में उनका दृष्टिकोण निर्भ्रान्त रहा है। तुक की सार्थकता के विषय में उनकी यह धारणा सर्वथा समर्थनीय है—"अन्त्यानुप्रास वही श्रेष्ठ समझा जाता है जिसके शब्द संगीतमयता में भी विघ्न नहीं डालते, साथ ही भावाभिव्यक्ति में सहायक होने के कारण उनका पदान्त में आ बैठना स्वाभाविक भी लगता है।"[2] भावना लय और तुक का यह सामंजस्य निश्चय ही कविता को अन्तर्बाह्य छवि के लिए आवश्यक है। उन्होंने तुकमयी रचना की भाँति अतुकान्त की प्रवृत्ति का भी स्वागत करते हुए यह प्रतिपादित किया है, "तुकें भावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालती हैं, इसके दो एक अनुभव प्रत्येक कवि को होंगे।"[3] यहाँ तुक का निषेध न करते हुए उसकी अनिवार्यता को शिथिल करने का अप्रत्यक्ष संकेत दिया गया है। युगीन मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण यह दृष्टिकोण उचित भी है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कवि "दिनकर" का छन्द विवेचन इस क्षेत्र की नवीन उपलब्धियों से आलोकित है और परम्परागत छान्दसिक संयोजनाएँ उन्हें ज्यों की त्यों स्वीकार्य नहीं है, किन्तु फिर भी वे उन्हें सर्वथा अस्वीकार नहीं कर सके हैं। इसीलिए उन्होंने मुक्त छन्द का स्वागत करते समय उसमें यत्र-तत्र छन्द नियमानुकूल पंक्तियों के समावेश को चिन्त्य नहीं माना है, "स्वतन्त्र छन्द तो कविता के लिए स्वाभाविक हो ही चुका है, किन्तु जहाँ किसी प्रसिद्ध छन्द की पूरी कड़ी आ उपस्थित हो वहाँ पंक्तियों का नियमपूर्ण निर्वाह होना ही अच्छा समझा जाना चाहिए।"[4] इस धारणा को कवि के सन्तुलित विवेक का परिणाम कहा जाएगा। किन्तु, जिस प्रकार उन्होंने काव्य की आत्मा और काव्य के तत्वों के विवेचन में अपने मन्तव्य के विरोधी स्वर को स्वयं ही वाणी दी है उसी प्रकार उपरोक्त उद्धरण में मुक्त छन्द को स्वाभाविक मानने पर भी परवर्ती कृति "नए सुभाषित" में उसका इन शब्दों में विरोध किया है—

> "मुक्त छन्द कुछ वैसा ही बेतुका काम है,
> जैसे कोई बिना जाल के टेनिस खेले।।"[5]

"दिनकर" जी की छन्दोविषयक धारणाओं का महत्व इस बात में है कि उन्होंने छन्द-रूढ़ियों के पालन मात्र को पर्याप्त न मान कर नवीन प्रयोगों को प्रोत्साहन दिया है। उनके अनुसार "अगर आज हमारी मनोदशाओं का मेल प्राचीन अथवा प्रचलित छन्दों से नहीं बैठता है तो हमें इसका अधिकार होना चाहिए कि अपने अनुरूप हम नए छन्दों का विधान कर लें जिनके माध्यम से हमारी अनुभूतियाँ पूरे चमत्कार के साथ प्रकट

---

१. काव्य के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ ४६
२. पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ८१
३ चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७७
४. हिमालय, अप्रैल १९४६, पृष्ठ ८८
५. नए सुभाषित, पृष्ठ १५

हो सकें।"[1] इसी प्रकार उन्होंने एक अन्य स्थान पर भी यह प्रकट किया है कि "**हमारी मनोदशाएँ परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नहीं कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे हैं।**"[2] इन उद्धरणों में निहित विचार-धारा इस दृष्टि से तो स्वीकार्य है कि उन्होंने काव्य में नवीन छन्दों को ग्रहण करने का सजग उल्लेख किया है (उनके पूर्ववर्ती कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, "प्रेमघन", प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और लोचनप्रसाद पाडेय ने उर्दू, बगला और अंग्रेज़ी के छन्दों से प्रेरणा ग्रहण करने का प्रतिपादन कर इसी सजगता का परिचय दिया है), किन्तु प्रचलित छन्दों में वर्तमान कवि की मनोदशाओं का अभिव्यंजित न हो सकना स्पष्टतः आक्षेपयोग्य है। इस विचार-धारा में मतभेद रखने के कारण ही "सुधांशु" जी ने कहा है—"**छन्दों की संख्या बढ़ाई जा सकती है, किन्तु इस धारणा से नहीं कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गए हैं।**"[3] इस मन्तव्य को दृष्टि में रखते हुए "दिनकर" जी की धारणाओं की सदोषता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु उन्होंने इस त्रुटि के परिमार्जन के लिए "सुधांशु" जी की उक्त कृति की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि "**युगविशेष की मनोदशा अपने अनुकूल छन्दों की खोज करती है। यही कारण है कि कालक्रम में कई प्रसिद्ध छन्द पीछे छूट जाते हैं, कइयों में काट-छाँट हो जाती है और कई तो अनेक छन्दों के मिश्रण से नवीन बन जाते हैं।**"[4] छन्द-क्षेत्र में संशोधन, परिवर्तन, त्याग और मिश्रण का यह क्रम स्वाभाविक है और जीवन की सहज-असहज धाराओं में चेतना-लाभ करने वाले मानव की भाँति सम-असम भूमियों में श्वास-ग्रहण करने में ही छन्द-शास्त्र की सफलता है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

"दिनकर" जी ने इन काव्यांगों के अतिरिक्त काव्यानुवाद और काव्यालोचन की स्वरूप-मीमांसा में भी भाग लिया है। आगे हम इनके विषय में उनकी धारणाओं की क्रमशः पर्यालोचना करेंगे।

१ काव्यानुवाद

कवि "दिनकर" ने अनुवाद की रीति और उससे प्राप्य परिणामों का परम्परा-मुक्त विवेचन किया है। उन्होंने पूर्ववर्ती अनुवादकर्ताओं की भाँति केवल भावानुवाद को पर्याप्त नहीं माना है, अपितु वे अनूदित कृति के कवि की मौलिक रचना-प्रतिभा को भी उसकी कृति में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। यद्यपि उन्हें मूल काव्य की भावनाओं का यथासाध्य अनुकरण करने वाली अनुवाद-प्रणाली भी स्वीकार्य है, तथापि उन्होंने अनुवाद

---

१. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १२२ १२३

२. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ६६

३. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२०

४. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, भूमिका, पृष्ठ ६

में मौलिकता के प्रसार को महत्त्वपूर्ण मान कर इस विषय में अपने विचारों को इस प्रकार निरूपित किया है—

"कविता के अनुवाद की दो पद्धतियाँ अब तक देखने में आई हैं। × × × × × (प्रथम) पद्धति अनुवाद को मूल के अधिक-से-अधिक निकट रखने का आग्रह रखती है और सच पूछिये तो अनुवाद की सही प्रणाली यही मानी जानी चाहिए। × × × × × (द्वितीय) पद्धति मूल के प्रति कठोर सचाई को अनुवाद का कोई बड़ा गुण नहीं मानती। इस पद्धति के अनुवादक मूल से भाव अथवा भावों की प्रेरणा तो लेते हैं, किन्तु, रचना के समय वे स्वयं मौलिक हो उठते हैं और मूल के भाव को चमकाने के लिए अनुवाद में ऐसे-ऐसे नए चित्रों की सृष्टि कर डालते हैं जो मूल में नहीं थे, किन्तु जिन्हें लाए बिना अनुवाद में मौलिकता का पूरा आनन्द नहीं लाया जा सकता। सौभाग्य या दुर्भाग्य से मैं इस पिछली पद्धति को ही अपने अधिक अनुकूल पाता हूँ।"[1]

इससे पूर्व जगमोहनसिंह, आचार्य द्विवेदी, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और देवीप्रसाद "पूर्ण" ने अनुवाद में नूतन भाव चित्रों की सर्जना का एकान्तत विरोध तो नहीं किया था (उनकी कृतियों में भी कहीं-कहीं स्वतन्त्र दृष्टिकोण उपलब्ध हो जाता है), *किन्तु अनूद्य रचना की भाव-गरिमा के सवर्द्धनार्थ उसमें नवीनता के समावेश का स्पष्ट* उल्लेख करने वाले कवि "दिनकर" ही हैं। अनुवाद-कर्म में रुचि रखने वाले पाश्चात्य साहित्य-स्रष्टाओं में ड्राइडन ने चौसर की रचना का अनुवाद करते समय इस दृष्टिकोण का निर्वाह किया है,[2] किन्तु वे इसे अनुवादक का वास्तविक धर्म नहीं मानते। उनकी सम्मति यही है कि "मूल कवि का अनुकरण-मात्र अनुवादकर्मी की प्रतिभा की प्रस्तुति के लिए तो सर्वाधिक लाभप्रद है, किन्तु मृत (मूल) कवि की स्मृति और यश को स्थायी रखने में यह सबसे अधिक हानिकर है।"[3] "दिनकर" जी को मान्य भाषान्तर-प्रणाली अनुकरण-प्रवृत्ति की ही स्वीकृति है—उन्होंने अपने अनुवादों के विषय में कहा भी है, "अनुवाद

---

१ सीपी और शंख, भूमिका, पृष्ठ 'ग'

२. "I have not tied myself to a literal translation, but have often omitted what I judged unnecessary, or not of dignity enough to appear in the company of better thoughts. I have presumed farther, in some places, and added somewhat of my own where I thought my author was deficient, and had not given his thoughts their true lustre, for want of words in the beginning of our language"

(Poetical Works of Dryden, Edited by W.D. Christie, Page 503)

३. "Imitation of an author is the most advantageous way for a translator to show himself, but the greatest wrong which can be done to the memory and reputation of the dead."

(The Poetical Works of John Dryden, Volume V, Page 9)

प्राय सर्वत्र ही स्वच्छन्द हुआ है, और, अधिकाश में, उन्हें अनुकरण कहना ही ज्यादा उपयुक्त होगा।"[1] ड्राइडन के मन्तव्य के आधार पर अनुकरणात्मक अनुवाद-रीति की पूर्ण अभिशसा नही तो प्रशसा भी नहीं की जा सकती। इस कोटि के भाषान्तरण मे मौलिक कृति का सा आनन्द देने की क्षमता तो होती है, किन्तु इसे शुद्ध अनुवाद कहना उचित न होगा।

'दिनकर' जी ने काव्यानुवाद को सहृदय और कवि, दोनों के लिए लाभकर माना है। उन्होंने भाषान्तरित कृतियों के अनुशीलन को सहृदय की रुचि के परिष्कार में सहायक मान कर और उनके सृजन को कवि के अभिव्यजना-कौशल की समृद्धि में योगदायक मान कर यह प्रतिपादित किया है, "अनुवादों से दो परिणाम निकलते हैं—पहला तो यह कि अनेक देशों की कविताओं को अगल-बगल रख कर देखने से काव्य-रसिकों की रुचि परिमार्जित होती है, वे पिछड़ी रुचि को छोड़ कर अपने भीतर नवीन रुचियों का विकास करते हैं और दूसरा यह कि अनुवाद के समय अनुवादक कवि को अपनी भाषा की शक्ति और सभावनाओं की खोज का अवसर मिलता है।"[2] यहाँ रुचि-परिमार्जन से रसास्वाद की सुकरता और भाषाभिव्यञ्जन के सामर्थ्य विकास से रीति की महत्ता का स्पष्ट उद्घोष हुआ है। अनुवाद के इन फलों की सिद्धि असन्दिग्ध है, किन्तु यदि "दिनकर" जी ने अनुवाद-कर्म से भाषा शक्ति के विकास की भाँति भावोन्नयन का भी उल्लेख किया होता तो उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक और सन्तुलित हो सकता था। तथापि अनुवाद-क्षेत्र मे इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय सर्वप्रथम उन्हीं को दिया जाना चाहिए।

२ काव्यालोचन

"दिनकर' जी ने आलोचक के कर्तव्य कर्म-निर्देश और आलोचना की स्वरूप-मीमासा की ओर यथोचित ध्यान दिया है। उन्होंने आलोचना को कवि-कर्म के समान महत्व प्रदान करते हुए समालोचन क्षमता को जन्म से प्राप्त प्रतिभा विशेष माना है। उनके अनुसार "जो लोग यह समझते हैं कि समालोचना सीखने की चीज है वे गलती करते हैं। यह भी उसी प्रकार जन्मजात है जैसे कवित्व।"[3] आलोचना की शक्ति का भी जन्मान्तरीय सस्कारों मे अन्तर्भाव सिद्धान्तत अनुचित स्थापना नहीं है—रचनात्मक प्रतिभा को ईश्वरीय कृपा का फल मानने का सिद्धान्त साहित्य के सभी अगो के लिए समान रूप से स्वीकार्य हो सकता है। 'दिनकर" जी ने इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप आलोचक के लिए भावयित्री प्रतिभा के अतिरिक्त कारयित्री प्रतिभा को भी आवश्यक माना है। उन्होंने श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की "साहित्यदर्शन" शीर्षक कृति की समीक्षा करते हुए इस मन्तव्य को इस प्रकार उपस्थित किया है—"कवि का सच्चा आलोचक वही हो

१. धूपछाँह, दो शब्द, पृष्ठ 'क'
२ रेणुका और रात्र, भूमिका, पृष्ठ 'घ'
३ मिट्टी की ओर, पृष्ठ १५५

सकता है जिसमें काव्यानन्द के उपभोग की पूरी क्षमता हो, जो कवि की उस मनोदशा में प्रवेश पा सके जिसमें रह कर उसने आलोच्य कविता की रचना की है।"[1] इस सम्बन्ध मे उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—"समालोचक में कविवत् भावुकता, चिन्तन की कोमलता, भावों की प्रवणता और रसग्राहिता होनी ही चाहिए, अन्यथा वह उन मनोदशाओं के धूमिल विश्व में पहुँच ही नहीं सकता जिनमें कविता की सृष्टि की जाती है।"[2] रचना के माध्यम से उसके रचयिता के मानस का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए समीक्षक द्वारा उपर्युक्त गुणों का संचय स्वाभाविक रूप में अपेक्षित है। उनके पूर्ववर्ती कवियों में मैथिलीशरण गुप्त और लोचनप्रसाद पाण्डेय को यह मन्तव्य संकेत रूप में मान्य रहा है। पाश्चात्य कवियों में पोप ने भी रसज्ञ भावुकता अथवा निर्मल चित्त से काव्यास्वाद-क्षमता को आलोचक का अनिवार्य गुण माना है।[3] अतः यह स्पष्ट है कि आलोचक को सही अर्थों में काव्य का मर्म ज्ञात होना चाहिए।

"दिनकर" जी ने आलोचक की विशेषताओं का उल्लेख करने के प्रसंग में आलोचना के स्वरूप का भी कथन किया है। उन्होंने "प्रेमघन" और आचार्य द्विवेदी की भाँति आलोचना में गुण दोष-कथन की सन्तुलित स्थिति की सार्थकता को स्वीकार करते हुए भी मुख्यतः रचना के भावगत एवं कलागत सौन्दर्य पर विचार करने का सन्देश दिया है। उनके अनुसार "गुण और दोष का विभाजन समालोचक का प्राथमिक कर्म अवश्य है, परन्तु उसका प्रधान कर्म कवि की चातुरी का भेद खोलना है, क्योंकि इसी प्रकार के विश्लेषणों से वह पाठकों के काव्यानन्द की मात्रा में वृद्धि करता है।"[4] रचना-सौन्दर्य के उद्घाटन के विषय में उदार दृष्टि को अपनाने का प्रतिपादन किसी भी कवि के लिए स्वाभाविक ही है। आलोचना में खण्डन-मण्डनात्मक शास्त्रीयता का समावेश रचना के रस-तत्व की तुलना में शुष्क प्रतीत हो सकता है। इसीलिए "दिनकर" जी ने आलोचना को सौन्दर्य-प्रेरित रखने पर बल देते हुए उसे भावक को आनन्द-बोध कराने वाली शक्ति कहा है। उन्होंने इस धारणा को अन्यत्र भी इन शब्दों में प्रतिपादित किया है—

"आलोचना काव्य में प्रयुक्त कौशल का रहस्य उद्घाटित करती है, उस मार्ग का भेद खोलती है, जिस पर चल कर कवि ने अपने भावों को अभिव्यक्त किया है, अपनी कविता में आनन्द, प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न किया है। इसीलिए, रचनात्मक आलोचना

---

१. हिमालय, अप्रैल १६४६, पृष्ठ ८४

२. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १५५

३. इस सम्बन्ध में निम्नोक्त काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "In poets as true genius is but rare,
True taste as seldom is the critic's share"

(आ) "A perfect judge will read each work of wit
With the same spirit that its author writ"

(Poems of Alexander Pope, Pages 53, 60)

४. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १५३

के पढ़ने से पाठक की आनन्दग्राहिणी योग्यता का प्रसार होता है।"[1]

वर्तमान आलोचना में बाबू गुलाबराय ने भी यही कहा है, "कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना (आलोचना का मूल उद्देश्य है)।"[2] इस धारणा के परिणामस्वरूप "दिनकर" जी ने नवीन कविता के मूल्यांकन के लिए समीक्षक को नवीन दिशाओं को ग्रहण करने का सन्देश देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "प्रत्येक नया कवि आलोचक से आलोचना की नई कसौटी की माँग करता है, क्योंकि आलोचक नए कवि को पुरानी कसौटी पर कस के उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। इसीलिए, जब भी कविता में नवीनता आती है, तब आलोचना भी ईषत् नवीन हो जाती है।"[3] इस उद्धरण के पूर्वार्द्ध में प्रत्येक कवि के लिए आलोचना के मान-परिवर्तन का प्रतिपादन स्पष्टतः आक्षेपणीय है, किन्तु नवीन काव्य धाराओं (छायावाद, प्रगतिवाद प्रयोगवाद आदि) के समीक्षण के लिए आलोचना के स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन का सुझाव निश्चय ही युक्तिसंगत है। यद्यपि कवि विशेष की मौलिकता भी विवेचन के नवीन आधार की माँग कर सकती है, किन्तु सभी कवियों की रचना के अनुशीलन के लिए इस सिद्धान्त का पालन अव्यवहार्य है। इस असफलता के होने पर भी यह स्वीकार करना होगा कि "दिनकर" जी के काव्य समीक्षा-सम्बन्धी विचार गम्भीर हैं।

सिद्धान्त-प्रयोग

"दिनकर" जी ने काव्य सिद्धान्त प्रतिपादन की भाँति काव्य-सर्जन की दिशा में भी व्यापक कार्य किया है। अतः उनके विचारों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन भी किंचित् विस्तार के साथ किया जा सकता है, किन्तु सुविधा के लिए हम काव्य का अन्तरंग, काव्य का बहिरंग और स्फुट काव्य मत के शीर्षकों के अनुसार ही विवेचन करेंगे।

१ काव्य का अन्तरंग

कविवर 'दिनकर' ने काव्य के भाव-पक्ष की समृद्धि के लिए उसमें इन गुणों की स्थिति को आवश्यक माना है—१ काव्य में भावुकता के अतिरिक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी होना चाहिए, २ रीति और ध्वनि काव्य की आत्मा है, किन्तु उसमें रस और अलंकार की स्थिति भी अपेक्षित है, ३ उसमें प्रकृति, राष्ट्र भावना और मानव भावना का उल्लेख होना चाहिए, ४ उसमें अनुभूति, चिन्तन और कल्पना के समन्वय द्वारा लोक-संस्कार की प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना चाहिए। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से "दिनकर" जी ने इन सभी गुणों को अपनी रचनाओं में अल्पाधिक रूप में स्थान अवश्य दिया है। उनकी कविताओं में भावुकता की स्थिति तो असन्दिग्ध ही है, परवर्ती रचनाओं (विशेषतः "नील कुसुम" और "नए सुभाषित") में वैज्ञानिक परख को भी आग्रहपूर्वक

---

१ नील कुसुम, दो शब्द, पृष्ठ "ग"
२ सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २६७
३ नील कुसुम, दो शब्द, पृष्ठ "ग"

ग्रहण किया गया है। काव्य की आत्मा के विषय मे अपने सिद्धान्तो का निर्वाह करने की दृष्टि से उन्होंने परवर्ती कृति "नील कुसुम" मे रीति को गौरव दिया है, अन्यथा उनके काव्य का प्राण तत्व रस है—उनकी कविताओ मे वीर, शृगार, करुण आदि रसो की प्रचुर स्थिति इसी की प्रमाण है। ध्वनि की गरिमा का उनके काव्य मे अभाव नही है, किन्तु अलकार के प्रति उन्होने अनावश्यक मोह नही रखा है। काव्य-वर्ण्य की दृष्टि से "रेणुका" की "कोयल", "मिथिला मे शरत", "अमा-सन्ध्या" आदि कविताओ, "नील कुसुम" की "पावस-गीत", "रसवन्ती" की "गीत अगीत' और "सन्ध्या" तथा "हुकार" की "वनफूलो की ओर", "हिमालय" आदि काव्य रचनाओ मे प्रकृति-सौन्दर्य की मनोहर व्यजना उपलब्ध होती है। राष्ट्र-धर्म का निर्वाह मुख्यत "हुकार", "सामधेनी" और "कुरुक्षेत्र' मे हुआ है, किन्तु यह उनकी रचनाओ का सामान्य गुण है और उन्होंने अन्यत्र भी इसके सहज प्रतिफलन की ओर उचित ध्यान दिया है। इसी प्रसग मे उन्होंने सामाजिक जीवन मे आने वाली वेदनाओं का भी मार्मिक चित्रण किया है। काव्य के अन्य आतरिक गुणो मे से उनकी रचनाओ मे अनुभव, चिन्तन और कल्पना को यथावश्यक प्रतिनिधित्व प्राप्त रहा है और समाज तथा राष्ट्र के लिए हितकारी कविताओ का सर्जन तो उनकी मुख्य प्रवृत्ति ही है। अत यह स्पष्ट है कि वे काव्य के अन्तरग के विषय मे अपनी मान्यताओ का निर्वाह करने मे पूर्णत सफल रहे हैं।

२ काव्य का बहिरग

"दिनकर" जी ने एक ओर काव्य के रचना-रूपो मे से कथा-काव्य की समीक्षा करते हुए उसमे युग-धर्म के अनुसरण को वाछित माना है और दूसरी ओर काव्य-शिल्प के अन्तर्गत इन गुणो की चर्चा की है—भाषा की स्वच्छता और भावानुरूपता, अलकारो का विदग्ध प्रयोग, नवीन छन्दो का समावेश, लयात्मकता, मुक्त छन्द-रचना तथा तुक की अनिवार्यता का निषेध। सिद्धात प्रयोग की दृष्टि से "कुरुक्षेत्र" और "रश्मिरथी' मे युग-धर्म के निर्वाह की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है।[1] रीति को काव्य का जीवन मानने के कारण उन्होने भाषा को स्वच्छ और भावानुकूल रखने मे अभीष्ट सफलता प्राप्त की है। इसी प्रकार उनकी कविताओ मे अलकारो की भी सहज मनोहारी स्थिति रही है। छन्द प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने नवीन छन्दों की सृष्टि के लिए प्राय दो छन्दो को मिला कर उपस्थित किया है। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने अपने शोध-ग्रन्थ मे उनके द्वारा प्रयुक्त १६ और २८ मात्राओ के मिश्र छन्दो को उदाहृत कर इसी ओर सकेत किया है।[2] "रेणुका" से "नीलकुसुम" तक की सभी रचनाओ मे लय-सयोजन की ओर भी सन्तोषप्रद ध्यान दिया गया है, उनकी कविताओं मे भाव सौन्दर्य की भांति गति की रमणीयता का भी अभाव नहीं है। उन्होंने प्राय काव्य को छन्दोबद्ध रूप मे ही प्रस्तुत किया है, किन्तु "सीपी और शख" की अधिकाश कविताओ की रचना मुक्त छन्द मे हुई है। इसी प्रकार

१. देखिए, "दिनकर" द्वारा "कुरुक्षेत्र" और "रश्मिरथी" के लिए लिखित भूमिकाएँ
२. देखिए "आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना", पृष्ठ ३२६, ३२७ तथा ३२८

मुक्तक तुकान्त काव्य की रचना करने पर भी "सीपी और शख" तथा "नए सुभाषित" की अनेक रचनाओं मे अतुकान्त-प्रवृत्ति को ग्रहण किया गया है। "हुकार" एव "नील कुसुम" की "कल्पना की दिशा", "स्वप्न और सत्य", "भावी पीढी से", "नर्तकी", "गृह-रचना" आदि कविताओं मे भी अतुकान्त-प्रणाली को स्थान प्राप्त हुआ है।[1] अत यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष की भाँति उसके कला पक्ष को भी अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ही प्रस्तुत किया है।

३ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

कवि "दिनकर" द्वारा विचारित स्फुट काव्याग "काव्यानुवाद" और "काव्या-लोचन" है। उन्होंने अनुवाद को मूल कृति की सम्पूर्ण प्रतिकृति न मान कर उसे कवि के स्वतन्त्र काव्य-कौशल से समृद्ध देखना चाहा है। उनके द्वारा अनूदित कविताओं के सक-लनो (सीपी और शख, धूपछाँह) मे मूल रचनाओं के भावो के अतिरिक्त उनकी अपनी काव्य प्रवृत्तियो का प्रतिफलन इसी दृष्टिकोण का परिणाम है। वैसे भी उन्होंने इन दोनों कृतियो की भूमिकाओ मे यह स्पष्ट कर दिया है कि इनमे अनुवाद के लिए भावानुकरण की पद्धति को अपनाया गया है। अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने काव्यालोचन के स्वरूप की मीमासा करते हुए काव्य-कौशल के उद्घाटन को आलोचक का मूल धर्म माना है। "मिट्टी की ओर", "अर्धनारीश्वर", "काव्य की भूमिका" और "पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण" के निबन्धो मे इस धारणा के उचित व्यवहार को सहज ही खोजा जा सकता है।

विवेचन

"दिनकर" जी के काव्य सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस दिशा मे कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की अपेक्षा अधिक व्याप-कता और स्पष्टता का परिचय दिया है। उन्होंने परम्परा-सिद्ध काव्य-मान्यताओं को यथावत् स्वीकार करने के अतिरिक्त मौलिक कवि-दृष्टि को अपनाने की ओर भी यथो-चित ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उनके काव्यात्मा, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-शिल्प और काव्यानुवाद-सम्बन्धी विचार विशेषत पठनीय हैं। इन काव्यागों के विषय मे उनकी सभी धारणाएँ मौलिक नहीं है, किन्तु यह स्पष्ट है कि इनके विवेचन मे नवी-नता का अवलम्बन करने का प्रयास अवश्य किया गया है। तथापि चतुर्वेदी जी की भाँति काव्य शास्त्र की साधना उन्हें भी अभीष्ट नहीं है—उन्होंने विविध काव्यागों की आद्यो-पान्त मीमासा न कर उनके विषय मे अपने व्यक्तिगत मन्तव्यों को ही प्रकट किया है। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र ने "दिनकर के काव्य-सिद्धान्त" शीर्षक लेख मे लिखा है—"दिन-कर वास्तव में प्रकृति और कर्म से आलोचक नहीं है—वे विचारक कवि हैं।"[2] उन्होंने अपने लेख मे मूलत "दिनकर" की काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन और काव्य के तत्वों के

१. देखिए "हुंकार", पृष्ठ ६२-६८ तथा "नील कुसुम", पृष्ठ ११ १८, ७८-८१, ५४-५६

२. विचार और विवेचन, पृ० १३२

विषय मे उपलब्ध धारणाम्रो की समीक्षा कर के ही इस मत की स्थापना की है, किन्तु प्रस्तुत कवि की अन्य काव्य-मान्यताम्रो का विवेचन करने पर भी हम यही कह सकते हैं। तथापि इतना स्पष्ट है कि ग्रालोचना की अपेक्षा काव्य की ओर विशेष प्रवृत्ति होने पर भी उनकी स्थिति अनेक कवि-ग्रालोचको से श्रेष्ठ है।

: २ :

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के अन्य सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य के अन्य प्रणेताओं में जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" ने काव्यांग-मीमांसा में सर्वाधिक रुचि प्रदर्शित की है। बालकृष्ण शर्मा "नवीन" और उदयशंकर भट्ट भी इस दिशा में लगभग उनके समान ही जागरूक रहे हैं किन्तु सुभद्राकुमारी चौहान और सियारामशरण गुप्त ने काव्य-चर्चा में सामान्य रूप में भाग लिया है। सियारामशरण जी ने तो अपने अग्रज (मैथिलीशरण गुप्त) की भाँति काव्यांग-चर्चा को कवि का धर्म न मान कर यह प्रतिपादित किया है—"एक बात निश्चित है कि स्वयं कवि के काव्य सिद्धान्त प्रायः विश्वसनीय नहीं होने चाहिएं। कवि जब वैसी बात करता है तो समझना यही चाहिए कि वह अपनी तत्कालीन स्थिति की सफाई में कुछ कह रहा है। उसकी बात आंशिक रूप में ही सत्य हो सकती है। उपेक्षा आंशिक सत्य की भी नहीं होनी चाहिए क्योंकि हम प्रायः आंशिक ही होते हैं।"[1] तर्क की दृष्टि से इस मन्तव्य का औचित्य होने पर भी इसे कुछ सीमा तक उनकी सहज-संकोची प्रवृत्ति का अनिवार्य फल माना जा सकता है। इस स्थिति में भी इस धारा के कवि काव्य चिन्तन के प्रति उदासीन नहीं रहे हैं। उन्होंने मुख्यतः काव्य-स्वरूप, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन और काव्य के तत्वों के विवेचन में भाग लिया है। अन्य काव्यांगों में से उन्होंने काव्यात्मा, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प के स्वरूप निर्धारण में भी सामान्यतः सन्तोषजनक रूप में प्रगति की है, किन्तु काव्य रचना के रूपों, काव्य के अधिकारी और काव्यालोचन के विषय में उनका मत-प्रतिपादन अत्यन्त संक्षिप्त है। उपरिलिखित तालिका से यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर विचार किया है, तथापि उनके सिद्धान्तों की सीमाओं के कारण हम उनकी प्रतिभा पर पृथक्-पृथक् विचार न कर विविध काव्यांगों में उनकी गति का एक साथ ही मूल्यांकन करेंगे।

काव्य का स्वरूप

आलोच्य कवियों ने काव्य-स्वरूप-मीमांसा में लगभग समान उत्साह के साथ भाग लिया है, तथापि उनके विचार क्रम और व्यापकता से सर्वत्र अन्वित नहीं रहे हैं।

---

१ कविवर सियारामशरण द्वारा दिनांक १६-४-५८ को मेरे प्रति लिखे गए पत्र से उद्धृत

इस स्थिति के फलस्वरूप ही *कवयित्री सुभद्राकुमारी* ने काव्य लक्षण का निर्धारण न कर केवल कवि-कर्म के विषय में सीमित मत प्रतिपादन किया है। उन्होंने मानव के जीवन विकास के लिए अपेक्षित विविध विद्याओं (दर्शन, इतिहास, समाज शास्त्र, धर्म आदि) की सौन्दर्यजीवी सहज वर्णना को कवि का करणीय माना है। उदाहरणस्वरूप प्रयाग में सन् १९३३ में हुए अखिल भारतवर्षीय महिला-कवि-सम्मेलन में सभानेत्री के पद से उनके भाषण के निम्नोद्धृत अंश देखिए—

(अ) "साहित्य में कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। वह दार्शनिक, इतिहासकार, समाज-शास्त्री, तथा धर्माचार्य के सिद्धान्तों को सुन्दर साँचे में ढाल कर जन-साधारण के हृदय-मन्दिर में स्थापित करता है।"[1]

(आ) "इस प्रकार कवि भिन्न भिन्न विद्याओं का शृंगार विशारद (टॉयलेट एक्सपर्ट) है, जिसके हाथ में पड़ कर सबका रूप निखर उठता है। वह केवल टॉयलेट एक्सपर्ट ही नहीं है, वह सब में नई स्फूर्ति और नव-जीवन का संचार भी करता है, वह सत्य को सुन्दर और प्रिय बना देता है।"[2]

काव्य में सब विद्याओं के समाहार की स्वीकृति काव्य शास्त्र में नवीन न होकर चिर आदृत है। इस विषय में आचार्य भामह का मत है कि "ऐसा कोई शब्द, अर्थ, न्याय अथवा कला नहीं है, जिसे काव्यांग के रूप में महत्व प्राप्त न हो।"[3] आधुनिक समीक्षकों में डॉ० भगीरथ मिश्र की यह उक्ति, "जिन श्रेष्ठ और पवित्र सिद्धान्तों का मनीषियों ने समाज और धर्मशास्त्रों में निरूपण किया है, उन्हें जीवन में उतार देने का श्रेय और गौरव काव्य को ही प्राप्त है,"[4] भी सुभद्रा जी के मन्तव्य की प्रतिच्छाया है। वस्तुतः सुभद्रा जी की धारणा का महत्व इस स्थापना में है कि जिस प्रकार शृंगार चतुर रमणी शृंगार प्रसाधनों से शरीरांगों को अतिरिक्त छवि प्रदान करती है उसी प्रकार काव्य का निर्माता काव्य-वर्ण्य के मनोजक अंगों में नव शोभा का विधान करता है। रमणी हृदय के अनुकूल यह दृष्टिकोण स्वाभाविक ही है, किन्तु उनकी मान्यता का मूल स्वर (शृंगार-विधि की तुलना में कवि-कर्म की महत्ता का सम्पादन) भावुकतामय न होकर तर्क-पुष्ट रहा है। शृंगार-विशारद द्वारा शरीर-कान्ति की संवर्द्धना स्थायी न होकर समय-सापेक्ष होती है, किन्तु कवि रचना सत्य और कल्पनाजन्य सौंदर्य से अनुस्यूत होने के कारण कल्पान्तरस्थायी होकर सहृदयों को संवेदित करती है।

कविवर बालकृष्ण शर्मा "नवीन" ने काव्य के स्वरूप का स्वतन्त्र निरूपण नहीं किया, तथापि उनकी काव्य एवं कला-सम्बन्धी प्रासंगिक उक्तियों का समन्वय करने

१ सुधा, मई १९३३, पृष्ठ ३२५

२ सुधा, मई १९३३, पृष्ठ ३२६

३ "न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥"

(काव्यालंकार, ५।४)

४ काव्यशास्त्र, पृष्ठ २३

पर उनके मन्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है। उन्होंने काव्य (कला) को कवि की आत्म भावनाओं (सत्, चित् और आनन्द के समन्वयात्मक रूप) का कल्पनापुष्ट आख्यान मान कर यह प्रतिपादित किया है—"**कला तो एक प्रकार के व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक, कल्पना सहगामिनी, सत् चित्-आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।**"[1] यहाँ काव्य-कला की प्रकृति का भारतीय चिन्तन-परम्परा के अनुकूल सुन्दर विवेचन किया गया है। सत्य और शिव से अनुप्राणित भावनाओं के रसात्मक आख्यान से ही काव्य में प्रभविष्णुता का समावेश हो पाता है, किन्तु इस रूप विधान के लिए काव्य में जिस सहजावेग की अपेक्षा होती है, वह किसी भी प्रकार की सीमा नहीं चाहता। इसीलिए उन्होंने सिद्धान्त विशेष की परिधि में काव्य रचना करने का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "**कला एक सहसा निष्क्रमणशीला बलवती, वेगवती अभिव्यक्ति धारा है, वह इस या उस वाद में कैसे बँध सकगी ?**"[2] इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में यह सिद्धान्त है कि काव्य में सांस्कृतिक चेतना की रसमयी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने काव्य में केवल सामयिकता के निर्वाह को पर्याप्त न मान कर उसमें शाश्वत भाव-गरिमा के अस्तित्व पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है "**कला, काव्य, साहित्य—इन सब का सम्बन्ध तो सनातन रस-राग-अभिव्यंजना से है, केवल वर्तमान का दर्शन मात्र ही चिरन्तन कला का ध्येय नहीं है।**"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'नवीन' जी ने काव्य में मानव मन के उन्नयन की प्रेरक भावनाओं के कथन को कवि का मूल दायित्व माना है। वस्तुतः इस गुण का सम्बल प्राप्त होने पर ही कवि अपने काव्य में युग प्रभावक मूल्यों का समावेश कर सकता है, क्योंकि "**किसी भी साहित्य स्रष्टा की कृतियाँ, यदि वे मानव को ऊँचा उठाने वाली हैं तो अमर होंगी।**"[4] इस सम्पूर्ण विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि "नवीन" जी को काव्य की यह परिभाषा मान्य रही है—"**काव्य कवि की प्रेरणा का फल है, अतः उसमें कल्पना और सांस्कृतिक चेतना से समन्वित शाश्वत सच्चिदानन्दमयी कवि-भावना का सहज उच्छलन रहता है।**" इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य में शब्द-सामर्थ्य और विविध विषयावली के समावेश को भी कवि का काम्य मान कर उर्मिला द्वारा कलाकार (कवि) का यह लक्षण उपस्थित कराया है—

> *"ऐसा महाप्राण दानी, जो जड़ को भी चैतन्य बना दे,*
> ऐसा नीरव गायक, जो जड़ शब्दों को भी धन्य बना दे।
> वन्य प्रान्त में, गृह प्रांगण में जिसकी गति सब देश काल में,
> वह है कौन कला का पूजक ! अमृत-पुष्प परमेश माल में।।"[5]

१. कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ ६
२. कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ ६
३. कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ ७
४. क्वासि, भूमिका, पृष्ठ १६
५. उर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०३

कवि श्री सियारामशरण गुप्त ने प्रचलित धारणा के अनुसार कवि को साधारण मानव से भिन्न मान कर "कविता का नामकरण" शीर्षक लेख में लिखा है—"कवि विधाता की एक असाधारण सृष्टि है। अथवा कहना यह चाहिए कि कवि सृष्टि न हो कर स्रष्टा के रूप में ही अपने आप प्रकट हुआ है। उसका गौरव उसी में है, उसे किसी बाहर के उपकरण की आवश्यकता नहीं।"[1] यहाँ काव्य को कवि के मनोभावों का उच्छ्वास मान कर उसमें अन्तःसौन्दर्य की व्याप्ति पर बल दिया गया है। भाव-दीप्ति से सम्पन्न रचना में कवि का हृदय सहज मुखरित रहता है। इसीलिए उन्होंने "मेरी रचना नारी" शीर्षक लेख में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है "भारतीय परम्परा में कवि और लेखक ओट में ही रहते आए हैं। रचना मुखरित हो तो रचनाकार के बोलने की आवश्यकता नहीं रहती।"[2] रचना में मुखरता का सचार प्रतिभा और व्युत्पत्ति के सद्भाव पर आश्रित है। प्रतिभा-सम्पन्न समाहितचित्त "कवि की विशेषता साधारण से असाधारण की उपलब्धि कर लेने में है।"[3] इस प्रयोजन में साफल्य-साधन के लिए कवि को लोक के अनुशीलन के प्रति सजग रहना चाहिए। आलोच्य कवि ने "छायावाद का आरम्भ कब हुआ" शीर्षक परिसंवाद में इसीलिए यह प्रतिपादित किया है, "श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में बहुमुखी वृत्तियाँ सन्निहित रहती हैं।"[4] इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि कवि काव्य में साधारण जागतिक व्यापारों को अपनी बहुमुखी भाव-चेतना के बल पर असामान्य श्रेष्ठ अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

कविवर उदयशंकर भट्ट ने काव्य की स्वरूप चर्चा के प्रसंग में कवि प्रकार-निर्धारण करते हुए "काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना" शीर्षक लेख में कवि के चार भेद माने हैं—"मूल प्राकृतिक (यथार्थ एवं अनुभूतिवादी), सांस्कृतिक (आदर्शवादी), रूढ़िवादी (क्लासिकल), मूल परिवर्तनवादी (रोमैंटिक)।"[5] इस प्रकार का विभाजन उनके पूर्ववर्ती अथवा समवर्ती कवियों ने नहीं किया है और स्वयं उन्होंने भी इन कवि-भेदों की व्याख्या न कर केवल नामोल्लेख ही किया है, किन्तु काव्य-रचना की प्रवृत्तियों पर आवृत होने के कारण यह वर्गीकरण अमान्य नहीं है। फिर भी यदि उन्होंने इस विषय में अपने मन्तव्य की विश्लेषणा करते हुए उपर्युक्त कवि-प्रकारों का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया होता तो अधिक अच्छा रहता। तथापि कवि के विषय में कथित निम्नोक्त उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्हें मूल प्राकृतिक और मूल परिवर्तनवादी कवियों की प्रवृत्तियों का सहज समन्वय स्वीकार्य है—

---

१. सुधा, अप्रैल १९३५, पृष्ठ ३००
२. आजकल, दिसम्बर १९५७, पृष्ठ १४
३ दैनिकी, भूमिका, पृष्ठ ३
४ अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृष्ठ १०६
५ हंस, अक्तूबर १९४१, पृष्ठ १०

(अ) "जग के अन्तर्द्वन्द्व प्यालियों में भर-भर पीता रहता है।
मधुर-कल्पना के पलों पर उड़-उड़ कर जीता रहता है॥"[1]

(आ) "गीत गाता हूँ इधर भीतर उधर है आग।
और रोता प्राण जब पुलकित जगत का राग॥"[2]

इन उक्तियों से यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि भट्ट जी के अनुसार "काव्य वह रचना है जिसमें कवि जगत् की यथार्थ अनुभूतियों को अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं (चिन्तन) और कल्पना-माधुर्य के माध्यम से वाणी देता है।" दूसरे शब्दों में, वे काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर की सहज व्याप्ति के समर्थक हैं।

श्री युत जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने काव्य के स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन नहीं किया है, तथापि प्रासंगिक उक्तियों के आधार पर काव्य-कला और कवि-कर्म के विषय में उनके विचारों का एक निश्चित रूप अवश्य दिया जा सकता है। उन्होंने राजशेखर की भाँति लोक-व्यवहार को कवि-वचनों पर आधारित (कविवचनायत्ता लोकयात्रा)[3] मान कर यह प्रतिपादित किया है कि "कला अग्रगति, इसके पीछे हर युग सब जग चलता है।"[4] काव्य से युग प्रेरणा की उपलब्धि की सार्थकता को लक्षित करके ही उन्होंने उसे युगानुसार नवीन रूप प्रदान करने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए यह लिखा है—"मेरी आस्था है कि अब युग बदल गया है और अब पुराने जमानों के घिसे-घिसाए काव्योपकरणों की सीमा में कविता को बंद नहीं रखा जा सकता।"[5] प्रश्न है कि काव्य के ये नूतन उपादान कौन-से हैं? प्रस्तुत कवि ने माखनलाल चतुर्वेदी और "दिनकर" की भाँति अनुभूति कथन और मानवता के प्रतिपादन में इसका समाधान उपस्थित किया है। इसीलिए उन्होंने एक ओर यह उल्लेख किया है कि "यह वाणी है उस अनुभव की, जिसका बल बलि है, जीवन है"[6] और दूसरी ओर कवि को यह सन्देश दिया है, "कलाकार, अपने प्राणों में, मानवता के प्राण जगाओ"[7] अथवा "तुम जनतामय मानवता-मय, जग-मय, जीवन मय हो जाओ।"[8] उन्होंने "कवि और मानवता" शीर्षक कविता में भी इसी सिद्धान्त का विस्तारसहित प्रतिपादन किया है।[9] वस्तुतः "जीवन से अलग कट कर कला के जीवित रहने का सिद्धान्त अब बहुत पुराना पड़ गया है।"[10] राष्ट्र-प्रीति को कवि का उद्दिष्ट मानने के कारण "जीवन" से उनका अभिप्राय

१. मानसी, पृष्ठ ४७
२ युग-दीप, पृष्ठ १४
३ काव्यमीमांसा, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ६६
४ बलिपथ के गान, पृष्ठ ६५
५ भूमि की अनुभूति, भूमिका, पृष्ठ ५
६. बलिपथ के गान, पृष्ठ ६५
७ बलिपथ के गान, पृष्ठ ६७
८ बलिपथ के गान, पृष्ठ ६८
९. देखिए "मुक्तिका", पृष्ठ ९
१० गीतम नन्द, प्रारम्भिक, पृष्ठ ९

राष्ट्रीय चेतना से समन्वित क्षणों में है। इसीलिए उनके नाटक के पात्र राजकवि पृथ्वीसिंह ने महाराणा प्रताप को अकबर की अधीनता में न आने देने के लिए उन्हें काव्य के माध्यम से उद्बोधन देना चाहा है। इस सम्बन्ध में उनका यह आत्म-सम्बोधन द्रष्टव्य है—"अभागे कवि ! क्या तेरी कविता इस कठिन समय पर कुछ भी काम न आएगी, क्या वह जन्म भर नरक के कीड़ों ही की भोग-वस्तु बनी रहेगी !"[1] इस अध्ययन से स्पष्ट है कि 'मिलिन्द' जी ने काव्य में कवि के अनुभवों, मानवता और राष्ट्र-प्रीति की अभिव्यक्ति पर बल देकर प्रस्तुत काव्य धारा के पूर्ववर्ती कवियों की भाँति काव्य की नवीन व्याख्या उपस्थित करने का सजग प्रयास किया है।

काव्य की आत्मा

प्रस्तुत काव्य-धारा के अन्तर्गत विचारणीय कवियों ने काव्य की आत्मा के विवेचन में विशेष भाग नहीं लिया है—इस दिशा में केवल बालकृष्ण शर्मा "नवीन", उदयशंकर भट्ट, और "मिलिन्द" की सामान्य उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। "नवीन"[2] जी ने काव्य के आन्तर तत्व का स्वतन्त्र निरूपण नहीं किया है, तथापि अपनी लेखनी से यह कह कर, "बनो रस-सिक्त सुनाओ अखिल विश्व को निज रस-सिक्ता तान"[3] उन्होंने स्पष्टतः रस को ही काव्य का अन्तर्तत्व माना है। इसी प्रकार कल्पना के प्रति कथित निम्नांकित पंक्तियों में भी यही व्यक्त किया गया है कि कवि कल्पना के सहयोग से काव्य में रस-रूप आत्म-तत्व का सहज विधान करता है—

"कुछ ऐसी रस-धार बहा दे करुण करुण रस-माती,
कि बस जगत की सकल धीरता बहे विकल उतराती।।"[3]

यहाँ "ऊर्मिला" काव्य की विषय-वस्तु के अनुरूप काव्य में करुण रस के ग्रहण पर विशेष बल दिया गया है। इसीलिए उन्होंने स्व-लेखनी को सम्बोधित करते हुए अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—"शुष्क कागद के कोनों बीच, हो उठे नव करुणा का नृत्य" और "ऊर्मिला की आहों को सुना, करुण रस में कर दो कुछ शान्ति।"[4] काव्य में रस-संवेदना के इस रूप की योजना के लिए कवि का रससमाहितचित्त होना अनिवार्य है। अतः इससे भी यही स्पष्ट है कि उन्होंने कवि की रस-समाधि अथवा उसके द्वारा रस के प्रतिष्ठान को काव्य का मूल गुण माना है।

श्री उदयशंकर भट्ट ने भी "नवीन" जी की भाँति रस को काव्य का प्राण-तत्व माना है। उन्होंने काव्य के अन्य सम्प्रदायों का विवेचन न कर "काव्य में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना" शीर्षक लेख में यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि "काव्य कवि की प्रतिभा,

१. प्रणय-प्रतिमा, तीसरा अंक, पृष्ठ ७६
२. ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ २
३. ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १६५
४. ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ २
५. ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ २

दृष्टि-तोषकता, तादात्म्य का रसमय कार्य है, जो समय की सीमाओं को तोड़ कर अपना मार्ग बनाता हुआ युग-युगान्त और कल्पान्त तक मानव मानव को अपने रस से विभोर करता रहता है।"[1] यहाँ रस की आनन्द-शक्ति के कालान्तरस्थायित्व की चर्चा कर कवि-वर देव की भाँति रस-मार्ग की श्रेष्ठता का निर्भ्रान्त प्रतिपादन किया गया है।[2] इसी प्रकार उन्होंने "साहित्य" शीर्षक मुक्तक में भी काव्य-रस की आनन्द प्रेरणा का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

"अक्षरों की पंक्तियों के भरा भीतर रस
योजना में फूटता साहित्य का मकरंद,
जो रहे हर बीज में हैं रसों के रेशे—
फूलते ही चमक उठते सुरभि घन स्वच्छन्द।
इस तरह आनन्द का ही पुत्र अक्षर है
और अक्षर सुचिन्तित आनन्द जनता है,
यही रस साहित्य अक्षर में सुनिश्चित हो
हृदय में उठ कर हृदय-उल्लास बनता है।"[3]

उपर्युक्त दोनों कवियों की भाँति "मिलिन्द" जी ने भी रस को काव्य का अन्तर्तत्व माना है। उन्होंने अपने हृदयोद्गार को सम्बोधित करते हुए "ए उद्गार" शीर्षक कविता में इस धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है—"चिर-सुन्दर रस के आगार, रह-लाओ अमूल्य उद्गार।"[4] इसी प्रकार उन्होंने "नवीन का मौरन उन्मुक्त हो" शीर्षक लेख में भी प्रसंगवश यह उल्लेख किया है "जिस कविता में केवल सुकण्ठ ध्वनि का स्वर-माधुर्य ही तरंगित होता है और उसके शब्दों में कोई भावतादात्म्य, रस या प्राण नहीं रहता, वह कविता और चाहे जो चीज हो, कविता नहीं होती।"[5] इससे स्पष्ट है कि काव्य में रस को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है और माधुर्यगुण-समन्वित रीति उसके लिए त्याज्य न होने पर भी उसका एकमात्र धर्म नहीं है। रस के महत्त्व के प्रदर्शनार्थ उन्होंने "लेखनी" शीर्षक कविता में भी "नवीन" जी की भाँति लेखनी को सम्बोधित करते हुए यह कहा है—"तेरे ही कारण अब तक रसमय कविता-कली खिली"[6] और "उज्ज्वल सुधा-सरोसी सरस सूक्तियों की तू खान।"[7] अतः यह सिद्ध है कि कवि को काव्य में रस के प्रतिष्ठान

---

१. हंस, अक्तूबर १९६२, पृष्ठ ९

२. "कहत, सहत, उमहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द, अर्थ, भाषा, सुरस, सरस काव्य दस-रीति॥"
(शब्द-रसायन, सप्तम प्रकाश, पृष्ठ ७२)

३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ३१ मार्च १९५७, पृष्ठ ५

४. माधुरी, जून १९२९, पृष्ठ ६७१

५. सांस्कृतिक प्रश्न, पृष्ठ २

६. महारथी (दिल्ली), सम्पादक—रामचन्द्र शर्मा, मई १९२८, पृष्ठ १५४

७. महारथी, मई १९२८, पृष्ठ १५४

के प्रति सतत सजग रहना चाहिए, क्योंकि रसोन्मेष की शक्ति कवि के भाव-ग्रहण पर अवलम्बित है और "विषय के नए या पुराने होने का रसतुष्टि पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।"[१]

काव्य-हेतु

प्रस्तुत कवियों में से सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान ने काव्य-हेतु के विवेचन में भाग नहीं लिया है किन्तु "नवीन" जी ने काव्य की आत्मा की अपेक्षा काव्य कारणों की समीक्षा में अधिक मनोयोग से काम लिया है। उन्होंने द्विवेदीयुगीन कवियों द्वारा सरस्वती, गंगा, वाल्मीकि आदि की कृपा से काव्य शक्ति की उपलब्धि के सिद्धान्त-प्रतिपादन का विस्तार करते हुए ऊर्मिला को भी काव्य सामर्थ्य प्रदान करने वाली देवी का पद दिया है। निम्नोक्त काव्य पंक्तियाँ इसी धारणा की परिचायक हैं—

(अ) "सती, मुझे वर दो कि भारती मेरी हो कल्याणी।"[२]

(आ) "आ रही है कल्पना मेरी तुम्हारे शरण।"[३]

(इ) "आ, ऊर्मिला कुमारी के पद-पद्मों में कर वन्दन।"[४]

(ई) "तब स्वामिनी तुझे न रखेगी निज करुणा से कोरी।"[५]

यहाँ दैवी शक्ति के आशीर्वाद से प्रेरणा लाभ को काव्य साधक तत्व माना गया है। यह प्रेरणा कवि के मन में सहज रूप से जन्म लेती है। इसको उपेक्षा कर सकना उसके वश की बात नहीं होती, क्योंकि "बाज औकात कुछ धुआँ-सा मन में मंडराने लगता है और कुछ कहने की ख्वाहिश हो उठती है।"[६] उन्होंने अन्यत्र भी कलात्मक रुचि से सम्पन्न ऊर्मिला द्वारा इस मन्तव्य को शत्रुघ्न के प्रति इस प्रकार व्यक्त कराया है—

(अ) "अपने आप हृदय की कोकिल कर उठती है अश्रुत क्रन्दन।"[७]

(आ) "कुछ भावाभिव्यक्ति बरबस हो ऐसी घड़ियों में हो जाती।"[८]

(इ) "भावोन्मेष न कह कर आता है, लल्ला, हृद्धाम तुम्हारे।"[९]

(ई) "कवि कब कहता है? केवल तब जब साधनालीन होता है।"[१०]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "नवीन" जी ने काव्य में प्रतिभा के आलोक को मूल महत्व दिया है, तथापि उन्होंने अन्यत्र व्युत्पत्ति व काव्य-साधनत्व को भी स्पष्ट

१ मुक्तिका, प्रास्ताविक, पृष्ठ ३
२ ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ५
३ ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ २३
४ ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७०
५. ऊर्मिला, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ७१
६ कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ १८-१९
७ ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०१
८. ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०२
९. ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०२
१० ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०३

स्वीकृति दी है। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है—"मेरे मत में साहित्य स्रष्टा के लिए इन गुणों को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है—स्वाध्याय, कल्पना-शक्ति, शब्द-सामर्थ्य, मानव-स्वभाव-अध्ययन, यथातथ्य-ग्राह, कला-सौष्ठव, स्थिति-सृजन-शक्ति, जीवन-चित्रण-सामर्थ्य, समाधि सामर्थ्य, आर्जव-ईमानदारी।"[1] इनमें से स्वाध्याय (काव्य और काव्य शास्त्र का अनुशीलन) और मानव-स्वभाव-अध्ययन (लोक-दर्शन) स्पष्टतः व्युत्पत्ति के अंग हैं। कल्पना शक्ति (नवोन्मेष) और स्थिति-सृजन शक्ति (अपूर्व वस्तु के निर्माण की क्षमता) को आचार्य भट्टतौत और अभिनवगुप्त ने प्रतिभा ही कहा है—"प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता"[2] तथा "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।"[3] जीवन-चित्रण-सामर्थ्य की उपलब्धि प्रतिभा और व्युत्पत्ति के संयोग से स्वतः सिद्ध है और उस कवि के मन में आर्जव ईमानदारी (काव्य के प्रति सहज आस्था) की स्थिति भी स्वाभाविक है जो प्रेरणा से समाहितचित्त होकर काव्य रचना करता है। इस आस्था से रहित कवियों के लिए ही भामह ने यह कहा है कि पंडितों के अनुसार कुकवित्व साक्षात् मृत्यु ही है (कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः[4])। "नवीन" जी द्वारा उल्लिखित शब्द-सामर्थ्य (पद निर्वाचन की कुशलता) आचार्य वामन द्वारा निरूपित "अवेक्षण" (पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्[5]) नामक प्रकीर्ण काव्यांग ही है। इसी प्रकार कला-सौष्ठव भी अपने दोनों अर्थों में (ललित कला और उपयोगी कला, काव्य शिल्प) आचार्य भामह को मान्य काव्य साधन है (शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थं इतिहासाश्रया कथा, लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी[6])। यथातथ्यग्राह को रुद्रट ने युक्तियुक्त विवेक कह कर व्युत्पत्ति का अंग माना है (युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन[7]) और समाधि-सामर्थ्य (चित्त की एकाग्रता) वामन द्वारा उल्लिखित प्रकीर्ण काव्यांग "अवधान" (चित्तैकाग्र्यमवधानम्)[8] के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शब्दावली की मौलिकता होने पर भी "नवीन" जी के काव्य-हेतु विवेचन में तत्वतः भामह, वामन, रुद्रट, भट्टतौत, अभिनवगुप्त आदि पौरस्त्य आचार्यों की धारणाओं का पुनराख्यान हुआ है और उन्होंने उन्हीं के मतानुसार प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को काव्य रचना के प्रेरक तत्व माना है।

सियारामशरण जी ने प्रतिभा के काव्य-कारणत्व को स्वीकार न कर केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास के महत्व को स्पष्ट किया है। यद्यपि उनकी निम्नलिखित उक्ति

---

१. क्वासि, भूमिका, पृष्ठ १६
२ काव्यानुशासन, पृष्ठ ३ में उद्धृत
३ ध्वन्यालोकलोचन, १।६
४ काव्यालंकार, १।१२
५. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, १।३।१५, पृष्ठ ५१
६ काव्यालंकार, १।६
७ रुद्रट, काव्यालंकार, १।१८
८. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, १।३।१७, पृष्ठ ५३

मे प्रथमत यह आभास मिलता है कि वे प्रतिभा की महत्ता को मानते है, किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने प्रतिभा का सर्वांशत बहिष्कार न करने पर भी अभ्यास को विशेष गौरव दिया है—

"बडे बडे कवियो के सम्बन्ध में सुना है कि उनकी रचनाएँ पहली बार में ही परिपूर्ण हो कर प्रकट होती हैं। × × × × × उनमें संशोधन-परिशोधन के लिए कुछ नहीं होता। × × × × × परन्तु जिनका सौभाग्य इतना ऊँचा नहीं है, क्या उनके प्रति अवज्ञा की ही दृष्टि से देखा जायगा ? × × × × × ऐसा भी नहीं है कि बडो को अपना सत्कार नहीं करना पडता। करना उन्हें भी पडता है। परन्तु उनका यह कार्य प्राय हमारे अगोचर में होता है।"[1]

इस दृष्टिकोण का अभ्यास-पक्ष कविवर मैथिलीशरण द्वारा "साकेत" मे प्रस्तुत किए गए विचारो से स्पष्ट साम्य रखता है[2], किन्तु उनके द्वारा स्वीकृत प्रतिभा का महत्व उनके अनुज को उस रूप मे मान्य नही है। जहाँ उन्होने प्रतिभा को पूर्वपुण्यफल अथवा ईश्वरीय प्रसाद के रूप मे ग्रहण किया है, वहाँ सियारामशरण गुप्त ने इस सिद्धि से सम्पन्न कवि को काव्यकार के स्थान पर पैगम्बर कह कर 'आशु रचना' शीर्षक लेख मे उस पर इस प्रकार व्यंग्य किया है—**"किसी रचना को सपाटे में लिख कर गर्व करना यह प्रकट करता है कि हम साधना का महत्व स्वीकार नहीं करते। इसका अर्थ यह भी होता है कि हम सिद्ध हैं। साधना हमारी कभी की पूरी हो चुकी। पर ऐसे व्यक्ति को साहित्यिक न हो कर पैगम्बर होना चाहिए।"[3]** इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सृजन-प्रेरणा मात्र से काव्य-रचना नही हो जाती, कवि को उसके लिए सचेष्ट साधना और चिन्तना करनी होती है। यह साधना व्युत्पत्ति और अभ्यास, दोनो की समान रूप मे अपेक्षा रखती है।

सियारामशरण जी ने व्युत्पत्ति के अगो मे से प्रत्यक्षत काव्य के अध्ययन का और अप्रत्यक्षत लोक-दर्शन का उल्लेख किया है। उन्होने अपने प्रारम्भिक कवि जीवन के विषय मे यह कह कर, **"किसी तरह के अध्ययन या परिश्रम के बिना ही मैं कवि बन जाना चाहता था, उन दिनों मेरी मनोवृत्ति कुछ ऐसी ही थी"[4]** व्युत्पत्ति के काव्य-हेतुत्व को ही मान्यता दी है। इसी प्रकार *"छायावाद का आरम्भ कब हुआ"* शीर्षक परिसवाद में भी उन्होंने यह व्यक्त किया है—**"वह कवि कैसा जो अपने पूर्ववर्तियो से प्रभावित हो कर सम्पन्न न हुआ हो।"[5]** पूर्ववर्ती रचनाओ के अनुशीलन से कवि-कर्तृत्व के प्रबुद्ध होने मे उनकी आस्था को देख कर ही *मैथिलीशरण जी ने "अनुज" शीर्षक लेख मे यह प्रतिपादित किया है—*
"यह स्पष्ट है कि उनके लिखने की शैली अलकृत भाषा की दृष्टि से गुरुदेव की अनुयायिनी

---

१. झूठ-सच, पृष्ठ २०५ २०६
२ देखिए "साकेत", भूमिका, पृष्ठ २ तथा नवम सर्ग, पृष्ठ १६४
३. झूठ-सच, पृष्ठ १२६
४ आत्मोत्सर्ग, निवेदन, पृष्ठ ६
५. अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृष्ठ १०६

है और उनके भाव बापू के अनुयायी हैं।"[1] यहाँ कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव को अभिव्यंजना-शैली की उन्नति में सहायक माना गया है और गांधी जी से प्रेरणा ग्रहण करने का तात्पर्य मानव-दर्शन की ओर उन्मुख होना है। शैली-संस्कार की प्रेरणा की उपलब्धि स्पष्टतः कवि के शब्द-कोष-परिचय पर आधृत है। इसीलिए पाश्चात्य काव्य शास्त्र में यह मत व्यक्त किया गया है कि काव्य-रचना की प्रेरणा कवि के शब्दानुभव और जीवनानुभव से प्राप्त होती है।[2]

व्युत्पत्ति की भाँति आलोच्य कवि को द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों की भाँति काव्यशिक्षाजन्य अभ्यास का महत्व भी मान्य है। इसीलिए उन्होंने "काव्य-स्मृति" शीर्षक लेख में मैथिलीशरण जी द्वारा अपनी कविताओं का शुद्ध कराने की इस रूप में चर्चा की है—"आर्द्रा की समस्त कविताएँ लिखने के समय तक उन्हें दिखा कर ठीक करने के लिए मुझे बहुत कुछ ऐसी ही निष्कृत उठानी पड़ती रही है। × × × × × प्रारम्भ में ही उन हाथों का प्रसाद पा कर मेरी रचना कुछ की कुछ हो गई है। वह प्रसाद निरन्तर मुझे प्राप्त है।"[3] उनके द्वितीय काव्य गुरु मुंशी अजमेरी थे। इसीलिए उन्होंने अपने कवि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों की चर्चा करते हुए यह प्रतिपादित किया है—"जब कुछ लिखता तो सम्मति और संशोधन के लिए उन्हीं के पास जाना पड़ता।"[4] इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि को प्रारम्भ में व्युत्पत्ति और काव्य शिक्षा प्राप्ति के प्रति समान रूप में सचेष्ट रहना चाहिए, किन्तु यह असन्दिग्ध है कि काव्य-पाठ के उपरान्त कवि के लिए केवल व्युत्पत्ति का आश्रय ही पर्याप्त होता है। द्विवेदीयुगीन साहित्यकार प० बदरीनाथ भट्ट के शब्दों में, "निरन्तर काव्य-रचना करते-करते सत्कवि थोड़े ही दिनों में स्वयं ही सत्काव्य हो जाता है।"[5] अतः काव्य शिक्षा का नैरन्तर्य कवि के लिए अनिवार्य नहीं है।

प्रस्तुत काव्य धारा के अन्य कवियों में *प० उदयशंकर भट्ट* ने काव्य-सर्जन के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास, तीनों की चर्चा की है। प्रतिभा के सम्बन्ध में उनका वक्तव्य अत्यन्त संक्षिप्त है—"मैंने काव्य में केवल एक बात को सदा ध्यान में रखा है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें आत्मा की प्रेरणा तथा वस्तु के प्रति ईमानदारी हो।"[6] काव्य में प्रेरणा का महत्व परम्परासिद्ध है और वस्तु के प्रति ईमानदारी ("नवीन" जी ने भी आर्जव ईमानदारी को काव्य रचना के लिए आवश्यक माना है) उसका अंग विशेष है। *तथापि भट्ट जी ने सियारामशरण जी की भाँति प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति (लोक-*

---

१ सियारामशरण गुप्त (सम्पादक—डा० नगेन्द्र), पृष्ठ ७०

२ "The impulse to write poetry springs, as suggested above, from the poet's experience of words as well as from his experience of life" (Oxford Junior Encyclopaedia, Vol XII, Page 347, Column II)

३ झूठ-सच, पृष्ठ ६८-७०

४ झूठ-सच, पृष्ठ ८२

५ सरस्वती, मई १९१४, पृष्ठ २३६

६ अवन्तिका, अगस्त १९५६, पृष्ठ १८६

दर्शन) को अधिक महत्व देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "अनुभूति जितनी ही गहरी होती है जीवन-पट उतना ही प्रभावृत्त भी होता है, किन्तु इस जीवन-दर्शन की श्रेणियाँ है, उन्हीं श्रेणियों के अनुसार कवि में भी भावोन्मेष होता है। सामर्थ्य और प्रतिभा उसके सहायक बनते हैं।"[1] संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने सामर्थ्य (शक्ति) और प्रतिभा अन्तर नहीं माना है, अत भट्ट जी द्वारा यहां उनका पृथक्-पृथक् उल्लेख शिथिल रूप से किया गया है। वैसे भी उन्होंने प्रतिभा को व्युत्पत्ति के सहायक धर्म के रूप में ग्रहण कर उसका तिरस्कार किया है, क्योंकि प्रतिभामय व्यक्ति ही जीवन-दर्शन में सफलता-लाभ करता है न कि लोक-परिचय से कवि के मन में प्रतिभा का जन्म होता है। तथापि व्युत्पत्ति के अन्तर्गत प्रकृति दर्शन से काव्य प्रेरणा की उपलब्धि की चर्चा करते समय उन्होंने प्रतिभा की अवमानना नहीं की है। उन्होंने निम्नस्थ पंक्तियों में नोआखली की प्रकृति-स्थली में पुष्पछवि का उल्लेख करते समय ठाकुर गोपालशरणसिंह की भाँति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को समान महत्व प्रदान किया है—

"झूमते हैं चूम चूम सुन्दर समीर नीर,
फूलती है कविता मनोज्ञ रस-भरिता सी।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भट्ट जी ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से अधिक महत्व दिया है। उन्होंने "तक्षशिला" काव्य की रचना के लिए बौद्ध-ग्रन्थों (महावग्ग, दिव्यावदान, कल्पलता, दीपवंश, धम्म पदाख्य कथा, जातक आदि कृतियाँ), रघुवंश, बृहत्संहिता और कथासरित्सागर से यथास्थान लाभ उठा कर[3] अप्रत्यक्ष रूप से अध्ययन (व्युत्पत्ति) के काव्य-हेतुत्व को भी स्वीकृति दी है। इसीलिए उन्होंने इस कृति के विषय में यह कहा है—"मैं यह नहीं मानता कि मेरे वर्णन में नवीनता है तथा भावप्रांजलता के ऊँचे शिखर पर मैं पहुँच गया हूँ, और जो कुछ है वह मेरा अपना ही है। इस प्रकार का दावा तो कदाचित् बड़े से बड़ा कवि भी नहीं कर सकता, फिर मेरी तो गिनती ही क्या?"[4] इन पंक्तियों में पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के अनुशीलन से लाभान्वित होने को कवि का धर्म माना गया है, जो कि उचित ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य शिक्षा के महत्व का प्रतिपादन करते हुए अपने आत्म-संस्मरण में यह लिखा है—

"प्रारम्भ में मेरी इच्छा थी कि उर्दू शायरों की तरह मैं भी किसी को गुरु बनाऊँ। × × × × × मैं मानता था गुरु की प्रथा से कवि बनने वाले को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। उसकी प्रतिभा का, यदि उसमें प्रतिभा हो तो, शीघ्र विकास होता है। परन्तु इससे एक हानि भी है, कवि को गुरु-सम्प्रदाय के अधीन होने के कारण खुल कर आत्म विद्रोह करने का मौका नहीं मिलता। × × × × × फिर भी प्रारम्भ के

१. अनका (शान्ति मिशन), अमुख, पृष्ठ ५
२. एकला चलो रे, पृष्ठ १७
३. देखिए "तक्षशिला", भूमिका, पृष्ठ ६-७
४. तक्षशिला, भूमिका, पृष्ठ ११

लिए गुरु का स्थान बुरा नहीं रहता।"[1]

यहाँ काव्यशिक्षाप्रेरित अभ्यास की परम्परानुसार स्वीकृति के अतिरिक्त उसकी हानि का उल्लेख करने का श्रेय निश्चय ही भट्ट जी को है। यद्यपि इस पद्धति का यह दोष अमान्य नहीं है तथापि इस सिद्धान्त के पूर्ववर्ती प्रतिपादकों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" ने काव्य-सर्जन के प्रेरक तत्वों मे प्रतिभा और व्युत्पत्ति का एक-जैसा महत्व दिया है। *उन्होंने कलाकार को "युगनायक, प्रतिभाविभूति-मय"*[2] कह कर 'नवीन' जी की भाँति उसे हृदय की सहज प्रेरणा से काव्य प्रणयन में भाग लेने वाला कहा है। उनके मतानुसार "हृदय पर जो भावनाएँ छा जाती हैं, उनकी अभिव्यक्ति करने को हृदय विवश हो ही जाता है। इस भावना-विवशता में कविता की एक अदम्य प्रेरणा निहित होती है।"[3] इस दृष्टिकोण की सार्थकता सहज स्वीकार्य है, किन्तु उन्होंने "स्वतन्त्रता, सस्कृति और साहित्य' शीर्षक लेख मे बाबू बालमुकुन्द गुप्त की भाँति प्रतिभा का स्वतन्त्र नागरिक की सम्पत्ति मान कर निश्चय ही भूल की है। उनकी धारणा है कि "परतन्त्र व्यक्तियों की कोई सभ्यता, कोई सस्कृति नहीं मानी जा सकती और ऐसे सस्कृतिशून्य मनुष्यों की आत्मा, हृदय और मस्तिष्क ऐसे साहित्य और कला की सृष्टि नहीं कर सकते, जो वास्तविक अर्थ में साहित्य और कला कही जा सके।"[4] यह मन्तव्य बालमुकुन्द जी के दृष्टिकोण के समान ही सदोष है, क्योंकि प्रतिभा को देश, काल और स्थिति विशेष की सीमा मे बन्दी नहीं किया जा सकता, सच्ची प्रतिभा प्रत्येक परिस्थिति मे आत्म-स्फुरण कर के रहेगी। तथापि प्रस्तुत अनुच्छेद मे उल्लिखित विचारों से यह स्पष्ट है कि वे प्रतिभा को काव्य का विशिष्ट हेतु मानते हैं। इसी प्रकार उन्होंने व्युत्पत्ति के अन्तर्गत अध्ययन को भी उसका उचित प्राप्य देते हुए अपने आत्म-सस्मरण मे यह प्रतिपादित किया है, "विभिन्न भाषाओं के साहित्य के विनम्र अध्ययन का फल यह हुआ कि मेरी काव्य-धारा और चिन्तन-प्रक्रिया में गम्भीर परिवर्तन हुए।"[5] "मिलिन्द" जी की चिन्तन प्रक्रिया स्पष्टत सामाजिक अनुभूति से समृद्धि रही है। उन्होंने पूर्ववर्ती विचारकों की भाँति काव्योत्पादन मे लोक-साक्षात्कार के महत्व को स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया है। इसीलिए उन्होंने कलाकार को यह प्रेरणा दी है—"जग-मन की जागरण-ज्योति में, करो सत्य का उज्ज्वल दर्शन।"[6] "कलाकार का स्वर्ग" शीर्षक कविता की निम्नोद्धृत पंक्तियों मे भी ईश्वर से यही प्रार्थना की गई है कि वे कवि को जग के अणु अणु का परिचय प्राप्त करने की सुविधा दें—

---

१. अवन्तिका, अगस्त १९५६, पृष्ठ १८६
२. बलिपथ के गान, पृष्ठ ६६
३ बलिपथ के गान, प्रारम्भिक, पृष्ठ ४
४ चिन्तन कण, पृष्ठ २१
५. अवन्तिका, सितम्बर-अक्तूबर १९५६, पृष्ठ ३२८
६ बलिपथ के गान, पृष्ठ ६६

"लो जाने दो मुझे विश्व के सुख दुख के कोलाहल में,
मूक उपेक्षा के प्रांगन में, विस्मृति के तम-अचल में।"[1]

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि कवि लोक स्थिति-दर्शन के उपरान्त अपनी प्रतिक्रियाओ को वाणी देने के लिए काव्य सजन मे प्रवृत्त होता है किन्तु पूर्व स्थापना के अनुसार "मिलिन्द' जी कवि की इस अदम्य प्रेरणा का निश्चय ही प्रतिभा से सहज सम्बद्ध रूप मे देखना चाहते है।

काव्य का प्रयोजन

विवेच्य काव्य धारा के कवियो ने काव्य-हेतु की भांति काव्य के प्रयोजन निर्धारण की ओर भी उत्साहपूर्वक ध्यान दिया है। *सुभद्रा जी* ने काव्य से प्राप्य फलो का व्यवस्थित विवेचन नही किया है, किन्तु इस दिशा म उनकी दृष्टि वाह्यार्थनिरूपिणी न हो कर अन्त दर्शिनी रही है। उन्होने सन् १६३१ मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, झांसी की ओर से सेकसरिया पारितोषिक प्राप्त होने पर **"देश प्रेम की मतवाली को, जननी ! पुरस्कार कैसा ?"**[2] कह कर सम्पत्ति लाभ को कवि का मूल काम्य नही माना है। यद्यपि उक्त पुरस्कार को ग्रहण करने के कारण उन्होंने काव्य के इस लक्ष्य का एकान्तत निषेध भी नही किया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे इसे कवि के लिए सर्वथा प्रसग प्राप्य फल मानती हैं। इसी प्रकार झाँसी की रानी की समाधि के लिए **"पर कवियो की अमर गिरा में, इसकी अमिट कहानी"**[3] कह कर काव्य से यशोपलब्धि (कवि-वाणी के स्थिरत्व) की भी अप्रत्यक्ष रूप मे चर्चा की गई है। पाश्चात्य आलोचक स्विपट ने यह प्रतिपादित किया है कि **"कवि चाहे कुछ भी कहें, यह स्पष्ट है कि वे अपने को ही अमरता देते है, किसी अन्य को नहीं, क्योंकि हम होमर तथा वर्जिल का ही आदरपूर्ण स्तवन करते हैं न कि एचिलेस अथवा एनिएस का।"**[4] इस उक्ति के आधार पर यह मत व्यक्त किया जा सकता है कि आलोच्य कवयित्री ने रानी लक्ष्मीबाई के महामहिम चरित्र के गान द्वारा केवल मरणशील मानव के गुणोल्लेख मे उसकी स्मृति को ही सजीव-साकार नही किया है अपितु इसके माध्यम से अपने लिए अप्रत्यक्ष रूप मे यश की भी व्यवस्था की है। तथापि उनके काव्य का अनुगम विधि से अनुशीलन करने पर यह निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि वे काव्य को केवल धन और यश की प्राप्ति का स्रोत न मान कर उसके उच्चतर प्रयोजनों मे विश्वास करती हैं। उनकी निम्नांकित उक्ति भी *अप्रत्यक्ष रूप म इसी निष्कर्ष* की प्रत्यायक है—

---

१ *हंस, दिसम्बर १६३४, पृष्ठ १*
२ मुकुल, पृष्ठ १२६
३ हंस, मार्च १६४८, पृष्ठ ४६६
४ 'Whatever the poets pretend, it is plain they give immortality to none but themselves, it is Homer and Vergil we reverence and admire, not Achilles or Æneas "
(Quoted from "Dictionary of World Literary Terms", Page 155)

"मैं जिधर निकल जाती हूँ मधुमास उतर आता है।
नीरस जन के जीवन में रस घोल-घोल जाता है।।"[1]

यहाँ काव्य को मानव मन मे आनन्द विधान करने वाली रचना माना गया है। तथापि राष्ट्रीय कविता की प्रवृत्तियों के अनुकूल उनका मूल प्रतिपाद्य यह है कि काव्य श्रोता अथवा पाठक के मन म चेतना की उद्‌बुद्धि म सहायक होता है। इसीलिए उन्होंने यह कहा है "मेरे बिखरे मोती भारतीय मानवता के उत्थान में कुछ भी सहायक हो सकें, ध्वस होती हुई भारतीय सस्कृति और विचार-आदर्शों को विश्वव्यापी जन-आन्दोलन की तनिक भी गति और सामयिकता दे सकें अथवा नव भारत—स्वाधीन भारत के पुर्ननिर्माण को लेशमात्र भी क्रियाशील कर सकें तो मैं समझूँगी मैं और मेरे "बिखरे मोती" कृतकृत्य हुए।" इस मन्तव्य का कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि मे व्यक्त किया गया है, *तथापि इसे कविता का प्रयोजन मानने मे भी आपत्ति नहीं हो सकती।* यह धारणा भारतीय आचार्यों को मान्य लोक-हित सिद्धान्त का ही विस्तृत रूप है, किन्तु इसे इस रूप में व्यक्त करने का श्रेय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के कृती कवियों को ही दिया जा सकता है।

'*नवीन जी*" ने काव्य के आन्तर लक्ष्यों का ही प्रतिपादन किया है, उसके बाह्य प्रयोजनो की चर्चा उन्हें अभीष्ट नहीं है। उन्होंने वाणी की पवित्रता को काव्य का प्रथम फल मान कर "ऊर्म्मिला" काव्य के विषय मे यह लिखा है—"इस व्याज से मेरी भारती सीता-राम और ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का गुण गा सकी। × × × × × इसी में उसकी सार्थकता मानता हूँ।"[3] यह दृष्टिकोण भारतेन्दु के मन्तव्य "जो गावहिं व्रज भवत सब मधुरे सुर सुन छन्द, रसना पावन करन कों गावत सोइ *हरिचन्द*"[4] का प्रतिरूप है और कवि की सहृदयात्मक अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। तथापि उनका मूल प्रतिपाद्य यह है कि काव्य मे जन कल्याणमयी विमल भावनाओं की मन्दाकिनी के प्रवाह से मानव-मन का सस्कार ही कवि का लक्ष्य होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह कहा है, "मेरे निकट सत् साहित्य का एक ही मानदण्ड है। वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतर, अधिक परिष्कृत एव समर्थ बनाती है।"[5] "नवीन" जी ने काव्य में इस उद्देश्य की सिद्धि को कवि के लिए विशेष काम्य मान कर सहारनपुर में ब्रज-साहित्य-मडल के छठे अधिवेशन म सभा-नेता के पद से भी इसे प्रकारान्तर से इस प्रकार उपस्थित किया था—

"ब्रजभाषा-साहित्य श्रद्धा-मय है। उसमें आत्मार्पण की भावना अभिव्यक्त हुई है। उसमें शाश्वत टोह (Eternal Quest) की चीत्कार है। × × × × × और

१. त्रिधारा, पृष्ठ ६७
२ बिखरे मोती, आत्म निवेदन, पृष्ठ १२ १३
३. ऊर्म्मिला, भूमिका, पृष्ठ "ञ"
४ भारतेन्दु-ग्रन्थावली, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७४८
५ रश्मिरेखा, भूमिका, पृष्ठ ३

मेरा विश्वास है कि इस प्रकार के व्रजभाषा-साहित्य के प्रसार से हमारे अर्धदग्ध-युग की ज्वालमाला स्नेह-श्रद्धा-नीर-सिक्त हो जाएगी।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "नवीन" जी ने मानव-जीवन के आदर्शों की अभिव्यक्ति को काव्य का विशिष्ट प्रयोजन माना है। उन्होंने इसके लिए कवि को विश्व-साहित्य के अनुशीलन द्वारा नवीन भावनाओं के संचय का परामर्श देकर यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में विश्व-वेदना की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। उनके मतानुसार **"आज की हमारी आवश्यकता यह है कि हम विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आवें, हमारा मानस-गगन खिल उठे, नवीन विचार धारा हमें आप्लावित करे और हम नव विधानो-त्प्राणित हो कर काव्य-साहित्य का निर्माण करें और इस प्रकार हम हिन्दी-भाषा को विश्व-वेदना की वाणी बनाने में समर्थ हों।"**[2] काव्य में 'हित' की स्थिति का प्रतिपादन कर यहाँ पूर्ववर्ती कवि-आलोचकों के मत का ही समर्थन किया गया है तथापि यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने कवि को धर्मोपदेष्टा से भिन्न मान कर काव्य में सरसोपदेश-रूप पारमार्थिक प्रयोजन की सिद्धि को ही काम्य माना है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गए पत्र-विशेष से यह उद्धरण देखिए—

***"मैं भी उद्देश्य ले कर साहित्य पैदा करने के हक में नहीं हूँ। वैसा साहित्य स्वयं* अपना घातक होता है। उदाहरणतया आर्यसमाज ने एक उद्देश्य को ले कर छन्द रचने की कोशिश की थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि वे केवल एक भद्दे ढंग की तुकबन्दियों तक रह गए।"**[3]

कविवर सियारामशरण ने काव्य प्रणयन से स्वान्त सुख अथवा आत्मानन्द की उपलब्धि को उसका मूल प्रयोजन मान कर यह प्रतिपादित किया है कि **"कविता आत्म-सन्तोष का ही दूसरा नाम है।"**[4] यह आत्म-सुख साधारण ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न सूक्ष्म सत्ता रखता है और इसकी अनुभूति ही कृतिकार की सर्वस्व है। गुप्त जी ने 'निज कवित्त' शीर्षक लेख में इस आनन्दोन्मेष का इन शब्दों में प्रतिपादन किया है—**"अपनी रचना मुझे प्रिय जान पड़ती है। कभी कभी उसे पा कर ऐसा हुआ है, जैसे इससे आगे अब और कुछ नहीं रह गया। × × × × × एकाएक अलौकिक आनन्द में सराबोर हो उठता हूँ।"**[5] अन्तःकरण के इस सुख की उपलब्धि केवल कवि तक ही सीमित न हो कर प्रमाता के लिए भी सहज लभ्य है। आनन्द-सृष्टि में सक्षम रचना में लोकहितकारी शिक्षा का स्वर अन्तर्भावित रहता है। इसीलिए आलोच्य कवि ने "हंस" के सम्पादक के प्रति आश्विन कृष्ण १, संवत् १९९८ को लिखे गए एक पत्र में यह लिखा है, **"कविता *मेरे मत से स्वान्त सुखाय लिखी जानी चाहिए। कवि में कवित्व है, तो उसका स्वान्त सुख***

१. व्रजभारती, वर्ष ७, संख्या ३४, संवत् २००६, पृष्ठ ३
२. कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ ४
३ विशाल भारत, अक्तूबर १९३७ पृष्ठ ६७१
४ झूठ-सच, पृष्ठ ८६
५ झूठ-सच, पृष्ठ १६१

बहुजनसुखाय हो उठेगा।"[1] शिक्षा और आनन्द की इस मूलभूत एकता को लक्षित कर के ही यूनानी आचार्य अरस्तू ने यह स्थापना की है, "ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है—केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी।"[2] ज्ञान से आनन्द अथवा आनन्द से और भी अधिक ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा काव्य का उच्चतर लक्ष्य है। प्रस्तुत कवि ने "तुलसीदास" शीर्षक कविता की निम्नांकित पंक्तियों में प्रत्यक्षत इसी का उल्लेख किया है—

"सुख के गीत तुम्हारे गा कर सुख विशेष हम पाते।
दुख में हमें सान्त्वना देने वाक्य तुम्हारे आते॥"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सियारामशरण जी ने आनन्द के अतिरिक्त लोक-मानस के सात्विक अथवा ज्ञानार्जन को भी काव्य का उद्दिष्ट माना है। इसीलिए उन्होंने "कवि श्री" के विषय में यह प्रतिपादित किया है—"हमारा प्रयत्न है, "कवि श्री" जिनके हाथ में हो, वह उनकी सुसंस्कारशील रुचि का ही परिचय न दे वरन् उनकी भावनाओं का उन्नयन भी कर सके। यह उन्नयन कविता के द्वारा ही सध सकता है।"[4] काव्य रचना का यह प्रयोजन सर्वस्वीकृत रहा है, अत श्री विनयमोहन शर्मा द्वारा "उन्मुक्त" में नीति के अतिरेक का विरोध किया जाने पर[5] गुप्त जी ने विशाल-भारत सम्पादक को उत्तरस्वरूप पत्र लिखते हुए यह निश्चित धारणा व्यक्त की है कि "जो कवि या लेखक प्रचारक नहीं, वह कुछ नहीं है।"[6] काव्य में नैतिक मूल्यों के प्रति यह आस्था सर्वथा अग्राह्य नहीं है, किन्तु केवल नैतिकता को काव्य का आधारभूत तत्व मानना असंगत है। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवेच्य कवि के आनन्द और ज्ञानार्जन-सम्बन्धी विचारों का समन्वय कर लेना उपयोगी होगा। इस विधि को अपनाने पर यह कहा जा सकता है कि वे आनन्द और लोक-शिक्षा को समान महत्व देते हैं। काव्य से इन अन्तरंग प्रयोजनों की सिद्धि में विश्वास रखने के कारण उन्होंने उसके बाह्य फलों में आस्था नहीं रखी है। यद्यपि उन्होंने "आशु रचना" शीर्षक लेख में "चाहता हूँ, मेरी रचना शाश्वत हो"[7] कह कर अपनी यश:काक्षा को ही वाणी दी है, किन्तु यह सततस्थायित्व निश्चय ही रचना में शाश्वत आन्तर गुणों के समावेश से ही सम्भव है। उन्होंने "प्रबोध" शीर्षक लेख में भी केवल यश को कवि का काम्य न मान कर उसे इस लिप्सा से मुक्त हो कर मंगलदायक काव्य की रचना का सन्देश दिया है।[8] इसी प्रकार "कवि की

---

1 हंस, नवम्बर १९४१, पृष्ठ १५२
2 अरस्तू का काव्य शास्त्र, अनुवाद-भूमिका, पृष्ठ १४
3 माधुरी, सितम्बर १९२४ पृष्ठ १६६
4 "कवि श्री" की "आलोचना" में उद्धृत
5 देखिए "विशाल भारत", सितम्बर १९४१, समालोचना स्तम्भ, पृष्ठ २११
6 विशाल भारत, नवम्बर १९४१, पृष्ठ ५१२
7 झूठ-सच, पृष्ठ १२६
8 देखिए "झूठ-सच", पृष्ठ १७६-१७७

जीविका" शीर्षक लेख में भी कवि को अर्थ संचय के मोह का त्याग करने का उद्बोध दिया गया है। यथा—

"जो कवि अपनी कविता को कुछ कमाने के उद्देश्य से बाजार में ले कर बैठ जायगा, उसका पतन निश्चय है। × × × × × अन्न-वस्त्र की ही अपेक्षा है, तो उसे चाहिए कि खेत पर जा कर तपती हुई धरती में हल चलाये, मेहनत मजदूरी करे, अथवा छोटा-मोटा कोई हस्तशिल्प आता हो, तो उसका सहारा ले। वहां जा कर उसकी कविता और सप्राण हो उठेगी। श्रम के पसीने से निखर कर कविता में निर्मलता का नया सौंदर्य झलक उठता है।"[1]

यह दृष्टिकोण कवि की राष्ट्रीय विचार-धारा के सर्वथा अनुरूप है और इस पर गान्धीवाद के प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। कवि की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे शारीरिक श्रम का सन्देश देने वाले वे प्रथम कवि हैं। "स्वस्थ शरीर से चिन्तन में भी स्वच्छता आती है" की लोकोक्ति के अनुसार यह सिद्धान्त बिना किसी परिवर्तन के मान्य है, किन्तु केवल मानसिक कल्पनाओं से सन्तुष्ट रहने वाले कवि कभी इसे पूर्णता के साथ ग्रहण कर सकेंगे, इसमें सन्देह है।

पण्डित उदयशंकर भट्ट की काव्य प्रयोजन-सम्बन्धी धारणाओं का सियारामशरण जी के विचारों से पर्याप्त साम्य है। उन्होंने काव्य-कला को उच्चस्तरीय आनन्द की प्रदायिका मान कर "कला का क्रमिक विकास और यथार्थवाद" शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि "कला का उद्देश्य स्थायी आनन्द की उपलब्धि है।"[2] यह आनन्द रचना के क्षणों में पहले कवि को प्राप्त होता है और उसके बाद उससे जनता भी लाभान्वित होती है। कवि द्वारा काव्य से आत्मसुख की उपलब्धि की कामना स्वाभाविक ही है, किन्तु रचना में सौष्ठव के सचार और समाज के प्रति अपने दायित्व के निर्वाह के लिए कवि को स्वान्त सुख और बहुजन हित में समन्वय-स्थापना करनी चाहिए। भट्ट जी ने श्री लक्ष्मीनारायण दुबे से एक भेंट में इस सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त किया था— "मैं स्वान्त सुखाय के साथ समाज सुख को भी मानता हूँ। स्वान्त सुखाय रचना से क्या फायदा ? व्यक्ति का अस्तित्व समाज के लिए है। स्वान्त सुखाय का अर्थ आनन्द है। स्वान्त सुखाय को परमार्थ सुख में बदल कर ही जनता जनार्दन का कल्याण किया जा सकता है।"[3] यहाँ कवि के आनन्द की अपेक्षा काव्य से जनता के हित को अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु काव्य में परमार्थ-सुख के सिद्धान्त का पालन भी तो आनन्द का ही साधन है। इन दोनों में भेद की स्थिति होने पर भी तत्वत इन्हें एक मानना होगा, क्योंकि ये विरोधी न हो कर परस्पर उपकारक हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य में आत्म-सुख की प्राप्ति का निषेध न करने पर भी उसमें समाज-सुख की सिद्धि पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में उनके आत्म-सस्मरण से निम्नलिखित पंक्तियाँ भी उद्धरणीय हैं—

१. हंस, नवम्बर १९४१, पृष्ठ १५३
२. सरस्वती, मई १९३६, पृष्ठ ४६८
३. सर्वोदय, सितम्बर-अक्तूबर १९५६, पृष्ठ ३३७

"मैं बिना उद्देश्य के लिखने का कोई अर्थ नहीं मानता। जिसमें समाज या व्यक्ति को ऊपर उठने की प्रेरणा, बल न मिले, उसका हित न हो वह लिखना बेकार है। कला जीवन के लिए है, कला के लिए जीवन नहीं है।"[1]

"*मिलिन्द*" जी ने प्रस्तुत काव्य-सरणि के अन्य कवियों की भाँति आनन्द और शिक्षा को काव्य के मूल प्रयोजन माना है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है—"वह (कवि) साहित्य-सर्जन इसलिए करता है कि उसमें उसे आनन्द भी मिलता है और मानवता का कल्याण भी होता है।" काव्य में जीवन के उदात्त मूल्यों की अभिव्यक्ति से आह्लाद-सृष्टि की क्षमता का प्रादुर्भाव स्वाभाविक है। इसीलिए जब कवि अपने मानस-पटल पर स्वस्थ आनन्द का साक्षात्कार करता है तब उसे मानव-मात्र के लिए सुलभ बनाने के उद्देश्य से वह लोकोपदेश का भी आश्रय लेता है। "मिलिन्द" जी ने अपने आत्म-संस्मरण में इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, "साहित्य का सृजन स्वान्त-सुखाय के साथ-साथ मानवता के कल्याण के लिए भी होना चाहिए।"[2] जीवन के लिए मंगलकारी भावनाओं की अभिव्यञ्जना से आत्म-सन्तोष प्राप्त करना कलाकार के लिए दुष्कर भी नहीं है। वस्तुतः "**कलाकार की आत्मा और हृदय के संस्कार जब लोककल्याण की भावना के साथ समरस हो जाते हैं, तब उसका आत्मप्रकाशन भी स्वभावतः लोक-कल्याणकारी ही सिद्ध होने लगता है।**"[3] काव्य में भाव रीति की तादात्म्यजनित व्यञ्जना से अनिर्वचनीय आह्लाद की उपलब्धि निश्चय ही काव्य का सन्तुलित प्रयोजन है। "मिलिन्द" जी इस विषय में सतत सजग-सचेष्ट रहे हैं, उनका "**सदा यह यत्न रहा है कि वह जो कुछ लिखें, उसमें सुरुचि का वह संस्पर्श अवश्य रहे, जो मानव को उठाता है, गिराता नहीं।**"[4] इसी प्रकार उन्होंने अपने व्यंग्य चित्रों के विषय में भी यही कहा है—"**इन्हें मैंने स्वयं अपने तथा जनता के लाभ और हित की दृष्टि ही से लिखने का यत्न किया है।**"[5] अतः यह सिद्ध है कि काव्य में आह्लाद के परिपाक के अतिरिक्त नैतिक भावना की भी प्रतिष्ठा रहनी चाहिए।

"मिलिन्द" जी ने काव्य-सर्जन से लभ्य प्रासंगिक सिद्धियों में से यश और अर्थ के संचय को कवि के लिए एकमात्र साध्य नहीं माना है, किन्तु वे उन्हें उसके लिए प्राप्तव्य अवश्य मानते हैं। जहाँ उन्होंने "सन्त तुकाराम" शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि "***जो कवि केवल ख्याति, धन या अन्य सांसारिक प्रलोभनों के कारण ज़बर्दस्ती अपना*** **पांडित्य बघारा करते हैं, उनकी रचना का प्रचार उतना नहीं होता, जितना केवल आत्म-**

---

१. अवन्तिका, अगस्त १९५६, पृष्ठ ७८६
२. सांस्कृतिक प्रश्न, पृष्ठ ४५
३. अवन्तिका, सितम्बर अक्तूबर १९५६, पृष्ठ ३२८
४. चिन्तन-कण, पृष्ठ १४
५. गौतम नन्द, प्रारम्भिक, पृष्ठ १०
६. दिल्ली का नवदेदन, प्रारम्भिक, पृष्ठ २

सन्तोष के लिए लिखने वाले भोले-भाले कवियों की सरल वाणी का होता है,"[1] वहाँ उन्होंने "रेखाओं और रंगों की भाषा" शीर्षक लेख में यह उल्लेख किया है—"न केवल जीवित और स्वस्थ रहने के लिए, बल्कि, प्रोत्साहित और उल्लसित होने के लिए भी, कलाकार को यश और धन के रूप में उचित पुरस्कार-प्रतिष्ठा की स्वाभाविक अपेक्षा होती है।"[2] इन उक्तियों में कवि का मन्तव्य स्वतः स्पष्ट है—काव्य के सर्जक को यश और सम्पत्ति के प्रति मोह नहीं रखना चाहिए। उनका प्रतिपाद्य यही है कि धन की लालसा से प्रशस्तिपरक काव्य की रचना करना अथवा गम्भीर कृति के लिए अपेक्षित साधना को न अपना कर केवल स्नायविक उत्तेजना को शान्त करने वाली स्थूल ख्याति-दायिनी कविताओं को प्रस्तुत करना कवि का ध्येय नहीं होना चाहिए।[3] यद्यपि काव्य से यशेच्छा की पूर्ति अथवा आर्थिक पुरस्कार की प्राप्ति की आशा रखना अपराध नहीं है, तथापि कवि के मन में इस आशा का उदय रचना की समाप्ति के उपरान्त होना चाहिए —काव्य-सृजन के समय उसके चित्त में पावनता और निष्काम भाव की स्थिति ही अभि-प्रेत है। "मिलिन्द" जी ने इस धारणा को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"साहित्य के निर्माण के क्षणों में भी साहित्यकार में अर्थ-लाभ की आकांक्षा की मनोवृत्ति नहीं रहनी चाहिए। × × × × × किन्तु, जब इस पवित्र भावना के साथ साहित्य का निर्माण हो चुके, तब साहित्यकार को यह आशा और आकांक्षा रखने का न्यायोचित अधिकार हो सकता है।"[4] इससे स्पष्ट है कि आलोच्य कवि ने काव्य के प्रयोजन पर मूलतः प्रभाता की दृष्टि से रख कर विचार किया है, किन्तु कवि को प्राप्य फलों के प्रति भी उन्होंने सन्तु-लित विवेक का परिचय दिया है।

काव्य के तत्व

प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय कवियों में से "नवीन", उदयशंकर भट्ट और "मिलिन्द" ने काव्य के तत्वों के विवेचन में विशेष भाग लिया है, सुभद्राकुमारी इस ओर साधारण रूप से सचेष्ट रही हैं और सियारामशरण ने इस दिशा में ध्यान ही नहीं दिया है। सुभद्रा जी ने काव्य के तत्वों का सांगोपांग विवेचन न कर केवल काव्य में अनुभूति की सार्थकता का कथन किया है। उन्होंने अनुभव-समृद्ध रचना की स्वाभाविकता को काव्य का आदर्श मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि कल्पनाप्रसूत भावनाओं में कवि औदार्य का समावेश करने में किसी सीमा तक असमर्थ रहता है। इसीलिए उन्होंने प्रथम भारतीय महिला-कवि-सम्मेलन के मंच से यह प्रतिपादित किया था—

"साहित्य के क्षेत्र में स्त्रियों का आना अत्यन्त आवश्यक है। स्त्रियों के सहयोग के बिना मानव-साहित्य सम्पूर्ण नहीं हो सकता। एक पुरुष किसी पुरुष की हृदयानुभूति को

---

१. चिन्तन-कण, पृष्ठ ४८
२. सम्सामयिक प्रश्न, पृष्ठ १३
३. देखिए "मुक्तिका", पृष्ठ ११ तथा ११८
४. साम्प्रतिक प्रश्न, पृष्ठ ४६

सफलतापूर्वक प्रकट कर सकता है। परन्तु जब वह स्त्रियों की अनुभूति को प्रकट करने जाता है, तब उसे विवश हो कर कल्पना से ही काम लेना पडता है। उदाहरणार्थ मनों की मनोभावना, वधू के उल्लास और माता के वात्सल्य का पुरुषों द्वारा किया हुआ वर्णन सेकेंड हैंड ही रहेगा, क्योंकि पुरुष इन उदात्त अवस्थाओं का अनुभव कर ही नहीं सकते।' [1]

मनोविज्ञान-सम्मत होने के कारण इस दृष्टिकोण का औचित्य सहज स्वीकार्य है। मानव मन के आनतर म काव्य के इस शाश्वत सत्य को प्राप्त करने का श्रेय सुभद्रा जी को सहज ही दिया जा सकता है। यद्यपि सूर और तुलसी द्वारा वात्सल्य एव शृगार रसों का निरूपण काव्य क्षेत्र मे चिर-प्रशसित रहा है तथापि यह कैसे कहा जा सकता है कि समान प्रतिभाशाली नारी द्वारा इन स्वानुभूत मनोदशाओं का सविस्तर उल्लेख इतना ही अथवा इनसे अधिक मनोहारी न होगा ?

"नवीन" जी ने माखनलाल चतुर्वेदी और दिनकर की भाँति काव्य मे अनुभूति (सत्य) की व्याप्ति पर विशेष बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अनुभूति-समृद्ध कवि कथन मे अतिबौद्धिकता, असम्बद्धता और अस्पष्टता जैसे काव्य-दूषण नहीं आने पाते। उनके मतानुसार "**यदि हमारी अनुभूति में कोई विडम्बना नहीं है तो हमारा वर्णन भी स्वच्छ एव निर्धूम होगा, अत हमारे कवियों को स्पष्टता की ओर ध्यान देना चाहिए।**"[2] अनुभूति की सरल मार्मिकता ने काव्य-भावना की समृद्धि उन्हें अन्यत्र भी स्पष्ट रूप में मान्य रही है।[3] यह उचित भी है, क्योंकि जो कवि जगत् में अपना दृष्टि-क्षेत्र जितना ही विशाल रखता है उसे काव्य-रचना मे उतनी ही सफलता मिलती है। इसके लिए वह अपने पूर्वानुभवों और वर्तमान अनुभवों को तो चिन्तन के आधार पर व्यक्त करता ही है, अभिव्यक्ति की सुकरता के लिए उसे कल्पना भी यथास्थान ग्राह्य रहती है। "नवीन" जी के मत से भी "**कलाकार या तो स्वय अपने निजी जीवन में और या फिर अपने सवेदना-युक्त हृदय की कल्पना के द्वारा बहुत से रागों की अनुभूति करता है और उनकी सृष्टि करता है।**"[4] कवि की इस प्रतिभा शक्ति को लक्षित कर के ही पाश्चात्य आलोचक वर्नफोल्ड ने कहा है—"**कवित्व-गुणों का विकास प्राय उन्हीं व्यक्तियों में होता है जो वास्तविक अनुभूति के अभाव में भी तदनुरूप भाव-ग्रहण में सक्षम होते हैं।**"[5] इससे स्पष्ट है कि कवि अनुभूति को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनों रूपों में प्राप्त करता है, किन्तु प्रश्न यह है कि अनुभूति को अप्रत्यक्ष रूप मे ग्रहण करने की आवश्यकता ही क्या है ? इसका समाधान सहज है—काव्यगत सत्य को मगलमय और सौन्दर्यानुप्रेरित रखने के लिए कवि

---

१. सुधा, म० १९३३, पृष्ठ ३२७
२ कुकुम, कुछ बातें, पृष्ठ १७-१८
३. देखिए "चनना" (बाबूराम पालीवाल), "नवीन" जी का आशीर्वाद, पृष्ठ ५
४ कुकुम, कुछ बातें, पृष्ठ ६
५ "The poetic gifts are generally found in men who can realize what they portray without actually experiencing it."
(The Principles of criticism, Page 169)

की कल्पना का आश्रय लेना ही होगा।

"नवीन" जी ने काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर की परस्पर अन्तर्व्याप्ति को कवि कृति का आदर्श माना है। उनके अनुसार "असत् एवं असुन्दर के प्रति विराग तथा सत् एवं सुन्दर के प्रति अनुराग उत्पन्न करना एवं जीवन में जो कुछ अनमिल है उसका लोप करके उसमें समता एवं सामंजस्य को स्थापित करना कलाकार का काम है।"[1] काव्य के इन तत्वों में से उन्होंने सदसत् का विवेक करने वाले सद्भावों को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने इस प्रकार की रचना को अध्येता के चित्त में स्नेह, श्रद्धा, चिन्तन शक्ति आदि विविध गुणों को जागृत करने वाली मान कर यह प्रतिपादित किया है—

"वही साहित्य सत् है, वही साहित्य कल्याणकारी एवं सुन्दर है जो मानव को स्नेहमय, श्रद्धाभरित, विचारवान् तथा चिन्तनशील बनाता है। वही साहित्य सत् है जो मानव में निरलस एवं निस्वार्थ कर्म-रति जागृत करता है। वही साहित्य सत है जो मानव को सर्वभूत हित की ओर प्रवृत्त करता है। वही साहित्य सत् है जो मानवीय संकुचित वृत्तियों को अतिक्रमित करने तथा मानव "स्व" को विस्तृत करने में मानव का सहायक होता है।"[2]

इससे यह स्पष्ट है कि जो काव्य सर्वभूत के हित का प्रतिपादन कर मानव को स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा प्रदान कर सकता है वही सत् तत्व से युक्त होता है। इसीलिए काव्य के सत् को वस्तुगत यथार्थ सत्य से भव्य माना गया है। लोकमंगल और आनन्द से समन्वित होने पर यह सत्य मानव चेतना के लिए अधिक ग्राह्य बन जाता है। इन तीनों तत्वों में सहवास की स्थापना काव्य का लक्ष्य है—

"बिना सत्य शिव के रहत सुन्दर सदा अपूर्ण,
त्यों सुन्दर बिनु सत्य शिव, किमि हुँ है सम्पूर्ण ?"[3]

कवि श्री उदयशंकर भट्ट ने काव्य के सभी तत्वों की पर्यालोचना न कर केवल अनुभूति की महत्ता को स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्य को जीवन के सुख और दुख की अभिव्यक्ति का साधन मान कर यह प्रतिपादित किया है कि "सुख-दुख रूपी दो पत्थरों की रगड़ से कविता की भी अभिव्यक्ति हुई है। यह दूसरी बात है दोनों में कोई प्रधान रही हो और कोई गौण।"[4] जीवन की ये दोनों भावनाएँ व्यक्ति-मात्र की अनुभूति की अंग हैं, किन्तु काव्य में प्रवेश पाने पर इनका स्वरूप अधिक स्पष्ट, संवेदनापूर्ण और महत्तर हो जाता है। कवि जीवन के सत्य को प्रतिपादित करने के लिए वस्तु-जगत्-दर्शन के अतिरिक्त अन्त चेतना का भी आधार लेता है। अन्तर्मुखी दर्शन अथवा निसर्ग चिन्तन से पुष्ट होने पर ही कवि की भावना में मानव-सत्य का भव्य प्रतिपादन होता है और उसे सार्वभौम तथा सार्वकालिक रूप की उपलब्धि होती है। इसीलिए आलोच्य कवि ने कहा है—

---

१ कुंकुम, कुछ बातें, पृष्ठ १०
२. रश्मिरेखा, भूमिका, पृष्ठ ३
३ ऊर्मिला, पंचम सर्ग, पृष्ठ ४५५
४ विसर्जन, भूमिका, पृष्ठ "स"

"कवि का जीवन अपने बाहर और भीतर सौन्दर्य में आवृत सत्य की सृष्टि करना है या उसका उद्घाटन, यही सदा से उसका ध्येय भी रहा है। ध्येय के प्रति निष्ठा में उसकी तन्मयता जागरूक होती है। वह अन्तर्मुख हो जाता है, तभी उसकी कविता रूप ग्रहण करती है और जीवन के तेजोमय स्तर पुस्तक के पन्नों की तरह से खुलते चले जाते हैं, तभी शाश्वत सत्य की सृष्टि होती है।"[1]

यहाँ अनुभूति-सम्पन्न काव्य के मननस्थायित्व की विवेकसंगत चर्चा की गई है। वस्तुतः अनुभव पुष्ट रचना में भावना के अभाव का जो तत्त्व प्रसार रहता है वह अमूर्त विचार रूपों के परिणाम में भिन्न होने के कारण काव्य को अनिश्चित दिशा की ओर न ले जा कर उसे सुस्पष्ट भाव-दीप्ति प्रदान करता है। भट्ट जी ने "वैदेही" शीर्षक कविता में इस धारणा को इस रूप में उपस्थित किया है—

"यह पावन अनुभूति आत्मा की अक्षय,
काव्यों में मूर्त कर देती प्राण-बल।"[2]

प्रस्तुत काव्य धारा के इतर कवियों की भाँति *श्री जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द"* ने भी काव्य में अनुभूत विषयों के चित्रण पर विशेष बल दिया है, किन्तु 'दिनकर' तथा 'नवीन' के समान सत्य को शिव और सुन्दर से अभिषिक्त करना भी उन्हें सहज इष्ट है। काव्य में कल्पना के आतिथ्य के स्थान पर अनुभूति की स्वच्छता के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य "दिनकर" के अनुरूप है—"साहित्य-सर्जन निराधार आकाशकुसुम का सर्जन नहीं है, उसके लिए मूलाधार, पृष्ठभूमि, वातावरण आदि की आवश्यकता होती है। इन सब का मूल है अनुभूति और अनुभूति की वास्तविकता और परिपक्वता जनसम्पर्क तथा प्रकृतिसम्पर्क की स्वाभाविक अपेक्षा रखती है।"[3] जीवन-दर्शन और प्रकृति-सत्य के साक्षात्कार से काव्य में स्वाभाविकता और मार्मिकता का सचय असन्दिग्ध है। इसीलिए "मिलिन्द" जी ने कल्पनामूलक काव्य के प्रति व्यंग्य करते हुए अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—

"समकालीन परिस्थितियों से अपने हृदय को बिलकुल अछूता रख कर अनुभूत विषयों के अनुमान पर आधारित केवल कल्पनाओं ही को कविता का आधार बनाना भी कला की एक कोटि हो सकती है। पर, × × × × × मेरी ये कविताएँ उस कोटि से भिन्न हैं और मुझे इस भिन्नता में कोई संकोच नहीं है।"[4]

यहाँ कल्पना के प्रति अस्वीकृति न रख कर उसे गौण रूप में ग्रहण करने का प्रतिपादन किया गया है। साधारणतः प्रतीति यही होती है कि वे कवि-कृति में कल्पना की प्रतिष्ठा के विरोधी हैं, किन्तु मूलतः उनका प्रतिपाद्य यह नहीं है। इसीलिए उन्होंने रचना में कल्पना की उच्चता और अनुभूति की गम्भीरता को एक साथ काम्य मान कर

---

१ अलका, (शान्ति निकेतन), पृष्ठ ५
२ अन्तर्दर्शन तान चित्र, पृष्ठ ४७
३ सांस्कृतिक प्रश्न, पृष्ठ ४४
४ बलिपथ के गान, प्रारम्भिक, पृष्ठ ३

यह प्रतिपादन किया है—"हृदयस्पर्शी कविता के लिए कल्पना की उच्चता के साथ साथ भावना की तीव्रता की भी आवश्यकता होती है। अनुभूति की गहराई के बिना भावना की तीव्रता असंभव है।"[1] इससे स्पष्ट है कि काव्यगत अनुभूति के रस को वर्द्धमान करने में कल्पना की सजीवता सहायक होती है। इस दृष्टिकोण को और भी परिपक्व रूप देते हुए उन्होंने काव्य में सत्य (जीवन की सुख दुखात्मक उपलब्धियाँ), शिव (चिन्तन) और सुन्दर के सहभाव का निम्नांकित काव्य स्थलों में स्पष्ट उल्लेख किया है—

(अ) "कला हृदय के अनुभव-रस के स्वर का प्रतिपद पर कम्पन है,
चिन्तन, जीवन और वेदना, तीनों का यह अमर मिलन है।"[2]

(आ) "जो "सत्य" और "शिव" ऋषियों का,
युग युग का है अभिमान, प्रिये।
नयनों में, उर में रखा उसे
मैंने तो "सुन्दर" मान, प्रिये॥"[3]

काव्य के भेद

प्रस्तुत कवियों ने काव्य-रूप विवेचन के अन्तर्गत महाकाव्य और गीतिकाव्य के स्वरूप का संक्षिप्त, किन्तु सजग उल्लेख किया है। महाकाव्य के विषय में *श्री बालकृष्ण शर्मा "नवीन"* द्वारा केवल उसकी कथावस्तु पर विचार किया गया है। उन्होंने आधुनिक युग में महाकाव्यों की रचना की ओर कवियों की विशेष प्रवृत्ति न देख कर प्रथमतः यह प्रतिपादित किया है कि कवियों को इस ओर से विमुख नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से उन्होंने महाकाव्य रचना न हो पाने के कुछ कारण (गद्य विकास के फलस्वरूप पद्य-नियमों के प्रति साहित्यकार की अरुचि, मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन, वर्तमान जीवन की संकुलता और द्रुतगतिमत्ता) प्रस्तुत करते हुए उनसे पूर्ण असहमति दिखाई है।[4] इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है—"सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों के ऊपर इस प्रकार कथा के विकास को आधारित करना कुछ अंशों में लाभप्रद होते हुए भी कुछ अंशों में अवैज्ञानिक भी है।"[5] इससे यह स्पष्ट है कि "नवीन" जी ने महाकाव्य के विषय में मौलिक दृष्टि से चिन्तन करने का प्रयास किया है। उन्होंने समाख्यान-काव्य की कथावस्तु को मुख्यतः कवि की अनुभूति से और साधारणतः कल्पना से परिपुष्ट होने वाली माना है। कवि की अनुभूति प्रवणता को वस्तु की मौलिकता के लिए मूलाधार-रूप मान कर उन्होंने महाकाव्य के लिए विषय निर्वाचन के सम्बन्ध में यह कहा है—"वस्तुतः अभिनवता, नवीनता, मौलिकता बहुत अंशों में कलाकार की

---

१. नवयुग के गान, आरम्भिक निवेदन, पृष्ठ ५
२. क्वासि के गान, पृष्ठ ६६
३. अर्चन-अर्पण, पृष्ठ १६
४. देखिए "उर्मिला", भूमिका, पृष्ठ "घ-च"
५. उर्मिला, भूमिका, पृष्ठ "ट"

अनुभूति पर अवलम्बित है। अतः काव्य के लिए ऐतिहासिक-पौराणिक विषय, केवल मात्र चर्वित-चर्वण के तर्क के आधार पर, त्याज्य या वर्ज्य नहीं हो सकते।"[1] यहाँ यह उल्लेख्य है कि "नवीन" जी ने काव्य कारण निर्धारण करते समय अनुभूति अथवा लोक-दर्शन (व्युत्पत्ति) को प्रतिभा के साहचर्य में पल्लवित होते हुए देखना चाहा है और अनुभव-समृद्ध कवि द्वारा प्रतिभा के बल पर अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमता की प्राप्ति असन्दिग्ध है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति और अनुभूति के आधार पर परम्परागत विषय को भी नूतन अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है। "नवीन" जी ने "सखि कल्पने, देख तो यह आनन्द और उल्लास महा"[2] जैसी पंक्तियों द्वारा इस विषय में अप्रत्यक्षतः यह भी निरूपित किया है कि कवि कल्पना के माध्यम से चर्वित विषय को भी अभिनव रूप में ग्रहण कर सकता है। अनुभूति और कल्पना के माध्यम से पुरातन को नूतन रूप प्राप्त होने की यह स्थापना उचित ही है।

प्रस्तुत काव्य धारा के अन्य कवियों में से प० *उदयशंकर भट्ट* ने गीतिकाव्य का सजग विवेचन उपस्थित किया है। उन्होंने श्री शिवचन्द्र नागर की "ऊर्मि" शीर्षक काव्य-कृति की समीक्षा करते हुए इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

"गीति तत्व सार्वभौम है। प्रत्येक प्राणी उससे प्रभावित होता है। स्वर और वाणी के संयोग से गीत की रचना हुई है, इसलिए जहाँ वह व्यक्ति-सापेक्ष है, वहीं वह समाजगत भी है। सुख, दुख, विरह, आनन्द को वैयक्तिक रूप में रख कर जब कवि समाजगत बनता है, तभी वह सहृदय-जन-संवेद्य होता है। गीत का यह रूप सभी भाषाओं में एक-सा है। हिन्दी में भी गीतों का यही रूप है। गीतों में बहुधा आत्म-समर्पण का रूप प्रधान होता है, छन्द और लय उसकी गति है, जिनके द्वारा हृदय में नवीन चेतना-स्फूर्ति का सृजन होता है।"[3]

इस स्थल तक विचारित कवियों में गीतिकाव्य का विवेचन भट्ट जी ने ही प्रस्तुत किया है, किन्तु काल क्रम की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगामी प्रकरण के छायावादी कवि इस सम्बन्ध में इनसे पूर्व मत प्रतिपादन कर चुके थे। भट्ट जी का यह विवेचन निश्चय ही कवि "निराला" और महादेवी जी के बाद का है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में कवियों के प्रवृत्तिगत वर्गीकरण के फलस्वरूप यहाँ भट्ट जी की गेय-काव्य-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा। उन्होंने इस दिशा में मुख्यतः तीन बातों पर प्रकाश डाला है—१ प्रगीत काव्य में कवि का आत्म-प्रकाशन प्रधान रहता है, २. गीतिकार को अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत रहना चाहिए, ३ गीतों में लय अथवा कला-सौष्ठव की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इनमें से प्रथम दो तत्वों को गीति-काव्य की आत्मा और अन्तिम को उसका शरीर कहा जा सकता है।

१. ऊर्म्मिला, भूमिका, पृष्ठ "घ"
२. ऊर्म्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ ७५
३ सरस्वती, जनवरी १९५४, पृष्ठ ५१

सामाजिक चेतना के अनुभवगम्य आत्मगत रूप का प्रतिपादन काव्य के सभी भेदों के लिए सार्थक है, किन्तु अपनी संक्षिप्तता में भी पूर्ण इकाई के रूप में सामने आने वाले गीतिकाव्य में वह निश्चय ही विशेष काम्य है। लय संयोजन की रमणीयता भाव-तत्त्व के प्रभाव की तीव्रता में सहायक होती है। अतः यह स्पष्ट है कि भट्ट जी ने प्रगीत काव्य की स्वरूप मीमांसा में युक्तियुक्त दृष्टिकोण अपनाया है।

काव्य के वर्ण्य विषय

प्रस्तुत काव्यांग के निरूपण में सुभद्रा जी ने सामान्य रूप से तथा भट्ट जी एवं "मिलिन्द" जी ने विशेष रूप से भाग लिया है। सुभद्रा जी ने अपने समसामयिक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों की भाँति काव्य में व्यक्तिपरक भावनाओं की तुलना में समष्टिपरक भाव धारा की उत्साहमूलक अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार कवि को केवल स्व के वृत्त में बन्दी न रह कर समाज और राष्ट्र के निर्माण में सहयोगी परिस्थितियों के मूर्तिमत चित्रण की ओर ध्यान देना चाहिए। इसीलिए उन्होंने "प्रार्थना" शीर्षक कविता में अपने हृदय की प्रतिक्रिया को इस प्रकार वाणी दी है—

> "क्या अपनी ही लिख दूँ मैं,
> नीरस-सी करुण कहानी ?
> पर किस मतलब का होगा,
> आँखों का खारा पानी ?"[1]

स्व की सीमा से मुक्त होने पर कवि द्वारा समष्टि के लिए चिन्तन करना स्वाभाविक है और इस दृष्टिकोण की विशिष्ट परिणति तत्कालीन वातावरण के अनुकूल देश-भक्ति के महोच्चार में ही हो सकती थी। प्रस्तुत कवयित्री ने "जरा ये लेखनियाँ उठ पड़ें, मातृ भू को गौरव से मढ़ें"[2] कह कर लोक-भावना के इसी उदात्त रूप का परिचय दिया है। उन्होंने कवि को जननायक का रूप दे कर उसे देश को राजनीतिक परतन्त्रता से मुक्त कराने वाला मानते हुए अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—

> "भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
> बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
> है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं,
> फिर हमें बतावे कौन ? हन्त !
> वीरों का कैसा हो वसन्त ?"[3]

इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने देशोद्धार के लिए जन शक्ति के उद्बोधन को काव्य का मूल वर्ण्य माना है, किन्तु उनकी पारिवारिक स्नेह से सम्बद्ध कविताओं का पर्यवेक्षण करने पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य में व्यक्तिपरक भावनाओं की स्थिति

---

१. चाँद, फरवरी १६३२, पृष्ठ ४७०

२. मुकुल, पृष्ठ १०६

३. मुकुल, पृष्ठ १२७

का निषेध नहीं किया है।

श्रीयुत उदयशंकर भट्ट ने कवि जगत् की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल कलाकार को सर्वद्रष्टा मान कर यह प्रतिपादित किया है कि "जिसको जग ने कभी न देखा, वह मेरे प्रिय कवि ने देखा।"[1] इस सामर्थ्य से सम्पन्न व्यक्ति के लिए वर्ण्य विशेष की सीमाओं में बँधने का प्रश्न ही नहीं उठता। भावोन्मेष के क्षणों में वह सृष्टि के किसी भी तत्व को रसात्मक अभिव्यंजना प्रदान करने के लिए तत्पर हो सकता है। इसीलिए उन्होंने अपने आत्म-संस्मरण में यह उल्लेख किया है—"मैंने किसी वाद को लक्ष्य में रख कर कोई रचना नहीं की।"[2] काव्य के लिए विषय निर्वाचन करते समय उन्होंने कवि को प्रेम और राष्ट्रीय तत्व को ग्रहण करने का सन्देश दिया है। उन्होंने लौकिक प्रेम को प्रकट करने वाली कविताओं के विषय में कहा है—

"कवि का यही रूप शाश्वत है। लौट फिर कर सभी कवि इसी मार्ग पर आए हैं और इस प्रकार की कविता का इतिहास अपरिमित है। और निश्चय ही कविता का प्रारम्भ तो विरह से ही हुआ है इसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।"[3]

यहाँ प्रेम को सृष्टि के सर्वप्रधान भाव के रूप में ग्रहण करते हुए उसकी स्वानुभूति अथवा आदि कवि वाल्मीकि की भाँति उसकी लोकगत स्थिति के दर्शन से काव्य की उद्भूति मानी गई है। प्रेम की रागात्मक चेतना से काव्य में रस विधान का लक्षित कर के ही ध्वन्यालोककार ने कहा है, "वही अर्थ (प्रतीयमान रस) काव्य की आत्मा है, इसीलिए आदि काल में क्रौंच-युगल के विरह से आदि कवि वाल्मीकि के हृदय में उत्पन्न शोक श्लोक-रूप में अभिव्यक्त हुआ।"[4] भट्ट जी ने काव्य में प्रेम अथवा विरह को स्थान देने के विषय में इसी सिद्धान्त का अनुगमन किया है। यद्यपि प्रेम-वर्णन को कवि-मात्र के लिए अनिवार्य मानना कुछ अंशों में अनुचित स्थापना है (भूषण के काव्य में लौकिक प्रेम का अभाव इसका प्रमाण है), तथापि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश कवियों ने उसे अल्पाधिक रूप में वाणी अवश्य दी है।

भट्ट जी का मूल प्रतिपाद्य काव्य में राष्ट्र-प्रीति के उल्लेख को प्रोत्साहन देना है। उनके मतानुसार "साहित्य जातीय जीवन के उत्थान और पतन की प्रतिच्छाया है।"[5] तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण न्योछावर करने वाला सैनिक कवि को काव्यस्फूर्ति देने वाला है, "तुम (सैनिक) कवि की अन्तस्स्फूर्ति बनो, कविता के प्राण विमान बनो।"[6]

---

१. मानसी, पृष्ठ ४७
२. अवन्तिका, अगस्त १९५६, पृष्ठ २०६
३. उन्माद (मदनलाल "मधु"), भट्ट जी की भूमिका, पृष्ठ "ग-घ"
४. "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तया चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥"
(हिन्दी ध्वन्यालोक, १।५, पृष्ठ ४३)
५. भक्त-पंचरत्न (सम्पादक—उदयशंकर भट्ट), पृष्ठ ६
६. अमृत और विष, पृष्ठ १३

इन उक्तियों में देश-भक्ति के उत्साहमूलक उच्चार को कविता की प्रवृत्ति-विशेष माना गया है। परतन्त्र राष्ट्र की धमनियों में स्फूर्ति सचार की दृष्टि से ही नहीं, स्वतन्त्र नागरिकों की हीन-क्षीण भावनाओं को राष्ट्र-समृद्धि की ओर प्रेरित करने के विचार से भी काव्य में राष्ट्रीय-चेतना की अभिव्यक्ति का अपार महत्व है। भट्ट जी ने इसके लिए कवि को यह सन्देश दिया है कि उसे प्रगतिवादी दृष्टिकोण के अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और साम्यवाद के आधार पर जीवन-संघर्षों का ही चित्रण नहीं करना चाहिए, अपितु उसका ध्येय भारत की अतीतकालीन सांस्कृतिक समृद्धि के स्वच्छ निरूपण द्वारा आत्म-संस्कार प्रेरणा की उपलब्धि होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है, "मैं प्रगतिवाद में विश्वास करते हुए भी, उसकी आर्थिक योजना की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी भारतीय जीवन के परम्परा प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक में विश्वास करने को बाध्य हो गया हूँ।"[1] यह दृष्टिकोण कवि की सन्तुलित विवेक-दृष्टि का परिचायक है। आर्य संस्कृति की भव्य भावनाओं से समृद्ध भारत भूमि में रह कर साम्यवादी वातावरण में श्वास ग्रहण करने के कारण इस देश के महत्तर जीवन मूल्यों को ही बदल डालने का प्रयास निश्चय ही अभिशंसनीय है। भट्ट जी भारत की विगत समृद्धि के प्रति सहज आस्थावान् रहे हैं, अतः उन्होंने "कविता" शीर्षक कविता में देश की अतीत गरिमा को परतन्त्र भारत की राष्ट्रीय जीवन-धारा के लिए प्रेरणाप्रद मान कर कविता को निम्नलिखित शब्दों में सम्बोधित किया है--

> "तूने भारत के देखे दिन सुखमय अविकल मन से,
> तूने निर्माण किए हैं, युग अपने वैभव बल से।
> फिर हममें फूंक निरन्तर, प्रक्षुण्ण शक्ति, अनथक बल,
> तैंतीस कोटि कंठों में, जय जय जय ध्वनि हो अविरल॥"[2]

श्री जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" ने "प्रमपथ", महावीरप्रसाद द्विवेदी, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त आदि की भाँति काव्य में शृंगार चित्रण के अतिरेक का विरोध करते हुए यह मत व्यक्त किया है, "यह हमारी कला का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसका विकास एकांगी रूप में हो रहा है और उसका प्रधान आधार नारी के अमर्यत चित्रण को बनाया जा रहा है।"[3] प्रस्तुत काव्य धारा के पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उनका प्रतिपाद्य भी यही है कि "अब समय आ गया है कि नए युग का कवि जनदेवता की, मानवता की भी कुछ उपासना करे, उसके लघु, पीड़ित, दलित, शोषित तथा उपेक्षित अंग की भी।"[4] यहाँ काव्य में मानवतावादी दृष्टिकोण को ग्रहण करने और सर्वहारा संस्कृति की स्थापना में योग देने को कवि का कर्तव्य माना गया है। इस मन्तव्य को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में व्यक्त किया गया है, अतः इसमें रागात्मकता और

१ यथार्थ और कल्पना, भूमिका, पृष्ठ 'ड'
२. माधुरी, वैशाख, संवत् १९८८, पृष्ठ ४७१
३ चिन्तन-कण, पृष्ठ २०
४ मुक्ति की अनुभूति, भूमिका, पृष्ठ ५

स्थिर प्रभाव क्षमता का सहज सन्निवेश है। "मिलिन्द" जी ने काव्य-वर्ण्य को शाश्वतिक रूप देने के लिए कवि को वस्तु के निकट सम्पर्क में रहने का उद्बोध दिया है। उनके अनुसार "स्वाभाविक कविता का सृजन किसी के प्रति, भले ही वह व्यष्टि हो या समष्टि, अकृत्रिम स्नेह और निकटस्थ तादात्म्य ही से सम्भव होता है।"[1] काव्य-वस्तु के प्रति इस भाव के अभाव में कवि उसे वाणी में प्रकट भले ही कर दे, किन्तु उसमें प्राणों की अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं बनने पाता। इसके लिए उसे वर्ण्य वस्तु का अन्तर्बाह्य परिचय प्राप्त करना होता है। इसीलिए 'मिलिन्द' जी ने कवि "दिनकर" की भाँति काव्य में अनुभूत विषयों के चित्रण का विरोध कर के कृतिकार की कल्पना के स्थान पर शुद्ध-बुद्ध अनुभूति का आधार लेने का परामर्श दिया है। यथा—

(अ) "जो कुछ लघु, जो मूक, उपेक्षित,
जो उत्सर्गशील, जो विस्मृत।
जो कुछ वंचित जग में, वह सब
कवि का जीवनधन, चिर-आदृत॥"[2]

(आ) "रस के अन्वेषक, नभ की रंगीन कल्पना छोड़,
भू पर उतरो, रचना को दो नई दिशा का मोड़।
छोड़ो प्रिय, प्रियतमा और बहु पूजित यह भगवान,
यह इनसान उपेक्षित है, अब इसको करो महान॥"[3]

इन उद्धरणों में स्पष्ट है कि "मिलिन्द" जी ने काव्य में परम्परागत विषयों को स्थान देने का विरोध कर कवि को समकालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल विषय निर्वाचित करने का उद्बोधन दिया है। काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक विचार-धारा का रचनात्मक उल्लेख निश्चय ही प्रशंसनीय है, किन्तु इसके लिए भक्ति और शृंगार रस का आग्रहपूर्वक बहिष्कार कर देना उचित नहीं है।

काव्य-शिल्प

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के विवेच्य कवियों ने काव्य-शिल्प के समीक्षण में अत्यन्त अल्प योग दिया है। उन्होंने काव्य में अलंकार-प्रयोग की तो चर्चा ही नहीं की, भाषा और छन्द के विषय में भी उनके विचार पर्याप्त सीमित हैं। *सुभद्रा जी* ने काव्य-शिल्प के साधक अंगों में से भाषा की विशेष और छन्द की सामान्य स्वरूप मीमांसा की है। उन्होंने पूर्ववर्ती कवि आलोचकों की भाँति पदावली की सुख-सरलता को कवि का इष्ट मान कर यह प्रतिपादित किया है कि प्रसाद गुण से कवि-कृति में वैमल्य आ जाता है। उनके अनुसार इस गुण के साधन के लिए कवि को सहज अर्थवाही शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रथम अखिल भारतवर्षीय महिला-कवि-सम्मेलन में सभा-

१. भूमि का अनुभूति, भूमिका, पृष्ठ ४
२ मुक्तिका, पृष्ठ ४०
३ मुक्तिका, पृष्ठ ८४

ध्यक्षा के पद से उनके भाषण के निम्नलिखित अंश उद्धरणीय हैं—

(अ) "कविता का जीवन जितना भाव में, उतना भाषा में भी रहता है। यदि भाषा जटिल हो जाए, तो कविता का आधा आनन्द जाता रहता है। इसीलिए साहित्य-मर्मज्ञों ने कविता में प्रसाद-गुण का होना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। थोड़े से शब्दों में किसी भाव या वस्तु का चित्र खींच देना ही प्रसाद गुण है।"[1]

(आ) "*कविता हृदय की भाषा है, उसके लिए पांडित्य की आवश्यकता नहीं है। यह सब कहने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि भाषा के सौष्ठव की ओर ध्यान ही न दिया* जाए, पर मेरा मतलब यह है कि भाषा को अस्वाभाविक न बना दिया जाए, अन्यथा जन-साधारण की भाषा और साहित्य की भाषा में इतना अधिक अन्तर हो जाएगा कि जन-साधारण हमारे साहित्य को समझ ही न सकेगा।"[1]

यहाँ कवि के मन्तव्य को समाज के लिए सहज ग्राह्य रखने में भाषा की सार्थकता मान कर कवयित्री ने प्रसाद विवेक का उपयुक्त परिचय दिया है। विवेचनीय काव्य-धारा के कवियों में "*एक भारतीय आत्मा*" का मत भी यही है। भाषा के अतिरिक्त सुभद्रा जी ने छन्द के अन्तर्गत केवल तुक-विवेक की चर्चा की है। *उन्होंने तुकान्त काव्य के मूल्यांकन* का विशेष प्रयास नहीं किया है, किन्तु "भाषा को मनोहारिणी बनाने और अपनी तुक मिलाने के लिए शब्दों की हत्या करना भी उचित नहीं है"[3] कह कर उन्होंने तुक-रचना के लिए शब्द-विकृति का विरोध कर अपनी दृष्टि-विमलता का परिचय दिया है।

पं० बालकृष्ण शर्मा "नवीन" ने श्रीधर पाठक, "हरिऔध", मैथिलीशरण गुप्त और देवीप्रसाद "पूर्ण" की भाँति काव्य में प्रसादत्व की योजना के लिए संस्कृत-निष्ठ शब्दावली को प्रयुक्त करने पर बल दिया है। उन्होंने कवि के लिए भाषा-सम्बन्धी *सीमाएँ निर्धारित करने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए* "हिन्दी साहित्य की समस्याएं" शीर्षक लेख में इस मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"कवि अपनी भाषा आप पा लेते हैं, प्रतिबन्ध निरर्थक है। हाँ, इतना अवश्य इस सम्बन्ध में मोटे रूप में कहा जा सकता है कि कवि और साहित्यकार भाषा ऐसी लिखें जो देश भर में अधिक सरलता से समझी जा सके। इस देश में अधिक सरलता से अन्य भाषा-भाषियों द्वारा भी जो भाषा समझी जा सकती है और समझी जाती है, वह है, संस्कृत-शब्द-प्रधान भाषा।"[4] उपरिनिर्दिष्ट द्विवेदीयुगीन कवियों द्वारा इस सिद्धान्त का इसी रूप में उल्लेख होने के कारण यहाँ इसका पुनर्विवेचन अनभीप्सित है।

"नवीन" जी के सहवर्ती कवियों में *सियाराम शरण गुप्त* ने भी काव्य में प्रसन्न पदावली की योजना में संस्कृत-शब्दों के प्रयोग का विशेष महत्व माना है। उन्होंने "साहित्य में क्लिष्टता" शीर्षक लेख में इस धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है—"साहित्य में

१. सुधा, मई १९३३, पृष्ठ ३२६
२. सुधा, मई १९३३, पृष्ठ ३२६
३. सुधा, मई १९३३, पृष्ठ ३२८
४. हिन्दी-प्रचारक, मार्च १९५४, पृष्ठ ६

प्रसाद गुण की सराहना के मूल में क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है। × × × × × जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नहीं की जा सकती। × × × × × हम उसका आनन्द तो लेना चाहते हैं, पर लेना ही लेना चाहते हैं, कुछ देने के लिए तैयार नहीं हैं। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किए बिना जो कुछ मिलता है, वह "प्राप्ति" नहीं उसे भिक्षा कहते हैं।"[1] यहाँ प्रसाद गुण के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की गई है, अपितु "नवीन" जी की भाँति कवि का प्रतिपाद्य यही है कि संस्कृत के सरल शब्दों का व्यवहार काव्य की सुबोधता में बाधक नहीं होता।

कविवर उदयशंकर भट्ट ने काव्य के अभिव्यंजनांगों में से केवल छन्द की संक्षिप्त चर्चा की है। उन्होंने छन्दोबद्ध रचना के समर्थन अथवा विरोध में कुछ नहीं कहा है, किन्तु काव्य में अन्त्यानुप्रास त्याग को वे उसका गुण मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति है कि *"यदि अत्युक्ति न समझी जाय तो मैं कहूँगा कि अतुकान्त काव्य तुकान्त काव्य से अधिक प्रवाहमय एवं ज़ोरदार हो सकता है।"*[2] यह दृष्टिकोण द्विवेदीकालीन कवियों द्वारा इस विषय में प्रस्तुत की गई भूमिका का विकसित रूप है, किन्तु "रामचरितमानस", "सूर-सागर" और "कामायनी" जैसी प्रबल वेगमयी तुकान्त रचनाओं को देखते हुए इसे अक्षरशः मान्य नहीं कहा जा सकता।

कविवर जगन्नाथ प्रसाद "मिलिन्द" ने भी पूर्वोक्त कवियों की भाँति काव्य भाषा के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा की है। उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण "नवीन" के समान कवि को अपनी भाषा के स्वरूप का निर्धारण करने की स्वतन्त्रता दी है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य इस प्रकार है—*"वह विचार किसी भी ईमानदार कवि के मन में कभी नहीं उठ सकता कि वह यह सोच कर अपनी भाषा बदले कि उसे इस या उस वर्ग के लोग अपने अनुकूल न पा सकेंगे। यदि यह विचार उसके मन में उठेगा तो उसकी कविता की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। स्वाभाविक कविता वही है जो कवि की अपनी भाषा में लिखी जाय।"*[3] इस उद्धरण में भी प्रकारान्तर से यही प्रतिपादित किया गया है कि काव्य में प्रासादिकता के लिए भाषा की कोई विशेष सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः यह स्पष्ट है कि उनके भाषा विषयक दृष्टिकोण में किसी प्रकार की मौलिकता का समावेश नहीं हुआ है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

प्रस्तुत प्रकरण में विचार्य कवियों ने उपरिचर्चित काव्यांगों के अतिरिक्त काव्य के अधिकारी और काव्यालोचन के स्वरूप का भी संक्षेप में अन्वेषण किया है। आगे हम इनके सम्बन्ध में उनके विचारों का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

---

१ भृट-मच, पृष्ठ ११७-११८

२ विजय-पथ, भूमिका, पृष्ठ ७

३ मन्दिरा, प्राक्कथन, पृष्ठ ४

१ काव्य के अधिकारी

काव्य से भावज्ञ सहृदयों को प्राप्तव्य आनन्द का उल्लेख केवल *श्री जगन्नाथप्रसाद "मिलिंद"* ने किया है। उन्होंने सहृदय को काव्य वर्ण्य-वैभिन्न्य के अनुकूल रुचि-परिवर्तन का सदेश देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "पाठकों की रसज्ञता किसी विषय-विशेष की बन्दिनी तो होती ही नहीं है, उसमे तो यही आशा की जाती है कि यह कविता के विषय के साथ कवि के तादात्म्य ही को अपने रसास्वादन के तारतम्य का कारण मानेगी।"[1] इस उक्ति मे मूल रूप से दो बातो को स्वीकार किया गया है—एक तो यह कि काव्य मनोवेधक होता है, अत वर्ण्य वस्तु मे परिवर्तन होने पर भी उससे सहृदय के मन प्राण मे आनन्दोद्रेक का होना स्वाभाविक है और दूसरे यह कि काव्य-सस्कार होने पर ही प्रमाता कविता के रस को ग्रहण कर पाता है। यह दृष्टिकोण इस काव्याग पर विचार करने वाले पूर्ववर्ती कवि-आलोचको की धारणाओ का परिवर्तित शब्दावली मे आख्यान-मात्र है, किन्तु इसका महत्व इस बात मे है कि आलोच्य काव्य-धारा के अन्तर्गत इस सिद्धान्त को केवल उन्होने ही प्रस्तुत किया है।

२ काव्यालोचन

प्रस्तुत काव्याग के विषय मे केवल *"नवीन जी"* के विचार उपलब्ध होते हैं। उन्होने समीक्षा मे सहृदयता के समावेश के लिए देश विशेष के साहित्य को उसी देश की सास्कृतिक विचार-धारा की *पृष्ठभूमि मे विविन्त्य मान कर यह प्रतिपादित किया है*— "प्रत्येक देश की कुछ विचार-विशेषताएँ होती है। उनको ध्यान में रखे बिना, उस देश के साहित्य, उस देश की कला आदि के *सम्बन्ध में यदि मत-प्रदर्शन किया जाय तो यह* एक अशुद्ध बात होगी। किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश के गुण-विशेष की ओर दृक्पात किये *बिना की ही नहीं जा सकती।"*[2] *काव्यशास्त्रीय शब्दावली मे समीक्षा* का यह रूप ऐतिहासिक *आलोचना के नाम से अभिहित किया जाता है।* इस विवेचन-पद्धति के प्रारम्भकर्त्ता *फ्रासीसी समीक्षक टेन ने काव्यालोचन के लिए कवि की जातिगत* मनोवृत्तिया, सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियो और काल-दशा को दृष्टिपथ म रखने पर बल दिया है।[3] *जातीय मनोविज्ञान और युगीन वातावरण के आलोक मे साहित्य के* अध्ययन के महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु इस प्रकार की समीक्षा मे रचनाकार के *व्यक्तित्व और रचना के युगप्रभावक रूप की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।*

सिद्धान्त-प्रयोग

प्रस्तुत कवियो के काव्य सिद्धान्तो के व्यवहार-पक्ष की समीक्षा के लिए उन पर "काव्य का अन्तरग" और "काव्य का कला-पक्ष" के शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया

---

१. बलिपथ के गान, प्रारम्भिक, पृष्ठ ४

२ क्वासि, भूमिका, पृष्ठ १६

३. देखिए ' सिद्धान्त और अध्ययन", पृष्ठ ३०१

जा सकता है। इसके अतिरिक्त "नवीन" जी की काव्यालोचन-सम्बन्धी धारणा भी विचार्य हो सकती थी, किन्तु उनके द्वारा व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में कार्य न किया जाने के कारण यहाँ इसका प्रश्न ही नहीं उठता। आगे हम पूर्वोल्लिखित शीर्षकों के अनुसार प्रत्येक कवि के विचारों के रचनागत प्रतिफलन पर क्रमशः मत-प्रकाश करेंगे।

१ काव्य का अन्तरंग

काव्य मे अन्तःसौन्दर्य के विधायक काव्यांगों (काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य) के उल्लेख की ओर "नवीन", उदयशंकर भट्ट और "मिलिंद" ने विशेष ध्यान दिया है और सुभद्राकुमारी तथा सियारामशरण इस दिशा मे सीमित रूप मे सचेष्ट रहे हैं। *सुभद्रा जी* ने काव्य में अनुभूति को मुख्य मान कर कवि को समाज और राष्ट्र के हित को ध्यान मे रख कर काव्य-रचना की प्रेरणा दी है। "मुकुल" की कविताओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अनेक कविताओं मे पारिवारिक स्नेह और प्रभु-भक्ति की भी अकृत्रिम अभिव्यक्ति हुई है, तथापि अधिकांश कविताएँ (झाँसी की रानी, राखी की चुनौती, जलियाँ वाले बाग में वसन्त, मेरी कविता, राखी, विजया-दशमी, मातृ मन्दिर मे, वीरों का कैसा हो वसन्त आदि) देश-भक्ति से ही सम्बद्ध है। इन कविताओं में समाज का सस्कार करने और राष्ट्र-चेतना को प्रबुद्ध करने की शक्ति वर्तमान है। उनके समवर्ती कवियों में *"नवीन" जी* ने कवि को केवल सामयिकता में मग्न न रह कर अनुभूति और चिन्तन के आधार पर जन-कल्याण-मयी भावनाओं के रसात्मक और सौन्दर्यपरक आख्यान का सन्देश दिया है। वे इस दृष्टिकोण के प्रति सहज आस्थावान् रहे है, अतः "विनोबा-स्तवन" शीर्षक कृति में सामयिक परिस्थितियों के उल्लेख के लिए पर्याप्त अवकाश रहने पर भी उसे जन-कल्याण के चिरन्तन मूल्यों से *ही सम्बद्ध रखा गया है।* उनके काव्य-संकलनों (कुकुम, अपलक, रश्मि-रेखा और क्वासि) मे राष्ट्रीयता, भक्ति और शृंगार रस का समावेश अनुभूति-वैविध्य से अनुप्राणित होने के कारण रस-सम्पन्न तो है ही, उसमें शिव और सुन्दर का भी यथास्थान समावेश हो गया है। ये सभी विशेषताएँ "उर्म्मिला" काव्य में भी सहज रूप से उपलब्ध हैं।

सियारामशरण जी ने काव्य को कवि के मनोवेगों का उच्छ्वास अथवा उसकी बहुमुखी वृत्तियों का परिणाम मान कर उसमें लोक-हित की स्थिति पर बल दिया है। उनकी रचनाओं मे गान्धी-दर्शन की सात्विक व्याप्ति को देखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि उन्होंने अपने अग्रज की भाँति काव्य में लोक-मंगल के समावेश की ओर सर्वत्र ध्यान दिया है। यह विशेषता उनकी कृतियों में इतने विस्तार से व्याप्त है कि प्रत्येक रचना मे इनकी पृथक् रूप में खोज करने का प्रयास पुनरुक्ति के अतिरिक्त और कुछ न होगा। *पं० उदयशंकर भट्ट* ने "नवीन" जी की भाँति काव्य को कवि की अनुभूति, चिन्तन और कल्पना का फल मान कर उसमें लोकहितपरक भावों की रसात्मक अभिव्यक्ति की कामना की है। "तक्षशिला" और "विजय-पथ" में चिन्तन और कल्पना के बल पर अतीत की भाँकियाँ उपस्थित करने में सफलता-लाभ करने के अतिरिक्त वे

"विसर्जन", "मानसी", "युग-दीप", "यथार्थ और कल्पना" आदि रचनाओ मे लौकिक अनुभवो की चिन्तन-कल्पना-समन्वित रसमयी अभिव्यक्ति में भी कृतकार्य रहे हैं। राष्ट्र-भावना, आत्म विश्लेपण और जग-दर्शन की व्यापक चेतना से युक्त होने के कारण उनकी रचनाओं की लोकहितपरकता भी असन्दिग्ध है। *"मिलिन्द" जी* ने काव्य मे सत्य, शिव और सुन्दर के समावेश का स्वागत करते हुए अनुभूति-तत्व को मुख्य माना है और कवि को मानवता और राष्ट्र-प्रीति की लोकहितकारी रसात्मिका चर्चा करने का सन्देश दिया है। उन्होंने अपनी रचनाओ को प्राण-रस से सिंचित कर शाश्वतिक रूप मे उपस्थित किया है, अत उनमे अनुभूति (सत्य), चिन्तन (शिव) और कल्पना (सुन्दर) की सहज स्थिति रही है। उनकी अनुभूति का सम्बन्ध मुख्यत राष्ट्र-प्रेम, मानव-करुणा और आत्म-दर्शन (भक्ति) से रहा है। इनमे से भी मानवता के आलोक मे देश-भक्ति का उच्चार उन्हे विशेष इष्ट है। ये सभी विशेषताएँ उनकी काव्य-कृतियो (नवयुग के गान, जीवन-सगीत, वलिपथ के गीत, भूमि की अनुभूति और मुक्तिका) मे स्फुट रूप से उपलब्ध हैं।

२. काव्य का कला-पक्ष

आलोच्य कवियो में से "मिलिन्द" जी के अतिरिक्त शेष सभी के काव्य-शिल्प-सम्बन्धी विचारो के कृतिगत रूप का अध्ययन किया जा सकता है। *सुभद्रा जी* का प्रतिपाद्य यह है कि काव्य मे भाषा की ऋजु-सरलता की अबाधित स्थिति रहनी चाहिए। उनके काव्य में सरल-कोमल पदावली की सार्वत्रिक स्थिति इस बात की प्रमाण है कि उन्होंने इस दिशा मे अपने विचारो को व्यवहार-रूप मे भी उचित गौरव दिया है। उनके सहयोगी कवियो मे *"नवीन" जी* ने एक ओर भाषा मे सारल्य-विधान के लिए सस्कृत-शब्दो के प्रयोग का परामर्श दिया है और दूसरी ओर महाकाव्य मे प्राचीन विषयो को नवीन रूप मे ग्रहण करने की सम्भावना पर प्रकाश डाला है। प्रयोग-पक्ष की दृष्टि से उन्होंने अपनी कविताओं मे "अपुनर्भव", "हेत्वाभास", "विगतावलोकन", "स्मरणांगत", "शून्यार्णव" आदि तत्सम सस्कृत शब्दो का व्यापक प्रयोग किया है,[1] किन्तु इस प्रकार के शब्द सर्वत्र सरल रूप मे ही प्रयुक्त न हो कर काव्य की क्लिष्टता के लिए भी उत्तरदायी रहे हैं। तथापि कोमल कल्पना, शब्द-चयन की सजगता और नूतन ओजमयी शैली के फलस्वरूप उन्होंने "ऊर्मिला" काव्य मे प्राचीन आख्यान को भी अभिनव रूप प्रदान करने मे यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। उनकी भाँति *सियारामशरण* जी ने भी सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग को काव्य-भाषा की सरलता मे बाधक नहीं माना है। उनके काव्य मे दिवाकर-कर, सन्तरण, मोहाकर्षण, नैश्रोन्मीलन आदि शब्दों का प्रयोग इसी धारणा को दृष्टि मे रख कर हुआ है।[2] *पं० उदयशंकर भट्ट* ने सिद्धान्त-चर्चा के अन्तर्गत काव्यगत तुक-निर्वाह के अतिरिक्त अनुकान्त काव्य-रचना का भी समर्थन किया है। व्यवहार-रूप से "विजय-पथ" के अन्तिम चार सर्गों, "अन्तर्दर्शन : तीन चित्र" के

१. देखिए "अपलक", पृष्ठ ८, ३१, ६६, ७१, ८६
२. देखिए "पाथेय", पृष्ठ २४, ३१, ५१ तथा ७८

अन्तिम दो लघु-काव्यों एव "अमृत और विष" तथा "यथार्थ और कल्पना" की अधिकांश कविताओं[1] की अतुकान्त रूप में सफल रचना की है।

विवेचन

प्रस्तुत कवियों की काव्य मान्यताओं पर एक साथ विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रीय आलोचना के प्रति पूर्ण अनुरक्ति न रहने पर भी वे इस ओर सजग अवश्य रहे हैं। यद्यपि सुभद्राकुमारी और सियारामशरण की मान्यताएँ अपेक्षाकृत सक्षिप्त हैं, तथापि उपेक्षा उनकी भी नहीं की जा सकती। इस धारा के कवियों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनके विचारों में प्राय अद्भुत साम्य है। उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य शिल्प काव्य के अधिकारी और काव्यालोचन की तो लगभग परम्परागत रूप में ही चर्चा की है, किन्तु काव्य का प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद और काव्य-वर्ण्य का उल्लेख करते समय यथास्थान नवीन दृष्टिकोण को भी ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता के विकास में उनका योगदान अविस्मरणीय है उसी प्रकार इस काव्य धारा के अन्तर्गत किए गए काव्य-चिन्तन में उनकी देन भी महत्वपूर्ण है।

---

१ देखिए (अ) अमृत और विष, पृष्ठ २८-६० तथा ६६ -
(आ) यथार्थ और कल्पना, पृष्ठ ५५ ७८

: ३ :

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों के काव्य-सिद्धान्त

समन्वित विवेचन

राष्ट्रीय-सास्कृतिक काव्य के प्रणेताओ ने द्विवेदीयुगीन कवियो की भाँति काव्य-चिन्तन मे उत्साहपूर्वक भाग लिया है। उन्होने काव्य का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन और काव्य के तत्वो का विशेष मनोयोग से विवेचन किया है और काव्यात्मा, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन की सामान्य रूप मे समीक्षा की है। इनमे से अन्तिम चार काव्यांगो के विषय मे उनके विचार अपेक्षाकृत सक्षिप्त रूप मे उपलब्ध होते हे, किन्तु इसके लिए उन्हे दोष नही दिया जा सकता, क्योंकि आलोचना उनका मूल धर्म नहीं है। विवेचन मे नूतनता के समावेश की दृष्टि से उन्होने काव्य के भेद और काव्यानुवाद की सर्वथा मौलिक रूप मे समीक्षा की है और काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व तथा काव्य वर्ण्य के स्वरूप-निरूपण मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुरूप कही-कही नवीनता का परिचय दिया है। अन्य काव्यागो के विषय मे उनके विचार परम्परा प्रेरित ही रहे हं, किन्तु पूर्व-प्राप्त सत्य की स्वीकृति भी अपने आप मे कम महत्वपूर्ण नहीं है। आगे हम आलोच्य कवियो की काव्य-विषयक मान्यताओ की समग्र रूप मे पर्यालोचना करेंगे।

१ काव्य का स्वरूप

प्रस्तुत काव्य-सरणि के सभी कवि काव्य की स्वरूप चर्चा के प्रति सचेष्ट रहे हैं, किन्तु इस दिशा मे विशेष कार्य करने का श्रेय माखनलाल चतुर्वेदी और "दिनकर" को है। अन्य कवियो ने उन्हें मान्य काव्य-लक्षण (काव्य वह रचना है जिसमे कवि के सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण की अनुभूति, चिन्तन और कल्पना के माध्यम से स्वच्छ, सरस तथा युग प्रेरक रूप मे उपस्थित किया जाए) की ही अपने अपने ढग से व्याख्या की है। काव्य के विषय मे यह मन्तव्य भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के कवियो की मान्यताओ का पुनराख्यान है, तथापि उनके प्रतिपादन मे सजीवता और मौलिकता का अभाव नहीं है—माखनलाल चतुर्वेदी और "मिलिन्द" द्वारा काव्य मे मानवता के समावेश का समर्थन, "दिनकर" द्वारा काव्य मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने का प्रतिपादन और उदयशकर भट्ट द्वारा कवि प्रकार निर्धारण को इसके लिए प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है।

२ काव्य की आत्मा

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों ने काव्य की आत्मा के विवेचन में अधिक भाग नहीं लिया है। इस दिशा में "दिनकर" का योगदान मुख्य है और "नवीन", उदयशंकर भट्ट तथा "मिलिन्द" ने अपने विचारों को संक्षेप में उपस्थित किया है। इन सभी कवियों ने रस को काव्य का जीवन माना है, किन्तु "दिनकर" ने काव्य के अन्य सम्प्रदायों का भी विवेचन किया है। उन्होंने एक ओर श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और "रत्नाकर" की भाँति रीति के काव्य-प्राणत्व को स्वीकार किया है, दूसरी ओर "हरिऔध" और "रत्नाकर" की भाँति ध्वनि को काव्य का अन्तर्तत्व विशेष माना है और तीसरी ओर "हरिऔध", "रत्नाकर", रामनरेश त्रिपाठी और रामचरित उपाध्याय की भाँति अलंकार के महत्व को स्पष्ट किया है। अतः यह स्पष्ट है कि इस काव्य धारा के रचयिताओं ने प्रायः रस को काव्य का मूल तत्व माना है—इस सम्बन्ध में मत प्रतिपादन न करने पर भी माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी ने भी अपने काव्य में रस की गहनता द्वारा अप्रत्यक्षतः इसी की सूचना दी है।

३ काव्य-हेतु

इस स्थान पर विचार्य कवियों में सुभद्रा जी के अतिरिक्त शेष सभी ने काव्य के प्रेरक तत्वों पर विचार किया है। पूर्वचर्चित काव्यांगों की अपेक्षा काव्य-हेतु के समीक्षण में उनकी वृत्तियाँ भी अधिक रमी हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ स्पष्टतः परम्परा-प्रेरित हैं। उन्होंने पूर्ववर्तियों को मान्य काव्य-हेतुओं में से प्रतिभा, व्युत्पत्ति और काव्यशिक्षाजन्य अभ्यास का विशेष समर्थन किया है—इस दिशा में केवल सियारामशरण ने प्रतिभा की ओर "नवीन" तथा "मिलिन्द" ने काव्य शिक्षा की चर्चा नहीं की है। इसके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट ने गोपालशरणसिंह की भाँति प्रकृति-दर्शन को और "मिलिन्द" ने बालमुकुन्द गुप्त के समान देश-स्वातन्त्र्य को काव्य-सृजन का प्रेरक तत्व माना है। मौलिक स्थापना की दृष्टि से "दिनकर" द्वारा प्रस्तुत अनुकरण-सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। इन काव्य-साधनों में से इस युग के कवियों को प्रतिभा और व्युत्पत्ति विशेष स्वीकार्य रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका दृष्टिकोण लगभग परम्परा-प्रेरित है।

४. काव्य-प्रयोजन

आलोच्य कवियों ने काव्य से उपलब्ध होने वाले फलों का लगभग एक-जैसी सजगता के साथ विवेचन किया है। उन्होंने आनन्द की उपलब्धि और लोक-शिक्षा को काव्य के मूल प्रयोजन माना है। इस विषय में उनकी धारणाएँ पूर्ववर्ती कवियों की मान्यताओं के सर्वथा अनुकूल हैं। काव्य के बाह्य प्रयोजनों की संक्षिप्त चर्चा करके भी उन्होंने उन्हीं का अनुसरण किया है। इस विषय में "नवीन" और उदयशंकर भट्ट के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों ने विचार व्यक्त किए हैं, किंतु इस पर बल केवल जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द"

ने दिया है। उन्होंने यश और सम्पत्ति को कवि के लिए सहज काम्य माना है, किन्तु उनके अन्य सहयोगियों में माखनलाल चतुर्वेदी और सियारामशरण गुप्त ने कवि की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट तिरस्कार किया है। "दिनकर" तथा सुभद्राकुमारी ने इसका समर्थन करने पर भी इसके प्रति अधिक आग्रह नहीं रखा है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवियों ने काव्य के प्रयोजनों पर लगभग परम्परागत रूप में विचार किया है।

५. काव्य के तत्व

प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय कवि काव्य के तत्वों के विवेचन के प्रति पर्याप्त सजग रहे हैं,—इस काव्यांग का उल्लेख न करने वाले एकमात्र कवि सियारामशरण हैं। इन कवियों में से सुभद्राकुमारी और उदयशंकर भट्ट ने केवल अनुभूति को महत्व दिया है, किन्तु अन्य कवियों ने अनुभूति को काव्य का मूल तत्व मानने पर भी काव्य में सत्य, शिव और सुंदर के समन्वय की कामना की है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में अभिरुचि रखने के कारण उनके द्वारा अनुभूति को सर्वाधिक गौरव दिया जाना स्वाभाविक है—इसीलिए उन्होंने कल्पना के अतिरेक को काव्य के लिए गौरवास्पद नहीं माना है। तथापि अनुभूति और चिन्तन की शुष्कता को कल्पना की मधुरता से अभिषिक्त करने के सिद्धान्त का एकान्त विरोध भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि उन्होंने द्विवेदी युग के कवियों की अपेक्षा काव्य के तत्वों का अधिक विदग्धता से विवेचन किया है।

६. काव्य के भेद

आलोच्य काव्य धारा के अन्तर्गत काव्य-रचना के रूपों की समीक्षा की ओर केवल "दिनकर", "नवीन" और उदयशंकर भट्ट ने ध्यान दिया है। इनमें से प्रथम दो कवियों ने महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन किया है और भट्ट जी ने गीतिकाव्य की संक्षिप्त, किन्तु व्यवस्थित मीमांसा की है। यद्यपि "दिनकर" और "नवीन" ने महाकाव्य के स्वरूप का पूर्ण विवेचन नहीं किया है, किन्तु उनकी स्थापनाएँ आचार्य द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त की मान्यताओं से अधिक व्यापक हैं। वैसे भी उन्होंने महाकाव्य की रचना के लिए अपेक्षित परिस्थितियों, उसकी कथावस्तु और पात्र-योजना का द्विवेदीयुगीन कवियों से भिन्न रूप में मौलिक विवेचन किया है। गीतिकाव्य के विषय में उदयशंकर भट्ट की धारणाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में काव्य के इस रचना-रूप की समीक्षा न होने के कारण उनके विचारों का महत्व और भी अधिक प्रतीत होता है, किन्तु आगामी प्रकरण में विचार्य छायावादी कवियों में से "निराला" और महादेवी प्रभृति काव्य के स्वरूप पर उदयशंकर भट्ट से पूर्व ही विचार कर चुके थे।

७. काव्य के वर्ण्य विषय

"नवीन" और सियारामशरण के अतिरिक्त इस काव्य-धारा के सभी कवि काव्य-वर्ण्य की समीक्षा के प्रति सजग रहे हैं। सामान्यतः उनका प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य में राष्ट्रीय भावना और मानवतावादी विचार-धारा को स्थान प्राप्त होना चाहिए, तथापि

काव्य के अन्य वर्णनीय विषयों के प्रति वे उदासीन नहीं हैं। इस दृष्टि से "दिनकर" और उदयशंकर भट्ट ने क्रमशः प्रकृति और प्रेम को काव्य-वस्तु मानने पर बल दिया है, किन्तु "मिलिन्द" ने महावीरप्रसाद द्विवेदी, "रत्नाकर", मैथिलीशरण, बालमुकुन्द गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी की भाँति काव्य में शृंगार रस के अतिरेक का विरोध किया है। काव्य के इन सभी वर्ण्य विषयों का भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में प्रतिपादन हो चुका था। इस प्रकार आलोच्य कवियों की काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी धारणाएँ प्रायः परम्पराप्रेरित हैं, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि मानवतापरक राष्ट्रीयता को काव्य में विशिष्ट ग्रहणीय मानने में उन्होंने कहीं अधिक सलग्नता का परिचय दिया है।

८ काव्य-शिल्प

प्रस्तुत काव्य धारा के प्रणेताओं ने काव्य शिल्प के विवेचन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। इस दिशा में "दिनकर" का योगदान ही उल्लेखनीय है, अन्य कवि इस ओर विशेष सचेष्ट नहीं हैं। काव्य भाषा के विवेचन में माखनलाल चतुर्वेदी और "दिनकर" ने मुख्य रूप से भाग लिया है, उदयशंकर भट्ट ने उसका विवेचन ही नहीं किया और अन्य कवि इस विषय में अत्यन्त सामान्य योग दे पाये हैं। माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी ने भाषा की सरलता को काव्य का मुख्य गुण माना है, किन्तु "दिनकर", "नवीन", सियारामशरण और "मिलिन्द" ने प्रसाद गुण की भी एक सीमा मानी है—वे संस्कृतनिष्ठ भाषा के विरोधी नहीं हैं और भावों की गम्भीरता के अनुकूल भाषा की गरिमा-वरिष्ठता को वे सहज स्वाभाविक मानते हैं। यह दृष्टिकोण द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों (आचार्य द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", मैथिलीशरण आदि) को भी इसी रूप में मान्य है। काव्य-भाषा के उपरिलिखित गुणों के अतिरिक्त चतुर्वेदी जी ने महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", और रामनरेश त्रिपाठी की भाँति मुहावरों के प्रयोग को भी काव्य-भाषा की सम्पदा माना है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवियों की भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं में किसी नवीन दृष्टिकोण का समावेश नहीं हुआ है।

प्रस्तुत काव्य-धारा के अन्तर्गत अलंकार-विवेचन की ओर केवल "दिनकर" ने ध्यान दिया है। उन्होंने अलंकारों को भावों के उत्कर्ष में सहायक मान कर रूपक और उपमान की योजना के महत्त्व की विशेष चर्चा की है। तथापि यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युगीन कवियों की तुलना में इस काव्य-सरणि के अन्तर्गत अलंकार का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन हुआ है। अलंकार की भाँति इस धारा के कवि छन्द-विवेचन के प्रति भी सजग नहीं रहे हैं। इस दिशा में "दिनकर" का योग मुख्य रहा है और माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी तथा उदयशंकर भट्ट इस ओर अत्यन्त साधारण रूप में सचेष्ट रहे हैं। "दिनकर" का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन यह है कि काव्य में नवीन छन्दों को स्थान प्राप्त होना चाहिए। इस दृष्टि से उन्होंने मुक्त छन्द को अपनाने का उल्लेख किया है, किन्तु अपने दृष्टिकोण का स्वयं ही खंडन कर उन्होंने किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के द्वार को बन्द कर दिया है। तथापि "रत्नाकर" और "पूर्ण" की भाँति काव्य में लय-तत्व

का समर्थन करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई है। तुकान्त एवं अतुकान्त काव्य की रचना का समान रूप से समर्थन कर के भी उन्होंने अपनी सारग्राहिणी दृष्टि का परिचय दिया है। अन्य कवियों (माखनलाल, सुभद्राकुमारी, उदयशंकर भट्ट) का छन्द-विवेचन केवल तुक-विचार तक सीमित है। उन्होंने तुक को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवि भाषा और अलंकार की भाँति छन्द के विवेचन में भी द्विवेदी-युगीन कवियों से पीछे रहे हैं।

६ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

आलोच्य कवियों ने उपर्युक्त काव्यांगों के अतिरिक्त काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन के स्वरूप पर भी विचार किया है। इनमें से प्रथम के सम्बन्ध में केवल जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" का मत उपलब्ध होता है, किन्तु उनकी स्थापना (काव्य के रस को ग्रहण करने के लिए पाठक में सहृदयता का होना अनिवार्य है) मौलिक न हो कर आचार्य द्विवेदी की धारणाओं पर आधृत है। अन्य काव्यांगों में से काव्यानुवाद के विषय में "दिनकर" की मान्यताएँ निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने अनुवाद में मौलिक भाव-सृष्टि के महत्व और उसके द्वारा भाषा के उपकार की चर्चा कर मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु अनुवाद के स्वरूप का पूर्ण शास्त्रीय विवेचन उन्होंने भी नहीं किया है। काव्यालोचन के विषय में "दिनकर" का सिद्धान्त-प्रतिपादन मुख्य और "नवीन" का सामान्य है। "दिनकर" ने आलोचक को काव्य का मर्म-ज्ञान प्राप्त करके उसके रचना-कौशल का उद्घाटन करने का सन्देश दे कर पूर्ववर्ती कवियों के दृष्टिकोण को ही वाणी दी है। "नवीन" ने ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति का समर्थन कर पूर्ववर्ती कवियों द्वारा अकथित मत अवश्य उपस्थित किया है, किन्तु हिन्दी-काव्य शास्त्र के लिए यह दृष्टिकोण नवीन नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवियों द्वारा निरूपित स्फुट काव्यांगों में से काव्यानुवाद का विवेचन ही मौलिक है, अन्य विषयों पर उनके विचार द्विवेदी युग की तत्सम्बन्धी मान्यताओं से असन्दिग्ध रूप में प्रभावित रहे हैं।

मूल्यांकन

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने इस ओर द्विवेदी युग के कवियों के समान पूर्ण ध्यान नहीं दिया है, तथापि यह निश्चित है कि भारतेन्दुकालीन कवियों की अपेक्षा वे इस ओर अधिक सजग रहे हैं। उन्होंने मुख्य रूप से काव्य का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य पर विचार किया है, किन्तु अन्य काव्यांगों के विषय में उनकी धारणाएँ संक्षिप्त होने पर भी महत्वरहित नहीं हैं। काव्य के तत्वों, महाकाव्य और काव्यानुवाद के सम्बन्ध में उनके विचार द्विवेदी युग की अपेक्षा स्पष्टतः व्यापक हैं और काव्य का स्वरूप, काव्य हेतु तथा काव्य-वर्ण्य के विवेचन में भी उन्होंने यथास्थान मौलिकता का समावेश करने का प्रयास किया है। अतः यह स्पष्ट है कि नूतनता, गम्भीरता और व्यापकता का सर्वत्र निर्वाह न कर पाने पर भी वे हिन्दी-काव्य शास्त्र के विकास

की ओर से विमुख नहीं हैं। इस काव्य धारा के अन्तर्गत सर्वांग-समृद्ध काव्य विवेचन तो "दिनकर" ने ही प्रस्तुत किया है, किन्तु उपेक्षा अन्य कवियों की भी नहीं की जा सकती। यह स्पष्ट है कि ये कवि समृद्ध पृष्ठभूमि के उपलब्ध होने के कारण द्विवेदीयुगीन कवियों की अपेक्षा काव्य चिन्तन में अधिक भाग ले सकते थे, किन्तु ऐसा न कर पाने के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते। काव्य शास्त्र की रचना अथवा उस पर विचार करना कवियों का मुख्य लक्ष्य भी तो नहीं है। फिर भी परवर्ती हिन्दी-कवियों को काव्य चिन्तन की प्रेरणा देने में उनका निश्चित महत्व है।

छायावादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्य धारा के उपरान्त छायावादी काव्य का उद्भव हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसके उद्भावकों ने भावना और कला विषयक सूक्ष्म सौन्दर्य-सस्कार द्वारा नवीन काव्य मार्ग की खोज करने म अपरिमित उत्साह प्रकट किया है। उन्होंने उत्कृष्ट सौन्दर्यवादी काव्य की रचना के अतिरिक्त इस काव्य के मर्म को प्रकट करने वाले तत्वों का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य सिद्धान्त कथन के प्रति उनकी अभिरुचि के दो कारण हैं—१ पूर्ववर्ती कवियों की भाँति इस ओर उनकी भी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है, २ आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल जैसे समर्थ आलोचकों द्वारा प्रारम्भ म छायावाद का विरोध होने पर कवियों ने अपनी मान्यताओं को स्वतन्त्र रूप म स्पष्ट करने तथा अपने काव्य के विषय में प्रचलित भ्रान्तियों को निराकृत करने के लिए सिद्धान्त विवेचन का आश्रय लिया है। हमने उनकी मान्यता के अध्ययन के लिए निम्नलिखित वर्गीकरण के अनुसार कार्य किया है—

१ छायावाद के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

आलोच्य काव्य-धारा के अन्तर्गत काव्य-रचना और सिद्धान्त प्रतिपादन, दोनों की दृष्टि से सर्वश्री जयशंकर "प्रसाद", सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा का कार्य-क्षेत्र विशेष व्यापक है। इन कवियों ने काव्य शास्त्र के परम्परागत सिद्धान्तों को यथातथ्य रूप में ग्रहण न कर उनके विवेचन में प्रायः मौलिक अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। छायावाद और रहस्यवाद सम्बन्धी धारणाएँ तो स्पष्टत नवीन उद्भावनाओं के अन्तर्गत आती हैं। उनकी मान्यताओं में आन्तरिक साम्य और आदान प्रदान का सूक्ष्म अन्तर्क्रम रहा है, जिसके फलस्वरूप उनकी धारणाओं म प्रौढ़ि की सहज स्थिति रही है और समवर्ती छायावादी कवि उनसे अनिवार्यत प्रभावित रहे हैं।

२ छायावाद के अन्य सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त छायावाद के अन्तर्गत सिद्धान्त विवेचन करने वाले कृतिकारों में पंडित मुकुटधर पाडेय और डॉ० रामकुमार वर्मा का स्थान प्रमुख है। इन कवियों ने पूर्वोक्त रचनाकारों से अप्रत्यक्षत प्रभावित रहने पर भी अपनी धारणाओं में मौलिक विचारण की प्रतिभा का परिचय दिया है। वर्मा जी ने पाडेय जी की अपेक्षा

काव्य-चिन्तन में अधिक भाग लिया है, किन्तु छायावादी काव्य प्रवृत्ति के आलोक में सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से दोनों का महत्त्व समान है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य सिद्धान्त के प्रति सहृदयता-पूर्ण दृष्टिकोण अपना कर उसे स्पष्ट करने में जितना महत्वपूर्ण योग आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभृति आलोचकों ने दिया है उतना ही महत्वपूर्ण योगदान छायावादी कवियों का भी है।

: ४ :

छायावाद के प्रमुख सिद्धान्त-प्रतिपादक कवि

जयशंकर "प्रसाद"

कविवर जयशंकर "प्रसाद" कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के धनी थे, अत उन्हें काव्य-सर्जन और काव्यालोचन में एक-जैसी सफलता प्राप्त हुई है। उनकी काव्य-मान्यताएँ मुख्यत "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" में उपलब्ध होती हैं, किन्तु "इन्दु" में प्रकाशित कतिपय लेखों तथा "कामायनी" और "स्कन्दगुप्त" का अध्ययन भी इस दिशा में सहायक रहा है। उन्होंने काव्य (तथा कला) का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, *काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य,* छायावाद, रहस्यवाद और आदर्श-यथार्थ के स्वरूप की समीक्षा की है। प्राय. इन सभी काव्यांगों के विषय में उनके विचार संक्षिप्त रहे हैं, फिर भी, उनमें मौलिकता की दीप्ति सर्वत्र वर्तमान है।

काव्य का स्वरूप

"प्रसाद" जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार करने से पूर्व यह उल्लेख आवश्यक है कि उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी, "नवीन" और "मिलिन्द" की भाँति काव्य और कला को परस्पर पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण नहीं किया है। उनके अनुसार, **"(काव्य) आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है। × × × × × कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है।"**[1] उन्होंने न तो पश्चिमी विचारकों की भाँति काव्य को कला का अंग माना है, न वे काव्य और कला को समकक्ष ही मानते हैं, अपितु उनका दृष्टिकोण स्पष्टत यही रहा है कि काव्य की स्थिति कला में श्रेष्ठ है। काव्य में हृदय-तत्व और कला में बुद्धि-तत्व की प्रधानता से भी यही सूचित होता है। 'प्रसाद" जी ने लिखा है—**"कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है, उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक सम्बन्ध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचा देती हैं।"**[2] इससे सिद्ध है कि कला का सम्बन्ध हृदय की अपेक्षा बुद्धि से है *और काव्य में हृदय की अनुभूति का आलोक विद्यमान रहता है। "कामायनी"* में श्रद्धा (रागात्मिका वृत्ति, हृदय) को इडा (व्यवसायात्मिका वृत्ति, बुद्धि) से अधिक

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४२
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३१

महत्व दे कर भी उन्होंने यही स्पष्ट किया है कि अनुभूति बुद्धि से अधिक गौरवमयी है। इस तर्क के द्वारा काव्य को कला से श्रेष्ठ मानने से ही सन्तोष न कर के उन्होंने कला को काव्य का अंग माना है। इसलिए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में भावना और अभिव्यंजना का सामंजस्य रहता है और कला में केवल अभिव्यंजना का अंश ही अभिप्रेत है—**"प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।"**[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य अनुभूति प्रधान रचना है, उसमें भावना और अभिव्यक्ति का सामंजस्य रहता है और वह कला से उत्कृष्ट है। "प्रसाद" जी ने इस प्रसंग में प्लेटो द्वारा कविता का संगीत के अन्तर्गत उल्लेख करने और अरस्तू द्वारा कला को अनुकरण मानने के सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए उनके दृष्टिकोण के विषय में यह लिखा है—**"अध्यात्म का उसमें सम्पर्क नहीं। × × × × × लोकोत्तर आनन्द की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया।"**[2] इससे स्पष्ट है कि वे कवि को आध्यात्मिक द्रष्टा और काव्य को अनिर्वचनीय आनन्द का प्रदाता मानते हैं। यह धारणा भारतीय लक्षणकारों की काव्य-सम्बन्धी उपपत्ति से सीधे प्रभावित है। इसी मन्तव्य के फलस्वरूप "प्रसाद" जी ने "स्कन्दगुप्त" में कवि मातृगुप्त के मुख से कविता की यह परिभाषा उपस्थित कराई है—**"कवित्व—वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न?"**[3] यहाँ कविता को सृष्टि के परस्पर विरोधी तत्वों में सम्बन्ध-स्थापना करने वाली रचना माना गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कवि का अनुभूति-सजग होना आवश्यक है, अन्यथा रचना में स्वाभाविकता और आनन्ददायिनी शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। "प्रसाद" जी ने काव्य के इस स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए "काव्य और कला" शीर्षक निबन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। × × × × × आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण है? किन्तु इसीलिए साथ ही साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है।"[4]

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४४
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३३
३. स्कन्दगुप्त, प्रथम अंक, पृष्ठ २१
४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३८

की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।"[1]

(आ) "कविता के आस्वाद करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है। × × × × × उसके आस्वाद के लिए सहृदयता की आवश्यकता होती है। कविता मात्र के आस्वादन के समय केवल स्वप्रकाशानन्द ही रहता है।"[2]

(इ) "× × × × × काव्य की धारा लोकपक्ष से मिल कर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही।"[3]

(ई) "रसात्मक अनुभूति आनन्द-मात्रा से सम्पन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक प्रयोग माना गया।"[4]

काव्य का आनन्द उसकी रस चेतना अथवा भावात्मक सत्ता पर आश्रित है। फलत वह स्रष्टा और भोक्ता के लिए समान रूप से प्राप्य है। हृदयजन्य होने के कारण उसका स्वरूप आत्यन्तिक होता है। शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन म उल्लिखित आनन्द वाद से प्रभावित होने के कारण प्रसाद जी ने जीवन की भाँति काव्य म भी आनन्द साधना को विशेष महत्व दिया है। इस सम्बन्ध म उनके आग्रह के दो अन्य कारण भी हो सकते है—(अ) रस के अलौकिक आनन्दमय की निर्भ्रान्त स्वीकृति, (आ) रहस्यवादी साधना पद्धति म प्राप्त होने वाले ब्रह्मानन्द म आस्था। इस प्रकार वे काव्य, जीवन और दर्शन म आनन्द रस की अनिवार्य व्याप्ति मानते हैं। काव्य-भवन म आह्लाद के अतिरिक्त उन्होंने लोक शिक्षा को भी उसका निश्चित लक्ष्य माना है। उनके अनुसार "संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुँचते है—मनोरंजन और शिक्षा। × × × × × शिक्षा का अश साहित्य के सब अगों से सम्बन्ध रखता है। अत वह अश रूप से प्राय सत्कविता में मिलेगा।"[5] काव्य से इन उद्देश्यों की सिद्धि का प्रतिपादन साहित्य शास्त्र के लिए नवीन नही है। भारतीय काव्य शास्त्रियो के अतिरिक्त पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य से आनन्द और उपदेश की उपलब्धि का मुक्त कठ म समर्थन किया है। इस सम्बन्ध म इटली के आलोचक मिन्तुर्नो, रोम के रीतिशास्त्रकार होरेस तथा अग्रजी के कतिपय समीक्षकों (कालरिज, सेमुएल जानसन, डाइडन) के मन्तव्य समान इस प्रकार है—

(अ) "कवि का कर्तव्य है कि वह अपनी कविताओं में इस प्रकार के भावों को व्यक्त करे जो लोक शिक्षण, आनन्दानुभूति और प्रभावोत्पादन में सफल हो सकें।"[6]

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३३
२ इन्दु, कार्तिक, संवत १९६७, पृष्ठ १२३-१२४
३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृष्ठ ७०
४ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ७१
५ इन्दु, कला १, किरण ११, ज्येष्ठ, संवत् १९६७, पृष्ठ १८१ १८२
६ "It will be the business of the poet so to speak in his verses that he may teach, that he may delight, that he may move
(Loci Critici, Page 86)

(आ) "कवि का कार्य या तो सदुपदेश देना है अथवा आनन्द प्रदान करना है अथवा इन दोनों प्रयोजनों को समंजित करना है।"[1]

(इ) "आनन्द का सम्प्रेषण ही वह मूलभूत साधन है, जिससे कवि अपने पाठकों की प्रवृत्तियों का नियमन करने की आशा कर सकता है।"[2]

(ई) "रचना-मात्र का लक्ष्य सदिाक्षा है, किन्तु कविता का उद्देश्य है शिक्षा की प्रस्तुति के लिए आनन्द का अवलम्बन।"[3]

(उ) "यदि आनन्द काव्य का एकमात्र प्रयोजन नहीं है तो वह मुख्य प्राप्य अवश्य है। शिक्षा के महत्व को आनन्द के उपरान्त ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि काव्य आनन्दात्मक होने पर ही शिक्षा देता है।"[4]

काव्य के तत्व

आलोच्य कवि ने प्रस्तुत काव्यांग का विशद विवेचन तो नहीं किया है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उन्हें काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर तीनों का महत्व स्वीकार्य है। उन्होंने सत्य अथवा प्राकृतिक विभूतियों के अनुभव को काव्य का मूल तत्व माना है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—

"सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना प्रारम्भ होती है। × × × × × यह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती हैं, ओतप्रोत है। × × × × × सत्य विराट है, उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओतप्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताए गए हैं—श्रेय और प्रेय। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। × × × × × काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है। × × × × × इसीलिए कवित्व

---

१ "The poet's function is either to improve or to give delight, or again, to combine both of these aims"
(Literary Criticism in Antiquity, Vol II, Page 76)

२ "(The) communication of pleasure is the introductory means by which alone the poet must expect to moralize his readers"
(Biographia Literaria, Chapter XXII, Page 240)

३ "The end of writing is to instruct, the end of poetry is to instruct by pleasing"
(An Anthology of Critical Statements, Page 50)

४ "Delight is the chief, if not the only end of poesie instruction can be admitted but in the second place, for poesie only instructs as it delights."
(Dryden, edited by Douglas Grant, Page 441)

को आत्मा की अनुभूति कहते हैं।"[1]

"प्रसाद" जी के अन्य विचारों की भाँति काव्य में सत्य के समावेश की यह व्याख्या भी मौलिकता की छाप लिए हुए है। सत्य को ज्ञान और प्रकृति से सम्बद्ध दिखा कर और उसे श्रेय और प्रेय के रूप में विभाजित कर के उन्होंने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। काव्यगत सत्य का विवेचन उनमें पूर्व भी हुआ था, किन्तु उसके स्वरूप की इतनी स्पष्ट मीमांसा करने वाले वे प्रथम हिन्दी-कवि हैं। सत्य को श्रेय से सम्बद्ध कर के उन्होंने प्रकारान्तर से यह भी प्रकट कर दिया है कि काव्यगत अनुभूति को शिवत्व से अनुप्राणित होना चाहिए।

काव्य में सत्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त "प्रसाद" जी ने उसमें सुन्दर की समष्टि पर भी पर्याप्त बल दिया है। उन्होंने सौन्दर्य को उसके पूर्णतम रूप में ग्रहण करने के लिए कवियों को यह सन्देश दिया है कि वे उसे बाह्यत प्रकट होने वाले रूप में ग्रहण कर के ही सन्तोष न कर लें, अपितु आत्मा के सौन्दर्य से उसका सत्कार करना भी उनका कर्तव्य है। यूनान और भारत की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं की तुलना करते हुए उन्होंने इस मत को इन शब्दों में प्रकट किया है—"ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौन्दर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त को, विशेषता दे कर उसकी सीमा में ही पूर्ण बनाने की चेष्टा करती है और भारतीय विचारधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है।"[2] इस उद्धरण का विश्लेषण करने पर यह कहा जा सकता है कि "प्रसाद" जी ने सौन्दर्य का सत्य और शिव से अनिवार्यत सम्पृक्त माना है—सौन्दर्य की स्पष्ट अनुभूति उसे सत्य की ओर प्रेरित करती है और उसका ज्ञानात्मक रूप शिव-तत्व से मंडित है। अत यह सिद्ध है कि उन्होंने काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर के समावेश की एक-जैसी कामना की है। 'शिव' की स्वतन्त्र व्याख्या की ओर उन्होंने प्राय ध्यान नहीं दिया है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वे उसे सुन्दर से पृथक् नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने संस्कृति को मानव की सौन्दर्यानुभूति का परिणाम माना है—

"भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है, × × × × × संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[3]

मानव-संस्कृति के इतिहास का अध्ययन करने पर उपर्युक्त तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुत इसके फलस्वरूप ही काव्य में जातीय मनोवृत्तियों के समावेश का प्रश्न उपस्थित होता है—कवि अपने समीपवर्ती वातावरण और प्राचीन जातीय

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३७
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३६
३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३८

संस्कारों से प्रभावित हो कर सौन्दर्यानुभूति की आदर्शवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। अतः "प्रसाद" जी द्वारा सत्य, शिव और सुन्दर के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना युक्तियुक्त है।

काव्य के तत्वों की आदर्शवादी व्याख्या के अतिरिक्त "प्रसाद" जी ने छायावादी दृष्टिकोण के अनुरूप उसमें कल्पना के सौन्दर्य का समावेश करने पर भी बल दिया है। कल्पना को कविता का आवश्यक उपादान मान कर उन्होंने 'कामायनी' के विषय में यह लिखा है—"कामायनी की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नहीं छोड़ सका हूँ।"[1] तथा आख्यान-काव्य में कल्पना के समावेश के लिए तीन सम्भावित कारण हैं—रस-सृष्टि, घटनान्विति, पात्रों के व्यक्तित्व का उत्कर्ष। इसकी काव्यगत उपयोगिता का तिरस्कार करने से रचना इतिवृत्तात्मक हो जाती है अर्थात् उसमें वस्तुजगत् की यान्त्रिक प्रतिकृति ही हो पाती है। इसीलिए छायावादी कवियों ने कल्पना के बल पर मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने का मार्ग अपनाया है। कल्पना के प्रति उदार दृष्टि कवि की अपनी सम्पत्ति है—काव्य में प्राण-संचार के लिए उसे सभी कवि अल्पाधिक रूप में ग्रहण करते हैं। तथापि यह आवश्यक है कि कल्पना के प्रति आग्रही न हो कर अनुभव को उचित गौरव दिया जाए। इसीलिए "प्रसाद" जी ने काव्य में संकल्पात्मक अनुभूति की प्रधानता पर बल दिया है।[2] अनुभूति के संकल्पात्मक रूप का अभिप्राय यही है कि कवि अपने अनुभवों का कल्पना के आधार पर व्यवस्थापन करे। इस प्रकार की कल्पना में संगीन अथवा सामंजस्य की उपेक्षा न होनी चाहिए। उनके समकालीन कवियों में मैथिलीशरण जी ने "कल्पना भी सत्य हो, कृतित्व तभी अपना"[3] कह कर इसी प्रौढ़ विवेक का परिचय दिया है। "प्रसाद" जी ने इस सिद्धान्त को प्रकट रूप में शब्दबद्ध तो नहीं किया है, किन्तु सत्य और सुन्दर के विषय में उनके विचारों से यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उनकी धारणा गुप्त जी के उक्त मन्तव्य से दूर नहीं है।

काव्य के भेद

कविवर "प्रसाद" ने काव्य-रचना के सभी रूपों की चर्चा न कर के केवल महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन किया है। इस काव्यांग के सम्बन्ध में भी उनकी धारणाएँ विस्तृत और पूर्ण नहीं हैं—उन्होंने महाकाव्य में कथावस्तु और पात्र-योजना की स्थिति का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख किया है। इस विषय में उनकी उक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) "वर्णनों से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। उसके सुख-दुख, हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष का वैचित्र्यपूर्ण आलेख्य

१. कामायनी, आमुख, पृष्ठ ८
२. देखिए "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध", पृष्ठ ३८
३ यशोधरा, पृष्ठ १३८

मिलता है।"[1]

(आ) "मानव के मुख-दुख की गाथाएँ गाई गईं। उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोकविश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है। महत्ता ही महाकाव्य का प्राण है।"[2]

इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि महाकाव्य में मानव-जीवन को उसकी पूर्णता में ग्रहण किया जाता है, तथापि कवि का प्रयास इतना अवश्य रहता है कि वह चिन्तन अथवा कल्पना के बल पर मूल वस्तु को नूतन रूप में उपस्थित करे। महत् गुणों से सम्पन्न नायक का चरित्र कथावस्तु के उत्कर्ष में सहायक रहता है। महाकाव्य के विषय में ये दोनों ही धारणाएँ 'प्रसाद' जी की मौलिक देन नहीं हैं—उनसे पूर्व आचार्य द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त ने इनका सकेत प्रतिपादन किया था और उनके सहवर्तियों में "नवीन" और "दिनकर' का प्रतिपाद्य भी प्रकारान्तर से यही रहा है। निस्सन्देह "प्रसाद" जी ने अपने मन्तव्य को इन प्रभावों से मुक्त रह कर उपस्थित किया है, किन्तु सीमित मत-प्रतिपादन के फलस्वरूप उनके विचार परम्परा में आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

काव्य के वर्ण्य विषय

कविवर "प्रसाद" ने काव्य में वर्णनीय विषयों में से लौकिक प्रेम और जातीय भावना का संक्षेप में विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में उनके विचार द्विवेदी युग की सामान्य काव्य-दृष्टि के अनुरूप रहे हैं। उन्होंने आचार्य द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, "रत्नाकर", मैथिलीशरण और रामनरेश त्रिपाठी की भाँति काव्य में स्थूल रीति-शृंगार के आधिक्य को अहितकर माना है। द्विवेदीयुगीन मान्यता के अनुसार ही उन्होंने जातीयता अथवा राष्ट्रीयता के कथन को काव्य का गुण माना है। उदाहरणस्वरूप "कवि और कविता" शीर्षक लेख में यह उद्धरण देखिए—"शृंगार रस की मधुरता पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल तथा थकला गई हैं। इस कारण अब आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी वृत्ति स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, आनन्द बरसाने वाली, धीर गम्भीर पद विक्षेपकारिणी शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए।"[3] यहाँ काव्य में लौकिक प्रेम के समावेश की सर्वथा अवमानना नहीं की गई है। "शृंगार" से उनका अभिप्राय स्थूल रीति शृंगार से है, सौन्दर्य-व्यंजना अथवा प्रेम-व्यंजना का निराकार उनका अभीष्ट नहीं है।

काव्य-वस्तु पर समकालीन सामाजिक-राजनैतिक अवस्थाओं का यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। इसीलिए "प्रसाद" जी ने उपर्युक्त उद्धरण में राष्ट्रीय काव्य की सहृदयों की

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ११२
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ११३
३. इन्दु, श्रावण, संवत् १९६७, पृष्ठ ७४

रुचि के अनुकूल बतलाया है। दूसरे शब्दों में, कवि की अपनी रुचि भी यही है। काव्य में रीति-शृंगार की अतिशयता से विरक्त हो कर "प्रसाद" जी ने सामाजिक वातावरण के अनुकूल राष्ट्रीयता को स्थान देने पर बल दिया है। इससे पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी काव्य में जातीय संगीत को स्थान देने पर इसी प्रकार बल दिया था। यदि ये कवि रूढ़ि-पालन के निमित्त स्थूल रीति-शृंगार को प्रश्रय भी देते तो रुचि-विपर्यय के कारण इन्हें उसमें वांछित सफलता न मिलती। इस सम्बन्ध में सेंट्सबरी द्वारा होरेस के इस मत का उल्लेख महत्वपूर्ण है—"**कवि को अपनी रुचि और क्षमता के अनुकूल वर्ण्य विषय का चुनाव करना चाहिए।**"[1] "प्रसाद" जी ने रीति शृंगार के स्थान पर राष्ट्रीय भावना को महत्व दे कर इसी विवेक का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी उक्ति में काव्य-वर्ण्य के लिए अपेक्षित कतिपय अन्य गुणों की भी चर्चा की है। वे हैं—सजीवता, आनन्द और शान्ति प्रदान करने की क्षमता तथा गम्भीरता। इन तत्वों से सम्पन्न होने पर काव्य-वस्तु निश्चय ही शोभन, आकर्षक और मुखर हो सकेगी।

विशिष्ट काव्य-मत

उपर्युक्त काव्यांगों के अतिरिक्त "प्रसाद" जी ने छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद और आदर्शवाद के स्वरूप पर भी विचार किया है। इन काव्य-मतों पर विचार करने वाले वे प्रथम कवि हैं, तथापि उनकी धारणाओं में गम्भीर चिन्तन की गरिमा रही है। छायावाद के तो वे प्रवर्तक ही थे, अतः इस विषय में उनकी मान्यताओं में मौलिकता का होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार रहस्यवाद और यथार्थ-आदर्श के विषय में भी उनके विचार महत्वपूर्ण हैं।

छायावाद-विषयक धारणाएँ

"प्रसाद" जी ने छायावाद के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट और सबल धारणाएँ व्यक्त की हैं। उन्होंने कविता को इतिहास की रूढ़ घटनाओं और शृंगार रस के स्थूल वर्णनों में ही सीमित न मान कर उसमें नवीन दृष्टिकोण को अपनाने पर बल दिया है। यह नवीन दृष्टि—वेदना की छाया में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति—ही छायावाद है। उनके शब्दों में, "**कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। × × × × × इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।**"[2] इससे स्पष्ट है कि छायावाद में वेदना से प्राप्त अनुभूति अथवा अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता रहती है। अनुभूति को उसके विविध रूपों में

---

१. "Take care that your subject suits both your style and your powers"
(A History of Criticism and Literary Taste in Europe, vol. I, Page 222)

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १०३

प्रस्तुत करना काव्य का गुण है न कि दोष। छायावाद की यह विशेषता काव्य-पथ के प्रशस्तीकरण में सहायक है, अतः इसके खंडन का प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभूति की गम्भीरता और विविधता तो काव्य-मात्र के लिए अपेक्षित है, फिर छायावाद में उसके समावेश का विरोध करने के लिए ही कौन-सा कारण रह जाता है?

छायावाद का द्वितीय प्रमुख तत्व उसका शिल्प-विधान है। इस सम्बन्ध में "प्रसाद" जी ने लिखा है—"सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में *नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।* शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न कर के सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[1] इससे स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान और उपचार-वक्रता छायावाद की प्रमुख कलागत विशेषताएँ हैं। यद्यपि रीति-काल में इन उपादानों के महत्व को समझने का प्रयास किया जा चुका था, किन्तु उस युग में कवियों के प्रयत्न इन्हें व्यवहार रूप में ग्रहण करने तक ही सीमित थे, इनका स्पष्ट सैद्धान्तिक उल्लेख नहीं किया गया था। काव्य में इनकी आवश्यकता का स्वतन्त्र उल्लेख भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग में भी नहीं हुआ—"हरिऔध" और "रत्नाकर" द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना अपवाद-स्वरूप है। ऐसी स्थिति में "प्रसाद" जी द्वारा शब्द-विन्यास के इस मर्म के उद्घाटन का महत्व स्वतः स्पष्ट है। उन्होंने इस विषय में अपने विचारों को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"इस नए प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं।"[2]

भावों की नवीनता और विविधता के अनुकूल भाषा के क्षेत्र में भी नूतन प्रयोगों को स्थान देना सर्वथा सार्थक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रयोगों की विभिन्नता के अनुसार एक ही शब्द विविध स्थूल और सूक्ष्म अर्थों को व्यक्त कर सकता है। छायावादी कला शब्दों की इसी प्रवृत्ति पर आधृत है, उसके कवियों ने परम्परा से प्रयुक्त अनेक शब्दों को भी नवीन रूप प्रदान करने का आग्रह रखा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावादी कविता में कवि के आन्तरिक भावों का उल्लेख रहता है और उसमें अभिव्यक्ति-कौशल पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए कवि शब्द और अर्थ, दोनों में वक्रता का विधान करता है। आलोच्य कवि के मत में "शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२३-१२४

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२४

है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।'[1] इस मन्तव्य की पुष्टि के लिए उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित" और "ध्वन्यालोक" से सुन्दर प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।[2] इन कृतियों से उद्धृत की गई उक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद हिन्दी की नूतन काव्य विधा न हो कर अपने मूल रूप में संस्कृत-काव्य में सुरक्षित है। "प्रसाद" जी का यह विश्वास छायावाद के विषय में उनकी मौलिक देन है। इस सम्बन्ध में उनकी एक अन्य महत्वपूर्ण प्रतिपत्ति यह है कि छायावादी रचना में छाया अथवा कान्ति उसी प्रकार प्रतीयमान रहती है जिस प्रकार नारी के व्यवहार में छाया रूप में प्रकट होने वाली लज्जा उनके अन्तर् में व्याप्त रूप में प्रसृत रहती है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—' कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा भूषण की तरह होती है। × × × × × संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। × × × × × इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं।"[3] इससे स्पष्ट है कि छायावादी कविता में कवि की जिस अन्तर्मुखी भावना की छाया रहती है वह अपने मूल में नारी के लज्जा भाव की भांति व्याप्त है। छायावादी काव्य के स्वरूप और उसके महत्व की यह सबसे अधिक मौलिक, खोजपूर्ण और तत्वग्राही व्याख्या है।

छायावाद के उद्भव-काल में उसके विषय में शंकाओं का होना स्वाभाविक था। "प्रसाद' जी ने इन आरोपों को लक्षित कर के ही यह कहा है—"कुछ लोग इन छायावाद में अस्पष्टतावाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है जहां कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहां अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न हो कर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हां, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आ कर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।"[4]

इस उद्धरण में मूल रूप से इतनी बातों को स्पष्ट किया गया है—(अ) छायावाद में अनुभूति (हृदय-तत्व) की प्रधानता रहती है, (आ) छायावाद और रहस्यवाद में मौलिक अन्तर है, (इ) छायावादी कविता प्रकृति-सौन्दर्य से अनुप्राणित हो सकती है,

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२५
२ देखिए "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध", पृष्ठ १२४-१२६
३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२६
४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२७-१२८

किन्तु यह उसका व्यावर्तक धर्म नहीं है। इन तथ्यों को ध्यान में न रखने पर छायावादी रचना का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। "प्रसाद" जी ने इन विचारों को इतनी निर्मलता के साथ प्रतिपादित किया है कि इस विषय में और अधिक शंकाओं के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। उदाहरणस्वरूप इस सम्बन्ध में "हरिऔध' जी की सम्मति—"छायावाद के नाम पर आजकल बड़ी मनमानी हो रही है। कुछ लोग तो आँख बन्द करके हिन्दी देवी की दिव्यता पर आघात कर रहे हैं। यथेच्छ शब्द व्यवहार का तो प्रवाह बह रहा है। न कोई नियम मानता है, न किसी को मुहावरों की गर्दन तोड़ने की परवा"[1]—इसलिए निर्मूल है कि 'प्रसाद' जी के शब्दों में शुद्ध अनुभूति को लेकर लिखी गई कविता में ऐसा नहीं होता। छायावाद का कवि काव्य शिल्प के प्रति अनुत्तरदायी कदापि नहीं है, हाँ भावना के प्रति न्याय न करने वाली किसी बुद्धि प्रसूत छायावादी रचना के प्रति "हरिऔध' जी का मन्तव्य सत्य हो सकता है। तथापि इतना स्पष्ट है कि छायावाद की प्रतिनिधि काव्य-सामग्री इस दोष से आक्रान्त नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि छायावाद काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। संस्कृत-काव्य काल में उसकी विशेषताएँ प्रशंसित हुई थीं, अतः आधुनिक छायावादी कवियों ने उन्हें अपना कर काव्य को नूतन गति प्रदान की है। 'प्रसाद" जी ने इन विशेषताओं को एक ही स्थान पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[2] इस कथन की सार्थकता पर उपर्युक्त अनुच्छेदों में विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि 'प्रसाद' जी ने छायावादी काव्य सिद्धान्त को गहन अध्ययन और चिन्तन के आलोक में प्रस्तुत किया है।

रहस्यवाद-विषयक विचार

"प्रसाद" जी ने छायावाद की भाँति रहस्यवाद के विषय में भी अपने निजी दृष्टिकोण को स्वच्छ रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्ति को काव्य की मुख्य निधि मान कर ("काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है")[3] यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके प्रति उनका अनुराग छायावाद से कम नहीं है। वे रहस्यवाद को भारतीय चिंतन परम्परा की देन मानते हैं—उसे सेमेटिक धर्म भावना

---

१. छायावाद, फाल्गुन, संवत् १९९६, पृष्ठ ४१

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२८

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४६

अथवा मेसोपोटामिया से गृहीत मानने का सिद्धान्त उन्हें सर्वथा अमान्य है।[1] इस सम्बन्ध में उनकी स्थापनाएँ कोरी भावुकता से प्रेरित नहीं हैं, उनके पीछे तर्क का प्रबल आधार है। उन्होंने भारत में रहस्यवाद के विकास का क्रमिक आलेखन करते हुए यह स्थापना की है कि वैदिक युग से अब तक रहस्य-साधना अनेक धाराओं (सिद्धों का रहस्य-सम्प्रदाय, आगमवादी नाथ-सम्प्रदाय, अवतारवाद से प्रेरित प्रेममूलक रहस्यवाद आदि) में विभक्त हो कर प्रचलित रही है—"रहस्यवाद इन कई तरह की धाराओं में उपासना का केन्द्र बना रहा। जहाँ बाह्य आडम्बर के साथ उपासना थी, वहीं भीतर सिद्धान्त में अद्वैत भावना रहस्यवाद की सूत्रधारिणी थी। इस रहस्य-भावना में वैदिक काल से ही इन्द्र के अनुकरण में अद्वैत की प्रतिष्ठा थी।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रहस्यवाद का प्रारम्भ वैदिक युग में हुआ था और उसमें अद्वैत भावना मुख्य होती है। "प्रसाद" जी ने अद्वैत-मूलक रहस्यवाद को आनन्दमय मान कर भी एक महत्वपूर्ण स्थापना की है। उन्होंने सिद्धों को मान्य रहस्य-सम्प्रदाय की चर्चा करते हुए इस ओर इन शब्दों में इंगित किया है—"इन आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द-मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रखा और इसे वे रहस्य-सम्प्रदाय कहते थे।"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय रहस्यवाद में अद्वैत भावना और आनन्द-मन का सहज समन्वय हुआ है। "प्रसाद" जी ने इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त रहस्यवाद की कुछ अन्य विशेषताएँ भी मानी हैं। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति इस प्रकार है—"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है।"[4] रहस्यवाद की ये सभी विशेषताएँ सुपरीक्षित हैं—व्यावहारिक रूप में इन्हें हिन्दी-कवियों द्वारा ग्रहण भी किया गया है, किन्तु इन्हें सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रथम कवि "प्रसाद" ही हैं। रहस्यवादी कवि होने के नाते उन्होंने अपने विवेचन में स्वानुभूत तथ्यों का गम्भीर और मार्मिक उल्लेख किया है। रहस्यवाद को विदेशी सिद्धान्त न मान कर उसके भारतीय स्वरूप की खोज करने में उन्होंने जिस संलग्नता का परिचय दिया है, वह निश्चय ही प्रशस्य है।

काव्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद

"प्रसाद" जी द्वारा विचारित तृतीय प्रश्न यह है कि काव्य-वस्तु में यथार्थ और

---

१ देखिए "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध", पृष्ठ ४६-४८

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ६३

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५६

४ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ६६

आदर्श में से किसे ग्रहण किया जाए ? इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक रहा है, किन्तु उन्होंने विशेष चर्चा यथार्थवाद की ही की है। उनके शब्दों में, "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावत: दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। × × × × × जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरणस्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटा कर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। × × × × × उस व्यापक दुःख-सवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अश प्रचुरता से होते हैं। × × × × × वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न हो कर पीडित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। × × × × × यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।"[1]

इस अवतरण में मुख्यत: दो बातों पर प्रकाश डाला गया है—(अ) यथार्थवादी कृति में वेदना की अनुभूति प्रधान होती है, (आ) उसमें वर्तमान जीवन के चित्रण के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन भी किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, "प्रसाद" जी ने काव्य में वेदना और ऐतिहासिक सत्यों के वर्णन का समर्थन किया है। इनमें से वेदना की अभिव्यक्ति को राष्ट्रीय-सास्कृतिक कवियों का समर्थन भी प्राप्त रहा है, किन्तु काल क्रम की दृष्टि से "प्रसाद" जी ने इस सिद्धान्त को उनसे पूर्व प्रतिपादित किया था। अत: यह स्पष्ट है कि काव्य-वस्तु की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करने वाले प्रथम कवि वही हैं। तथापि यहाँ यह उल्लेख्य है कि यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने पर भी उन्होंने काव्य में यथार्थ और आदर्श के समजन को ही महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य इस प्रकार है—"साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करता है।"[2]

सिद्धान्त प्रयोग

"प्रसाद" जी के काव्य-सिद्धान्तों से अवगत होने पर उनकी रचनाओं में उनके व्यवहार की स्थिति का अध्ययन कर लेना भी उपयुक्त होगा। उनके द्वारा विवेचित काव्यांगों का सम्बन्ध रचना की आन्तरिक दीप्ति से है, अत: उनके व्यावहारिक रूप का एक स्थान पर ही आलोचन किया जा सकता है। तथापि सिद्धान्त विवेचन के लिए अपनाए गए क्रम के अनुसार छायावाद, रहस्यवाद और यथार्थ आदर्श-सम्बन्धी धारणाओं

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२०-१२२

२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२३

पर "विशिष्ट काव्य मत" शीर्षक से पृथक् विचार करना अधिक समीचीन होगा।

१ काव्य का अन्तरंग

"प्रसाद" जी ने काव्य में आन्तरिक शोभा के विधान के लिए इन बातों को आवश्यक माना है—(अ) उसमें रस (आनन्द) को प्रमुख स्थान प्राप्त होना चाहिए, किन्तु अनुभूति (सत्य), लोक हित की प्रेरणा (शिव) और कल्पना (सुन्दर) भी उसमें विशेषत अभिप्रेत हैं, (आ) उसमें रीति शृंगार की अधिकता न होकर राष्ट्रीयता की सजीव स्थिति होनी चाहिए, (इ) महाकाव्य में मानव जीवन की पूर्णता, मूल वस्तु की नूतन प्रतिष्ठा और नायक के चरित्र की महनीयता विशेष अपेक्षित है। "प्रसाद" जी ने अपनी रचनाओं में इन गुणों के निर्वाह की ओर भी यथोचित ध्यान दिया है। उनकी कृतियों में रस अथवा आनन्द प्रदान का महत्त्व प्रसार तो अनतक ही है, काव्य के अन्य तत्वों (सत्य, शिव और सुन्दर) की ओर से भी वे विमुख नहीं रहे हैं। उनकी रचनाओं में अनुभूति की आन्तरिकता का अभाव नहीं है—विशेषत "आँसू" में तो उसकी गरिमा देखते ही बनती है। "कामायनी" में बुद्धि पर हृदय की विजय का घोषणा-पत्र शिवत्व-साधना का चरम रूप प्रस्तुत करता है। "महाराणा का महत्व", "प्रेम-पथिक" और "कानन-कुसुम" की अधिकांश कविताओं में भी शिव-तत्व के प्रसार को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कल्पना और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए भी उनकी कविता के द्वार सर्वथा उन्मुक्त रहे हैं। इस दृष्टि से "कामायनी", "लहर" और "झरना" का अध्ययन विशेषत अभीप्सित है, किन्तु उनकी अन्य कृतियों में भी प्रकृति और मानव-जीवन की छवि के अंकन का अभाव नहीं है। "कामायनी" में कल्पना का ललित प्रसार "सुन्दर" की उपलब्धि में विशेष सहायक रहा है। अत यह स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य का स्वरूप, रस, काव्य प्रयोजन और काव्य के तत्व के विषय में अपने विचारों को स्व-कृतियों में भी मूर्त रूप प्रदान किया है।

"प्रसाद" जी की द्वितीय स्थापना काव्य के वर्ण्य विषय से सम्बद्ध है। उन्होंने कवि को शृंगार के अतिरेक से बचने का परामर्श दिया है, किन्तु व्यवहार-रूप में उन्होंने इसका सर्वत्र पालन नहीं किया है। "विशाख", "राज्यश्री", "कामना" आदि नाटकों में उपलब्ध प्रेम कविताओं में यत्र-तत्र शृंगार का प्रभाव स्पष्ट है—यहाँ तक कि "कामायनी" भी रूप-यौवन के उद्दाम चित्रों से मुक्त नहीं है। किन्तु, वस्तुत शृंगार से "प्रसाद" का अभिप्राय यहाँ स्थूल रीति शृंगार से ही है प्रणय, सौन्दर्य, यौवन आदि के स्वस्थ और स्फूर्तिमय रूप से नहीं है। इसी प्रकार राष्ट्रीय भावना का सजीव उल्लेख भी उन्हें सहज इष्ट रहा है। "कानन-कुसुम" की "भरत", "शिल्प-सौन्दर्य", "कुरुक्षेत्र" और "वीर बालक" शीर्षक कविताओं,[1] "चन्द्रगुप्त" तथा "स्कन्दगुप्त" के कतिपय गीतों[2] एवं

१. देखिए "कानन-कुसुम", पृष्ठ १०४-१२२

२ देखिए "चन्द्रगुप्त", पृष्ठ १११, २३१ तथा "स्कन्दगुप्त", पृष्ठ १५० १५१

"महाराणा का महत्व" को इसके लिए प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्त यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी विचारों के व्यवहार में अल्पाधिक रूप में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। उनकी महाकाव्य-विषयक धारणाएँ भी "कामायनी" में सहज ही खोजी जा सकती हैं—इस कृति में मानव की विविध मनोदशाओं (चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म आदि) के चित्रण द्वारा जीवन को उसकी पूर्णता में ग्रहण किया गया है, मानव-सृष्टि के प्रारम्भ की ऐतिहासिक कथा को मौलिक गति दी गई है और नायक मनु के चरित्र को दुर्बलताओं से ग्रस्त दिखाने पर भी अन्तत महत् भावनाओं से ऊर्ध्वगामी रखा गया है।

२ विशिष्ट काव्य-मत

"कामायनी" के कवि ने छायावाद, रहस्यवाद और आदर्श-यथार्थ के स्वरूप का स्वतन्त्र विवेचन किया है। उनके अनुसार छायावादी रचना में भावना की समृद्धि के लिए अनुभूति और प्राकृतिक छवि की व्यजना होनी चाहिए तथा शिल्प-सौन्दर्य के विधान के लिए ध्वन्यात्मकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान एव वक्रोक्ति का आश्रय लिया जाना चाहिए। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने अपनी रचनाओं में वेदना और सौन्दर्यानुभूति को विविध रूपों में ग्रहण किया है। अनुभूति को सौन्दर्य से सहज सम्बद्ध रख कर उन्होंने ज्ञान (सत्य) और प्रकृति (आनन्द) में जो समन्वय स्थापित किया है, उसके लिए वे निश्चय ही अभिनन्दनीय हैं। "कामायनी", "लहर" और "झरना" में मुख्यत तथा अन्य कृतियों में स्फुट रूप से प्रकृति-सौन्दर्य का उद्घाटन भी उन्हें इष्ट रहा है। इन चित्रों को उपस्थित करने में कवि ने शिल्प-सृष्टि की सूक्ष्मताओं से भी पूरा लाभ उठाया है। उनकी शैली में इतिवृत्त एव अभिधा का एकान्त तिरस्कार है, क्योंकि वक्रोक्ति और ध्वनि की सम्पदा को विशेषकर 'कामायनी' में ही नहीं, किन्तु "महाराणा का महत्व" के अतिरिक्त प्रायश अन्य कृतियों में भी आग्रहपूर्वक ग्रहण किया गया है। छायावादी कविता की इन शैलीगत विशेषताओं को "कामायनी" के लज्जा सर्ग में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। भावों में चारुता के विधान के लिए प्रतीक-पद्धति का आश्रय भी अनेक स्थानों पर लिया गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पक्तियों में यौवन के लिए "वसन्त" और वय सन्धि के लिए "रजनी के पिछले पहर" का प्रतीकात्मक प्रयोग देखिए—

> "मधुमय वसन्त जीवन वन के,
> वह अन्तरिक्ष की लहरों में।
> कब आये थे तुम चुपके से,
> रजनी के पिछले पहरों में॥"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "प्रसाद" जी के छायावाद-विषयक विचार उनकी कृतियों में भी यथावत् व्यवहृत हैं। रहस्यवाद का विवेचन करते समय उन्होंने उसमें अद्वैत भावना, आनन्द-मत, अपरोक्ष अनुभूति और समरसता की स्थिति पर बल दिया

---

१. कामायनी, सप्तम संस्करण, "काम" सर्ग, पृष्ठ ६२

है। ये विशेषताएँ मुख्यतः "कामायनी" में उपलब्ध होती हैं। उन्होंने **"पुतली बन कर रहें चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे"**[1] जैसी काव्य-पंक्तियों में अद्वैत भावना और आनन्द-धारा को एक साथ समाविष्ट रखा है। अपरोक्ष अनुभूति के फलस्वरूप आत्मा की आनन्द-विह्वलता को "कहो" शीर्षक कविता में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—**"बाह्य वियोग, मिलन था मन का, इसका कारण कौन कहो ?"**[2] रहस्यवाद की इन सभी विशेषताओं को "कामायनी" में भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। कवि ने "दर्शन" सर्ग में शैवागम के आनन्द-सिद्धान्त को, "रहस्य" सर्ग में अपरोक्ष अनुभूति का और "आनन्द" सर्ग में सम-रसता के भाव को स्थान दे कर अपने विचारों को उत्कृष्ट मूर्त रूप प्रदान किया है।

"प्रसाद" जी की रचनाओं में यथार्थवाद और आदर्शवाद-सम्बन्धी विचारों का भी उपयुक्त प्रतिफलन हुआ है। उन्होंने यथार्थवादी रचना में वर्तमान जीवन की वेदना और ऐतिहासिक सत्य को स्थान देने का परामर्श दिया है, किन्तु उनका मूल प्रतिपाद्य यथार्थ और आदर्श में *सामंजस्य की स्थापना है। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से* "आँसू" में जीवनव्यापी वेदना के यथार्थ रूप का करुण चित्रण हुआ है। "कामायनी" के "चिन्ता" सर्ग में देव-सृष्टि के नाश की ऐतिहासिक गाथा को यथार्थ के अंचल में प्रस्तुत किया गया है। यह उल्लेखनीय है कि उनके काव्य में यथार्थ का अर्थ वस्तुवादी दृष्टि नहीं है। सम-रसता के आलोक में भौतिक वास्तविकता का पृथक् अस्तित्व स्वाभाविक रूप से लुप्त हो गया है। इसीलिए "कामायनी" में मनु की भौतिक समस्याओं की परिणति आनन्दवाद में हुई है। अतः यह स्पष्ट है कि उनकी रचनाएँ यथार्थ और आदर्श के सामंजस्य से अनु-प्राणित हैं।

विवेचन

"प्रसाद" जी की काव्य-धारणाओं का समग्र रूप में अध्ययन करने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वे उद्भावक आचार्य के समान कृतकार्य रहे हैं। उनके द्वारा विवेचित काव्यांगों में से काव्य का स्वरूप, रस, छायावाद और यथार्थवाद की समीक्षा विशेष मौलिक और तलस्पर्शी है। अन्य काव्यांगों की समीक्षा में सुदृढ़ आधार और विवेक-पुष्ट तर्क प्रणाली का ध्यान तो रखा गया है, किन्तु व्यापकता का प्रायः अभाव रहा है। इन काव्यांगों (काव्यात्मा, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-दर्प) के विवेचन में यत्र-तत्र पूर्ववर्ती काव्यादर्शों से भी प्रेरणा ली गई है, किन्तु उनके मौलिक दृष्टिकोण की छाप वहाँ भी लक्षित की जा सकती है। उन्होंने काव्य के सभी अंगों का मौलिक, परिश्रमपूर्ण और शोधपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके काव्य-चिन्तन की दो विशेषताएँ तुरन्त ध्यान आकृष्ट करती हैं—(अ) काव्य-कला और रहस्यवाद के विवेचन में *पाश्चात्य काव्य-मान्यताओं की आलोचना,* (आ) *आधुनिक काव्य की विशेषताओं* (रस, छायावाद, रहस्यवाद आदि) का प्राचीन भारतीय विचार-पद्धति के प्रकाश में पुनर्विवे-

---

१. झरना, पृष्ठ ४४
२. झरना, पृष्ठ ४५

चन। उनके प्रतिपादन का एकमात्र अभाव यह है कि उन्होने काव्य शिल्प की प्रत्यक्ष आलोचना नही की है। उन्होंने छायावाद के प्रकरण मे कतिपय शैलीगत विशेषताओ का निर्देश-मात्र किया है। उनकी कृतियो के आधार पर कुछ मान्यताओ को अनुगम विधि से निष्कर्षित भी किया जा सकता है किन्तु यदि उन्होने इस काव्याग की स्वतन्त्र मीमासा की होती तो वह निश्चय ही हिन्दी-काव्य शास्त्र के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का कार्य करती। तथापि अनुपलब्ध की चिन्ता न कर केवल उपलब्ध की मीमासा करने पर भी यह कहा जा सकता है कि काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे उनका योगदान अभूतपूर्व है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

छायावाद के स्वतन्त्रचेता कवि होने के नाते "निराला" ने परम्परा-प्राप्त काव्य-सिद्धान्तों को यथावत् ग्रहण कर के ही सन्तोष नहीं किया है, अपितु अपनी कविताओं की नवीन प्रवृत्तियों के अनुकूल मौलिक सिद्धान्त-स्थापना भी उन्हें इष्ट रही है। उनकी धारणाएँ काव्य-ग्रन्थों (परिमल, गीतिका, बेला, अनामिका, अर्चना), निबन्ध-सङ्कलनों (प्रबन्ध-प्रतिमा, चाबुक, प्रबन्ध पद्म, चयन) और आलोचनात्मक कृतियों (पन्त और पल्लव, रवीन्द्र-कविता-कानन) में स्फुट रूप से व्याप्त रही हैं, किन्तु समन्वित अध्ययन करने पर उनके मन्तव्यों को सहज ही सुव्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। उन्होंने मुख्यतः काव्य का स्वरूप और काव्य शिल्प का विवेचन किया है और सामान्यतः काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद और काव्य-वर्ण्य की समीक्षा की है। इन काव्यांगों के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ गद्य और पद्य में समान रूप से अभिव्यक्त रही हैं।

काव्य का स्वरूप

"निराला" ने काव्य के स्वरूप पर एक स्थान पर विचार नहीं किया है, तथापि उपलब्ध उक्तियों से उनकी काव्य-मर्मज्ञता का सहज ही बोध हो जाता है। उन्होंने जगत् के विविध दृश्यों की स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को कवि का आदर्श माना है, "साहित्यिक संसार की अच्छी चीजों का समावेश अपने साहित्य में करते हैं और उनके प्राणों के रंग से रंगीन हो कर वे चीजें साधारणों को भी रंग देती हैं।"[1] प्राणों का रंग स्पष्टतः अनुभूति की आन्तरिकता से सम्बद्ध है। काव्य में उसके प्रतिफलन का अभिप्राय कवि के आत्माभिव्यंजन से है। अनुभव की व्यापकता के अभाव में कवि की आत्म-चर्चा को श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा यह प्रवृत्ति काव्य के लिए सर्वथा अहितकर नहीं है। "निराला" के शब्दों में "काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर खास तौर से जोर देता हो तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा।"[2] अनुभूति की विशदता और अभिव्यक्ति की पावनता के संयोग से ही काव्य सहृदय-संवेद्य बन पाता है। इसीलिए स्वाभाविक कविता को जनता के पथ-प्रदर्शन में सहायक मान कर उन्होंने "तुलसीकृत रामायण का आदर्श" शीर्षक लेख में कहा है—

१. गीतिका, भूमिका, पृष्ठ ५

२. चयन, पृष्ठ ४६

"कवियों के हृदय निर्गत कविता रूपी उद्‌गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बैठ जाती है, प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता प्रायः वही सम्मति सच मानती है जो कवि से प्राप्त होती है।"[1]

उपर्युक्त अनुच्छेद से स्पष्ट है कि अनुभूति के बल पर लोक मार्ग का प्रशस्तीकरण कवि का धर्म है। यह दृष्टिकोण आचार्य राजशेखर की उक्ति, "कविवचनायत्ता लोकयात्रा"[2] और जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' की मान्यता, "कला अग्रगति, इसके पीछे हर युग सब जग चलता है"[3] के अनुकूल है। "निराला" ने इस मन्तव्य से प्रभावित होने के फलस्वरूप काव्य में युग-चेतना की अभिव्यक्ति पर बल दिया है—"समय का रुख जिस ओर होता है, जिस ओर चलने के लिए कवि की अन्तरात्मा उसे संकेत करती है, कवि को सफलता की आशा होती है, उसी ओर उसकी काव्य प्रतिभा विकसित होती है।"[4] काव्य में सामयिकता के सजग निर्वाह का यह सन्देश राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों को सहज मान्य रहा है। इस धारणा का औचित्य निर्विवाद है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि काव्य को युग विशेष की परिधि से बाहर नहीं आना चाहिए। इसीलिए उन्होंने काव्य की आधारभूत भावनाओं को सार्वभौम मान कर प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन, फैजाबाद में भाषण देते हुए कहा था—"साहित्य दायरे से छूट कर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है "लोक" जो कुछ दे पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है, भावों से, केवल भाषा का एक देशगत आवरण उस पर रहता है।"[5] इसी धारणा को उन्होंने अन्यत्र भी इस रूप में व्यक्त किया है, "यदि विचार किया जाय तो साधारण भाव भी सब साहित्य के एक ही होंगे, जब कि सब साहित्य के निर्माता मनुष्य ही हैं और एक ही प्रकृति उनके अन्दर काम कर रही है।"[6]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में सार्वभौम विचारों को युग-चेतना की अनुभूति के बल पर लोकमंगलकारी रूप में व्यक्त किया जाना चाहिए। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि को केवल मधुर और शान्त का ही आश्रय नहीं लेना चाहिए, अपितु ओजमयी भाव धारा के बल पर जन प्रभविष्णु काव्य की युगान्तरकारी सृष्टि करनी चाहिए। इसके लिए भावना की भाँति कला का प्रकर्ष भी समान रूप में वांछित है। इसी-

१ माधुरी, अगस्त १९२३, पृष्ठ ४९
२ काव्य मीमांसा, षष्ठ अध्याय पृष्ठ ६६
३ बलिपथ के गीत, पृष्ठ ६५
४ माधुरी, अगस्त १९२३, पृष्ठ ५०
५ प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ २५८ २५९
६ चयन, पृष्ठ १०३

लिए "निराला" ने कहा है, "हिन्दी को मधुरता के साथ इस समय विशेष ओज की भी जरूरत है। विश्व साहित्य के कवि-समाज पर उसी तरह के कवि का प्रभाव पड सकता है, जो भावना के द्वारा मन को आकर्षक रीति से उन्नत से उन्नत विचार कला के मार्ग से चल कर दे सके।"[१]

काव्य की आत्मा

आलोच्य कवि ने काव्य की आत्मा का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने रस का काव्य का मूल गुण माना है और ध्वनि तथा रीति के अनिवार्य महत्व की सकेत-शैली मे चर्चा की है। रस के महत्व के विषय मे केवल यही उक्ति उपलब्ध है, "नव रसों को समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बडा कवि है।"[२] इस उक्ति मे कोई मौलिक उद्भावना तो नहीं है, किंतु रस के प्रति कवि की आस्था इससे सहज ही प्रमाणित हो जाती है। उन्होंने ध्वनि तथा रीति की महत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है, तथापि पन्त जी के प्रति कथित उक्ति से इस विषय मे उनके मन्तव्य का अनुमान अवश्य किया जा सकता है—"उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो साहित्य का ही जीवन है, जो किसी तरह भी नहीं मर सकता। × × × × × शब्दों को जिस सहृदय-दृष्टि से उन्होंने देखा है, अपनी रुचि के अनुसार उनमें जो परिवर्तन किए हैं, वही उनकी मौलिकता है।"[३] यहाँ काव्य-श्री के संवर्द्धन मे शब्द-कौशल के महत्व को स्वीकार कर के रीति को और शब्दो के आन्तरिक जीवन को महत्व दे कर ध्वनि को गौरव दिया गया है, तथापि पूर्वोक्त उद्धरण के आलोक मे यह असन्दिग्ध है कि उन्होंने रस को ही काव्य का प्राण-तत्व माना है।

काव्य-हेतु

"निराला" ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य-रचना मे सहायक कारण माना है। उन्होंने द्विवेदी युग के अधिकाश कवियों की भाँति प्रतिभा को परमात्म-प्रसाद के रूप मे ग्रहण किया है। "अर्चना नामक आधुनिक गीतों का संग्रह, ईश्वर की इच्छा से प्रस्तुत हो कर × × × × × पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख उपस्थित है"[४] जैसी उक्ति इसी धारणा को पुष्ट करती है। उन्होंने प्रतिभा को मानव-मन का उत्कर्ष करने वाली बन्धन-विहीन शक्ति-विशेष माना है। उसके दैवी रूप के विषय मे उनकी उक्ति इस प्रकार है—"कली की सुगन्ध की तरह महाकवि की प्रतिभा भी अपनी छोटी सी सीमा के भीतर सन्तुष्ट नहीं रहना चाहती। वह हर एक मानवीय दुर्बलता को परास्त करना चाहती है। यह

१ पन्त और पल्लव, पृष्ठ ८६
२ रवीन्द्र कविता-कानन, पृष्ठ ५२
३. पन्त और पल्लव, पृष्ठ ८०
४ अर्चना, भूमिका, पृष्ठ "क"

उसका स्वाभाविक धर्म भी है। क्योंकि दैवी-शक्ति वही है जो मानवीय बन्धनों का उच्छेद कर देती है।"[1] काव्य की आत्मा की भाँति कवि का यह दृष्टिकोण भी परम्परागत सत्य की ही स्वीकृति है, अतः यहाँ इसके विशेष विवेचन के लिए अवकाश नहीं है।

"निराला" ने व्युत्पत्ति के अन्तर्गत लोक-वृत्त के ज्ञान और अध्ययन के महत्व का उल्लेख किया है। उनके अनुसार "प्रकृति का पर्यवेक्षण करने वाला ही कवि नहीं हो जाता, उसे और भी बहुत सी बातों की नाप तौल करनी पड़ती है। किस शब्द का प्रयोग उचित होगा, किस शब्द से कविता में भाव की व्यंजना अधिक होगी, इसका भी ज्ञान कवियों को रखना पड़ता है।"[2] इससे स्पष्ट है कि काव्य रचना के लिए लोक-दर्शन अथवा प्रकृति निरीक्षण के अतिरिक्त शब्द-योजना के स्वरूप का भी ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए काव्य शास्त्र और काव्य के अनुशीलन के अतिरिक्त अभ्यास भी विशेष अपेक्षित है। भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्य भामह ने काव्य साधनों का उल्लेख करते समय शब्द के मर्म-ज्ञान को यही महत्व दिया है।[3] लोक-व्यवहार और शब्द रहस्य के ज्ञान के अतिरिक्त "निराला" ने काव्य के अध्ययन से प्राप्त प्रेरणा को भी काव्य-कारण माना है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि पूर्ववर्ती काव्य रचनाओं से सुन्दर भावों का प्रतिबिम्बवत् ग्रहण करना कवि-मात्र के लिए स्वाभाविक है—

"भावापहरण के अपराध में, बड़े से बड़े प्राय सभी कवि दोषी हैं। × × × × × उत्तमोत्तम भावों के ग्रहण करने की शक्ति रसग्राही कवि हृदय में ही हुआ करती है, वे चाहे दूसरे के ही भाव हों, उसकी सहृदयता से घुल कर नवीन युग की नवीन रश्मि से चमकते हुए फिर वे उसी के हो कर निकलते हैं।"[4]

उपर्युक्त उद्धरण में अध्ययन (प्राचीन और नवीन कवियों से प्रेरणा-ग्रहण) के काव्य-साधनत्व की निर्भ्रान्त स्थापना हुई है, किन्तु उन्होंने इस दृष्टिकोण का सतत निर्वाह नहीं किया है। "मेरी तमाम रचनाओं में दो चार जगह दूसरों के भाव मुमकिन हैं, आ गए हों, पर अधिकांश कल्पना, ९५ फीसदी, मेरी अपनी है"[5] कह कर उन्होंने उपरोक्त धारणा से स्वयं ही मतभेद प्रकट किया है। इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रकट किया है, "मैंने जो कुछ भी लिखा, सदैव नूतनता के दृष्टिकोण से लिखा।"[6] काव्य में मौलिकता को स्थान देने के विषय में यह दृष्टिकोण उनके समकालीन कवि माखनलाल चतुर्वेदी को भी मान्य रहा है। मौलिकता की प्रवृत्ति काव्य के औज्ज्वल्य के लिए श्रेयस्कर है। अब उनकी पूर्वोक्त धारणा का इन उक्तियों से समन्वय करने पर यह कहा जा सकता है कि वे मौलिकता को काव्य का गुण मानने पर भी अन्य कवियों के प्रभाव को यत्र-तत्र छाया रूप

---

१. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ४२
२. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ११८
३. देखिए "काव्यालंकार", १।६ तथा १।१०
४. पन्त और पल्लव, पृष्ठ ७१
५. परिमल, भूमिका, पृष्ठ २३
६. महाकवि निराला, संस्मरण . सदानन्द', पृष्ठ ४२

में ग्रहण करना दोष नहीं मानते।

काव्य का प्रयोजन

प्रस्तुत कवि ने आनन्द और हितात्मकता को काव्य के मुख्य प्रयोजन माना है और वर्ण्य विषय पर सिद्धि प्राप्त करने के उपरान्त यश के लाभ को उसका गौण फल कहा है। काव्य में उपलब्ध होने वाले आनन्द के विषय में उनकी धारणा है, **"फूलों का मुख्य गुण है उनकी सुगन्ध, कृति का मुख्य गुण है उसकी रोचकता।"**[1] यहाँ "रोचकता" काव्य से प्राप्य स्व-संवद्य आनन्द के लिए पर्याय-रूप है, साधारण मनोरंजन की उपलब्धि उसमें अभिप्रेत नहीं है। इस सम्बन्ध में छायावादी काव्य धारा के विरोधी ब्रजभाषा-समर्थकों के विषय में उनकी यह उक्ति द्रष्टव्य है—**"वे तो सिर्फ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तरदायित्व को ले कर नहीं, उनकी आँखों में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। × × × × × कौन से भाव सार्वजनीन और कौन से एकदेशीय हैं, उन्हें पता नहीं।"**[2] यहाँ विश्व को प्रभावित कर सकने अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण सूक्ष्म सत् चिन्तन को प्रोत्साहन देने को काव्य का लक्ष्य माना गया है। इस धारणा के मूल में मानवतावाद की स्थिति है। वस्तुतः काव्य में स्थूल उपदेश-वृत्ति को ग्रहण करना आलोच्य कवि को अभीष्ट नहीं है। इसीलिए उन्होंने "मेरे गीत और कला" शीर्षक लेख में लिखा है, **"उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।"**[3] काव्य के माध्यम से विश्व-मानवता के उल्लेख का पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रतिपादन होने पर भी "निराला" जी के मन्तव्य को महत्वपूर्ण मानना होगा, क्योंकि पूर्वोपलब्धियों का मंडन भी काव्य-शास्त्र की अनुपेक्षणीय सम्पदा है।

काव्य के बाह्य प्रयोजनों के प्रति 'निराला" के मन में उपेक्षा का भाव रहा है। उन्होंने केवल यश-संचय के प्रलोभन को कवि के लिए त्याज्य माना है।[4] यश की इच्छा की अपेक्षा वर्ण्य विषय पर अधिकार करने को वे कवि के लिए अधिक आवश्यक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने "मेरे गीत और कला" शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है, **"विज्ञ जन जानते हैं, प्रसिद्धि का भीतरी अर्थ यशोविस्तार नहीं, विषय पर अच्छी सिद्धि पाना है।"**[5] इससे यह स्पष्ट है कि यश की अभिलाषा रखने वाला कवि दोषी नहीं है, किन्तु उसे यश को प्रासंगिक फल ही मानना चाहिए, मूल साध्य नहीं। कवि का कर्तव्य यही है कि वह सात्विक हृदय से काव्य-सृजन करे, यश के पीछे भटकना उसका धर्म नहीं है। सत्य तो यह है कि आन्तरिक गुणों से सम्पन्न रचना के लिए यश स्वतः प्राप्य होता है। इसीलिए उन्होंने "अर्चना" के विषय में कहा है, **"रस-सिद्धि की परताल कीजिएगा**

---

१ चयन, पृष्ठ ५३

२ चाबुक, पृष्ठ ४६

३. प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ २८४

४ देखिए "प्रबन्ध प्रतिमा", पृष्ठ २६५ २६६

५ प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ २६५

तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशामात्र है।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवि ने काव्य के बाह्य प्रयोजनों की अपेक्षा उसके अन्तरंग लक्ष्यों पर अधिक बल दिया है।

काव्य के तत्व

प्रस्तुत कवि ने काव्य के तत्वों का स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि निम्नोक्त उक्तियों के आधार पर यह अनुमित किया जा सकता है कि वे काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर के सहयोग में ही उसकी पूर्णता मानते हैं—

(अ) "कितने वे भाव रसलाव पुराने-नये,
सस्रुति की सीमा के अपर पार जो गये,
गढ़ा इन्हीं से यह तन,
दिया इन्हीं से जीवन,
देखे हैं स्फुरित नयन इन्हीं से,
कवियों ने परम कान्ति
दी जग को चरम शान्ति,
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्हीं से।"[2]

(आ) "देखता हूँ,
फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसन्त में
जैसे तव कल्पना की डालों पर खिलते हैं।"[3]

(इ) "कविता प्रिय मनुष्य कल्पनाप्रिय हो जाता है। उससे काम नहीं होता। ललित कल्पना मनुष्य को कर्म के कठोर क्षेत्र पर उतरते भय दिखाती है। कविता की सुकुमार भावना लोगों को सौन्दर्योपासक बना देती है। इससे जाति के कर्म-जीवन के शिथिल होने की सम्भावना है।"[4]

इनमें से प्रथम उद्धरण में प्रकारान्तर से सत्य और शिव के महत्व की स्थापना की गई है, द्वितीय अवतरण में कल्पना के सौन्दर्य प्रसार का सहज आख्यान हुआ है और तृतीय उद्धरण में कल्पना के अतिरेक का विरोध कर जीवन के सत्य (कर्म सिद्धान्त) का गौरव दिया गया है। स्पष्ट है कि उन्होंने कल्पना की अपेक्षा अनुभूति और चिन्तन को अधिक महत्व दिया है, किन्तु कल्पना के मंडन और खंडन के विषय में अपनाई गई पद्धति इस तथ्य की प्रतीक है कि उन्होंने काव्य-तत्व निर्धारण में एकान्विति नहीं रखी है। अतः

---

१ अर्चना, भूमिका, पृष्ठ "क"
२ अनामिका, पृष्ठ १४२
३ परिमल, पृष्ठ २०८
४ चयन, पृष्ठ २५

अन्तर्विरोध और अस्पष्टता के फलस्वरूप इस विषय मे उनकी धारणाओं को अपूर्ण ही मानना होगा।

काव्य के भेद

आलोच्य कवि ने काव्य-रचना के रूपो में से केवल गीतिकाव्य के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस रचना विधा मे कवित्व और संगीत की समनुरूप योजना पर बल देते हुए यह प्रतिपादित किया है, 'प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की संगति की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड दी जाती थी, इसीलिए उसमें काव्य का एकान्त अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लाछन लगता है, उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो एक स्थलों को छोडकर अन्यत्र सभी जगह संगीत के छन्दःशास्त्र की अनुर्वातता की है। भाव प्राचीन होने पर भी प्रकाशन का नवीन ढग लिए हुए हैं। × × × × × जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गीतिकाव्य मे इन गुणो की स्थिति होनी चाहिए—काव्य-माधुरी, संगीत के नियमो का निर्वाह, मौलिकता, भावानुरूप भाषा। हिन्दी-कवियो द्वारा गीतिकाव्य के स्वरूप का यह प्रथम तात्त्विक विवेचन है—राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियो मे उदयशंकर भट्ट ने इस मर्म-ज्ञान का परिचय नहीं दिया है और छायावादी कवियो मे भी महादेवी वर्मा का स्थान "निराला" के बाद ही आता है। 'निराला" द्वारा निर्दिष्ट गीतिकाव्यांगो मे से मौलिकता और भावानुकूल भाषा तो काव्य-मात्र के लिए वांछित हैं, किन्तु काव्य-शोभा की योजना के लिए संगीत का उपयुक्त आश्रय लेना उसकी अपनी विशेषता है। संगीत-शास्त्र के ज्ञाता होने के कारण उन्होंने इस सिद्धान्त को अत्यन्त सफलता के साथ उपस्थित किया है। इस विषय पर अधिकार रखने के कारण ही उन्होंने संगीत-कला से अनभिज्ञ कवियो द्वारा प्रवाहपूर्ण कविताओ मे भी गीति-तत्व के समावेश का विफल प्रयास करने को अनुचित मान कर यह प्रतिपादित किया है—

"शब्द-शिल्पी संगीत-शिल्पियों की नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ-व्यंजना के लिए भावपूर्वक साधारणतया पढना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिनी में भर कर स्वर में माजने की चेष्टा करके उसके सौन्दर्य को बिगाड देना अच्छी बात नहीं।"[2]

काव्य के वर्ण्य विषय

कविवर "निराला" द्वारा अनुमोदित वर्ण्य विषय प्रकृति और राष्ट्रीयता है,

१ गीतिका, भूमिका, पृष्ठ ६

२ रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ १४०

किन्तु उन्होंने अधिकांश पूर्ववर्ती कवियों की भांति कविता के द्वार को प्रत्येक विषय के लिए उन्मुक्त माना है। उन्होंने विषय-वैविध्य को रचना की सजीवता और आनन्द-सृष्टि में सहायक मानकर यह उल्लेख किया है, "साहित्य को जीवित रखने के लिए उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है, और जबकि अपने अपने स्थान पर सभी भाव आनन्दप्रद हैं और जीवन पैदा करने वाले हैं।"[१] इस दृष्टिकोण की सार्थकता असन्दिग्ध है क्योंकि रचना की परिस्थितियों, रचनाकार की क्षमता और प्रमाता की रसास्वादन-सम्बन्धी योग्यता के फलस्वरूप सभी विषय किसी न किसी रूप में आकर्षक हो सकते हैं। तथापि इस प्रभाव-सृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि कवि अनुभूति के आलोक से वंचित न रहे। इसीलिए "निराला" ने अनुभव-प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील कवि के मानस में लौकिक दृश्यों के संचित प्रतिबिम्बों की अभिव्यक्ति को उसका आदर्श माना है—

"कवियों का हृदय स्वभावतः बड़ा कोमल होता है। वे दूसरों के साथ सहानुभूति करते-करते इतने कोमल हो जाते हैं कि किसी भी चित्र की छाया उनके हृदय में ज्यों की त्यों पड़ जाती है, उन्हें इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह उनका स्वाभाविक धर्म ही बन जाता है।"[२]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि अपने अनुभव के बल पर जगत् के सभी पदार्थों का वर्णन कर सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने काव्य में प्रकृति चित्रण के विषय में यह मत उपस्थित किया है—"जो कवि और महाकवि होते हैं वे प्रकृति के हरेक कमरे में प्रवेश करने का जन्मसिद्ध अधिकार लेकर आते हैं। × × × × × यही कारण है कि जड़ और चेतन, सबकी प्रकृति कवि को अपना स्वरूप दिखा देती है। वे दर्पण हैं और प्रकृति का प्रत्येक विषय उन पर पड़ने वाला सच्चा बिम्ब है।"[३] प्रकृति से तात्पर्य यहाँ बाह्य और आन्तर प्रकृति अर्थात् जगत् और जीवन दोनों का है। काव्य और प्रकृति के इस सहज सम्बन्ध को लक्षित करके ही वर्ड्सवर्थ ने कविता को मानव और प्रकृति के क्रिया-व्यापारों का मूर्त रूप माना है।[४] हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न और गोपालशरणसिंह ने भी प्रकृति को काव्य का वर्ण्य-विशेष माना है। स्पष्टतः "निराला" ने इस सिद्धान्त के विवेचन में किसी प्रकार की मौलिकता का परिचय नहीं दिया है। इसी प्रकार काव्य में राष्ट्रीयता के प्रतिपादन के विषय में भी उनके विचार पूर्व परम्परा से प्रेरित रहे हैं—"जिस समय से देश पराधीनता के पिंजड़े में बन्द विहगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से लेकर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है।

१. प्रबन्ध, पृष्ठ ६३
२. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ५२
३. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ १७
४. "Poetry is the image of man and nature."
(English Critical Essays, 19th Century, Page 14)

क्योंकि, प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने वाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर कौन करेगा ?"[1] यह दृष्टिकोण आधुनिक युग के अधिकांश पूर्ववर्ती कवियों को लगभग इसी रूप में मान्य रहा है। तथापि नूतन दृष्टि का परिचय न देने पर भी 'निराला" के मन्तव्य को महत्व-रहित नहीं कहा जा सकता।

काव्य-शिल्प

"निराला" ने काव्य में शिल्प-सौन्दर्य के प्रतिष्ठापक तत्वों में से भाषा और छन्द के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु अलंकार के विषय में उनकी कोई उक्ति उपलब्ध नहीं होती। आगे हम उनके विचारों का क्रमशः निरूपण करेंगे।

१ काव्य-भाषा

आलोच्य कवि ने भाषा के विषय में मूलतः यह धारणा व्यक्त की है कि कवि को भावानुरूप भाषा का प्रयोग करना चाहिए,—अतः उच्च भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा में क्लिष्टता का समावेश दोष नहीं है। इस सम्बन्ध में ये उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "तुलसीदास जी की विनयपत्रिका मास्टरपीस (सर्वोत्कृष्ट) होते हुए भी जनप्रिय एवं सरल इसलिए है कि भाषा क्लिष्ट होते हुए भी भावों में बड़ी गम्भीरता है, किन्तु हम लोग सरल लिखते हैं (भाषा), जिसके कारण प्रायः भाव स्पष्ट नहीं हो पाते। इसी कारण लोग कविता को, क्लिष्ट कहते हैं, किन्तु बात बिल्कुल इसकी उल्टी है। उच्च भावों की अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप भाषा भी होनी चाहिए।"[2]

(आ) "हमारा यह अभिप्राय भी नहीं कि भाषा मुश्किल लिखी जाय, नहीं, उसका प्रवाह भावों के अनुकूल ही रहना चाहिए। आप निकली हुई और गढ़ी हुई भाषा छिपती नहीं। भावानुसारिणी भाषा कुछ मुश्किल होने पर भी समझ में आ जाती है।"[3]

(इ) "किसी भाव को जल्दी और आसानी से तभी हम व्यक्त कर सकेंगे जब भाषा पूर्ण, स्वतन्त्र और भावों की सच्ची अनुगामिनी होगी।"[4]

इन उद्धरणों में दो बातें स्पष्ट रही हैं—(१) कवि को भावों के अनुसार ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए, (२) गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति में भाषा अनिवार्यतः क्लिष्ट हो जाती है। इनमें से प्रथम मन्तव्य को "रत्नाकर", रामनरेश त्रिपाठी और सत्यनारायण कविरत्न का विशेष समर्थन प्राप्त रहा है और द्वितीय धारणा को आचार्य द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", मैथिलीशरण, बालमुकुन्द गुप्त, "पूर्ण", "नवीन", सियारामशरण तथा "मिलिन्द" ने आग्रहपूर्वक व्यक्त किया है। अतः यह स्पष्ट है कि "निराला" की ये दोनों स्थापनाएँ उनके पूर्वकालीन और समकालीन कवियों को भी मान्य रही हैं। इसी

---

१. रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ५२

२. महाकवि निराला—संस्मरण : श्रद्धांजलियाँ, पृष्ठ ५५

३. विश्लेषण, जनवरी १९५८, पृष्ठ ३, "साहित्य और भाषा" शीर्षक लेख

४. चयन, पृष्ठ २६

प्रकार काव्य-भाषा की स्वाभाविकता के विषय में उनका निम्नलिखित मत भी परम्परा-सिद्ध है—

"अलकार-लेश-रहित, श्लेष-हीन
शून्य विशेषणों से—
नग्न नीलिमा-सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी।"[1]

यहाँ काव्य की भाषागत कृत्रिमता का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया गया है। वस्तुत संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण करने का समर्थन करने पर भी वे भाषा में क्लिष्टता के प्रतिपादक नहीं हैं, उसकी सहज स्वाभाविकता और सरल विभूति की ओर भी वे सजग रहे हैं। इसीलिए उन्होंने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में यह उल्लेख किया है, "प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ भी जाय—शक्ति-सामर्थ्य और मुक्ति की तरफ या सुखानुशयता, मृदुलता और छन्द-लालित्य की तरफ, यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जायगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा में है।"[2]

२. काव्य में छन्द-योजना

"निराला" जी ने मुख्य रूप से मुक्त छन्द का विवेचन किया है, किन्तु हिन्दी-काव्य में अन्य भाषाओं के छन्दों को ग्रहण करने का समर्थन करने के निमित्त उन्होंने "बेला" के आवेदन में यह उल्लेख किया है—"नई बात यह है कि अलग-अलग बहरों की गजलें भी हैं, जिनमें फारसी के छन्द शास्त्र का निर्वाह किया गया है।"[3] हिन्दी-कविता की समृद्धि में विदेशी पिंगल शास्त्र के योगदान का इससे पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, "प्रेमघन", प्रतापनारायण मिश्र, आचार्य द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध" और लोचनप्रसाद पाडेय द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे स्पष्टीकरण किया जा चुका था। अत इस सम्बन्ध मे तो "निराला" जी के विचारो मे कोई मौलिक उद्भावना नही है, तथापि उनकी मुक्त छन्द अथवा मुक्त काव्य-सम्बन्धी धारणाओं से यह प्रमाणित हो जाता है कि वे उद्भावक आचार्य की प्रतिभा रखते है। इस सम्बन्ध मे उनकी रचनाओं से निम्नांकित अवतरण द्रष्टव्य है—

(अ) "मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।"[4]

(आ) "मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे

१ परिमल, पृष्ठ २६४
२ प्रबन्ध-प्रतिमा, पृष्ठ २७१-२७२
३ बेला, "आवेदन" से उद्धृत
४. परिमल, पृष्ठ २६४

साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। × × × × × मुक्त-छन्द भी अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर-प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। × × × × × इस तरह की (छन्दोबद्ध) कविता अनुप्रान्त काव्य का गौरव-पद भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त काव्य या स्वच्छन्द छन्द कदापि नहीं। × × × × × मुक्त-छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है। इस पुस्तक (परिमल) के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"[1]

(इ) "मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में वर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप-सौन्दर्य पर ध्यान रखा है, बल्कि कहना चाहिए ऐसा स्वभावतः हुआ, नहीं तो मुक्त छन्द न लिखा जा सकता, वहाँ कृत्रिमता नहीं चल सकती।"[2]

(ई) "मुक्त-काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणों को सुख प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी-बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं के हृदय की दुर्बलता है।"[3]

इन अवतरणों में मुक्त काव्य के सभी गुणों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। इनमें दो बातों पर विशेष बल दिया गया है—(अ) हृदय में उठने वाले भाव प्रवाह की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखने के लिए कवि मुक्त छन्द में शिल्प-रूढ़ियों से मुक्ति को अनिवार्य मानता है, (आ) बाह्य रूप में लघु दीर्घ पंक्तियों की विषमता होने पर भी इस छन्द में वर्ण-मैत्री और लय के फलस्वरूप काव्य-गति की अभिनन्दनीय स्वतन्त्रता रहती है। मुक्त छन्द के इस स्वरूप निर्धारण में भारतीय छन्द शास्त्र में कथित "विषम छन्द" और अंग्रेज़ी कवियों के "फ्री वर्स" से समान रूप में लाभ उठाया गया है। छन्द-रूढ़ियों के त्याग में आलोच्य कवि का अभिप्राय वर्णों अथवा मात्राओं की निश्चित संख्या एवं गण-क्रम के प्रति विद्रोह प्रकट करना है। इसीलिए मुक्त छन्द में चरणों की संख्या एवं विस्तार के विषय में किसी निश्चित नियम को नहीं अपनाया गया है। लघु-दीर्घ पंक्तियों के बाह्य

---

१. परिमल, भूमिका, पृष्ठ १४, १८ तथा २१

२ प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ २७६

३ पन्त और पल्लव, पृष्ठ ४४

वैचित्र्य का यही रहस्य है किन्तु उनमें लय-सस्कारो का अभाव नहीं होता। गेय गुण से मुक्त होने के कारण इस छन्द मे वर्ण-मैत्री अथवा ध्वनि-माधुरी पर आधृत विषयानुकूल शब्द-सगठन का आन्तरिक महत्व है। लय का निश्चयात्मक निर्वाह मुक्त छन्द का प्राण है, किन्तु लय-सस्कारो से प्राय अप्रत्यक्ष रूप से वर्णों एव मात्राओ के क्रम का भी निर्धारण हो गया है। इस विषय मे डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल का निष्कर्ष महत्वपूर्ण है—"ये मुक्त छन्द पूर्णतया निश्चित, प्रतिष्ठित एव शास्त्रीय छन्द के समान ही है। × × × × × मुक्त छन्द निश्चित लय-आदर्शो के आधार पर चलते हैं। बिना लय या प्रवाह गुण के छन्द का अस्तित्व सम्भव नहीं और जहाँ लय होगी, वहाँ कोई नियम अवश्य होगा।"[1] मुक्त छन्द का आश्रय लेने वाले कवियो के समक्ष ये नियम भले ही न रहे हो, किन्तु उनकी कविताओ के अनेक चरणो मे वर्णो अथवा मात्राओ की समान सख्या फिर भी मिल जाती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मुक्त छन्द का आधार दोषपूर्ण नही है। हिन्दी-काव्य-क्षेत्र मे इस छन्द के प्रवर्तन का श्रेय "निराला" को ही देना होगा। परम्परागत छान्दसिक मान्यताओ के प्रति बुद्धिवादियो के आग्रह के फलस्वरूप उन्होंने मुक्त छन्द के महत्व को प्रकट करने के लिए अनुकान्त रचना से उसकी विभिन्नता पर भी प्रकाश डाला है। नूतन काव्य पथ का निर्देश करने के कारण उन्हे प्रारम्भ मे छन्द प्रेमियो के वाक्-प्रहारो का भी सामना करना पडा। तथापि जन-जागरण की नवीन भूमिकाओ एव जीवन-सघर्षों की मुक्त अभिव्यक्ति मे इस छन्द ने जो सफलता प्राप्त की है, उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। फिर, मुक्त छन्द के समर्थको ने उसमे जिन निश्चित लयाधारो का निर्माण किया है, वे विरोध को समाप्त करने की ओर महत्वपूर्ण प्रयास हैं। अत यह स्पष्ट है कि "निराला" के मुक्त छन्द-सम्बन्धी विचारो का छन्द-शास्त्र के इतिहास मे युगान्तर-कारी महत्व है।

सिद्धान्त-प्रयोग

"निराला" जी के साहित्य-सिद्धान्तो के व्यावहारिक रूप को "काव्य का अन्तरग" और "काव्य का कला-पक्ष" शीर्षको के अनुसार ही परखा जा सकता है।

१. काव्य का अन्तरग

प्रस्तुत कवि ने काव्य मे भाव-गरिमा के सचार के लिए कवि को इन बातो की ओर ध्यान देने का परामर्श दिया है—(१) काव्य मे प्रकृति, सौन्दर्य की रहस्यानुभूति, राष्ट्रीयता और युग-चेतना को मुख्यत अनुभूति और चिन्तन के आधार पर, किन्तु सामान्यत कल्पना से लाभान्वित होते हुए स्वाभाविक, शिवत्वमय और सार्वभौम रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए, (२) उसमे रस (आनन्द) की मधुर और ओज-सम्पन्न अभिव्यक्ति विशेष अभीष्ट है, किन्तु रीति भी कवि के लिए अनुपेक्षणीय है। इन सिद्धान्तो को रचनाओ मे स्थान देने के प्रति वे सतत सजग रहे हैं। उन्होंने "परिमल", "गीतिका",

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृष्ठ ४११

"बेला", "गीत-गुंज" आदि रचनाओं में प्रकृति के सौन्दर्य (विशेषतः आकाश, बादल, सरिता, पुष्प-दल, समीर और प्रभात की स्थिति का चित्रण) को विविध कविताओं में सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। इस दृष्टि से "परिमल" की यमुना के प्रति, तरंगों के प्रति, वसन्त-समीर, बादल-राग, जुही की कली, शेफालिका आदि कविताएँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार उन्होंने "गीतिका" और "अणिमा" की कतिपय स्फुट कविताओं[1] एवं "परिमल" की "जागो फिर एक बार" तथा "महाराज शिवाजी का पत्र" शीर्षक कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं का भी ओजस्वी प्रतिपादन किया है। "अनामिका", "कुकुरमुत्ता", "नए पत्ते", "गीत-गुंज", "अर्चना" आदि काव्य-संग्रहों में कवि ने युग-चेतना की अभिव्यक्ति की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। प्रकृति, राष्ट्र और समाज के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को वाणी देते समय उन्होंने अनुभूति, चिन्तन और कल्पना को अवसरानुसार सफलतापूर्वक ग्रहण किया है। उनकी कविताओं में जिस उन्नत भाव-स्रोत और ज्ञान-गरिमा के दर्शन होते हैं उससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि वे सार्वभौम विचारों को ले कर चलने वाले कवि हैं।

उन्होंने अपनी कविताओं में आनन्द-साधना और लोक-हित के निर्वाह की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। जहाँ "परिमल", "गीतिका" और "तुलसीदास" काव्य-रसिकों को आनन्द-लाभ कराने में प्रयत्नशील हैं, वहाँ उनकी अन्य रचनाओं में भक्ति, राष्ट्र-जागृति और समाज-सुधार (विशेषकर श्रमजीवियों के लिए सुखकर जीवन-साधनों की कामना) की प्रेरणा "शिव" की उपलब्धि में सहायक है। अतः यह स्पष्ट है कि उन्हें काव्य का स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य के सम्बन्ध में अपने विचारों का निर्वाह करने में यथोचित सफलता प्राप्त हुई है। काव्य की आत्मा का विवेचन करते समय उन्होंने इसमें रस और रीति को ग्रहण करने पर बल दिया है। उनकी अनुभूति-प्रधान कविताओं में रस के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु ऐसी रचनाएँ संख्या में अधिक नहीं हैं। अनुभूति का तिरस्कार न करने पर भी उनका काव्य ध्वनि-प्रधान है। गूढ़ व्यंजना का आधिक्य रस में बाधक हो जाता है, अतः उनकी कविताएँ सर्वत्र रस धर्मा नहीं रही हैं। तथापि यह असंदिग्ध है कि रस और ध्वनि का एकान्वय उनकी अनेक कविताओं का महत्वपूर्ण उपादान है। रीति के गौरव की रक्षा की ओर से भी वे विमुख नहीं रहे हैं। अपनी कविताओं में नाद-सौन्दर्य के प्रति आग्रह रख कर उन्होंने रीति का निर्वाह किया है। इसके अतिरिक्त काव्य-गुणों की मनोहारी छटा और भावानुसार शैली-परिवर्तन द्वारा भी उन्होंने रीति को महत्व दिया है।

२. काव्य का कला-पक्ष

आलोच्य कवि ने काव्य को कला-समृद्धि प्रदान करने के लिए एक ओर काव्य के रूपों का विवेचन करते हुए गीतिकाव्य में कवित्व, मौलिकता, संगीत और भावानुरूप

---

१. देखिए (अ) गीतिका, पृष्ठ ३, १७, २०, ३१, ७३
(आ) अणिमा, पृष्ठ ३५-४१, ६७

भाषा की स्थिति पर बल दिया है और दूसरी ओर काव्य शिल्प के अन्तर्गत भाषा की स्वाभाविकता तथा भावानुरूपता एवं मुक्त छन्द की सहजता का प्रतिपादन किया है। विचार-निर्वाह की दृष्टि से उन्होंने इस दिशा में किसी बात की उपेक्षा नहीं की है। उनके गीतों में कवित्व और मौलिकता की स्थिति तो सर्वथा असन्दिग्ध ही है, "गीतिका" की रचनाएँ इस बात की भी प्रमाण हैं कि उन्हें संगीत (नाद-सौन्दर्य) का प्रामाणिक ज्ञान है। संगीत के शुद्ध अन्तर्भाव को उनकी अन्य रचनाओं में भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने अपने गीतों में भावानुरूप भाषा का प्रयोग करने की ओर भी सर्वत्र ध्यान दिया है। "गीतिका" के गम्भीर भावों के अनुरूप भाषा की क्लिष्टता और "अणिमा", "गीत-गुंज" एवं "अर्चना" की जन-भावनाओं के अनुरूप भाषा की सहजता को इसके लिए प्रमाण माना जा सकता है। गीतिकाव्य-विषयक धारणाओं का उपयुक्त निर्वाह करने के अतिरिक्त उन्होंने भाषा और छन्द-सम्बन्धी मन्तव्यों को भी काव्य में सहज प्रतिफलित रखा है। उनकी भाषा भावों के स्तर के अनुकूल स्वाभाविक रूप में गतिमान रही है—एक ओर "गीतिका" और "तुलसीदास" की भाषा और दूसरी ओर "बेला", "नए पत्ते", "कुकुरमुत्ता" और "अणिमा" की भाषा का पारस्परिक अन्तर इस कथन की प्रामाणिकता को स्पष्ट करता है। छन्द के क्षेत्र में उन्होंने अपनी धारणा के अनुरूप "बेला" में उर्दू-फारसी के छन्दों को स्थान दिया है। मुक्त छन्द की विभूति उन्हें जिस प्रकार सैद्धान्तिक रूप में विशेष मान्य रही है उसी प्रकार "अनामिका", "परिमल", "नए पत्ते", "कुकुरमुत्ता", "अणिमा" आदि रचनाओं में व्यावहारिक रूप से भी उसे विशेष गौरव दिया गया है। इन कृतियों की मुक्तछन्दमयी कविताओं में वर्ण-मैत्री, लय और भावनाओं के निर्बन्ध प्रसार की स्थिति सहज-स्पष्ट है।

विवेचन

आलोच्य कवि की काव्य-सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भावना और कला के संयोजक उपादानों पर मौलिक रीति से विचार किया है। काव्य-स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और काव्य-भाषा-सम्बन्धी धारणाओं में प्रायः पूर्ववर्तियों की स्थापनाओं का मौलिक रीति से पुनर्विचार हुआ है। काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत युग चेतना के अनुकूल सार्वभौम भावों की अभिव्यक्ति पर बल देकर तथा काव्य प्रयोजन के विवेचन में विषय पर सिद्धि प्राप्त करने को ही यश का विधायक मान कर ऐसी ही नवीनताओं का परिचय दिया गया है। इनकी अन्य उपपत्तियों का सम्बन्ध गीति काव्य और शिल्प से है। हिन्दी-कवियों की शृंखला में गीति काव्य का प्रथम तात्विक और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को है। इस प्रसंग में काव्य के नाद-सौन्दर्य पर प्रकाश डाल कर उन्होंने महत्वपूर्ण उद्भावना की है। रस को काव्य का प्राण मानने पर भी पदावली में नाद-संगीत के निर्वाह की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार छन्द मुक्त रचना-

प्रवृत्ति का समक्त प्रतिपादन भी उनकी अपनी मौलिक विशेषता है—इस सम्बन्ध में उनके विचारों से न केवल छायावादी कवियों ने ही लाभ उठाया था, अपितु कवियों के समक्ष अब भी सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों की दृष्टि से उनका मुक्तछन्दात्मक काव्य आदर्शवत् है। अन यह सिद्ध है कि हिन्दी-काव्य-शास्त्र में 'निराला' जी का सिद्धान्त-चिन्तन ऐतिहासिक महत्व रखता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी ने भी अपनी काव्य-मान्यताओं का छायावाद के अन्य कवियों की भाँति स्पष्ट और विस्तार से कथन किया है। इस विषय में उनकी वीणा, पल्लव, गुंजन, ग्राम्या, युगवाणी, उत्तरा, अतिमा, आधुनिक कवि, वाणी, रश्मिबन्ध आदि रचनाओं के काव्यांश और भूमिकाएँ तो द्रष्टव्य हैं ही, उन्होंने अपनी अन्य कृतियों (ज्योत्स्ना, शिल्पी, सौवर्ण) में भी सिद्धांत विवेचन किया है। अतः उनके काव्य-विषयक विचार एकत्र उपलब्ध न हो कर प्रकीर्ण रहे हैं। सैद्धान्तिकता के स्थान पर काव्य-तत्त्व की प्रमुखता के कारण उन्होंने अनेक स्थलों पर व्यंजना का भी आश्रय लिया है। ऐसे स्थलों पर उन्होंने अपने विचारों को केवल बुद्धि प्रसूत न रख कर भावात्मक रूप में सुन्दर काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान की है। "पल्लव" की भूमिका में इस प्रकार के अनेक उद्धरण सहज ही खोजे जा सकते हैं। उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य शिल्प, छायावाद आदि अनेक विषयों की समीक्षा की है।

काव्य का स्वरूप

पन्त जी ने काव्य के स्वरूप की विस्तृत विवेचना नहीं की है, किन्तु इस सम्बन्ध में उनकी धारणाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने काव्य को सामाजिक पुन-र्निर्माण का साधन माना है—"साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है।"[1] इस व्याख्या को प्रस्तुत करने के लिए कवि युगीन वातावरण का सहृद-यतापूर्वक मनन करता है। युग-चेतना को अपनी अनुभूति का अंग बना कर वह उस पर अपने संस्कारों के अनुकूल गम्भीर चिन्तन का रंग चढ़ाता है। स्पष्ट है कि कवि अपनी प्रौढ़ता से प्रमाता के लिए विश्व-दर्शन को सुगम कर देता है और लोक मार्ग में उसका पथ-प्रदर्शन करता है। आलोच्य कवि ने कवि-कर्म की इस महत्ता को इन शब्दों में प्रकट किया है—"कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही, वह अपने युग को प्रभावित भी करता है।"[2] इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि राजनीति और इतिहास की इतिवृत्तात्मकता का आधार नहीं लेता, उसके विचार काव्य की रागात्मक प्रकृति के अनुकूल सरस रूप में अभिव्यंजित होते हैं। वह अपनी रसमयी चेतना से सम्पूर्ण सृष्टि में

---

१. गद्य-पथ, पृष्ठ २०५

२. रश्मिबन्ध, भूमिका, पृष्ठ ८

भाव-संगीत का प्रसार करता है, "गान ही में रे मेरे प्राण, अखिल प्राणों में मेरे गान।"[1] स्पष्ट है कि काव्य कवि की तन्मयता का फल है। वह आत्मलीन हो कर कविता के माध्यम से अपने मन के प्रकाश का वितरण करता है। युग-चेतना की अभिव्यक्ति के प्रयास में वह अनायास ही आत्मानुसन्धान कर बैठता है। "गीत विहग" शीर्षक कविता में प्रकारान्तर से इसी दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया है—"जीवन मन के भेदों में सोई मति को, मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता।"[2] प्रमाता को दिव्य जागरण की प्रेरणा प्रदान करना ही कवि का धर्म है। काव्य में आत्मलीनता और प्रभावक्षमता लाने के लिए उसे अपने मन का मन्थन करते हुए लोक-चेतना को प्रकट करना चाहिए। यथा—

"कवि, नवयुग की चुन भाव राशि,
नव छन्द, आभरण, रस विधान,
तुम बन न सकोगे, जन मन के
जागृत भावों के गीत यान ?"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पन्त जी ने कवि को विश्व-सौहार्द्र की स्थापना में योग देने का सन्देश देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जब कवि अपने युग की विशिष्ट विचार-धारा को दृष्टि-पथ में रखते हुए काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का नवीन रूप में संस्कार करता है तभी उसकी कृतियाँ जनता को नवीन भाव-जागरण प्रदान करने में समर्थ हो पाती हैं।

काव्य की आत्मा

पन्त जी ने प्रस्तुत काव्यांग का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है, तथापि उपलब्ध उक्तियों के आधार पर यह निष्कर्षित किया जा सकता है कि उन्होंने अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करने पर भी रस को काव्य का मूल तत्व माना है। रस को काव्य की मूल वृत्ति मानने के कारण ही "आँसू" शीर्षक कविता में यह प्रतिपादित किया गया है कि काव्य-प्रेरणा का आदि-स्रोत कवि का वेदनापूरित हृदय है, क्योंकि मुनि वाल्मीकि की काव्य-वाणी करुणा की अनुभूति के अनन्तर प्रकट हुई थी। उन्होंने पर-दुःख को अपनी आत्मा की पीड़ा के रूप में ग्रहण किया था और इसी वेदनानुभूति से उनके काव्य का उद्भव हुआ था। यथा—

"वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।।"[4]

---

१. गुञ्जन, पृष्ठ १०६
२. उत्तरा, पृष्ठ १२
३. युगवाणी, पृष्ठ ५१
४. पल्लव, पृष्ठ १३

यहाँ काव्य को वियोगाकुल अन्तस् की प्रेरणा मान कर रस के महत्व की ही स्थापना की गई है। पन्त जी ने "गीतों का दर्पण" शीर्षक कविता की निम्नोक्त पंक्तियों में रस-सम्पन्न काव्य से प्राप्त अलौकिक आनन्द का अप्रत्यक्ष निरूपण कर के भी रस को काव्य का जीवन माना है—

"लहराता आनन्द अमृत रे, इनमें शाश्वत उज्ज्वल
ये रेती की चमक न, प्यासा रखता जिसका मृगजल !"[1]

इस काव्यांश में कवि ने प्रकारान्तर से यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में रस के निरन्तर प्रवाह से उसमें भावना की दृष्टि से अमृतोपम माधुर्य का संचार हो जाता है। उक्त अवस्था में काव्य में जिन उज्ज्वल भावों का प्रतिष्ठान होता है वे पाठक के मन पर शाश्वत प्रभाव को अंकित करने वाले होते हैं। रस सम्पन्न काव्य में बौद्धिक शुष्कता तथा कृत्रिमता के स्थान पर आनन्द का विशिष्ट अन्तर्प्रवाह विद्यमान रहता है। अत यह स्पष्ट है कि पन्त जी मूलत रसवादी कवि हैं और उन्होंने काव्य में रस-योजना के विविध फल (माधुर्य, भावों की निरन्तर गतिशीलता, आत्मिक तृप्ति आदि) माने हैं।

पन्त जी ने रस के अतिरिक्त अलंकार के महत्व पर भी विचार किया है। उनके अनुसार "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।"[2] यहाँ काव्य में अलंकार के महत्व का स्पष्ट निर्देश हुआ है, किन्तु कवि ने उसे प्रमुखतम स्थान न दे कर अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के लिए अपेक्षित आंतरिक साधन के रूप में ग्रहण किया है। उनके काव्य का अनुगम विधि से अध्ययन करने पर भी यही कहा जा सकता है कि वे अलंकार को काव्य का अंग मानते हैं, अंगी नहीं। अलंकार की भाँति उन्होंने रीति के काव्य प्राणत्व का भी स्पष्ट निरूपण नहीं किया है, किन्तु उनके काव्य में उपलब्ध पद रचना-कौशल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे रीति के महत्व के प्रति सतर्क अवश्य हैं। उनके काव्य में वैदर्भी रीति की स्वच्छता और माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुणों की सम्पदा इसी की प्रमाण है। तथापि अलंकार की भाँति उन्होंने रीति को व्यावहारिक दृष्टि से ही महत्व दिया है, उसे काव्य की आत्मा मान कर सिद्धान्त-स्थापना नहीं की है।

पन्त जी ने अलंकार और रीति की भाँति ध्वनि और वक्रोक्ति के विषय में भी विस्तृत मत प्रतिपादन नहीं किया है। इन दोनों काव्य-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में उनकी धारणा इस उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—"भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्राय संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे—"हिलोर" में उठान, "लहर" में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, "तरंग" में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ कर गिर पड़ना, "बढ़ो-बढ़ो" कहने का शब्द मिलता है,

१ अणिमा, पृष्ठ ६
२. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ ११

"वीचि" से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल में ऊँची ऊँची बाहें उठाती हुई उत्थान-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।"[1] यहाँ आनन्दवर्द्धन की मान्य पर्याय-ध्वनि (पर्याय शब्दों का ध्वन्यर्थ-भेद) और कुन्तक द्वारा उल्लिखित पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत महत्व का उल्लेख कर ध्वनि और वक्रोक्ति के महत्व को एक साथ स्वीकार किया गया है। संस्कृत-आचार्यों द्वारा पूर्व-कथित होने पर भी यह मन्तव्य पन्त जी का मौलिक दृष्टि का उन्मेष है। इस सम्पूर्ण विवेचन के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य में रस को मूलवर्ती स्थान देने पर भी अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति की उपेक्षा नहीं की है—"रत्नाकर और 'दिनकर'" की भाँति उनका दृष्टिकोण भी लगभग समन्वयात्मक ही रहा है।

काव्य-हेतु

पन्त जी ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य-रचना के प्रेरक तत्त्व माना है, किन्तु उनका ध्यान व्युत्पत्ति पर अधिक केन्द्रित रहा है। उन्होंने प्रतिभा को लोक-मार्ग की निर्देशिका अवश्य माना है, "ओलो हे कवि, निज प्रतिभा के बल से निष्ठुर मानव अन्तर"[2], किन्तु केवल प्रतिभा को ही पर्याप्त न मान कर प्रकारान्तर से यह मत व्यक्त किया है कि काव्य में मनन (अध्ययन और लोक-दर्शन) की ओर भी उचित ध्यान दिया जाना चाहिए —"न पिक प्रतिभा का कर अभिमान, मनन कर, मनन, शकुनि नादान!"[3] यहाँ कवि के प्रतिभा-सम्पन्नता के गर्व को मिथ्या मान कर व्युत्पत्ति के महत्व का स्पष्ट निर्देश किया गया है। व्युत्पत्ति के अन्तर्गत पन्त जी ने अध्ययन, लोक-दर्शन और प्रकृति के साक्षात्कार की चर्चा की है। इनमें से अध्ययन के सम्बन्ध में उनकी निम्नोक्त उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "अपने पूर्ववर्ती सभी महान् कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ।"[4]

(आ) "अपने समय के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से ही किसी न किसी रूप में प्रभावित हो कर उदीयमान कवि अपनी लेखनी की परीक्षा लेता है।"[5]

(इ) "बाइबिल के अतिरिक्त उपनिषदों के अध्ययन ने भी मेरे हृदय में प्रेरणाओं के अक्षय सौन्दर्य को जगाया है।"[6]

(ई) "इन्हीं कवियों (मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, मुकुटधर पाण्डेय) के

१. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १६ १७
२. ग्रन्थि, पृष्ठ १०२
३. गुंजन, पृष्ठ १०५
४. गद्य पथ, पृष्ठ १२६
५. रश्मिबन्ध, भूमिका, पृष्ठ १
६. गद्य-पथ, पृष्ठ १७५

अध्ययन तथा मनन से प्रारम्भ में मेरी काव्य साधना का श्रीगणेश हुआ।''[1]

(उ) ''पल्लवकाल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यत शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टैनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ। × × × × × इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। × × × × × मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।''[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में अध्ययन के काव्य हेतुत्व की निर्भ्रान्त स्वीकृति रही है, तथापि पन्त जी ने इसकी अपेक्षा लोक दर्शन पर अधिक बल देते हुए अन्यत्र यह प्रतिपादित किया है, ''स्वभाव से ही अत्यन्त भाव प्रवण तथा कवि होने के कारण मेरी रुचि पुस्तकों की ओर अधिक नहीं रही। मैंने व्यक्तियों के जीवन से, परस्पर के जन समागम से तथा महान पुरुषों के दर्शन एवं उनके मानसिक सत्सग से कहीं अधिक सीखा है, जिसे मैं सहज सीखना या सहज शिक्षा कहता हूँ। इससे भी अधिक मैंने प्रकृति के मौन मुखर सहवास से सीखा है।''[3] इस अवतरण से स्पष्ट है कि उन्होंने अध्ययन की अपेक्षा लोक-दर्शन को और लोक-साक्षात्कार की अपेक्षा प्रकृति दर्शन को अधिक महत्व दिया है। अन्य कवियों में गोपालशरणसिंह और उदयशंकर भट्ट ने भी प्रकृति को काव्योद्भव में सहायक माना है, किन्तु इसे मुख्यतम काव्य-कारण मानने का श्रेय सुमित्रानन्दन पन्त को ही है। उन्होंने इस विषय में अन्यत्र भी यह उल्लेख किया है—

(अ) ''कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है।''[4]

(आ) ''जब मैंने पहिले लिखना प्रारम्भ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही एक ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्ररणा मिलती थी। और किसी भी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो।''[5]

(इ) ''मेरे भीतर ऐसे संस्कार अवश्य रहे होंगे जिन्होंने मुझे कवि कर्म करने की प्रेरणा दी, किन्तु उस प्रेरणा के विकास के लिए स्वप्नों के पालने की रचना पर्वत प्रदेश की दिगन्त व्यापी प्राकृतिक शोभा ही ने की।''[6]

काव्य का प्रयोजन

पन्त जी ने काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों की ही चर्चा की है, उसके बाह्य पक्षों का

१ गद्य पथ, पृष्ठ २२३
२ आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ११
३ गद्य-पथ, पृष्ठ १७२-१७३
४ आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ १
५. गद्य-पथ, पृष्ठ १२४
६ रश्मिबन्ध, भूमिका, पृष्ठ २

उल्लेख उन्हें अभीष्ट नहीं है। उन्होंने काव्य अथवा कला को सांस्कृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का साधन मान कर कवि को विश्व-जीवन से सम्बद्ध भावों को अभिव्यक्त करने का परामर्श दिया है। इसीलिए उन्होंने कवि की वाणी के विषय में यह कामना की है, "बने विश्व जीवन की स्वरलिपि, जन जन मर्म कहानी।"[1] केवल अपनी आत्मा की परिधि में बँध कर कवि सफल काव्य की रचना नहीं कर सकता। जब तक वह समाज-दर्शन से विरत रहता है तब तक उसकी चेतना का विस्तार नहीं हो पाता। इसीलिए उन्होंने "ज्योत्स्ना" नाटिका के पात्र एलफ्रेड से यह कहलवाया है—"*कला अपना अस्तित्व जीवन में लय कर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ सकते।*"[2] यही समाज-दर्शन कवि को अन्ततः विश्व-मानवता की ओर प्रवृत्त करता है। इसीलिए पन्त जी ने काव्य को विश्व के अभावों को पूर्णता और उसकी कुरूपता को सुन्दरता की ओर ले जाने वाली मूल शक्ति माना है, "**ललित कला, कुत्सित, कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।**"[3] इससे यह स्पष्ट है कि कवि को मानव-मन का संस्कार करने के लिए आदर्श भावनाओं तथा जीवन सत्य को प्रकट करना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने एक अभिभाषण में अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है, "**मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्त्वों से ओत-प्रोत रहें और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव चेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को बाहर-भीतर से संस्कृत सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने में सहायक हों।**"[4] काव्य के माध्यम से जन-मानवता के विकास का प्रतिपादन अथवा बहुजन-हित का समर्थन काव्य-शास्त्र का चिर-परिचित सिद्धान्त है, तथापि पन्त जी ने अपनी सांस्कृतिक मान्यता के आलोक में इसे अभिनव रूप प्रदान करने का प्रयास अवश्य किया है। उनके अनुसार कवि-प्रतिभा के योग से सामाजिक रूढ़ियों की समाप्ति होने पर जिस नवीन संस्कृति का शिलान्यास होता है वह मानव को नव विश्वास प्रदान कर उसके जीवन को रस-स्निग्ध बना देती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "पृथ्वी से खोद निराओ, कवि,
> मिथ्या विश्वासों के तृण खर।
> सींचो अमृतोपम वाणी की—
> धारा से मन, भव हो उर्वर!"[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य का लक्ष्य जन-मानवता का विकास करना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने *काव्य-सर्जन से कवि को प्राप्त होने वाले आनन्द को भी काव्य का निश्चित फल माना है, किन्तु वे इस प्रयोजन को बहुजन-हित से अनिवार्यतः सम्बद्ध*

१ युगवाणी, पृष्ठ ७
२ ज्योत्स्ना, पृष्ठ ८४
३. युगवाणी, पृष्ठ ५
४. गद्य-पथ, पृष्ठ २०४
५. ग्राम्या, पृष्ठ १०२

रखना चाहते हैं—"एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में स्वान्त और बहुजन में आपस में वही सम्बन्ध रहता है जो गुण और राशि में, और एक के बिना दूसरा अधूरा है।"[1] पन्त जी द्वारा प्रतिपादित "बहुजन-हित" का सिद्धान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण से ऊपर उठ कर साहित्य की उच्चता की ओर निर्देश करता है। इस स्थान पर यह भी उल्लेखनीय है कि स्वान्त सुख का तत्व बहुजन-हित में ही निहित रहता है। जो काव्य लोक-मंगल की प्रेरणा से युक्त होता है वह कलाकार को आन्तरिक सुख प्रदान करने में भी सक्षम होता है। इसी विचार को श्रीयुत लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

"हम दूसरों पर दया करते हैं, करुणा करते हैं, उपकार करते हैं, दूसरों के दुःख के साथ अपनी सहानुभूति रखते हैं, यह सब स्वान्तः सुखाय ही होता है। × × × × × स्वान्तः सुखाय और जन-हिताय दोनों तत्वतः एक ही हैं।"[2]

काव्य के तत्व

पन्त जी से पूर्व काव्य में सत्य, शिव और सुन्दर के समावेश के विषय में जो विवेचन हुआ था, उससे इन तत्वों के सूक्ष्म मूल्यों के प्रतिष्ठान के लिए आधारभूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। पन्त जी ने उपरिविवेचित व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का अधिक मार्मिक विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौन्दर्य बोध (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कला वस्तु में लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है।"[3] सौन्दर्य-दर्शन से उनका अभिप्राय कवि की उस परिष्कृत मनोवृत्ति से है जो रूढ़िबद्ध तथ्यों के स्थान पर सूक्ष्म आन्तरिक रहस्यों को उद्घाटित करती है। कलाकार की अनुभूति के अन्तर्गत उन्होंने व्यापकता, सामंजस्य और जीवनव्यापी सत्य की खोज को महत्व दिया है तथा उपयोगी सत्य से उनका तात्पर्य लोकमंगलपरक सत्य के प्रतिष्ठान से है।[4] स्पष्टतः इस सम्पूर्ण विवेचन से उनका अभिप्राय सौन्दर्य, सत्य तथा शिव के स्वरूप को स्पष्ट करना है। इनमें से उनका ध्यान मूलतः सौन्दर्य पर केन्द्रित रहा है, किन्तु अनुभूति की सर्वथा उपेक्षा भी उन्हें इष्ट नहीं है। प्रतिभा के प्रकर्ष में अनुभूति के महत्व को स्वीकार करने के कारण ही उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि "प्रारम्भ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारों ओर धूलि की ढेरी में अनजान बिखरे पड़े मिले हैं।"[5] पन्त जी ने सत्य को दो रूपों में विभक्त किया है—(अ) वस्तु स्थिति (आ) वास्तविकता का इच्छित आदर्श रूप। उनके अनुसार "सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबी शराब पीता है यह सत्य है, उसे शराब नहीं पीनी चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फॅक्चु-

---

१ गद्य-पथ, पृष्ठ १४३
२ जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२७-१२८
३ गद्य-पथ, पृष्ठ २०१
४ देखिए "गद्य-पथ", पृष्ठ २०१
५ गद्य-पथ, पृष्ठ २१२

यत) रूप है, दूसरा परिणाम से सम्बन्ध रखने वाला।"[1] काव्य में सत्य का द्वितीय रूप विशेष ग्राह्य रहता है, क्योंकि इसे शिवत्व की विभूति भी सहज प्राप्त रहती है। सत्य के आदर्शवादी रूप को ग्रथित करने के लिए कवि की अनुभूति में तीव्रता और गहनता की विशेष अपेक्षा रहती है, क्योंकि यह साधारण भौतिक सत्यों की भाँति स्थूल नहीं होता।

पन्त जी ने सत्य और शिव को परस्पर अन्य सम्बद्ध माना है। उनके अनुसार "सत्य शिव में स्वयं निहित है। × × × × × यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाली सत्य में अवश्य होनी चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती।"[2] यह दृष्टिकोण उचित ही है, क्योंकि शिव-तत्त्व के अन्तर्गत सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती—सत्य अन्ततः कल्याणकारी रूप धारण कर के ही चिरन्तन स्थान ग्रहण करता है। सत्य के बहिर्मुखी रूप को ग्रहण करने के अनन्तर ही शिव का अन्तर्मुखी रूप सम्बद्ध हो पाता है। पन्त जी के शब्दों में "अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (ऐक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है, मंगल का बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इन्ट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है।"[3] यहाँ यथार्थ और आदर्श के समन्वय को काव्य के ध्येय रूप में प्रस्तुत किया गया है। शिव-तत्त्व के महत्त्व की स्थापना के लिए उन्होंने "स्वप्न और सत्य" शीर्षक काव्य-रूपक में कलाकार के मुख से ठीक ही कहलवाया है, "सभी महाकवियों की वाणी जन मंगल की महत् भावनाओं से प्रेरित रही निरन्तर।"[4]

सत्य और शिव के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी पन्त जी की मूल कामना यही रही है कि काव्य में सौन्दर्य को प्रमुखतम स्थान दिया जाए। इसीलिए उन्होंने सौन्दर्य-सृष्टि में सहायक कल्पना को काव्य का मुख्य उपकरण मान कर अन्य उपादानों (विचार, भाव, शैली आदि) को गौण स्थान दिया है—"मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। × × × × × वीणा से लेकर ग्राम्या तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना ही को वाणी दी है और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।"[5] पन्त जी के काव्य का अनुगम विधि से अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना के प्रति कवि का आग्रह सौन्दर्य की पुष्टि में सहायक होता है। तथापि उन्होंने सौन्दर्य को केवल कल्पना पर ही आधृत न मान कर उसमें सत्य और शिव के समन्वय की भी कामना की है। इस सम्बन्ध में उनकी निम्न-

---

१. आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६-७
२ आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६
३. आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ७
४ सौवर्ण, पृष्ठ ६८
५. आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ३३

लिखित काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "क्या है यह सौन्दर्य चेतना ? जग जीवन की
> अंतरतम स्वर संगति : जो अब अन्तर्नभ के
> शिखरों से उतर रही स्वर्णिम प्रवाह से
> स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को।"[1]

इस अवतरण से स्पष्ट है कि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कवि के अनुभूति-समृद्ध अन्तर्लोक से होती है। वह उसे जीवन के आन्तरिक मूल्यों (शिव-तत्व) से समृद्ध करने के अतिरिक्त कल्पना (स्वप्नों का स्वर्णिम प्रवाह) से भी रस स्निग्ध रखता है। प्रत्यक्ष निरूपण के अतिरिक्त उन्होंने इस सिद्धान्त का अपने काव्य में अप्रत्यक्ष रूप से भी निर्वाह किया है। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है, "पन्त जी सुन्दर के ही कवि हैं—यद्यपि उनका सुन्दर शिव और सत्य से शून्य नहीं है।"[2] उनके काव्य में सौन्दर्य के विशिष्ट स्थान को लक्षित कर डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी यही लिखा है—

"पन्त जी की कविता को दृष्टि में रख कर यही निष्कर्ष निकलता है कि कविता का प्राण सौन्दर्य ही है। शिवत्व उतना नहीं, क्योंकि पन्त की वे रचनाएँ जिनमें सौन्दर्य का स्वच्छन्द वर्णन है, अधिक कवित्व-पूर्ण हैं और जिनमें शिवत्व का वर्णन है उतनी कवित्व-पूर्ण नहीं।"[3]

काव्य के तत्वों के विषय में पन्त जी की धारणा मूलतः यही है, किन्तु प्रगतिवाद से प्रभावित होने के कारण उन्होंने "युगवाणी" में यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में इन्हें सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान करने की अपेक्षा जन-जीवन के आलोक में इनका स्थूल आधार पर आख्यान होना चाहिए। यथा—

> "सुन्दर, शिव, सत्य, कला के कल्पित माप मान,
> बन गए स्थूल, जग-जीवन से हो एक प्राण।"

इसी प्रकार उन्होंने "मूल्यांकन" शीर्षक कविता में भी सत्य, शिव और सुन्दर के प्राचीन मानदण्डों के नवीनीकरण के लिए जन-जीवन के नवीन रूप से प्रेरणा लेने का प्रतिपादन किया है।[4] तथापि यह दृष्टिकोण पन्त जी की प्रतिनिधि मान्यता नहीं है। इसीलिए उनकी प्रगतिवादी कविताओं ("ग्राम्या" और "युगवाणी" की रचनाओं) में सत्य, शिव और सुन्दर के स्थूल रूप की चर्चा भी अपने आप में किंचित् सूक्ष्म धारणा से अनुप्राणित है।

---

१ शिल्पी, पृष्ठ १०७
२ सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १६
३. हिन्दी-काव्य शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३७४
४ युगवाणी, पृष्ठ ३
५. देखिए "युगवाणी", पृष्ठ २३

काव्य के भेद

पन्त जी ने *काव्य-रचना के प्रचलित रूपों की मीमांसा न कर "गीत-गद्य" के नाम* से एक नवीन काव्य विधा का उद्भावन किया है। उन्होंने स्पष्टता, अलंकार-मोह के त्याग और बुद्धि-तत्व से पोषित भावना को गीत-गद्य के मूल तत्व कहा है। इस विषय में उनका मन्तव्य इस प्रकार है—"युगवाणी को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा है कि *उसमें काव्यात्मकता का अभाव है प्रत्युत उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार-भावना प्रधान है।*"[1] स्पष्ट है कि गीत-गद्य काव्य रचना-शैली के क्षेत्र में किया गया नवीन प्रयोग है। पन्त जी ने इस विषय में अपने मन्तव्य को उस समय प्रस्तुत किया था जब वे प्रगतिवादी काव्य-सिद्धान्त से प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने उपरोक्त उद्धरण में *यह प्रतिपादित किया है कि गीत गद्य में कला-तत्वों के आग्रह के कारण भावों की काट-छांट* नहीं की जानी चाहिए। "युगवाणी" की कविताओं के विषय में उनकी यह उक्ति, "मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है,"[2] इसी की प्रतीक है। यहां युग के गद्य से उनका तात्पर्य भौतिक तत्वों से है। अतः यह स्पष्ट है कि गीत-गद्य वह रचना है *जिसमें भौतिक तथ्यों को काव्य के कलात्मक उपकरणों के मोह से मुक्त रख कर विचार* और भावना के सामंजस्य द्वारा स्पष्ट रूप में निरूपित किया जाए। छायावाद-काल में सूक्ष्म भावनाओं के व्यंजक प्रगीतों की रचना के उपरान्त प्रगतिवाद-युग में स्थूलता को प्रश्रय देने वाले गीत-गद्य की रचना स्वाभाविक ही थी।

काव्य के वर्ण्य विषय

पन्त जी ने काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य और लोक-मानवता को स्थान देने पर बल दिया है। यह प्रवृत्ति उनकी काव्य-चेतना के विकास की स्वाभाविक परिणति है और *पूर्ववर्ती कवियों द्वारा कथित होने पर भी मौलिक कवि-दृष्टि से* अनुप्राणित है। उन्होंने अपने कवि जीवन के प्रारम्भ में प्रकृति के निसर्ग सौन्दर्य को काव्य की प्रेरक-शक्ति के रूप में ग्रहण कर प्राकृतिक उपकरणों को अभिनव चेतना प्रदान की थी। व्यवहार-पक्ष के अतिरिक्त उन्होंने सिद्धान्त रूप में भी काव्य में प्रकृति चित्रण को कवि का इष्ट माना है। इस सम्बन्ध में निम्नस्थ अवतरण द्रष्टव्य है—

(अ) "छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में,
कैसे उलझा दूँ लोचन ?"[3]

१. युगवाणी, दृष्टिपात, पृष्ठ "क"
२. युगवाणी, "विज्ञापन" से उद्धृत
३. आधुनिक कवि, भाग २, पृष्ठ १

(आ) "है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग उपवन में,
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,
उड़ मृदुल कल्पना-पंखों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण में, कन में।"[1]

(इ) 'गूढ़ सकेतों में हिल पात, कह रहे अस्फुट बात,
आज कवि के चिर चंचल प्राण, पा गए अपना गान।'[2]

(ई) "कलाकार के लिए, सत्य ही, विश्व प्रकृति यह
निखिल प्रेरणाओं की जननी है रहस्यमय।"[3]

इन उद्धरणों में कवि की आत्म निरीक्षण तथा आत्म विश्लेपण की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है, किन्तु प्राकृतिक व्यापारों की प्रत्यक्ष अनुभूति और कल्पना के बल पर उनकी नवीन रूपों में प्रस्तुति केवल पंत जी की ही इच्छा न हो कर कवि हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में मान्य हो सकती है। पन्त जी ने प्रत्यक्ष प्रतिपादन के अन्तर्गत प्रकृति के मधुर रूप की ही चर्चा की है, किन्तु अप्रत्यक्ष अध्ययन प्रणाली के अनुसार यह निष्कर्षित करना अनुचित न होगा कि वे प्रकृति को उसकी व्यापकता में ग्रहण करने के समर्थक हैं। इसके लिए उन्होंने प्रकृति के उग्र रूप को भी काव्यगत अभिव्यक्ति प्रदान करने का परामर्श दिया है। 'परिवर्तन" शीर्षक कविता इसी धारणा को पुष्ट करती है।[4] उसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति के मोहक रूप की भाँति उसके विनाशशील रूप का चित्रण भी काव्य की स्वाभाविकता के लिए अपेक्षित है।

पंत जी द्वारा समर्थित द्वितीय वर्ण्य विषय लोक-मानवता का चित्रण है। इस विषय में उनका मत इस प्रकार है—"आज के संक्रान्ति-काल में मैं साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव हृदय के मंच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अंत क्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृगजल-मरु में भटकती हुई अंत शून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अंतर्जगत् तथा अंतर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके।"[5] राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों द्वारा काव्य में मानवता के उल्लेख का प्रतिपादन लगभग इसी आधारभूमि पर स्थित है, तथापि पन्त जी ने इसे अपने मौलिक संस्कृति चिन्तन से पुष्ट करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। उनकी संस्कृति विषयक प्रकल्पना अधिक सूक्ष्म और आध्यात्मिक है। उन्होंने मन संगठन और लोक-संगठन पर बल देकर गम्भीर

१ माधुरी, मार्च १६२७, पृष्ठ १७८
२ गुंजन, पृष्ठ ७४
३ सौवर्ण, पृष्ठ ७७
४ देखिए "पल्लव", पृष्ठ ६५ ११२
५ गद्य-पथ, पृष्ठ १०७

अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। इसमें बहिरन्तर समन्वय की स्थापना करने पर काव्य के मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष के प्रति उचित न्याय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण उक्ति अवलोक्य है—

"मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक आध्यात्मिक अतिरंजनाओं का विरोध कर, भौतिकता आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर, उन्हें लोक कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में, एक दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है।"[1]

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि काव्य में जीवन का अन्तर्मुखी उद्घाटन होना चाहिए। अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति कविता का आदर्श है अतः बहिर्मुखी धाराओं को ऊर्ध्व करने का प्रयास कवि का धर्म है। वह जनवाद, अध्यात्मवाद और मन के नवीन सौंदर्य-बोध में से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। बहिरन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का समन्वय ही उसका ध्येय है। इसीलिए पन्त जी ने लिखा है—"मैं × × × × × जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही अन्तर्चेतनावाद अथवा नव-मानववाद कहता हूँ।"[2] बहिर्जीवन के उन्नयन द्वारा विश्व-मन का संधान अथवा अन्त-र्जीवन के आलोक से लोक-संस्कृति का सुस्पष्ट एवं सन्तुलित दर्शन काव्य का महत्त्वपूर्ण विषय है। इसीलिए पन्त जी ने नवीन सांस्कृतिक चेतना के विषय में लिखा है—"इसी नवीन चेतना की मनःक्रीड़ा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशाविश्वासप्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान मेरी इधर की रचनाओं के विषय हैं।"[3]

आलोच्य कवि ने नवीन सांस्कृतिक उदय को वाणी देने में योगिराज अरविन्द के जीवन-दर्शन के अनुशीलन को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। यथा—"इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन दर्शन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। × × × × × "स्वर्णकिरण" और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।"[4] इस उक्ति में प्रत्यक्ष सिद्धान्त-स्थापना नहीं हुई है, किन्तु इसके आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त करना अनुचित न होगा कि कवि को किसी निश्चित जीवन-सिद्धान्त के आलोक में लोकहितकारी भावों की अभि-व्यक्ति करनी चाहिए। आलोच्य कवि ने इसके लिए लोक मानवता के चित्रण का परामर्श दिया है। वर्तमान परिस्थितियों में विश्व-मानवता का प्रतिपादन कवि का सामयिक धर्म तो है ही, सहृदयों के मन का संस्कार करने और उन्हें आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त करने के कारण उसका गौरव भी अक्षुण्ण है।

---

१. रश्मिबन्ध, भूमिका, पृष्ठ २०-२१
२. उत्तरा, प्रस्तावना, पृष्ठ ४
३. उत्तरा, प्रस्तावना, पृष्ठ ५
४. गद्य-पथ, पृष्ठ १०३

काव्य-शिल्प

कविवर पन्त ने काव्य की बाह्य शोभा के विधान में भाषा, अलंकार और छन्द के योग का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इनके विषय में उनकी धारणाएँ 'निराला" जी की मान्यताओं से अधिक व्यापक हैं और उनमें मौलिकता की स्थिति भी असंदिग्ध है। इन धारणाओं की क्रमश इस प्रकार समीक्षा की जा सकती है—

१ काव्य-भाषा

आलोच्य कवि ने काव्य की भाषा में राग-तत्व, व्याकरणिकता और चित्रात्मकता का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। उनके अनुसार भाषा का मूल तत्व शब्दों की राग-सम्पन्नता है इसी के बल पर वह सहृदय को काव्य में अन्तर्प्रवेश का आमन्त्रण देती है—"भाषा का, और मुख्यत कविता की भाषा का, प्राण राग है। × × × × × राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंच कर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है।"[1] राग से कवि का अभिप्राय शब्दों में मधुर प्रवाह अथवा संगीत-गुण की योजना से है। यह दृष्टिकोण पन्त जी की कोमल काव्य प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। इससे पूर्व आचार्य वामन ने 'समाधि" नामक काव्य-गुण में शब्दों के आरोह-अवरोह क्रम (आरोहावरोहक्रम समाधि)[2] की चर्चा कर भाषा के राग-पक्ष का ही उल्लेख किया था। उनके द्वारा निरूपित माधुर्य एवं सौकुमार्य नामक शब्द-गुण भी राग की दीप्ति में ही सहायक हैं, तथापि हिन्दी-कवियों में भाषा के इस उपादान का सर्वप्रथम उल्लेख करने का श्रेय पन्त जी को ही है। इस दिशा में उनका चिन्तन स्पष्टत प्रौढ़-परिपक्व रहा है, इसीलिए उन्होंने स्वर-लालित्यमयी भाषा और भावना के सामंजस्य को काव्य का गुण माना है—"भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। × × × × × जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के बटु समुदाय ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा साम-ध्वनि करते सुनाई देते हैं।"[3] इससे स्पष्ट है कि रागात्मक भाषा की सफलता इसी में है कि उसमें भावना का सहज सामंजस्य उपलब्ध हो।

पन्त जी ने भाषा के राग को उच्छृंखलता का जनक नहीं माना है, वे उसे व्याकरण के सामंजस्य में पल्लवित होते हुए देखना चाहते हैं। उनके शब्दों में, "जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह शब्दों का भरण-पोषण,

---

१ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १५

२. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र, ३।१।१६, पृष्ठ १२४

३ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १८

अंग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होना है।"[1] भाषा की स्वस्थ प्रगति की दृष्टिपथ में रख कर इस मन्तव्य का सहज ही समर्थन किया जा सकता है। वस्तुतः छायावादी कविता में खड़ी बोली के जिस परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं, वह कवियों की इसी कोटि की विचार धारा का परिणाम है। तथापि पन्त जी ने व्याकरण के नियमों को उनके प्रचलित रूप में ग्रहण न कर उपर्युक्त धारणा में स्वयं ही साधारण विपर्यय प्रकट किया है। उन्होंने शब्द के लिंग को उसके अर्थ के आधार पर निर्धारित करने का प्रतिपादन कर इसी मन्तव्य को व्यक्त किया है—

"मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग पुल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारान्त-इकारान्त के अनुसार ही पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गये हैं, और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण अर्थों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है।"[2]

यहाँ शब्द के अकारान्त अथवा इकारान्त रूप को पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग का निर्णायक न मान कर उसकी कोमलता और सरल अर्थत्व को स्त्रीलिंग के लिए और परुषता तथा गम्भीर अर्थत्व को पुल्लिंग के लिए निर्धारक तत्व माना गया है। यह मत पन्त जी के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का तो परिचायक है, किन्तु इसका अक्षरशः समर्थन नहीं किया जा सकता। हम इस विषय में डॉ० नगेन्द्र के इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं— "इसका सार्वभौम प्रयोग नहीं हो सकता—एक तो यह धारणा स्वयं ही अत्यन्त भावपरक है क्योंकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का ही विषय है, दूसरे लोक-व्यवहार की सत्ता का उल्लंघन भी सरल नहीं है।"[3] तथापि यह स्पष्ट है कि काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के विकास के उस प्रारम्भिक युग में लिंग-निर्णय के सम्बन्ध में यह धारणा भी महत्वपूर्ण है।

काव्य भाषा के विषय में पन्त जी की तीसरी स्थापना यह है कि उसमें चित्रात्मकता को विशेष स्थान प्राप्त रहना चाहिए। उनके अनुसार, "कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएँ, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों।"[4] यहाँ काव्य भाषा में व्यंजना और लक्षणा के माध्यम से अर्थ-सङ्कृति उत्पन्न करने में ही कवि कौशल माना गया है। चित्र भाषा का प्रयोग छायावादी

---

१ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १६
२ पल्लव, विज्ञापन, पृष्ठ "ख" तथा "ग"
३ विचार और विश्लेषण, पृष्ठ ६३
४ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १७

काव्य-शिल्प की एक प्रमुख विशेषता है, किन्तु सिद्धान्त-रूप मे इसके स्पष्टीकरण की ओर केवल पन्त जी ने ही ध्यान दिया है। शब्द-प्रयोग की इस रीति से काव्य भाषा मे सूक्ष्मता का सचार होने मे विशेष सहयोग मिलता है। साधारण काव्य भाषा और चित्र-भाषा में यह अन्तर है कि जहाँ साधारणत भाषा और भावना के पारस्परिक सम्पर्क मे नैकट्य और व्यवधान दोनो की स्थिति रहती है वहाँ चित्र-भाषा म भावना का योग गहन से गहनतर होता जाता है और भावना से निकट रूप मे सम्बद्ध न होने पर उसका सौन्दर्य फीका पड जाता है। आलोच्य कवि ने प्रत्यक्ष कथन के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से भी इस सिद्धान्त की समुचित स्थापना की है। अत यह स्पष्ट है कि काव्य की भाषा के विषय मे उनकी तीनो स्थापनाएँ महत्वपूर्ण है, भले ही इनमे से द्वितीय स्थापना मे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

२ काव्य मे अलकार-विधान

पन्त जी अलकारवादी कवि नही है, तथापि उन्होने काव्य मे अलकार का सर्वथा निषेध भी नही किया है। उनके अनुसार, "कविता में भी विशेष अलकारों × × × × से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[१] इससे उनका अभिप्राय यह है कि काव्य मे अलकार भाव के स्पष्टीकरण और उत्कर्ष के लिए प्रयुक्त होते हैं। इस सम्बन्ध मे कवीन्द्र रवीन्द्र का मन्तव्य भी यही है—"साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास-इंगितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान के समान निरलकृत होने से उसका गुजारा नहीं हो सकता।"[२] इतना होने पर भी अलकार काव्य के अग है, अगी नही। इसीलिए पन्त जी ने भावना के स्थान पर अलकार की साधना को काव्य-शोभा का ह्रास करने वाली प्रवृत्ति कहा है।[३] अलकार द्वारा भाव-विवर्द्धन को सार्थक करने के लिए उन्होंने छाया-वादी कवि को यह सन्देश दिया है कि सूक्ष्म कथन की प्रणाली मे अलकारो को साकेतिक रूप प्रदान करना समीचीन है, "× × × × × इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और साकेतिक हो जाएँगे।"[४] अलकारो के सस्कार के विषय मे यह दृष्टिकोण स्पष्टत अभिनन्दनीय है, किन्तु प्रगतिवादी काव्य मे जन भावना को महत्व देते समय उन्होंने अलकार की साकेतिकता के मोह को भी त्याज्य माना है। इसीलिए उन्होने "वाणी" शीर्षक कविता मे कवि को शोभाधर्मी अलकारो की अपेक्षा शोभा के मूल सयोजक भावों को पूर्ण रूप मे ग्रहण करने की प्रेरणा दी है—

१ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ १६
२ साहित्य, अनुवादक—वशधर विद्यालकार, पृष्ठ ४
३ देखिए "पल्लव", प्रवेश, पृष्ठ १६ २०
४. आधुनिक कवि, भाग २, पृष्ठ ११

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !"[१]

यहाँ अलंकार के महत्व का निषेध नहीं है,—कवि का अभिप्रेत यही है कि काव्य में उनका अभिनिवेश अनायास ही होना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार अलंकार्य के अनुगामी होते हैं। यह दृष्टिकोण हिन्दी-काव्य-शास्त्र के लिए नवीन नहीं है, तथापि नवीन काव्य-चेतना के आलोक में व्यक्त होने के कारण इसका महत्व अनवद्य है।

३ काव्य में छन्द-योजना

पन्त जी ने छन्द के स्वरूप-विवेचन में और भी अधिक मनोयोग का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य में छन्द की स्थिति, विविध छन्दों (सवैया, कवित्त, मुक्त छन्द आदि) और छन्द के अंगों (तुक, लय) की मार्मिक आलोचना की है। नाथूराम शंकर और गोपालशरणसिंह की भाँति उन्होंने भी छन्द को कविता के स्वाभाविक अंग के रूप में ग्रहण किया है। उनके अनुसार, "कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है।"[२] काव्य में छन्द की मनोहारिता का स्वागत करने के प्रसंग में उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति कवियों को यह सन्देश दिया है कि वे अपनी शक्ति और रुचि के अनुकूल कुछ विशेष छन्दों का ही प्रयोग करें—"सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। × × × × × प्राय: देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमें उसकी छाप-सी लग जाती, जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है।"[३] यद्यपि यह सत्य है कि सत्कवियों के लिए किसी भी छन्द में काव्य-रचना अलभ्य नहीं होनी चाहिए, तथापि पन्त जी की उपर्युक्त धारणा की वास्तविकता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी मत के फलस्वरूप उन्होंने अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण मात्रिक छन्दों को वर्ण-वृत्तों से श्रेष्ठ माना है। उन्होंने वर्ण-वृत्तों को संस्कृत-काव्य के लिए उपयुक्त कह कर उन्हें हिन्दी की कोमल प्रकृति के विरुद्ध माना है—

"हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। × × × × × हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर-ध्वनि

---

१ ग्राम्या, पृष्ठ १०३

२ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २१

३ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २४-२५

नहीं रहती।"[1]

मात्रिक छन्दों के समर्थन के लिए वर्णिक छन्दों का तिरस्कार पन्त जी की एकांगी स्थापना है। इसके मूल में उनकी यह भ्रमपूर्ण धारणा, "काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन",[2] कार्य कर रही है। काव्य में लालित्य-विधायक स्वरों की भाँति विराट् भावों के उद्‌घोषक व्यंजनों का भी अपना महत्त्व है, अतः उनके संयोग से पल्लवित होने वाले वर्णिक छन्दों की उपेक्षा निश्चय ही अवांछनीय है। पन्त जी ने इस प्रसंग में कवित्त और सवैया छन्द का विवेचन करते हुए उन्हें खड़ी बोली की नवीन कविता के लिए अनुपयोगी माना है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—

(अ) "कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरसजात नहीं, पोष्य-पुत्र है। × × × × × कवित्त छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है, छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे × × × × × हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। × × × × × कवित्त छन्द में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं। × × × × × कवित्त का राग व्यंजन प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता।"[3]

(आ) "सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता (मोनोटोनी) आ जाती है।"[4]

इन उद्धरणों में दो बातें स्पष्ट हैं—१ कवित्त विदेशी छन्द है। उसमें लघु-गुरु-नियम की निश्चित स्थिति न रहने के कारण संगीत का उपयुक्त प्रवाह नहीं रहता। उसमें स्वर के स्थान पर व्यंजन का प्राधान्य रहता है और इन अभावों की पूर्ति के लिए कवि को अलंकारों का आश्रय लेना पड़ता है। २ सवैया छन्द भावों की एकस्वरता और जड़ता के लिए उत्तरदायी है। इनमें से प्रथम धारणा कवि के सन्तुलित विवेक की परिचायक नहीं है। कवित्त छन्द को विदेशी कहना स्पष्ट भूल है और उसके अन्य दोषों की ओर निर्देश करना भी निर्मूल है। इसीलिए "निराला" जी ने उनके कवित्त-छन्द-सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते हुए यह लिखा है—

"उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त जैसे पुरुषत्व प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो संगीत में भी स्त्री-पुरुष-भेद हुआ करता है। × × × × × अक्षर-मात्रिक स्वर-प्रधान राग स्त्री भेद में और व्यंजन प्रधान पुरुष-भेद में

१ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २२-२३
२ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २७
३ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २५, २७
४. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २५

होंगे।"[1]

इस मन्तव्य के समान ही अलंकारों के अभाव में कवित्त में स्वाभाविक सौंदर्य न आ पाने के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवि की ये धारणाएँ सर्वथा एकांगी हैं। तथापि सवैया छन्द के सम्बन्ध में उनके निष्कर्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि वे छन्द के मनोविज्ञान से भली भाँति परिचित हैं। पूर्ववर्ती कवियों में पं० श्रीधर पाठक ने भी सवैया छन्द के प्रति लगभग इसी कोटि के विचार व्यक्त किए हैं। इन छन्दों के अतिरिक्त पन्त जी ने मुक्त छन्द पर भी विचार किया है और "निराला" जी की भाँति इसे काव्य में स्थान देने पर पर्याप्त बल दिया है। इस विषय में उनकी निम्नोक्त उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "यह "स्वच्छन्द छन्द" ध्वनि अथवा लय पर चलता है।× × × × × इस मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है।× × × × × मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूंढता है। उसमें छन्द के भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं।× × × × × इसमें चरण इसलिए घटाए बढ़ाए जाते हैं कि काव्य सम्बद्ध, सयमित रहे।× × × × × अन्य छन्दों की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।"[2]

(आ) "खुल गए छन्द के बंध, प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त, औ युग वाणी बहती अयास।।"[3]

(इ) "छन्द बंध खुल गए, गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँतें ?
सोना पिघल कभी क्या पानी बनता ? कैसी बातें !
गीत गल गया सही, मधुर झंकार नहीं पर खोई,
सूक्ष्म भाव के पंख खोल, अब मन में गयं समोई !"[4]

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि मुक्त छन्द में लय, भाव और भाषा के सामंजस्य, पंक्तियों के इच्छित विस्तार और माधुर्य की स्थिति रहती है। ये सभी विशेषताएँ "निराला" जी द्वारा पूर्व-निर्दिष्ट रही हैं। तथापि यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने मुक्त छन्द में भावना और भाषा में से किसी की भी उपेक्षा न कर सन्तुलित विवेक का परिचय दिया है। काव्य के अन्य छन्दों में से उन्होंने रोला, रूपमाला, राधिका, अरिल्ल, सखी, चौपई, पीयूषवर्षण और हरिगीतिका के स्वरूप और रस-विशेष की सृष्टि में उनकी उपयोगिता पर भी विचार किया है।[5] इस दिशा में उनकी धारणाएँ इस तथ्य की परिचायक हैं कि वे छन्द के मर्म से अवगत हैं।

१. पन्त और पल्लव, पृष्ठ ३५
२. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ ३० ३१
३. युगवाणी, पृष्ठ ३
४. अतिमा, पृष्ठ ६४
५. देखिए "पल्लव", प्रवेश, पृष्ठ ३० ३२

पन्त जी ने छन्द रचना के लिए अपेक्षित उपादानो मे से तुक और लय की विवेकपूर्ण मीमासा की है। तुक के विषय मे उनके विचार इस प्रकार हैं—"तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाडियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाडी-चक्र में केन्द्रित रहती (हैं) × × × × × तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है जो पद विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। × × × × × अन्त्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अत वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव के हृदयंगम कराने में भी सहायता देता है।"[1] तुक को काव्य का महत्वपूर्ण अग मान कर उसके लिए लय और भाव-सौन्दर्य को सुरक्षित रखने की धारणा कवि की नवीन उद्भावना नही है, किन्तु इसका महत्व इसलिए अधिक है कि उनसे पूर्व अनेक कवि तुक को भाव-गति मे बाधक मान चुके थे। पन्त जी ने इसके विपरीत अन्त्यानुप्रास की योजना करने वाले शब्द को ही काव्य-पक्ति का मुख्य शब्द माना है। इस मत को इसी रूप म तो स्वीकार नही किया जा सकता—कविता के चरण विशेष का कोई अन्य शब्द अन्त्यानुप्रास वाले शब्द से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो सकता है—किन्तु यह मानने म कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि कभी-कभी तुकान्त शब्द अन्य शब्दो की तुलना मे अधिक वेगपूर्ण हो सकता है। पन्त जी ने छन्द मे तुक के अतिरिक्त लय की सिद्धि पर भी बल दिया है। उनके अनुसार "छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[2] इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी यह प्रतिपादित किया है—"प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-सगीत के अनुकूल होने चाहिएँ।"[3] इन उक्तियों से स्पष्ट है कि आलोच्य कवि ने "रत्नाकर" और देवीप्रसाद "पूर्ण" की भाँति लय-सयोजन को छ द का महत्वपूर्ण अग माना है। अन्तत यह कहना उचित होगा कि उन्होंने काव्य के अन्य अगों की अपेक्षा काव्य शिल्प का विशेष मनोयोग से विवेचन किया है और इस दिशा में भी उनकी रुचि छ द के विवेचन की ओर अधिक रही है।

विशिष्ट काव्य-मत

छायावाद-विषयक धारणाएँ

कामायनीकार की भाँति "पल्लव" के कवि ने भी छायावाद के विवेचन में उत्साहपूर्वक भाग लिया है। यद्यपि उनकी धारणाओं को भी पूर्णत व्यवस्थित नही कहा जा सकता, किन्तु इतना भी पर्याप्त है कि उन्होंने इस विषय में "निराला" जी के समान उपेक्षा नही दिखाई है। उनकी रचनाओं में छायावाद की विविध विशेषताओं का स्वतन्त्र विवेचन तो उपलब्ध नही होता, किन्तु "पल्लव" के "प्रवेश" में उपलब्ध विचारों

---

१. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २६ ३०
२ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २७
३ पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ २६

(काव्य-शिल्प का विदग्ध विवेचन) को उनकी छायावादी धारणाओं के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि पल्लव-काल तक की रचनाओं का अध्ययन करने पर अप्रत्यक्ष रीति से यह निष्पादित किया जा सकता है कि छायावादी काव्य में कल्पना, प्रत्यक्षाभिव्यक्ति, प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-निरूपण और कला-तत्वों के नूतन संस्कार को स्थान प्राप्त होना चाहिए, किन्तु उन्होंने इन विशेषताओं का केवल छायावाद के प्रकरण के अन्तर्गत रख कर उपस्थित नहीं किया है। काव्य के अन्य अंगों के विषय में उनके विचारों का निरूपण करते समय प्रस्तुत प्रबन्ध में भी छायावाद के इन सभी तत्वों की प्रसंगवश समीक्षा की जा चुकी है अर्थात् काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प के सम्बन्ध में उनके अधिकांश विचारों को छायावाद की प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्यक्ष कथन की दृष्टि से उनकी निम्नोक्त पंक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि छायावाद में विश्व-भावना (मानवतावाद) और स्वर्गिक् सौंदर्य की अवतारणा को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है—

"छायावादी विश्व भावना,
सृजन प्रेरणा,
धरा स्वर्ग सौन्दर्य सर्जना
लुप्त हो गई, अति वैयक्तिक, अति यथार्थ बन,
कुंठा के नैराश्य वेदना भरे
अंधेरे अवचेतन में !"[1]

इन तत्वों का निर्देश पर्याप्त मौलिक आधार पर किया गया है, विशेषता यह है कि यहाँ छायावाद की परवर्ती काव्य-प्रवृत्तियों (वैयक्तिक कविता तथा प्रगतिवाद) का स्वागत नहीं किया गया है। अतिवैयक्तिकता को कुंठाओं से ग्रस्त मानने के अतिरिक्त उन्होंने आदर्श की उपेक्षा करने वाले सामाजिक यथार्थ को भी एकांगी माना है। इन पंक्तियों की रचना "ग्राम्या" और "युगवाणी" के उपरान्त हुई है, अतः यह स्पष्ट है कि पन्त जी ने छायावाद के स्वरूप का अन्तर्मनन से स्वच्छ विवेचन किया है। उनके सहयोगियों में "प्रसाद" जी ने मुख्यतः छायावादी काव्य-शिल्प का विवेचन किया है, किन्तु पन्त जी ने इस दिशा में भी उनसे विशेष सामग्री न ले कर अपनी मौलिकता का उपयुक्त परिचय दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि वे छायावाद के मर्मी कवि तो हैं, किन्तु उसके सैद्धान्तिक रूप का व्यवस्थित विवेचन उन्होंने नहीं किया है। वस्तुतः इस क्षेत्र में उनकी विशेष देन छायावाद के पराभव के कारणों की विचारणा है। "प्रसाद" जी को इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, किन्तु छायावाद को छोड़ कर "ग्राम्या" और "युगवाणी" में प्रगतिवाद का आश्रय लेने वाले पन्त के समक्ष यह प्रश्न ज्वलन्त रूप में उपस्थित था। उन्होंने "वीणा" की अप्रकाशित भूमिका ("गद्य-पथ" में "विज्ञप्ति" शीर्षक से संकलित) में यह उल्लेख किया है कि छायावाद के उद्भव-काल में आलोचकों द्वारा उसका तीव्र

[1] वाणी, पृष्ठ ८७

विरोध किया गया था,[1] अत उनसे यह अपेक्षा रखना स्वाभाविक ही है कि वे छायावाद पर किए गए आक्षेपो का निराकरण करते हुए अन्तत उसके पराभव के कारणो पर भी प्रकाश डाले। निराकरण प्रस्तुत करने की ओर तो उन्होने विशेष ध्यान नही दिया है, किन्तु उसके ह्रास की परिस्थितियो की स्फुट रूप म चर्चा अवश्य की है। उन्होने उसके पराभव के लिए तीन बातो को उत्तरदायी माना है—(१) उसम जीवन की वास्तविकता का अभाव था, (२) उसके कवि नव युग की सामाजिक स्थिति के प्रति उदासीन रहे, (३) उसम आध्यात्मिक चेतना को उसके समग्र रूप म ग्रहण नही किया जा सका। इस सम्बन्ध मे उनकी उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(अ) "छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा आकांक्षाओ का वैभव, जो विचार सामजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव चेतना तब युग की बदलती हुई, कठोर वास्तविकता के निकट सम्पर्क में नहीं आ सकी थी।"[2]

(आ) "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारो का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलकृत सगीत बन गया था।"[3]

(इ) "छायावादी कवि अथवा कलाकार वास्तव में आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति नहीं प्राप्त कर सका था। वह केवल बौद्धिक अधिदर्शनों, मान्यताओ तथा धारणाओं से प्रभावित हुआ था। इसीलिए वह युग जीवन की कठोर वास्तविकता से कट कर कुछ दार्शनिक एव मानसिक विरोधों में सामजस्य स्थापित कर सन्तुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा।"[4]

छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति को पूँजीवादी मनोवृत्ति से प्रभावित मान कर यहाँ सकेत रूप मे यह प्रतिपादित किया गया है कि जीवन की वास्तविकताओ से विमुखता छायावाद के ह्रास का कारण विशेष है। समाज के भावी विकास के लिए अपेक्षित अनुभूति और चिन्तन को सजग रूप म ग्रहण न कर पाने के कारण भी छायावाद के पास नवीनता का क्रमश अभाव होता गया। वस्तुत छायावाद के पराभव का मूल कारण यही है। यदि छायावादी कवि नवीन सामाजिक मान्यताओ से प्रेरणा लाभ कर पाते तो इस काव्य धारा की समाप्ति का प्रश्न ही न उठता। सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण के अभाव, नवीन सामाजिक अनुभूतियो से विरक्ति और दर्शन-शास्त्र की गहन भाव-भूमियो को उचित रूप मे ग्रहण न कर पाने से छायावादी कवि अपनी स्थिति को सुदृढ न बना सके। अत यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवि के मत से छायावाद के रचयिता

---

१ देखिए "गद्य-पथ", पृष्ठ ४४-४५, सुमित्रानन्दन पन्त [illegible]
२ रश्मिबंध, भूमिका, पृष्ठ १२
३ आधुनिक कवि, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ११
४ गद्य-पथ, पृष्ठ १५४

एक ओर अपने उद्देश्य (सौन्दर्य-सृष्टि और अध्यात्म-लोक की सहज अनुभूति) की पूर्ति में अंशतः असफल रहे और दूसरी ओर वास्तविकता से विमुख रहने के कारण उन्हें भावी विकास के लिए उपयुक्त भूमि न मिल सकी। इस स्थान पर यह उल्लेख्य है कि पन्त जी ने इन विचारों को मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित रह कर व्यक्त किया है, अन्यथा छाया-वादी कवियों की सौन्दर्यानुभूति का पूंजीवादी दृष्टिकोण न अभिव्यक्त मानने में कोई तर्क नहीं है। स्वयं उन्होंने ही अपनी परवर्ती रचनाओं (विभवन किन्नी, रजतशिखर और सौवर्ण) में सौन्दर्य को लगभग उसी रूप में वाणी दी है। हां, नवीन सामाजिक अनुभूतियों के प्रति विरक्ति की नीति को छायावाद का दोष अवश्य माना जा सकता है, सम्भवतः इसीलिए पन्त जी ने उक्त तीनों कृतियों में इस अभाव की पूर्ति कर ली है। छायावाद पर उनका तीसरा आरोप (अध्यात्म तत्व की अस्फुट अनुभूति) भी एकांगी है। यद्यपि यह सत्य है कि छायावाद के सामान्य कवियों की कविता इस दोष से दूषित है, किन्तु "प्रसाद", "निराला" और महादेवी की सम्पूर्ण कविता में इस अभाव के दर्शन करना अनुचित है। अतः यह स्पष्ट है कि छायावाद के उद्भव, विकास और अन्त का स्वतन्त्र और सर्वत्र निर्भ्रान्ति विवेचन न कर पाने पर भी छायावाद के विषय में पन्त जी के प्रकीर्ण विचारों का भी ऐतिहासिक महत्व है।

सिद्धान्त-प्रयोग

पन्त जी के काव्य-सिद्धान्तों को उनकी रचनाओं में घटित देखने के लिए उन पर काव्य के आन्तरिक गुणों और काव्य के कला पक्ष के शीर्षकों के अनुसार पृथक्-पृथक् विचार करना होगा। उनकी छायावाद-सम्बन्धी धारणाओं के व्यावहारिक रूप के अध्ययन के लिए विशेष अवकाश नहीं है, क्योंकि उन्होंने छायावाद के लिए जिन विशेषताओं (विश्व-मानवता, सौन्दर्य) का निर्देश किया है, उन्हें वे अन्य काव्यांगों के अन्तर्गत भी प्रस्तुत कर चुके हैं। अतः काव्य में उनके प्रयोग के पृथक् विवेचन में प्रायः पुनरुक्ति ही होगी।

१. काव्य का अन्तरंग

पन्त जी ने काव्य की आन्तरिक गरिमा के लिए उसमें इन बातों के समावेश को आवश्यक माना है—(१) काव्य में लोक-मानवता को प्रस्तुत करने वाले सांस्कृतिक सौन्दर्य को अनुभूति के आधार पर व्यक्त किया जाना चाहिए, क्योंकि युग-चेतना के अनुकूल सामाजिक मानस का पुनर्निर्माण उसका लक्ष्य है, (२) कवि की रचना में रस की मधुर, उज्ज्वल और आनन्दमयी अभिव्यक्ति का स्थान प्रमुख है, किन्तु अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, (३) काव्य में प्रकृति तथा मानव-मन के सौन्दर्य की स्वाभाविक अथवा कल्पनामयी व्याख्या मुख्य है, किन्तु सुन्दर को सत्य (वस्तु-स्थिति और उसका इच्छित आदर्श रूप) और शिव से सम्पृक्त रखने में ही कवि की विशेषता है। इन विचारों के अनुसार काव्य-रचना करने की ओर भी वे पर्याप्त प्रयत्नशील

रहे हैं। लोक-मानवता और सांस्कृतिक विभूतियों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से उनकी परवर्ती रचनाएँ ("गुंजन" से "वाणी" तक की कृतियाँ) विशेष पठनीय हैं। "ग्राम्या" और "युगवाणी" में जन संस्कृति को स्थान दे कर तथा "शिल्पी", "रजत-शिखर" एवं "सौवर्ण" में भावी संस्कृति की आदर्शवादी कल्पना कर के उन्होंने युग चेतना की अभिव्यक्ति और सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना को भी समान आग्रह के साथ ग्रहण किया है। उनकी रचनाओं में रस की स्वाभाविक और आनन्दमयी स्थिति का मूल कारण स्वान्तः सुख के लिए काव्य रचना की प्रवृत्ति है। उनकी प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ तो स्वान्तः सुख का स्पष्ट आधार लिए ही हुए हैं, प्रगतिवादी काव्य में भी लोक-दृष्टि प्रधान रही है। इसका कारण यह है कि उन्होंने काव्य पथ को अपने मानसिक विकास के अनुकूल गतिशील रखा है अर्थात् अपने जीवन की काव्यमयता के अनुरूप उन्होंने आत्मा को रुचिकर विषयों को ही ग्रहण किया है। फलस्वरूप उनकी कविताओं में स्वाभाविकता, मधुरता तथा सौन्दर्य का सहज अन्तर्भाव रहा है और ये तीनों तत्व रस की सृष्टि में अनिवार्यतः सहायक रहे हैं। रस के अतिरिक्त अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति को उनके गौरव के अनुरूप काव्य में स्थान देने के प्रति भी वे सजग रहे हैं, विशेषतः रीति और ध्वनि के प्रति तो उन्हें अमित आकर्षण रहा है।

प्रस्तुत कवि ने सौन्दर्य साधना को अपनी कविता का प्रमुख अंग रखा है। वीणा, पल्लव, पल्लविनी और युगपथ में प्रकृति की छवि को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत करने के अतिरिक्त गुंजन, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, शिल्पी और वाणी में मानव-मन के सौन्दर्य को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है। उन्होंने प्रकृति और मानव-समाज के सजीव सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए कल्पना से विशेष लाभ उठाया है। सिद्धान्त-कथन के अन्तर्गत कल्पना पर विशेष बल देने के फलस्वरूप उन्होंने प्रगतिवादी रचनाओं के अतिरिक्त अन्य सभी कृतियों में उसे प्रमुख स्थान दिया है। लोक संस्कृति को अंकित करने वाली रचनाओं में शिव-तत्व की व्याप्ति भी असन्दिग्ध है। इसी प्रकार "ग्राम्या" और "युगवाणी" में वस्तुस्थिति को तथा "स्वर्णकिरण", "स्वर्णधूलि", "सौवर्ण" आदि रचनाओं में उसके इच्छित आदर्श रूप को वाणी दे कर सत्य को भी उसका वांछित गौरव दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि सौन्दर्य को मुख्य रूप में ग्रहण करने पर भी उन्होंने उसे सत्य और शिव से पृथक् नहीं रखा है।

२ काव्य या कला-पक्ष

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत विवेच्य कवि के काव्य के भेद और काव्य शिल्प-सम्बन्धी विचारों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन अभीष्ट है। रचना की दृष्टि से विविध काव्य-शैलियों को ग्रहण करने पर भी उन्होंने सिद्धान्त-प्रतिपादन करते समय केवल गीत-नाट्य की चर्चा की है। उनके अनुसार इस रचना विधा में स्पष्टता, स्थूलता (भौतिक तथ्यों की प्रस्तुति), अलंकार मोह के त्याग और बुद्धि-पोषित भावना को स्थान प्राप्त रहता है। उन्होंने "युगवाणी" को गीत-गद्य की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु इस कृति में गद्य की प्रवृत्ति

के केवल इसी रूप में दर्शन होते हैं कि इसमें भावों को गद्य-रचना की भाँति स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त करने को प्राथमिकता दी गई है अर्थात् इसमें काव्य-तत्त्व (जो गीत न होने पर भी पन्त जी द्वारा "गीत" की संज्ञा इसलिए पा सका है कि उसमें प्रवाह है) के निर्वाह के अतिरिक्त स्थूल कथन की प्रणाली (जो गद्य में ही दृष्टिगत होती है) को भी स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार "युगवाणी" की "मानव", "युग उपकरण", "दो लड़के", "श्रमजीवी" आदि कविताओं में स्पष्टता को एवम् 'मार्क्स के प्रति", "समाजवाद गान्धीवाद", "सकीर्ण नौतिकवादियों के प्रति" आदि रचनाओं में बुद्धि-पोषित भावना को वांछित स्थान दिया गया है। "युगवाणी" के अतिरिक्त "ग्राम्या" की "कठपुतले", "चमारों का नाच", "मज़दूरनी के प्रति" आदि कविताओं में भी इन सभी प्रवृत्तियों को स्थान प्राप्त हुआ है। नौतिकवादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप इन रचनाओं में स्वभावतः अलंकार-मोह की स्थिति भी नहीं है।

कविवर पन्त ने काव्य-शिल्प के अन्तर्गत भाषा की चित्रात्मकता, रागात्मकता और व्याकरणिकता पर बल देने के अतिरिक्त एक ओर अलंकारों की स्वाभाविकता को महत्त्व दिया है और दूसरी ओर मात्रिक छन्दों, लय, तुक और मुक्त छन्द को काव्य में स्थान देने का आग्रह किया है। उनके काव्य में भाषा के उक्त तीनों गुणों का उपयुक्त विकास उपलब्ध होता है। "पल्लव" में भाषा के चित्र-धर्म की विशेष व्यापकता और अन्य कृतियों में भी उनकी सामान्य स्थिति को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। रागात्मकता (माधुर्य अथवा संगीत-गुण का निर्वाह) उनकी कविताओं की अविस्मरणीय सम्पदा है, किन्तु यह उल्लेख्य है कि उसके संयोजन के लिए कहीं-कहीं भाषा के व्याकरणिक रूप की उपेक्षा की गई है। सिद्धान्त निरूपण के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रस्तुत कवि ने छायावादी काव्य की सूक्ष्म भाषा के लिए ऐसे परिवर्तनों को अपरिहार्य मान कर ही उन्हें अपने काव्य में स्थान दिया है। अतः व्याकरण की दृष्टि से थोड़ा सा व्यतिक्रम होने पर भी रागात्मकता से समृद्ध होने के कारण उनकी काव्य-भाषा का महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

भाषा की भाँति कवि पन्त ने अलंकार और छन्द-सम्बन्धी विचारों को भी सफलता से प्रयुक्त किया है। उनके काव्य में अलंकारों का अस्वाभाविक प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता। "वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार' में अलंकार के प्रति जो साधारण उपेक्षा प्रदर्शित की गई है, उससे भी उनकी कविता मुक्त रही है। उनकी रचनाएँ अलंकार-भार से आक्रान्त नहीं हैं, किन्तु आभूषणों ने काव्य को छवि प्रदान करने की ओर से वे विमुख भी नहीं हैं। इसी प्रकार वर्ण-वृत्तों के स्थान पर मात्रिक छन्दों का प्रयोग करके और इस दिशा में नवीन प्रयोगों द्वारा छन्दों की एकस्वरता के प्रति अपने विरोध को सक्रिय अभिव्यक्ति देने में भी उन्होंने सफलता प्राप्त की है। लयात्मक और अनुकान्त काव्य की रचना के प्रति भी वे निरन्तर सतर्क रहे हैं। इस क्षेत्र में उनकी अन्तिम स्थापना मुक्त छन्द के प्रयोग से सम्बद्ध है। आगे उल्लिखित काव्य-संग्रहों की कोष्ठकबद्ध कविताओं—ग्राम्या (स्वप्नपट, कठपुतले), युगवाणी (पुष्प प्रति, प्रकृति के प्रति, राग, रूप-सत्य, कला में

नीम, ओस के प्रति), उत्तरा (जागरण-गान, अवगाहन), अतिमा (नेहरू युग)—में मुक्त छन्द के प्रवाह का स्वाभाविक विधान इसी क्रम से हुआ है।[1]

विवेचन

पन्त जी ने काव्य-रचना के विविध नियमों को स्थिर करने की दिशा में छायावादी कवियों में सर्वाधिक कार्य किया है। उनकी काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन और काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी धारणाएँ तो प्राय काव्य-शास्त्र की पूर्व प्राप्त सम्पदा के आलोक में प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य शिल्प और छायावाद के विवेचन में अनेक नवीन उद्भावनाएँ उपलब्ध होती हैं। विशेषत काव्य में सास्कृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति, गीत-गद्य और छायावादी काव्य शिल्प के विषय में उनके विचार काव्य-शास्त्र को अभूतपूर्व देन हैं। उनके काव्य-विषयक दृष्टिकोण का मूल आधार सौन्दर्य की खोज करना है—उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य को कल्पना के माध्यम से अलकृत किया है और मानव-मन के सौन्दर्य की अनुभूति तथा चिन्तन के सहयोग से वाणी दी है। यह सौन्दर्य कवि के अन्तर्मन की सूक्ष्मताओं से भी प्रेरित रहा है और इस पर जन-जीवन की कर्म चेतना का भी यत्किंचित् प्रभाव है। उनके काव्य-सिद्धान्तों पर सौन्दर्य-दर्शन के इन दोनों रूपों के प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि उनके सहयोगियों ने भी सौन्दर्य-तत्व की महत्ता को स्वीकार किया है, किन्तु इस दिशा में पन्त जी का योगदान अधिक व्यापक और प्रभावशाली है। इसका कारण यह है कि उनका काव्य-पथ अपने सहयोगी कवियों की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण रहा है। उनकी सौन्दर्य-चेतना ने समय-समय पर कई मोड लिए हैं, किन्तु उनके काव्य का मूल तत्व—कल्पना के सहयोग से प्रकृति तथा मानव-मन की व्याख्या—सर्वत्र एकरूप रहा है।

पन्त जी की द्वितीय विशेषता है काव्य के बाह्य रूप की गम्भीर मनोवैज्ञानिक विवेचना। उन्होंने भाषा, अलकार और छन्द को इनके सामान्य वस्तु-रूप में न देख कर आत्मा के दर्शन किए हैं। फलत वे काव्य शिल्प पर कवि की भाव-भूमियों के प्रभाव का अपूर्व विश्लेषण कर सके हैं। भाषा में रागात्मकता और चित्रात्मकता, अलकार में सूक्ष्म साकेतिकता, मुक्त छन्द में भाव और भाषा के सामजस्य तथा छन्द में विषयानुरूप लय-साधना पर बल दे कर उन्होंने प्रौढ विचार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि उनका विवेचन सर्वत्र निर्विवाद नहीं है—कवित्त और सवैया की समीक्षा प्रमाण है—तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने कला-रूप की अत्यन्त मार्मिक आलोचना की है।

१. देखिए (अ) ग्राम्या, पृष्ठ ११ १२, २२ २३
(आ) युगवाणी, पृष्ठ ७-८, ६०, ६२, ६४, ७४-७७
(इ) उत्तरा, पृष्ठ १४-१६, १३३-१३५
(ई) अतिमा, पृष्ठ १२०-१२१

महादेवी वर्मा

छायावाद का उन्नयन करने वाले कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का महत्व-पूर्ण स्थान है। उन्होंने इस काव्य-धारा के अन्य रचयिताओं की भाँति काव्य-रचना और काव्य-चिन्तन में समान उत्साह से भाग लिया है। उनकी मान्यताओं से अवगत होने के लिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", "आधुनिक कवि, प्रथम भाग", "क्षणदा" और "पथ के साथी" का अध्ययन विशेषत अपेक्षित है, किन्तु अन्य कृतियाँ (यामा, रश्मि, दीपशिखा, सान्ध्यगीत, अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ) भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में काव्य का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, छायावाद और काव्यगत आदर्श-यथार्थ के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। अन्य वाव्यांगों में से उन्होंने काव्य-शिल्प का स्वतन्त्र रूप में उल्लेख न कर उस पर छायावाद के प्रकरण में विचार किया है, अत हमने भी इस सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को छायावाद के अन्तर्गत समीक्षा की है। "प्रसाद" की भाँति उनकी मान्यताएँ भी गद्य में ही उपलब्ध होती हैं—कविताओं में स्फुट रूप से काव्य-चर्चा उन्हें अभीष्ट नहीं है।

काव्य का स्वरूप

महादेवी ने काव्य का स्वतन्त्र लक्षण तो निर्धारित नहीं किया है, किन्तु कवि-कर्म की व्याख्या के प्रसंग में उसके स्वरूप का भी निर्देश हो गया है। वे कवि को हृदय-तत्व और बुद्धि-तत्व से समान रूप में सम्पन्न देखना चाहती हैं, क्योंकि इन दोनों की सन्तुलित अभिव्यक्ति से ही कवि अपने कर्तव्य-कर्म से उऋण हो पाता है—"भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युगप्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होता है।"[1] यहाँ "कर्म" से कवयित्री का तात्पर्य भावना और ज्ञान की अभिव्यक्ति से ही है। काव्य में इनमें से किसी भी तत्व की उपेक्षा न करना उचित ही है, किन्तु "प्रसाद" की भाँति महादेवी की मान्यता भी यही है कि कवि-रचना में अनुभूति (भावना) की स्थिति प्रधान है। इसीलिए उन्होंने लोक-दर्शन को कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति मान कर यह उल्लेख किया है कि वह अपनी भावनाओं को अनुभव और कल्पना के संयोग से हृदय-संवेद्य बनाता है। इस सम्बन्ध में यह उक्ति द्रष्टव्य है—"उसके (कवि के) लिए लोक-समष्टि ही इष्ट है, पर लोक के दान को निरीह भाव से अंगीकार कर लेना उसे अभीष्ट नहीं होता। वह

---

१. पथ के साथी, पृष्ठ ८

लोक का निर्माण भी अपनी कल्पना के अनुरूप चाहता है।"[1] अनुभूति को ज्यों का त्यों उपस्थित करने से कवि-कथन में शुष्कता के समावेश की आशंका हो सकती है, अतः छायावाद के अन्य कवियों की भाँति महादेवी द्वारा कल्पना के प्रति ऐसी आस्था रखना स्वाभाविक ही है। इसमें उनका अभीष्ट भावना और ज्ञान के महत्व को कम करना नहीं है। सत्य तो यह है कि वे चिंतन से पुष्ट अनुभूति को वाणी देने में ही कवि की सफलता मानती हैं। उनके शब्दों में "कविता सब से बड़ा परिग्रह है क्योंकि वह विश्व मात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है। वह जीवन के अनेक कष्टों को उपेक्षा योग्य बना देती है क्योंकि उसका सृजन स्वयं महती वेदना है। वह शुष्क सत्य को आनन्द में स्पंदित कर देती है, क्योंकि अनुभूति स्वयं मधुर है।"[2]

उपर्युक्त अवतरण में काव्यगत अनुभूति के महत्व का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कवयित्री का दृष्टिकोण आदर्शवादी रहा है किन्तु उसमें अतिरंजना नहीं है। मानव मात्र के प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति काव्य का शाश्वत गुण है और सहृदय को आनन्द प्रदान करने वाले भावों का संवेदन उसकी सहज गरिमा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लोक का संस्कार करने वाली मधुर भावनाओं की चर्चा ही कविता की वास्तविक सम्पदा है। महादेवी ने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि को आत्माभिव्यक्ति का आश्रय लेने का सन्देश दिया है। उन्होंने इस विषय में अपने विचारों को कविता के प्रसंग में व्यक्त नहीं किया है, तथापि 'अतीत के चलचित्र' की भूमिका के प्रस्तुत अंश के आधार पर इसकी स्थापना असन्दिग्ध है—

"इन स्मृति चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। × × × × ×मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े हो कर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं वह बाहर रूपान्तरित हो जाएगा। फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजा कर निकट लाता है उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती! परन्तु मेरा निकटताजनित आत्म विज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है। जो इसके पार नहीं देख सकता वह इन चित्रों के हृदय तक नहीं पहुँच सकता।"[3]

यहाँ कवयित्री का प्रतिपाद्य यह है कि साहित्य में अनुभवजन्य सत्‌जना को विशेष स्थान मिलना चाहिए। फलतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या वे अनुभूति को कल्पना से अधिक महत्व देती हैं? इसका उत्तर स्वीकारात्मक होगा, क्योंकि आत्माभिव्यक्ति के लिए अनुभूति तो प्राण-तन्तु के समान है। उन्होंने कहानी में कल्पना को भी महत्व मानने के आग्रह को महत्व न दे कर इस विषय में अपने मत को स्पष्ट कर दिया है। रेखाचित्र

१ पथ के साथी, पृष्ठ २५

२ पथ के साथी, पृष्ठ १५ १६

३ अतीत के चलचित्र, अपनी बात, पृष्ठ २

होने के नाते "अतीत के चलचित्र" में कल्पना के लिए निश्चय ही अवकाश नहीं था, किन्तु उनकी कविताओं में भी तो यही स्पष्ट होता है कि वे आध्यात्मिक अनुभवों के प्रति जिस रूप में आकृष्ट रही हैं, उसमें कल्पना वाग्विलास की प्रेरक न हो कर अनुभूति-ग्रहण में सहायक है। वस्तुत उन्होंने अनुभव को प्रधान मानने पर भी कल्पना को काव्य के स्वस्थ विकास में सहायक कहा है—उसका निषेध उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उनके मत में श्रेष्ठ काव्य की रचना तभी सम्भव होती है जब कवि अनुभव, ज्ञान से अर्जित आत्म-संस्कार और उपयोगी कल्पना को उचित महत्व दे कर भाव व्यक्त करता है।

काव्य-हेतु

महादेवी ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य-रचना के मूल कारण माना है और अभ्यास-मात्र से कवित्व-क्षमता की उपलब्धि के सिद्धान्त का निषेध किया है। प्रतिभा के सम्बन्ध में उनकी उक्ति इस प्रकार है--"साहित्य-सृजन केवल रुचि, इच्छा या विवशता का परिणाम नहीं है, क्योंकि उसके लिए एक विशेष प्रतिभा और उसे सम्भव करने वाले मानसिक गठन की आवश्यकता होती है।"[1] स्पष्ट है कि इस प्रकार का मानसिक गठन ईश्वर-कृपा पर अवलम्बित है और व्यक्ति-विशेष को उसका जन्म से ही लाभ होता है। इससे सिद्ध है कि अधिकांश कवियों की भाँति प्रस्तुत कवयित्री ने भी प्रतिभा को जन्म से प्राप्त विभूति-विशेष माना है। प्रतिभा के गौरव को अक्षुण्ण रखने के अतिरिक्त उन्होंने व्युत्पत्ति के अन्तर्गत लोक-दर्शन को भी काव्य का अनिवार्य साधन कहा है। उदाहरणस्वरूप श्री पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" के प्रति कही गई उनकी यह उक्ति देखिए—"सच्चा कलाकार लोक-हृदय को पहचाने बिना नहीं हो सकता, और जो लोक-हृदय को पहचानता है वही अमर होता है—जनता उसी को जीवित रखती है।"[2] काव्य-रचना के क्षेत्र में लोक-दर्शन के महत्व का उल्लेख काव्य शास्त्र के लिए नवीन नहीं है। उसे प्रतिभा के समान अनिवार्य काव्य-कारण मान कर भी महादेवी जी ने उचित ही किया है, क्योंकि लोक के साक्षात्कार से कवि-प्रतिभा को प्रौढि प्राप्त होती है।

इन दोनों काव्य-साधनों के महत्व की स्वीकृति के उपरान्त अभ्यास के विषय में उनके मन्तव्य को जान लेना भी उपयुक्त होगा। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न है—"अभ्यास-मात्र से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सम्भव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।"[3] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) अभ्यास काव्य का कारण तो है, किन्तु उसे मूल काव्य-हेतु नहीं कहा जा सकता, (२) केवल अभ्यास के बल पर काव्य-रचना करने वाले कवि द्वितीय श्रेणी की कविता लिखा करते हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का समन्वय कर के चलने वाले कवियों के प्रति महादेवी असहिष्णु नहीं हैं, किन्तु केवल अभ्यासमार्गी

१. क्षणदा, पृष्ठ ११३-११४
२. जैसा हमने देखा (सम्पादक—क्षेमचन्द्र "सुमन"), पृष्ठ १४०
३. क्षणदा, पृष्ठ ११८

कवियों के प्रति तिरस्कार उपर्युक्त उक्ति में स्पष्ट है। प्रतिभा की कमी होने पर कवि को लोक-दर्शन और अध्ययन से काव्य की प्रेरणा का प्राप्त होना तो ठीक है, किन्तु प्रतिभा और व्युत्पत्ति का एक साथ अभाव होने पर केवल अभ्यास से सन्तोष कर लेना बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कविता हृदय की वस्तु है और उसके लिए अनुभूति की प्रेरणा अनिवार्य है।

काव्य का प्रयोजन

आलोच्य कवयित्री ने काव्य के प्रयोजनों पर उत्पादक और ग्राहक, दोनों की दृष्टि विचार किया है। काव्य के उत्पादक को स्वान्त सुख और यश की प्राप्ति होती है और उसके ग्राहक को लोक-जीवन को समझने का अवसर प्राप्त होता है। समकालीन साहित्य से प्रभावित होने के कारण उन्होंने स्वान्त सुख की किंचित् नवीन रूप में व्याख्या की है। वे उसे आत्म-परिष्कार का पर्याय मानती हैं—उनके मत से काव्य कवि को भाव-संवेदन, सौन्दर्य-बोध और जीवन-दर्शन की विभूतियाँ प्रदान करता है। यथा—"अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौन्दर्य-बोध उदय होता है और नए जीवन-दर्शन की उपलब्धि होती है। सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य स्वान्त सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता।"[1] स्वान्त सुख, आनन्द और आत्म परिष्कार, तीनों तत्व रूप से प्राय एक जैसे हैं। कवयित्री का तात्पर्य यही है कि काव्य रचना के लिए अपेक्षित जीवन-दर्शन से कवि की आत्मा का परिष्कार होता है और सौन्दर्य-बोध से प्राप्य भाव-संवेदन उसे अलौकिक आनन्द का अनुभव कराते हैं। उनके अनुसार काव्य का द्वितीय मुख्य प्रयोजन सामाजिक चेतना उत्पन्न करना है। मानव हृदय में समाज के प्रति विश्वास को जन्म देना उनके मत से काव्य का निश्चित लक्ष्य है। इस सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं—"साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।"[2] सहृदय को समाज के अनुकूल रह कर उन्नति करने की प्रेरणा दे कर उन्होंने केवल व्यक्ति के हित को ही ध्यान में नहीं रखा है, अपितु उनकी दृष्टि मूलत लोक-हित पर केन्द्रित रही है। अत. यह स्पष्ट है कि काव्य का लक्ष्य पाठक को समाज-कल्याण की ओर उन्मुख करना है।

महादेवी ने काव्य के बाह्य प्रयोजनों में से यश और सम्पत्ति के लाभ पर विचार किया है। उन्होंने सद्भावनाओं से पूर्ण कविता को कवि के लिए स्थायी यश का साधन माना है। उदाहरणस्वरूप २४ दिसम्बर, सन् १९५७ को कलकत्ता में आयोजित अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर उनके भाषण का यह अंश देखिए—"लेखक सामाजिक प्राणी है। उन्होंने सदैव स्वयं का बाह्य संसार से एकीकरण किया है।

१. क्षणदा, पृ० ११८-११९
२. क्षणदा, पृ० १२२

अतएव, उनकी कृतियाँ कभी भी अपने से सीमित नहीं रहतीं। यही कारण है कि कोई भी कलाकार या लेखक नष्ट नहीं होता।"[1] आरम्भ में ही धन-प्राप्ति की इच्छा में कर रचना करने वाला कलाकार समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता। लोक-हित की गरिमा से समृद्ध कृति कवि के लिए स्वतः यशदायी होती है, श्रेष्ठ कलाकार को उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। यश का समर्थन करने पर भी महादेवी ने काव्य में अर्थ की प्राप्ति का विरोध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है—"यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जावे, तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्त क्षितिज मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।"[2] उनके समकालीन कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी और सियारामशरण गुप्त का दृष्टिकोण भी यही रहा है। काव्य की रचना प्रतिभा का उन्मेष होने पर होती है और उसका प्रथम फल आनन्द का लाभ है—उसके द्वारा धन की साधना का प्रयास करना निश्चय ही अपनी प्रतिभा को कुण्ठित करना है। महादेवी ने कवि-सम्मेलनों में भाग लेने वाले कवियों के अर्थ-लोभ की निन्दा करते हुए इस मत को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"कवि अपनी श्रोता-मण्डली में किन गुणों को अनिवार्य समझता है यह प्रश्न आज नहीं उठता पर अर्थ की किस सीमा पर वह अपने सिद्धान्तों का बोझ फेंक कर नाच उठेगा इसका उत्तर सब जानते हैं। उसकी इच्छा अर्थ के क्षेत्र में जितनी मुक्त है वह श्रोताओं की इच्छा का उतना ही अधिक बन्दी है।"[3] इस वक्तव्य में निहित कटु सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। धन की प्रेरणा से लिखित कविता में कवि स्वतन्त्र नीति निर्धारित करने में असमर्थ रहता है। इसके फल-स्वरूप उसकी रचना में रस और स्वाभाविकता का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवयित्री की काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी धारणाएँ गम्भीर और विवेक-पूर्ण हैं।

काव्य के तत्व

प्रस्तुत कवयित्री ने अनुभूति को काव्य का मूल तत्व माना है, किन्तु चिन्तन और कल्पना को वांछित गौरव देने की ओर से वे उदासीन नहीं हैं। उन्होंने काव्य को जीवन से सम्बद्ध मान कर उसमें मानव के अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् के सामंजस्यपूर्ण चित्रण पर बल दिया है। उनके शब्दों में, "हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत् त्याज्य है और न बाह्य क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।"[4] इससे स्पष्ट है कि कविता का उद्देश्य मानव-जीवन के सत्य को प्रकट करना है। दूसरे शब्दों में, कवि मानव

---

१. हिन्दुस्तान (दैनिक), २५ दिसम्बर, सन् १९५७, पृष्ठ ५
२. क्षणदा, पृष्ठ ११५
३. स्मृति की रेखाएँ, पृष्ठ ८६
४. आधुनिक कवि, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १०

के व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर समष्टि के सत्य को खोजने का प्रयास करता है। इसी गुण के बल पर कविता केवल एक व्यक्ति तक सीमित न रह कर मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। महादेवी ने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"**कविता हमारे व्यष्टि सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बांधती है।**"[1] इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव अथवा लोक-सत्य कविता का प्रमुख तत्व है। "अज्ञेय" ने महादेवी की इन धारणाओं को निर्व्यक्तीकरण सिद्धान्त की व्याख्या कहा है—"**दूसरे शब्दों में महादेवी जी काव्य के उसी गुण की ओर संकेत कर रही हैं जिसे आधुनिक आलोचक निर्व्यक्तीकरण कहता है—व्यक्तिगत अनुभूति को समष्टिगत अनुभूति के साँचे में ढालना।**"[2] अतः यह स्पष्ट है कि कवि व्यक्तिगत अनुभवों के बल पर समाज के लिए उपयोगी सत्य को वाणी देता है। अनुभवों की विविधता के फलस्वरूप इस सत्य के भी दो रूप हो जाते हैं—एक वह जो पहले से विद्यमान है और दूसरा वह जिसकी सम्भावना की जा सकती है। श्रीमती वर्मा ने १५ दिसम्बर, सन् १६५७ को साहित्यकार सम्मेलन, प्रयाग में सभापति-पद से भाषण देते हुए इसी मत को व्यक्त किया था—"**जो सत्य है, जो सम्भाव्य सत्य है, वही प्रकट करने वाला साहित्यकार है।× × × × ×साहित्यकार को जनता के हृदय के स्पन्दन के साथ रहना चाहिए।**"[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में अनुभूत विषयों के चित्रण को महत्व देना चाहिए, क्योंकि "**इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन में मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आ कर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़ कर अपनी सम्पूर्ण संवेदन शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावे।**"[4] मानव-जीवन के निकट सम्पर्क में रह कर जिस अनुभूतिमयी कविता की रचना की जाती है वह सहृदयों को विशेष सुख प्रदान करती है। सत्य के प्रति आस्था रखने के अतिरिक्त महादेवी ने काव्य में शिव-तत्व (चिन्तन) की स्थिति पर भी बल दिया है। उन्होंने बुद्धि-तत्व अथवा चिन्तन को हृदय-तत्व अथवा अनुभूति से सम्बद्ध माना है। इसीलिए उन्होंने कवि को बौद्धिक तर्क-पद्धति की अपेक्षा जीवन के प्रति अखण्ड विश्वास रखने का सन्देश देते हुए ये विचार व्यक्त किए हैं—"**काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम**

---

१. आधुनिक कवि, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ११
२. त्रिशंकु, पृष्ठ १११-११२
३. हिन्दुस्तान (दैनिक), १६ दिसम्बर, सन् १९५७
४. आधुनिक कवि, भाग १, भूमिका, पृष्ठ ३३

है।"[1] इन पंक्तियों में चिन्तन की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्व दिया गया है। यह उचित भी है—अनुभव के अभाव में कोरा चिन्तन किस काम का ? जीवनव्यापी सत्य के आलोक में कविता स्वयं प्राणवान् होती है और चिन्तन का रंग चढ़ने पर वह और भी अधिक दीप्त हो उठती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्य की सुखद अनुभूति को व्यक्त करने के लिए काव्य एक सहज माध्यम है। सत्य को वाणी देने में शिव की भाँति सुन्दर का भी अविस्मरणीय महत्त्व है। इस सम्बन्ध में महादेवी का मत स्पष्ट है—"कलाकार यदि सत्य अर्थों में कलाकार हो, तो वह कल्पना को सौन्दर्यमय आकार देगा, उसमें वास्तविकता का रंग भरेगा, और उनसे जीवन-संगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेगा।"[2] सुन्दर कल्पना को वास्तविक रूप देने के विषय में यह धारणा पाश्चात्य साहित्यकारों में शेक्सपियर को भी इसी रूप में मान्य है।[3] छायावादी कवियों में पन्त ने तो सौन्दर्य को काव्य का मूल तत्त्व ही माना है, किन्तु महादेवी का मत उनसे किंचित् भिन्न रहा है। उन्होंने सौन्दर्य के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी उसे अनुभव से उद्भूत माना है—सत्य काव्य का लक्ष्य है और सौन्दर्य इस लक्ष्य-पूर्ति में योग देने वाला साधन-विशेष है। उनके शब्दों में, "सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त।"[4] उनसे पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी सत्य की उपलब्धि में ही सौन्दर्य की प्राप्ति मान कर यह उल्लेख किया है—"सत्य की यथार्थ प्राप्ति ही आनन्द है, वही चरम सौन्दर्य है।"[5]

इस स्थान पर यह प्रश्न उठता है कि व्यापक सत्य के विभिन्न रूपों (रूप और कुरूप) में से सौन्दर्य किसे ग्रहण करेगा ? महादेवी ने इसका उत्तर मौलिक रूप में दिया है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में सौन्दर्य का मानदण्ड साधारण सौन्दर्य से भिन्न होता है। भौतिक व्यवहार में केवल उसी को सुन्दर माना जाता है जो बाह्य-चक्षुओं को सुन्दर प्रतीत हो, किन्तु काव्य में जीवन के प्रत्येक अंग को सौन्दर्य-सम्पन्न माना जा सकता है। उसमें संसार की तुच्छतम वस्तुएँ भी सुन्दर मान कर अंकित की जा सकती हैं। आवश्यकता केवल यह है कि ऐसे तत्त्व जीवन के सत्य को पूर्ण रूप से मुखर

---

१. दीपशिखा, भूमिका, पृष्ठ १३

२. यामा, पृष्ठ ५०

३. "The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven
And, as imagination bodies forth,
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and a name."
(A Midsummer Night's Dream, Act V, Scene I, Page 59)

४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १

५. साहित्य (अनुवादक—बंशीधर विद्यालंकार), पृष्ठ ४२

करने वाले हों। यथा—"सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं।"[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में जीवन को गति देने वाले सत्य का विचारपूर्ण सुन्दर अंकन होना चाहिए।

काव्य के भेद

आलोच्य कवयित्री ने काव्य रचना के रूपों में से गीतिकाव्य के स्वरूप का समृद्ध विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और उदयशंकर भट्ट के विचारों से अधिक व्यापक रही हैं। विवेचन की सुविधा के लिए इस विषय में उनकी सभी उक्तियों को एक साथ उद्धृत करना उपयुक्त रहेगा—

(अ) "सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था-विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[2]

(आ) "गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं।"[3]

(इ) "गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। पर अनुभूति-मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[4]

(ई) "गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है उसका भार गीत नहीं सभाल सकता, पर तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर सामञ्जस्य का विशेष महत्व रहा है।"[5]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गीतिकाव्य में तीन गुणों की स्थिति होनी चाहिए—(१) आत्माभिव्यक्ति अर्थात् वैयक्तिक सुख दुःख का कथन, (२) बौद्धिक तर्क-क्रम के स्थान पर अनुभूति से प्राप्त ज्ञान, (३) गेयता अथवा स्वरों का आरोह अवरोह क्रम। इनमें से प्रथम दो गुण तत्व रूप में प्रायः समान हैं—व्यक्तिगत सुख-दुख की अभिव्यक्ति में बौद्धिक तर्क-क्रम के समावेश का प्रश्न ही नहीं उठता। तृतीय गुण का सम्बन्ध शिल्प-साधना से है। महादेवी की अपेक्षा "निराला" ने इसके स्वरूप को अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है। तथापि महादेवी की धारणाएँ इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने प्रगीत काव्य में भावना और कला की ओर एक-जैसा ध्यान देने पर बल दिया है। गीतिकाव्य में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त भी काव्य शास्त्र के लिए नवीन नहीं है किन्तु

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ८

२. यामा, अपनी बात, पृष्ठ ७

३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४०

४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४७

५. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४५

उसमें हृदय-तत्व और बुद्धि-तत्व का एक साथ निर्वाह करने की ओर उनसे पूर्व छायावाद के किसी कवि ने संकेत नहीं किया है। उनके काव्य का अनुगम विधि से अनुशीलन करने पर भी हम इस सिद्धान्त को सार्थक पाते हैं—उन्होंने अनुभूति-सम्पन्न विचार-प्रधान कविताओं की रचना की है, न कि विचार-बोझिल काव्य की। अतः यह स्पष्ट है कि गेय काव्य में *शुष्क ज्ञान भी आत्मानुभूति के कारण रसात्मक हो जाता है।*

आलोच्य काव्य-विधा की उपर्युक्त विशेषताओं को काव्य-गीत अथवा कला-गीत को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया गया है। गीति काव्य के अन्य प्रकारों में से उन्होंने *लोक-गीत के स्वरूप की भी व्याख्या की है। काव्य-गीत के अन्तर्गत उन्होंने रहस्य-गीत* (सगुणोन्मुख गीत एवं निर्गुण-गीत) की विशेषताओं का स्पष्ट कथन किया है और राष्ट्र-गीत का नामोल्लेख-मात्र किया है। रहस्य-गीत की प्रवृत्तियों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने दो सुन्दर उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—"**(अ) रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है, (आ) रहस्य-गीतों में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं।**"[1] इन अवतरणों से स्पष्ट है कि गीतिकाव्य में अनुभूति की आनन्दात्मक अथवा रसपूर्ण व्याख्या की जाती है। यह धारणा कला-गीत-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों के समतुल्य है। काव्य-गीत की इन विशेषताओं के अध्ययन के उपरान्त लोक-गीत *के स्वरूप का उद्घाटन भी उपयोगी होगा। लेखिका ने इन दोनों काव्य-रूपों में एक-जैसी* प्रवृत्तियों की व्याप्ति मानी है। लोक-गीतों में जीवन की विविधताओं और प्रकृति-शोभा को स्थान देने के विषय में यह उद्धरण द्रष्टव्य है—"**हमारा यह बिना लिखा गीतकाव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियों के मूल रूपों का परिचय देने में समर्थ है जो हमारे काव्य में सूक्ष्म और विकसित होती रह सकीं। प्रकृति को चेतन व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति उनमें अधिक स्वाभाविक रहती है।**"[2] इस उक्ति से असहमत होने का कोई कारण नहीं है। कला-गीतों में विचारों के बोझ, कल्पना की उड़ानों और शिल्प सूक्ष्मताओं के आग्रह के फलस्वरूप जो अस्वाभाविकता सम्भाव्य रहती है, उसके लिए लोक गीतों में निश्चित रूप से स्थान *नहीं होता।* श्रेष्ठ काव्य-गीत में ये सब दुर्बलताएँ नहीं होतीं। इसीलिए महादेवी ने उसकी प्रवृत्तियों को लोक-गीत से अभिन्न माना है—"**यदि हम भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से लोकगीत** ***और काव्य-गीतों की सहृदयता के साथ परीक्षा करें तो दोनों के मूल में एक-सी प्रवृत्तियाँ*** **मिलेंगी।**"[3]

काव्य के वर्ण्य विषय

महादेवी ने काव्य-वर्ण्य की समीक्षा करते समय कवि को मानव-जीवन की साम-

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४६
२ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १६६
३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १७०

जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति और अध्यात्म-तत्व की ओर ध्यान देने का परामर्श दिया है। वैसे उन्होंने महावीरप्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, "निराला" आदि की भाँति काव्य को विविध विषय-विभूषित रखने पर बल दिया है। उदाहरणस्वरूप श्री पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" से कही गई ये पंक्तियाँ देखिए—"साहित्य को विविधता से पूर्ण होना ही चाहिए। यदि कोई एक किसान की पसलियों का चित्र खींचने वाली १००० कविताएँ लिखे तो उसमें एकरसता आ जायगी और वह साहित्य की विविधता से दूर की बात होगी।"[1] एक ही विषय को ले कर काव्य-रचना करने में कवि भाव-वैविध्य और रस-चेतना का निरन्तर निर्वाह नहीं कर सकता, उसकी रचना में एकरसता का आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इस विविधता की योजना के लिए कवयित्री ने अनुभूति और चिन्तन के सामंजस्य द्वारा मानव-जीवन को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने पर विशेष बल दिया है। जीवन की व्यापकता की काव्य में विविध रूपों में अवतारणा सहज सम्भाव्य है। कवि मानवतावादी दृष्टिकोण का आश्रय ले कर लोक-जीवन को अनेक धाराओं में गतिशील रख सकता है। यथा—"यदि हम पहले मिली सौन्दर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ-सृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामंजस्यपूर्ण चित्र दे सकेंगे।"[2] इस उद्धरण के मूल में छायावाद की सौन्दर्य-दृष्टि का प्रगतिवाद की यथार्थवादिता, बौद्धिकता और मानवता से सामंजस्य स्थापित करने पर बल दिया गया है। स्पष्टतः यहाँ सुमित्रानन्दन पन्त की भाँति लोक-मानवता के प्रतिपादन को काव्य का लक्ष्य माना गया है। उनके सहयोगियों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों ने भी इस ध्येय की पूर्ति को कवि का आदर्श माना है।

उनके द्वारा विचारित द्वितीय वर्ण्य विषय काव्य में आध्यात्मिक भावनाओं की प्रस्तुति से सम्बद्ध है। उन्होंने इस प्रसंग में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि आधुनिक युग की नवीन विचार-पद्धति के आलोक में अध्यात्म-तत्व का क्या अर्थ होना चाहिए? रूढ़ अर्थ में आध्यात्मिकता का सम्बन्ध परम्परावद्ध धार्मिक बन्धनों से है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में उसे मानव-धर्म (सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि गुण) के निर्वाह से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। इस विषय में उनकी धारणा इस प्रकार है—

"कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सम्बन्धी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष-रूप भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विश्वबन्धुता, मानव धर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों को हम अध्यात्म की संज्ञा देते

१. जैसा हमने देखा (सम्पादक : क्षेमचन्द्र "सुमन"), पृष्ठ १४०

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ७५

है तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व नहीं रहता। इस कथन में अध्यात्म को बलात् लोकमय ही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति अस्वीकार करने का कोई आग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में भी सरस है परन्तु इस अरूपरूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव हो सकेगी।"[1]

छायावादी कविता में आध्यात्मिकता के समावेश की यह नवीन युक्ति महादेवी के अतिरिक्त कवि पन्त द्वारा भी प्रस्तुत की गई है। किन्तु जहाँ पन्त जी के काव्य में आध्यात्मिक विचार धारा मानवतावाद में सहज अर्पित रही है वहाँ महादेवी जी ने अध्यात्म-तत्व का लोक-सम्बद्ध रचना के उद्देश्य से लौकिक प्रतीक-रूपकों का आश्रय लिया है। उनकी कविताओं के विषय में प्रायः यह धारणा व्यक्त की जाती है कि उनमें अलौकिक प्रेम की छाया में लौकिक प्रेम का विकास हुआ है। इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए ही उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि अध्यात्म-तत्व की स्थिति अब उसके प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न रूप में है। अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए लौकिक रूपकों का आश्रय लेना वर्तमान चिन्तन पद्धति के सर्वथा अनुकूल है।

विशिष्ट काव्य-मत

छायावाद-विषयक धारणाएँ

आलोच्य कवयित्री ने "प्रसाद" और पन्त के छायावाद-सम्बन्धी विवेचन से लाभ उठाते हुए अपने दृष्टिकोण को सर्वाधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने छायावाद के आन्तरिक तत्वों (स्वानुभूति की अभिव्यक्ति, प्रकृति-चित्रण, सूक्ष्म भाव-ग्रहण, पलायन वृत्ति का विरोध) के अतिरिक्त उसके कला-पक्ष का भी विदग्ध विवेचन किया है और अन्त में पन्त जी की भाँति उसके पराभव के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों की संक्षिप्त चर्चा की है। उन्होंने छायावाद को पूर्ववर्ती काव्य-युग (द्विवेदी काल) की इतिवृत्तात्मकता (कविता के बन्धन) के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप उद्भूत माना है। यथा—"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव (बन्धनों से ऊब उठना) में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आत्मानुभूति की व्यंजना छायावाद की अपनी विशेषता है। उनके सहयोगियों में "प्रसाद" जी ने तो अनुभूतिव्यंजना को ही छायावाद का प्रमुख तत्व माना है। महादेवी के मतानुसार "इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे। अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास विषाद की अभि-

१. आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ १७-१८
२. रश्मि, अपनी बात, पृष्ठ ४

व्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।"[1]

यह दृष्टिकोण "प्रसाद" जी की मान्यता से अधिक व्यापक है और इसकी सार्थकता भी असंदिग्ध है। इस प्रकरण में "प्रसाद" जी की धारणा से उनकी द्वितीय सहमति यह है कि छायावाद केवल रीतिकाल की शृंगारिकता और द्विवेदी युग की स्थूलता के प्रति प्रतिक्रियावाहक ही नहीं है, अपितु वह वैदिक युग से अब तक निरन्तर विकसित होता रहा है। वेदों और उपनिषदों की ऋचाओं और हिन्दी की सगुण भक्ति-कविता में स्वानुभूति की व्याप्ति का उल्लेख कर उन्होंने इसी मत की पुष्टि की है।[2] इस विचार को प्रस्तुत करने का मूल उद्देश्य यह है कि छायावाद के विरोधी आलोचक उसके प्रति अपनी उग्र प्रतिक्रिया को सहज बना सकें। छायावाद की इस विशेषता के उपरान्त कवयित्री ने उसमें प्रकृति-चेतना पर विशेष बल दिया है। उन्होंने छायावादी कवि को यह सन्देश दिया है कि वह प्रकृति और मानव-भावनाओं में सहज सम्बन्ध की स्थापना के लिए उनकी विभिन्नताओं में भी सामंजस्य की स्थापना का प्रयास करे। इसीलिए उन्होंने पन्त जी की भाँति प्रकृति की विविधता को एक ही कोटि की सौन्दर्य-चेतना से समन्वित माना है और इस सौन्दर्य को मानव-मन में भी उसी प्रभाव के साथ प्रसरित होने वाला कहा है। यथा—**"छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई। अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"**[3]

महादेवी ने मानव और प्रकृति की इस पारस्परिकता को सर्ववाद कहा है और छायावादी काव्य में इसे सूक्ष्म आधार पर प्रस्तुत करने पर बल दिया है। इस प्रसंग में उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि छायावाद का रचयिता कल्पना और सहृदयता से प्रेरित हो कर प्रकृति के व्यक्त रूप को अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान कर उसे विशिष्ट भावात्मक रूप में उपस्थित करता है। उनके शब्दों में, **"छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है, न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य-कोष खोल देती है और प्रकृति के प्राण-परिचय के लिए जीवन अपना रंगमय भावाकाश दे डालता है।"**[4] जीवन की सम्भावनाओं और प्रकृति की सम्पदा का समंजन काव्य में स्वाभाविकता का विधान करता है। इसके लिए प्रत्यक्ष-दर्शन के अतिरिक्त कल्पना का सहकार भी विशेष वांछित है। महादेवी ने कल्पना को छायावादी कविता का विशिष्ट गुण मान कर उसे भारतीय संस्कारों की पृष्ठभूमि पर आधृत माना है। छायावाद के प्रकृति-काव्य में कल्पना विविधरूपी हो सकती है और अपने रंग-वैभव तथा तरल लास्य से प्रकृति को अभिनव सौन्दर्य प्रदान करती है, किन्तु इतना

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६७
२. देखिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", पृष्ठ ६१-६२
३. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६१
४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ८७

स्मरणीय है कि कल्पनामूलक प्रकृति-काव्य में भी मानव-जीवन से सबेन उपस्थित करने चाहिएँ। इसीलिए महादेवी ने कहा है, **"काव्य जब प्रकृति का आधार ले कर चलता है तब कल्पनाओं में सूक्ष्म रेखाओं का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा। छायावाद तत्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है। अतः कल्पनाएँ बहुरंगी और विविध-रूपी हैं।"**[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में जीवन के सुख-दुःख के प्रकटीकरण के अतिरिक्त प्रकृति का अनुभूति और कल्पना के बल पर सजीव चित्रांकन होना चाहिए। इन दोनों धारणाओं को प्रस्तुत करने में कवयित्री ने "प्रसाद" और पन्त की मान्यताओं से यथास्थान लाभ उठाया है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने स्वानुभूति की भाँति प्रकृति के सूक्ष्म छवि-चित्रों के मूल को भी संस्कृत-काव्य में खोज की है। उन्होंने ऋग्वेद, अथर्ववेद, वाल्मीकि रामायण आदि संस्कृत-ग्रन्थों से उद्धरण उपस्थित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि छायावादी काव्य में प्रकृति-चित्रण के लिए जिस सूक्ष्म आत्मपरक दृष्टिकोण को ग्रहण किया गया है वह इससे पूर्व संस्कृत काव्य में भी उपलब्ध होता है।[2] यह दृष्टिकोण कविवर "प्रसाद" द्वारा तो प्रस्तुत किया ही नहीं गया है, छायावाद के प्रकृति-काव्य को विविध दिशा-संकेत प्रदान करने वाले कवि पन्त ने भी उस पर संस्कृत के प्रभाव का उल्लेख नहीं किया है। अतः यह महादेवी की मौलिक शोध है। उन्होंने इन विचारों को सम्भवतः इसलिए प्रस्तुत किया है कि पाठक और आलोचक को छायावादी काव्य में प्रकृति-चित्रण की नवीनता दुरूह प्रतीत न हो।

आलोच्य कवयित्री ने स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की अभिव्यक्ति को छायावाद का तृतीय तत्व माना है। उनके अनुसार छायावादी कविता में जीवन के प्रत्येक पक्ष को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु ऐसा करते समय स्थूल की एकान्त उपेक्षा भी अनुचित है—**"छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका, परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है।"**[3] इस उक्ति से सिद्ध है कि छायावाद के कवि ने जीवन की स्थूल वास्तविकताओं का सूक्ष्म दृष्टि से नवीन रूप में अध्ययन किया है। छायावाद में स्थूल की प्रत्यक्ष चर्चा न होने पर भी जीवन के यथार्थ की अप्रत्यक्ष चर्चा का सिद्धान्त असहज स्वीकार्य नहीं हो सकता, किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि समाज में श्वास ग्रहण करने वाला कवि जीवन से सर्वथा असम्पृक्त कविता की रचना नहीं कर सकता। इसीलिए उन्होंने छायावाद को जीवन से पलायन की ओर ले जाने वाला सिद्धान्त माननेवाले आलोचकों का विरोध किया है। उन्होंने पलायन वृत्ति को केवल छायावाद से सम्बद्ध न मान कर उसे साहित्य और जीवन में सहज समाविष्ट माना है और इस मत की पुष्टि के लिए साहित्य की दृष्टि

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ९४

२ देखिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", पृष्ठ ७८–८५

३ आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २०

से उपनिषद् साहित्य का एवम् जीवन की दृष्टि से सिद्धार्थ के जीवन को उदाहृत किया है।[1] इस प्रसग में उन्होने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि जब छायावाद के प्रसार काल में मानव की भौतिक अस्तित्व को बनाए रखने की समस्या आज के समान उग्र नहीं थी तब यदि छायावादी कवि ने इन समस्याओ का चित्रण नहीं किया तो उसने कौन-सी भूल की है ? इस सम्बन्ध मे उनकी उक्ति यह है—

"छायावाद के जन्मकाल में मध्यवर्ग की ऐसी क्रान्ति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विषमताओ के प्रति हम सम्पूर्ण क्षोभ के साथ आज के समान जागृत भी नहीं हुए थे और हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोण पर असन्तोष का इतना स्याह रग भी नहीं चढा था। तब हम कैसे कह सकते है कि केवल सघर्षमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भाव जगत् को अपनाया।"[2]

उपर्युक्त पक्तियो मे निहित सत्य का ऐतिहासिक आधार पर विश्लेषण करने पर उसकी महत्ता और मौलिकता को अस्वीकार नही किया जा सकता। तत्कालीन कवियो के समक्ष समाज के सघर्ष प्रधान वातावरण की आज के समान स्थिति नही थी। पलायन वृत्ति के विषय मे उनका यह कथन भी उचित है कि हमारे प्राचीन साहित्य मे मानव को सामाजिक प्रवृत्तियो अथवा माया-बन्धनो से पृथक् रहने का जो सन्देश दिया गया है वह पलायनवाद का ही एक रूप है। तथापि इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यदि छायावादी काव्य में जीवन-व्यापी मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता तो उसका रूप कही अधिक व्यापक हो सकता था।

छायावाद का कला-पक्ष

छायावादी भावना से सम्बद्ध उपादानों के अतिरिक्त प्रस्तुत कवयित्री ने उसके कलापक्ष (भाषा और छन्द) का भी विवेचन किया है। उन्होंने छायावादी कविता की सूक्ष्मता और कोमलता के अनुरूप उसकी भाषा में सकेतात्मकता के समावेश को स्वाभाविक माना है—"इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहता है, अत शैली का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज सम्भव है।"[3] इस सूक्ष्मता का निर्वाह करने में न तो ब्रजभाषा की प्राचीन परम्पराएँ उपयुक्त हैं और न द्विवेदी युग की सामान्य खडी बोली इसमें सफल हो सकती है।[4] यह धारणा "पल्लव" की भूमिका में उल्लिखित काव्य भाषा-सम्बन्धी विचारो से पर्याप्त साम्य रखती है, अत इसमें मौलिकता की खोज करना व्यर्थ है। तथापि उनका यह कथन महत्वपूर्ण है कि छायावादी कविता में शब्द और अर्थ के सामजस्य-सम्बन्ध पर ध्यान देते हुए रूढ शब्दों को नवीन रूप दिया गया है और कतिपय नवीन शब्दो की सृष्टि की गई है—"छायावाद ने नये छन्दबन्धों में, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति

---

१ देखिए "आधुनिक कवि, प्रथम भाग", भूमिका, पृष्ठ २५ २६

२ आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २६

३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६२

४. देखिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", पृष्ठ ६४ ६५

को जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अत कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप तोल और काट-छांट कर तथा कुछ नये गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया।"[1] छायावादी भाषा की इन विशेषताओं का उल्लेख "प्रसाद" और पन्त ने भी किया है। किन्तु इससे महादेवी की धारणा का महत्व कम नहीं होता। छायावादी कविता के स्पष्टीकरण की दिशा में ये सभी कवि लगभग एक ही समय प्रयत्नशील रहे थे और इनके विचार कहीं कहीं एक-जैसे होने पर भी इनकी अपनी स्वतन्त्र काव्यानुभूतियों से समृद्ध हैं।

महादेवी ने अपने काव्य को प्रगीत शैली के माध्यम से उपस्थित किया है, अत उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि व छायावादी कविता में छन्द प्रयोग की विस्तृत चर्चा करें। तथापि छायावादी कवियों द्वारा छन्द प्रयोग की प्राचीन परिपाटी के त्याग, मुक्त छन्द के प्रयोग, मात्रिक छन्दों के नियमों के शिथिलीकरण और नवीन छन्दों की सृष्टि के प्रयास को देख कर उन्होंने भी प्रसगवश छन्द विवेचन किया है। उन्होंने ब्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त छन्दों को खड़ी बोली के सूक्ष्म रूप से युक्त छायावादी कविता के लिए अनुपयुक्त मान कर "छायावाद" शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि भाषा विशेष के छन्दों को किसी अन्य भाषा में सफलतापूर्वक ग्रहण नहीं किया जा सकता। यथा —

"छन्द तो भाषा के सौन्दर्य की सीमाएँ हैं, अत भाषा विशेष से भिन्न कर के उनका मूल्यांकन असम्भव हो जाता है। वे प्राय दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते, इसी से या तो उसे अपने बन्धनों के अनुरूप काट-छांट कर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओं को कहीं दूर तक फैला कर और कहीं सकीर्ण कर अपने नाद-सौन्दर्य सम्बन्धी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुँच जाते हैं।"[2]

यह दृष्टिकोण कुछ सीमा तक उचित है (यद्यपि अपवाद तो सभी दिशाओं में सम्भव है), क्योंकि अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं के छन्दों को हिन्दी में सर्वथा निर्दोष रूप में ग्रहण करना दुष्कर है, तथापि ब्रजभाषा और खड़ी बोली के छन्दों में इस प्रकार का विशेष पार्थक्य हो ही कैसे सकता है? यद्यपि पन्त जी ने भी हिन्दी-कविता में संस्कृत, बँगला और ब्रजभाषा के छन्दों को यथावत् ग्रहण करने का विरोध किया है,[3] किन्तु इस सम्बन्ध में दुराग्रह रखना भी उचित नहीं है। यह सत्य है कि कुछ छन्द भाषा विशेष की परम्परा के अनुसार रूढ़ हो जाते हैं, किन्तु सभी छन्दों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर, दूसरी भाषा के छन्दों को सफलतापूर्वक प्रयुक्त करना कवि की क्षमता पर भी तो निर्भर करता है। तथापि यह स्पष्ट है कि छायावादी कविता की सूक्ष्म भावनाओं और सूक्ष्म भाषा के अनुकूल उसके कवियों द्वारा छन्दों को भी नवीन रूप प्रदान करने का प्रयास समयानुकूल था।

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ६५

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ५५

३ देखिए "पल्लव", प्रवेश पृष्ठ ३३ ३६

छायावाद के पराभव के कारण

जिस प्रकार छायावादी काव्य का उद्भव द्विवेदीयुगीन काव्य की स्थूल इतिवृत्तात्मक कविता के विरोध रूप मे हुआ था उसी प्रकार छायावादी काव्य की अति सूक्ष्मता की प्रतिक्रिया मे हिंदी मे प्रगतिवादी काव्य का प्रारंभ हुआ। छायावादी काव्य के पराभव के कारणो पर आलोचकों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, तथापि इस दिशा मे महादेवी के मत स अवगत होना इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि उनका मत छायावादी कवियों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। किसी काव्य धारा के ह्रास के आन्तरिक कारणों की जितनी स्वस्थ चर्चा उसकी रचना म भाग लेने वाले कवि द्वारा सम्भव है उतनी आलोचक से अपेक्षित नही की जा सकती। महादेवी ने कवि पन्त की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि छायावाद की असफलता का कारण यह है कि उसम मानव-जीवन को उचित गौरव न देकर उसके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान पर भावात्मक दृष्टि को अपनाया गया। उनके शब्दो म, "छायावाद के कवि को एक नए सौन्दर्य लोक में ही वह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है, परन्तु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता देखना चाहेंगे तो हम भी असफल रहेंगे।"[1] प्रस्तुत कवयित्री ने छायावाद के भाव-पक्ष का विवेचन करते समय भी उसमे जीवन को स्थान देने पर बल दिया था। जीवन की उपेक्षा कर के कल्पना को प्रधानता देने वाली कविता का ह्रास स्वाभाविक है। छायावाद की असफलता का द्वितीय कारण उसकी दुरूहता है। परम्परा और स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता का नवीन रूप मे परिग्रहण जन सामान्य के लिए कठिन रहा—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगतसौन्दर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"[2] इस सम्बन्ध मे कविवर पन्त का मत भी यह रहा है कि छायावादी कवियों की आध्यात्मिक अनुभूति अपूर्णता और दुर्बोधता से ग्रस्त थी। अत यह स्पष्ट है कि महादेवी द्वारा छायावाद की असफलता के लिए प्रस्तुत किए गए दोनो कारण पन्त जी को भी लगभग उसी रूप मे मान्य रहे हैं।

रहस्यवाद-विषयक विचार

महादेवी ने छायावाद की भाँति रहस्यवाद के स्वरूप विवेचन की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। उन्होंने "प्रसाद" जी की भाँति अपरोक्ष अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति को रहस्यवाद का प्रमुख तत्व माना है। उनके शब्दों मे, "× × × × × इस (प्रकृति की) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण

---

१. आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २५

२ आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २२

ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"[1] इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि वे रहस्यवाद के भावात्मक रूप की समर्थिका हैं, उसके गुप्त साधनात्मक रूप की अभिव्यक्ति उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसीलिए उन्होंने उसमें दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान की अपेक्षा रागात्मकता के प्रसार पर विशेष बल दिया है—"रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं। प्राचीन काल में परा या ब्रह्मविद्या में इसका अंकुर मिलता अवश्य है, परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहाँ?"[2] भक्तिकालीन कवियों को रहस्यवादी रचनाओं में रागात्मकता का अभाव नहीं है तथापि वर्तमान कवियों द्वारा कल्पना के माध्यम से राग-तत्व का विशेष सत्कार किया जाना स्वाभाविक ही है। "प्रसाद' जी द्वारा रहस्यवाद में जिस आनन्द-भाव की स्थिति पर बल दिया गया है वह इस राग तत्व से अधिक दूर नहीं है। वैसे महादेवी को रहस्यवाद में आनन्द भाव का मिश्रण प्रत्यक्ष रूप से भी स्वीकार्य रहा है—"रहस्यवादी का आत्म समर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज सम्भव रहेगा।"[3]

कवयित्री ने वर्तमान रहस्यवाद को समन्वय की भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली।"[5] इससे स्पष्ट है कि वे रहस्यवाद में अपार्थिवता (अपरोक्ष अनुभूति), अद्वैत-भाव, प्रेम माधुरी और सांकेतिकता को अभिप्रेत मानती हैं। ये सभी तत्व "प्रसाद" जी द्वारा पूर्व निर्दिष्ट हैं,[5] अतः इनके प्रतिपादन में मौलिकता की खोज करना असफल प्रयास-मात्र होगा। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महादेवी ने इन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—जहाँ इस विषय में कवि 'प्रसाद" का विवेचन संक्षिप्त था वहाँ उन्होंने विस्तार और सुस्पष्टता का आधार लिया है। इसीलिए उन्होंने एक ओर "प्रसाद" की भाँति वेदों, उपनिषदों और इतर भारतीय रचनाओं में रहस्य चिन्तन के विकास की खोज की है[6] और दूसरी ओर प्लेटो, प्लोटिनस, डायोनिसियस, एकहार्ट आदि पश्चिमी विचारकों एवं अत्तार, शम्सतरी आदि सूफी कवियों की रहस्यवाद-सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन किया है।[7] यह सम्पूर्ण विवेचन ऐतिहासिक प्रणाली के अनुसार हुआ है, किन्तु महादेवी ने "प्रसाद"

---

१ सान्ध्यगीत, अपनी बात, पृष्ठ ६
२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १०५
३. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ११२
४ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १०६
५ देखिए "काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृष्ठ ६६
६. देखिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", पृष्ठ ११४-१२६
७ देखिए "महादेवी का विवेचनात्मक गद्य", पृष्ठ १३१-१३७

की भाँति केवल ऐतिहासिक आलोचना का ही आश्रय नही लिया, रहस्यवाद के सिद्धान्त-पक्ष का उद्घाटन भी उन्होंने पूर्ण विदग्धता के साथ किया है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने मे उनका प्रतिपाद्य भी प्राय यही रहा है कि भारतीय रहस्यवाद का मूल उत्स वेदो और उपनिषदो मे है, यद्यपि उसे पश्चिमी रहस्यवाद के स्थान पर सूफियो के प्रेममूलक रहस्यवाद से सीमित रूप मे प्रभावित मानने में उन्हे आपत्ति नही है। अत यह स्पष्ट है कि उनका रहस्यवाद-सम्बन्धी विवेचन कविवर "प्रसाद' की मान्यताओ के निकट होने पर भी अपेक्षाकृत अधिक विदग्ध और व्यापक है।

यथार्थवाद और आदर्शवाद

आलोच्य कवयित्री ने काव्य मे यथार्थ और आदर्श की अभिव्यक्ति के विषय मे सन्तुलित विचार प्रकट किए है। उन्होने "प्रसाद' जी की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनो सिद्धान्तो के मध्य किसी विभाजक रेखा को खीचना अव्यावहारिक है। वस्तुत ये परस्पर सापेक्ष है और समन्वित होने पर ही जीवन का पूर्ण चित्र अकित कर पाते है। यथा—"वे एक दूसरे के पूरक रह कर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अत काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका दे कर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न करता है, सामजस्य नहीं।"[1] यह दृष्टिकोण उचित ही है, क्योकि यथार्थवाद और आदर्शवाद की उपलब्धियो मे अन्तर होने पर भी उनका लक्ष्य यही है कि वे अपने-अपने ढग से जीवन का परिष्कार करे।

यथार्थ और आदर्श को परस्पर सापेक्ष मानने पर भी उनके तात्विक अन्तर को अस्वीकार नही किया जा सकता। आलोच्य कवयित्री के मतानुसार आदर्शवादी रचना मे भाव-सयोजन की कठिनाई होने पर भी अभिव्यक्ति की सहजता रहती है, किन्तु यथार्थवादी कृति मे भावना के स्पष्ट होने पर भी अभिव्यक्ति की प्रणाली को स्थिर कर पाना सहज नही होता। यथा—"आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं, परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उस की अभिव्यक्ति यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती।"[1] इस विवेचन मे मौलिकता की सहज स्थिति रही है। वस्तुत आदर्श और यथार्थ की अपनी अपनी सीमाएँ होती है, कवयित्री ने उन्हे ठीक प्रकार से पहचाना है। यहाँ इन दोनो सिद्धान्तो मे से किसी एक के प्रति विशिष्ट आग्रह नहीं रखा गया है, किन्तु यथार्थ के गुणावगुण के सम्बन्ध मे उनके अगले वक्तव्य से यह सकेतित है कि काव्य मे आदर्श का समावेश ही विशेष अभिप्रेत है—

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १७१
२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ ११२

"घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण संवेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति, यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिक पतन के नग्न रूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।"[१]

स्पष्ट है कि यथार्थवाद में करुणा के समावेश की महत्ता को स्वीकार करने पर भी उन्होंने केवल इसी गुण के कारण उसे वरेण्य नहीं मान लिया है। यथार्थवादी साहित्य में समाज के नग्न चित्र प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के विरोध से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय मनीषियों की आदर्शवादी चिन्ता धारा का पर्याप्त प्रभाव रहा है। फिर भी, उनका दृष्टिकोण "प्रसाद" की मान्यता (यथार्थ और आदर्श का समंजन) से दूर नहीं है। आदर्शवादी कृति में कल्पना और अनुभूति के समन्वय और यथार्थवादी रचना में भौतिकता तथा सत्य के समंजन में उनका अक्षट विश्वास है। उदाहरणार्थ "चिन्तन के क्षणों में" शीर्षक लेख में कवयित्री का यह मन्तव्य देखिए—"एक ओर हम यह भूल गए कि आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।"[२] छायावाद के अन्य कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने काव्य के तत्वों का विवेचन करते समय सत्य का वस्तुस्थिति और उसके इच्छित आदर्श आकार के रूप में विभाजित कर इसी धारणा को प्रकट किया है। उपर्युक्त उद्धरण में कवयित्री का सन्तुलित दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट रहा है। ऐसी धारणा की सार्थकता के कारण ही विक्टर ह्यूगो ने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य के वर्ण्य विषयों में ग्राह्य और अग्राह्य का भेद नहीं होता, इन सीमाओं को कवि की समर्थता अथवा असमर्थता के कारण ही निर्धारित किया जाता है।[३] अंग्रेजी के आलोचक एटकिन्स के अनुसार इस सम्बन्ध में रोम के विख्यात काव्य-शास्त्री होरेस का मत भी यही है—उनके मत से कवि अपने ज्ञान और आदर्शवादी चेतना के बल पर सांसारिक सत्य को उपयुक्त चिन्तन के अनन्तर भव्य रूप में प्रस्तुत करता है।[४] अतः यह स्पष्ट है कि महादेवी ने काव्य में यथार्थ और आदर्श के समावेश के प्रश्न को कवि जगत् की परम्परा के अनुसार विवेकपूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है।

---

१ आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ २६

२ साहित्य-सन्देश, फरवरी, सन् १९४२, पृष्ठ ३७१

३ "There are in poetry no good and no bad subjects, there are only good and bad poets"

(Loci Critici, page 418)

४ "With regard to poetry in general, Horace emphasises the need for sound and appropriate subject-matter and this principle he lays down in its widest and most comprehensive form when he states that "the source and fountain-head of good writing is right thinking" By "right thinking" he means wisdom in its

सिद्धान्त-प्रयोग

कवि-विशेष द्वारा प्रवर्तित काव्य-सिद्धान्तों के महत्व का मापदण्ड यही है कि उसने अपनी रचनाओं में उनका कहाँ तक निर्वाह किया है। जो कवि इस ओर जितना ही अधिक ध्यान देता है उसके सिद्धान्त उतने ही अधिक सार्थक माने जा सकते हैं। आगे हम प्रस्तुत कवयित्री के भावना, कला और विशिष्ट काव्य मत सम्बन्धी विचारों के प्रयोग-पक्ष का क्रमश विवेचन करेंगे।

१ काव्य का अन्तरंग

महादेवी ने काव्य की भाव-समृद्धि के लिए उसमें इन उपादानों की स्थिति पर बल दिया है—(१) उसमें अनुभूति (भावना) को मुख्य स्थान देकर उस चिन्तन (ज्ञान) *और कल्पना से समन्वित करते हुए स्वस्थ विचार प्रस्तुत किए जाने चाहिएँ,* (२) *उसमें* मानव जीवन के सामजस्यपूर्ण कथन द्वारा लोक जीवन को गति देने के प्रयत्न के अति-रिक्त अध्यात्म तत्व को उसके *नवीन अर्थ (अपरोक्ष अनुभूति में सौन्दर्य, शील, शक्ति* और प्रेम का समजन) में ग्रहण किया जाना चाहिए। सिद्धान्त-व्यवहार की दृष्टि से उनकी कविताओं म मुख्यत आध्यात्मिक अनुभूतियों और सामान्यत सामाजिक अनुभवों की सहज ही खोज की जा सकती है। समाज से सम्बद्ध अनुभूतियों में मानव जीवन को यथार्थ और आदर्श, दोनों के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। स्पष्टत इस प्रकार के सामाजिक चित्रों में अनुभूति को चिन्तन का सहयोग भी निरन्तर प्राप्त रहा है। "रश्मि" की कोष्ठकों में उल्लिखित कविताओं (दुःख, जीवन दीप, जीवन, उपालम्भ, दुविधा, रहस्य, पपीहे के प्रति आदि) के अतिरिक्त उनके अन्य गीत-संग्रहों म भी अनुभव, चिन्तन, यथार्थ और आदर्श को यथास्थान अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।[1] तथापि उनकी कृतियों में लौकिक अनु-भवों एवं नैतिक तथ्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक अनुभूतियों को ही अधिक स्थान मिला है। अध्यात्म-क्षेत्र में उनकी रचनाओं का महत्व इस बात में है कि उनमें प्रकृति का आधार ले कर अपरोक्ष अनुभूतियों को सौन्दर्य और प्रेम के माध्यम से नवीन रूप में प्रकट किया गया है।[2] आध्यात्मिक चिन्तन को रस और सौन्दर्य से अभिषिक्त करने के लिए इन कवि-ताओं में कल्पना का भी स्निग्ध आश्रय लिया गया है। अत यह सिद्ध है कि कवयित्री ने अपने काव्य-सम्बन्धी विचारों को कविताओं में यथेष्ट स्थान दिया है।

---

general sense, as well as that insight into universal truth which comes from a Philosophic training."

(Literary Criticism in Antiquity, Vol, II, Page 80)

१. देखिए (अ) रश्मि, पृष्ठ १० ११, १५-१६, १८-२२, ३६, ४१-४३, ५२-५८, ६४ ६५
(आ) नीरजा, पृष्ठ ३३ ३५, ६१ ६२, ७०-८०

२ देखिए (अ) रश्मि, पृष्ठ १० ११, ४८-४६, ५०-५१
(आ) नीरजा, पृष्ठ ३३ ३८, ३६ ३८, ६३
(इ) दीपशिखा, पृष्ठ ७७-७८, १२२ १२३

२ काव्य का कला-पक्ष

प्रस्तुत अनुच्छेद में महादेवी के गीतिकाव्य-सम्बन्धी विचारों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन अभीष्ट है। उन्होंने गीत मे बुद्धि अथवा तर्क-पद्धति के स्थान पर वैयक्तिक सुख दुःख की अनुभूतियों को रसात्मक और गेय रूप मे प्रस्तुत करने पर बल दिया है। सिद्धान्त व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने अपनी कविताओं मे वियोग विह्वलता और मिलन-सुख को वैयक्तिक आधार पर प्रस्तुत कर आत्माभिव्यक्ति और रसात्मकता को उचित गौरव दिया है। गीति काव्य म शुष्क ज्ञान को रस-सम्पन्न रूप देने की ओर भी वे निरन्तर प्रयत्नशील रही हैं। उनके गीतो मे विचार-प्रधान रहस्यात्मकता की रसात्मक अभिव्यक्ति इसकी प्रमाण है। भावावेग के क्षणो मे प्रणीत होने के कारण स्वरों का आरोहावरोह क्रम भी उनके गीतों की निश्चित निधि है। भाव-प्रवाह और लय की समनुरूप योजना द्वारा गीतों को दीप्ति प्रदान करना उन्हें विशेषत अभीष्ट रहा है।

३ विशिष्ट काव्य-मत

महदेवी ने छायावाद के स्वरूप की पर्याप्त विवेचना की है और उसकी विविध विशेषताओं (स्वानुभूति की अभिव्यक्ति, कल्पना और सहृदयता से युक्त प्रकृति-चित्रण, स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म का उद्घाटन, शैली की सांकेतिकता) को अपने काव्य मे उपयुक्त स्थान दिया है। इनमे से उनकी कविता में आत्मानुभूति का उल्लेख सर्वप्रधान है, शेष तत्त्व उसी की प्रतिपत्ति मे सहयोगी रहे हैं। प्रकृति के विविध छवि-चित्रों को कल्पना और भावुकता के मेल से रहस्यानुभूतियों से सम्पृक्त करना उनकी अपनी विशेषता है। कल्पना के प्रभाववश प्रकृति की स्थूल दृश्यावलियाँ भी सूक्ष्म हो गई हैं। शैली की सकेतात्मकता ने उनकी सूक्ष्मता को और भी वर्द्धमान रखा है। कवयित्री ने इसके लिए चित्र-शैली, लाक्षणिकता, प्रतीक पद्धति और नवीन उपमानो के सयोजन की ओर विशेष ध्यान दिया है। ये सभी विशेषताएँ उनकी रचनाओं मे समान रूप से प्रसरित रही हैं, अत इनके लिए किसी विशेष काव्य-कृति का निर्देश करना अवाछनीय होगा।

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत महादेवी जी का द्वितीय प्रतिपाद्य विषय रहस्यवाद का स्वरूप-विवेचन है। उन्होने रहस्यवादी रचना मे अपरोक्ष अनुभूति, रागात्मकता, अद्वैत भावना, प्रेम-माधुरी और साकेतिकता को स्थान देने पर बल दिया है। रहस्यवादी कविताओं मे अपरोक्ष अनुभूति की स्थिति तो स्वाभाविक ही है, आत्मा और परमात्मा के वियोग और मिलन को अकित करने वाले गीतो मे राग-तत्व और मधुर प्रेम का सन्निधान भी अवश्य होगा। साधना की गहनता के अनुरूप उनकी कविताएँ अद्वैत तत्व से भी पुष्ट हैं और सांकेतिकता तो उनकी मान्य निधि है। अपनी रहस्य-कल्पनाओं को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने प्राय प्रकृति के क्षेत्र से उपकरण चुने हैं और इस प्रकार कल्पना-मिश्रित होने के कारण उनकी अभिव्यजना-रीति स्वत साकेतिक हो गई है। उनकी रहस्यवादी रचनाएँ आदर्शवाद से अनुप्राणित हैं, किन्तु उनके काव्य मे यथार्थ-चित्रण के प्रति

विरक्ति नहीं है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में छायावाद, रहस्यवाद और आदर्श-यथार्थ की विशेषताओं का पर्याप्त सफलता के साथ निर्वाह किया है। अपवादों की खोज भी बहुत कठिन नहीं होगी, किन्तु समग्र रूप में विश्लेषण करने पर कवयित्री का पक्ष ही सबल रहेगा।

विवेचन

प्रस्तुत प्रकरण में विचारित काव्य सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने अपने सहयोगी कवियों की भाँति काव्य-चिन्तन के प्रति पर्याप्त जागरूकता दिखाई है। काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य के विषय में तो उनकी धारणाएँ लगभग परम्परागत ही हैं, किन्तु काव्य के भेद, छायावाद, रहस्यवाद और आदर्श-यथार्थ के विवेचन में मौलिक विवेक का सराहनीय परिचय दिया गया है। काव्यशास्त्र की पिछली उपलब्धियों की पुनःप्रस्तुति में भी विषय की नूतन अभिव्यंजना देना उनका निश्चित लक्ष्य रहा है। माखनलाल चतुर्वेदी और पन्त की भाँति उनके विचारों में भी यत्र-तत्र भावुकता का समन्वय हुआ है, किन्तु उन्होंने आलोचना के लिए अपेक्षित गम्भीर विवेचन की उपेक्षा नहीं की है। छायावाद की स्वरूप-मीमांसा से सम्बद्ध प्रकरण में इस तथ्य को सहज ही देखा जा सकता है। उन्होंने छायावाद की विविध प्रवृत्तियों (पलायन, आदर्श, अध्यात्म आदि) की नवीन दृष्टि से व्याख्या की है और इनके प्रति तत्कालीन विरोधी प्रतिक्रियाओं का सशक्त उत्तर दिया है। पलायनवाद को काव्य का दोष न मानना ऐसी ही तर्कपूर्ण स्थापना है। काव्य में आध्यात्मिक मूल्यों की समष्टि के सिद्धान्त को भी प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में इन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ छायावाद के अन्य कवियों में अधिक समृद्ध और बलवती हैं। फलस्वरूप, छायावाद के सिद्धान्त-पक्ष को स्पष्ट करने में उनके योगदान का ऐतिहासिक महत्व है।

अन्त में यह विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा कि काव्य के विषय में उनकी सम्पूर्ण विचार धारा पर छायावाद का प्रभाव किस सीमा तक है? काव्य-हेतु और काव्य-प्रयोजन के रूढ़ उल्लेख को छोड़ कर शेष सभी काव्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में उन्होंने छायावाद की विशेषताओं से लाभ उठाया है। अनुभूतिजनित आत्माभिव्यक्ति और कल्पना से प्रेरित सौन्दर्य को वे कविता का सहज गुण मानती हैं। छायावाद के प्रति उनका अनुराग इतना प्रबल है कि यद्यपि उन्होंने उसके ह्रास को स्वीकार कर लिया है, तथापि उनकी काव्य-शैली कभी उसके प्रभाव से मुक्त हो सकेगी, इसमें सन्देह है। विगत अनेक वर्षों में उनका कोई काव्य-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु उनकी भावी कविता पर छायावाद की विशेषता का किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य रहेगा। इसका कारण यह है कि वे छायावाद को समय विशेष की देन नहीं मानतीं। उसकी सूक्ष्म कथन प्रणाली को वैदिक साहित्य में खोज कर उन्होंने इसी बात पर आग्रह रखा है कि छायावाद शाश्वत काव्य धारा है। अतः उनकी कविता में उसके सर्वांगीण बहिष्कार का प्रश्न ही नहीं उठता।

: ५ :

छायावाद के अन्य कवियों के काव्य-सिद्धान्त

छायावादी कविता को विकास प्रदान करने में 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी के अतिरिक्त मुकुटधर पांडेय तथा रामकुमार वर्मा का भाग भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। काव्य और आलोचना में समान गति रखने के कारण "कुमार" के काव्य सिद्धान्त स्पष्टतः अधिक व्यापक हैं, किन्तु मुकुटधर जी भी इस ओर से विरक्त नहीं हैं। उनकी कविताओं और निबन्धों का कोई संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है, तथापि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकीर्ण सामग्री के बल पर उनकी मान्यताओं का अध्ययन करना दुष्कर नहीं है। इन कवियों ने काव्य के अधिकारी और काव्यानुवाद के अतिरिक्त काव्य के अन्य सभी अंगों का विवेचन किया है, किन्तु इनकी दृष्टि मूलतः छायावाद और रहस्यवाद की समीक्षा पर केन्द्रित रही है—मौलिक विचार-प्रतिभा का संकेत भी मुख्यतः इनके प्रसंग में ही मिलता है। इन कवियों की धारणाओं पर प्रायः परम्परागत मान्यताओं का प्रभाव रहा है, किन्तु यह स्थिति विशेष चिन्त्य नहीं है। भारतेन्दु काल से छायावाद युग तक हिन्दी कवियों के काव्य-चिन्तन के व्यवस्थित विकास के उपरान्त यह स्वाभाविक ही है कि कविगण पूर्ववर्ती रचनाकारों के मत का आदर करें, व्यर्थ ही मौलिकता का भार ढोना भी अपेक्षित नहीं है। आगे हम छायावाद के इन दोनों कवियों की मान्यताओं की पृथक्-पृथक् समीक्षा न कर इन पर एक ही प्रकरण में विचार करेंगे।

काव्य का स्वरूप

प्रस्तुत कवियों में से मुकुटधर पाण्डेय ने काव्य के स्वरूप का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने काव्य में मौलिकता, सात्त्विकता और सत्य के समावेश को उसके गुण-विशेष माना है। विशेषतः कवि के व्यक्तित्व की मौलिकता को तो वे कविता के लिए नितान्त अनिवार्य मानते हैं। उनके शब्दों में "मौलिकता का अभाव व्यक्तित्व का बाधक है जो कवि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना व्यक्तित्व दिखलाए, कवि-प्रतिपत्ति किसी को नहीं मिल सकती। वह व्यक्तित्व चाहे भाव में हो, भाषा में हो, छन्द में हो या प्रकाशन-रीति में हो, पर कविता में हो जरूर। जिसकी कविता में व्यक्तित्व नहीं, उसे कवि नहीं, अनुकरणकारी कहना चाहिए।"[1] यहाँ स्वतन्त्र व्यक्तित्व को कवि का

---

१. श्री शारदा (सम्पादक—नर्मदाप्रसाद मिश्र), जुलाई १९२०, पृष्ठ २७८

प्रथम लक्षण माना गया है। व्यक्तित्व और मौलिकता से उनका अभिप्राय सम्भवत कवि की अनुभूति की नवीनता से है। काव्य म व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की सार्थकता सर्वथा असन्दिग्ध है। मौलिक व्यक्तित्व से सम्पन्न कवि निर्भीक मन से काव्य-रचना करता है, अत उसकी कृति मे सात्विकता और जीवन-सत्य की सहज स्थिति रहती है। पाडेय जी ने इस मन्तव्य को निम्नलिखित पक्तियो म सकेत रूप म व्यक्त किया है—

> "ईर्ष्या, असूया तज पक्षपात,
> सदा बताते बस सत्य-बात।
> समार में गण्य तथा अनन्य—
> भो सत्कवे ! हो तुम धन्य धन्य।।"[1]

रामकुमार वर्मा ने काव्य लक्षण और कवि-कर्म के विवेचन म उत्साहपूर्वक भाग लिया है। उन्होंने कवि के अनुभव, आत्म-दर्शन और भावुक वृत्ति को काव्य के सयोजक तत्व माना है—"**आत्मा की गूढ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है।**"[2] प्रश्न हो सकता है कि आत्मा की इस भाव निधि का वास्तविक रूप क्या है ? रामकुमार जी के शब्दो मे इसका उत्तर यह है कि समाज-कल्याण से सम्बद्ध अनुभूतियो का सुरुचिपूर्ण सुन्दर सकलन ही कवि की आत्मा का धन है। उदाहरणस्वरूप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेतीसवें अधिवेशन म साहित्य परिषद् के सभापति पद से उनके भाषण का निम्नलिखित अश देखिए—"**साहित्य केवल आज की सम्पत्ति नहीं है, वह परम्परागत सम्पत्ति है, लोक-कल्याण, सुरुचि और लालित्य उसकी नैसर्गिक विशेषताएँ हैं।**"[3] कवि इन विशेषताओं को प्राप्त करने के लिए कविता को अपने प्राण रस से सीचता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कविता मे सामाजिक अनुभवा, सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य और कवि के प्राण-रस की व्याप्ति होनी चाहिए। काव्य-पथ को इस रूप मे आलोकित करने का अभिप्राय है बाह्य जगत् की स्थूलताओं को अन्तर्जगत् की सूक्ष्मताओ की ओर प्रेरित करना। वर्मा जी के शब्दो मे, "**स्थूल जगत् साहित्य का आधार अवश्य है, किन्तु अन्तर्जगत् ही साहित्य को सँवारने में सक्षम है।**"[4] अथवा "**काव्य में बाह्य जगत् के चित्रण के अनन्तर क्रमश अन्तर्जगत् का चित्रण होना है।**"[5] स्थूल के प्रति कवि के मन की सूक्ष्म प्रतिक्रिया ही सच्ची कविता को जन्म देती है।

स्पष्ट है कि कविता कवि के अन्तर्लोक की शब्दबद्ध व्याख्या है। यह दृष्टिकोण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से दूर नहीं है—"**अन्त करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।**"[6] हृदय में उठने वाले भावो को उनके सही सवेदन के साथ

---

१ इन्दु, जुलाई १९१३, "सत्कवि मानक" शीर्षक कविता से उद्धृत
२ आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ ६
३. विचार-दर्शन, पृष्ठ १४५
४ साहित्य शास्त्र, द्वितीय प्रकरण, पृष्ठ २२
५. साहित्य समालोचना, पृष्ठ १४
६. रसरजन, पृष्ठ ६२

लेखनी पर उतार सकने वाले कवि अधिक नहीं होते। यथार्थ में, भाव-संवेदन की क्षमता से युक्त होना ही रसमयी कविता की एकमात्र कसौटी है। "कुमार" ने इस धारणा को इन शब्दों में व्यक्त किया है—**"कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना तीव्र है कि उससे वैसी ही भावनाएं किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।"**[1] काव्य शास्त्र की शब्दावली में सहृदय द्वारा काव्य के मर्म का यह आत्म-साक्षात्कार ही 'साधारणीकरण' है। सत्काव्य में इस गुण की अनिवार्यता असन्दिग्ध है। इसीलिए कविवर रवीन्द्रनाथ टाकुर ने भी कहा है—**"भाव को अपना बना कर सबका बना देना, यही साहित्य है, यही ललित कला है।"** विवेच्य कवि ने काव्य-वस्तु की प्रेषणीयता में ही उसकी सिद्धि मान कर जिस विवेक का परिचय दिया है वह इस उक्ति से और भी स्पष्ट हो जाता है—**"मैं तो यही समझता हूँ कि वही व्यक्ति एक महाकवि है जिसने उन सभी प्राकृतिक या मानवीय व्यापारों का अनुभव किया हो—अनुभव ही नहीं, वरन् उनके द्वारा दूसरों के हृदय में चुटकी भी ली हो, जो व्यापार चाहे प्राकृतिक हों या अप्राकृतिक, मनुष्य मात्र का हृदय छू लेते हैं।"**[3] काव्य शास्त्र की परम्परा में यह दृष्टिकोण नवीन नहीं है। द्विवेदी युग से ले कर अब तक विभिन्न लेखकों ने इसका अपने-अपने ढंग से प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ द्विवेदीकालीन साहित्यकार पं० ज्वालादत्त शर्मा की यह उक्ति देखिए—**"मानव-स्वभाव की नब्ज़ को जो जितना अच्छा जानता है वह उतना ही बड़ा कवि है।"**[4]

काव्य की आत्मा

प्रस्तुत कवि काव्य की आत्मा के विवेचन के प्रति विशेष सजग नहीं रहे हैं, इस सम्बन्ध में केवल रामकुमार वर्मा की संक्षिप्त उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। अनुभूति-चित्रण को काव्य का धर्म मानने के कारण उन्होंने कविता की भावात्मक अथवा रसात्मक सत्ता को मुख्य माना है। इस सम्बन्ध में उनकी धारणा सुनिश्चित है—**"मेरी दृष्टि में रस अमर है। वह काव्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग भी है। जब तक काव्य रहेगा, रस की सृष्टि निरन्तर होगी।"**[5] यहाँ रस के काव्य प्राणत्व का निर्भ्रान्त प्रतिपादन हुआ है। "अलिखित साहित्य" शीर्षक लेख में इसी धारणा को इन शब्दों में प्रकट किया गया है—**"साहित्य के लिखित और अलिखित दोनों रूपों में मानव-जीवन अपनी सहज अभिव्यक्ति में मनोविज्ञान या रस के आश्रय से प्रस्फुटित होता है।"**[6] किन्तु, कविता की आन्तरिक दीप्ति को गौरव देने के प्रसंग में वे उसके अभिव्यंजना-धर्म की ओर से उदासीन नहीं रहे

---

१. साहित्य समालोचना, पृष्ठ ७
२. साहित्य, अनुवादक—वंशीधर विद्यालंकार, पृष्ठ १२
३. साहित्य समालोचना, पृष्ठ ८
४. सरस्वती, सन् १९२०, पृष्ठ २८०
५. साहित्य शास्त्र, पृष्ठ १४
६. साहित्य शास्त्र, सप्तम प्रकरण, पृष्ठ १०६

है। फलत रीति—पद रचना मे गुण-वृत्तियों की विशेष स्थिति—को काव्य का विशिष्ट अंग मानना भी उन्हें अभीष्ट है। "साहित्य की शैली' शीर्षक लेख का यह वाक्य—**"सत्काव्य में रस के साथ गुण या वृत्तियों की व्यवस्था भी शैली का अंग बन जाती है"**[1] इसका प्रमाण है।

रस-विषयक विचार

कविवर मुकुटधर पाण्डेय ने काव्य के रसो के विषय म मौलिक और व्यवस्थित चिन्तन नही किया है, तथापि यह उल्लेखनीय है कि वे करुण रस को रसराज मानते है। "विदित नवो रसो की रानी, है करुणा—"[2] कह कर उन्होने इसी धारणा को वाणी दी है। संस्कृत म भवभूति और हिन्दी मे 'हरिऔध', मैथिलीशरण, "नवीन' तथा "दिनकर' ने भी करुण रस को पर्याप्त महत्व दिया है। मुकुटधर जी के सहयोगी कवि **"कुमार"** *ने भी करुण रस को विशेष गौरव दिया है। उनके अनुसार,* ***"करुण स्वर के छन्द में, है लीन कविता प्राय् भर की।"***[3] इस पंक्ति मे करुणा के काव्यगत उल्लेख को कवि के जीवन की निधि माना गया है अथवा यह कहें कि करुण रस के मर्म को पाने के लिए कवि जीवन भर साधना करता है। रस विशेष के प्रकटीकरण म ऐसी सिद्धि दुष्प्राप्य नही है—इससे इतना अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि प्रस्तुत कवि ने करुण रस को काव्य का प्रमुख रस माना है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ भी इसी आशय को स्पष्ट करती हैं—

"मेरे मन के भाव बनेंगे रंग तूलिका रूप,
उनसे ही खींचा जावेगा ऐसा चित्र अनूप,
जिससे होगा जीवित मेरी करुणा का आख्यान,
और वेदना का विलाप नव विरहिणी-सा ध्वनिमान्।"[4]

करुण रस की महत्ता पर विचार करने के अतिरिक्त वर्मा जी ने रस के सामान्य स्वरूप का भी विवेचन किया है। इस सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण परम्परागत स्वीकृति पर आधृत रहा है—**"रस लोकोत्तर अनुभूति है और ब्रह्मानन्द सहोदर है।"**[5] स्पष्ट है कि काव्य मे रस के प्रादुर्भाव से कवि और सहृदय को अलौकिक आनन्द का अनुभव होना है। विशेषता यह है कि रस की कारण रूप सामग्री का चयन लौकिक क्षेत्र से होता है, किन्तु कवि की रागात्मकता का स्पर्श पा कर वही लोकोत्तर स्वरूप प्राप्त कर लेती है। *वर्मा जी ने रस की अनुभूतिपरकता का इन शब्दो म उल्लेख किया है*—**"रस की स्थिति विराट् जीवन से हृदय के तादात्म्य में सम्भव होती है।"**[6] यह उक्ति कवि के रसमर्मी

---

१ साहित्य शास्त्र, नवम प्रकरण, पृष्ठ १२३
२. इन्दु, जनवरी १९१५, पृष्ठ ६६
३ आकाश-गंगा, पृष्ठ ५६
४ निराय, तृतीय सर्ग, पृष्ठ ३८
५. साहित्य शास्त्र, द्वितीय प्रकरण, पृष्ठ २५
६ साहित्य शास्त्र, षष्ठ प्रकरण, पृष्ठ ८८

होने की परिचायक है, किन्तु यह उनकी नवीन स्थापना नहीं है—इससे पूर्व "प्रसाद" जी इसका प्रतिपादन कर चुके थे। इसी प्रकार उन्होंने काव्य और दर्शन को समभूमि पर स्थित मान कर "प्रसाद" जी की भाँति रस को आनन्दमयी चेतना कहा है—"काव्य और दर्शन एक ही वृन्त के दो फूल हैं और उस वृन्त का नाम है रस, जिसके क्रोड में *आनन्द का सागर संचित है।*"[1] "प्रसाद" जी ने रस सिद्धान्त का *समरसता और शैवागम* के आनन्दवाद से सम्बद्ध कर के इसी कोटि की विचार-धारा को व्यक्त किया था।

काव्य-हेतु

मुकुटधर जी ने प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु माना है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की सामान्य रूप में चर्चा की है। प्रतिभा की श्रेष्ठता के विषय में उनका आग्रह इस उक्ति में प्रकारान्तर से व्यंजित है—"एक बात तो जरूर है कि उनके (रीति-ग्रंथों के) फन्दे में पड कर कवि बहुत कुछ परतन्त्र हो बैठता है। उसकी प्रतिभा स्वतन्त्र उडान नहीं ले सकती। वह घेरे से बाहर जाने के लिए पंख फटफटाती है, पर उसके पंखों से लगी हुई रस्सी मानो उसे खींच रखती है।"[2] इसी प्रकार उन्होंने "भविष्य में हिन्दी का रूप क्या हो" शीर्षक लेख में भी यह प्रतिपादित किया है कि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर भाषा-सम्बन्धी असुविधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है—"शब्दों की कमी कवि के रचना-मार्ग में कभी-कभी बडी रुकावट ला कर खडी कर देती है। पर वह उससे रुकने वाला नहीं। प्रतिभा के उन्मेष में वह किसी तरह उसे हटा कर आगे बढ़ता है।"[3] प्रतिभा के महत्व की घोषणा के प्रसंग में *पांडेय जी ने अनेक पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उसे पूर्व जन्मों के* पुण्यफल के रूप में भाग्यवश प्राप्त होने वाली शक्ति कहा है। यथा—

"सुकृत सों-श्रम सों-अति भाग सों—
मिलति याहि अलौकिक शक्ति है।"[4]

यहाँ सुकृत और भाग्य के अतिरिक्त श्रम (अभ्यास) को भी काव्य के उत्पादन में सहायक माना गया है, किन्तु यह असंदिग्ध है कि कवि की दृष्टि मूल रूप से प्रतिभा पर केन्द्रित रही है। प्रतिभा के प्रति आस्था रखने के कारण ही उन्होंने रीति-ग्रंथों के अध्ययन (व्युत्पत्ति) को कवि के लिए गौण माना है। उनकी धारणा है कि "नैतिक साहस के अभाव से कवि रीति-ग्रंथों की सीमा को नहीं लाँघ सकता। वह यह नहीं सोचता कि कविता इन रीति-ग्रंथों की अनुगामिनी नहीं, बल्कि रीति-ग्रंथ ही कविता के अनुगामी हैं।"[5] यह मन्तव्य तात्विक रूप में ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी सार्थक है। काव्य-शास्त्र की नियमबद्धता और काव्य की रसात्मकता में स्वाभाविक वैषम्य है, किन्तु यह

---

१ अनुशीलन, पृष्ठ ४१
२ श्री शारदा, जुलाई १९२०, पृष्ठ २७८
३ सरस्वती, जनवरी १९१९, पृष्ठ ३३
४ इन्दु, दिसम्बर १९१३, "नव काव्य" शीर्षक कविता से उद्धृत
५ श्री शारदा, जुलाई १९२०, पृष्ठ २७८, कालम २

निश्चित है कि कवि अपनी रचना मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे कुछ नियमो का पालन अवश्य करता है।

रामकुमार वर्मा ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य के साधन माना है और अभ्यास के काव्य-हेतुत्व का निषेध किया है। इनमें से उन्होंने प्रतिभा को प्रथम स्थान दिया है, किंतु अनेक पूर्ववर्ती साहित्यकारो की भांति उनकी धारणा भी यही है कि प्रतिभा *ईश्वरीय वरदान* है—"कविता एक दैवी वरदान है जो किसी सुयोग से व्यक्ति विशेष को मिलता है।"[1] यह वरदान जन्मगत भी हो सकता है और इसकी उपलब्धि जीवन मे किए गए पुण्यो के फलस्वरूप भी हो सकती है। आलोच्य कवि को उसके ये दोनो रूप स्वीकार्य हैं। प्रथम की पुष्टि तो उपर्युक्त उद्धरण से हो ही जाती है, दूसरी धारणा म विश्वास रखने के कारण उन्होने सरस्वती से यह याचना की है—"उसको (लेखनी को) तुम ऐसी शक्ति दे दो हे शारदे, एकलव्य बाण जैसा शब्द लक्ष्य ले सके।"[2] यहां "शब्द लक्ष्य" का प्रयोग विचारणीय है—तात्पर्य यह है कि प्रतिभा से केवल सदाश्रयी भाव ही साध्य नही हैं, कवि के मन्तव्य को प्रकट करने के लिए उपयुक्त शब्द भी उसी से प्राप्त होते हैं। यह धारणा वाग्भट की उक्ति के समकक्ष है—"सत्कवि की वह बुद्धि ही सवतो-मुखी प्रतिभा है जो उसे सरल पदावली, मौलिक अर्थ और सुन्दर युक्तियां सुझाती है—प्रसन्नपदनव्यार्थ युक्त्युद्बोधविधायिनी, स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धि प्रतिभा सर्वतोमुखी।"[3] "कुमार" ने इस शक्ति को सरस्वती-वन्दना से तो प्राप्य माना ही है, मैथिलीशरण और "नवीन" की भांति वे इसे पूर्ववर्ती महाकवियो के आशीर्वाद से भी लभ्य मानते हैं। उदाहरणस्वरूप आदि कवि के प्रति ये पंक्तियां देखिए—

> "एक बार 'मा निषाद ' कह कर तुमने,
> रोकी थी "सुगति" एक निर्दय निषाद की।
> आज दूसरे निषाद के सुकीर्ति-गान में,
> चाहता सुमति मैं हूँ काव्य के प्रसाद की॥"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रामकुमार जी ने दैवी अनुग्रह से प्राप्त प्रतिभा को काव्य का प्रमुख साधन माना है। कवि अपनी प्रतिभा से निरन्तर नवीन भावों को मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान किया करता है, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी मति को अहंकारी न होने दे। आलोच्य कवि ने अहंकार को प्रतिभा के लिए नितान्त घातक माना है—"अहंकार से प्रतिभा उसी तरह कुंठित हो जाती है जैसे भयानक भूकंप से प्रकृति की सहज शोभा नष्ट हो जाती है। अत कलाकार के लिए आवश्यक है कि वह अहंकार के आघातों से प्रतिभा की रक्षा करे।"[5] प्रतिभा के विकास मे चित्त की निर्भ-

---

१. अनुशीलन, पृष्ठ २८
२ एकलव्य, चतुर्दश सर्ग, पृष्ठ २७५
३. वाग्भटालंकार, १।४
४. एकलव्य, स्तव, पृष्ठ ४
५. रजत रश्मि, "प्रतिशोध" नाटक के भूमिका से उद्धृत, पृष्ठ १६

लता और एकाग्रता के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह कवि की मौलिक स्थापना है, इसमें प्रतिभा की मूर्धन्यता और भी स्पष्ट हो जाती है। काव्य-रचना का द्वितीय महत्वपूर्ण साधन व्युत्पत्ति है। वर्मा जी ने व्युत्पत्ति के तीन अंगों का उल्लेख किया है—अध्ययन, लोकानुभूति और प्रकृति-दर्शन। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि "साधारणतः साहित्य के निर्माण में एक व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है और उसके लिए अध्ययन और अनुशीलन अपेक्षित है।"[1] पूर्ववर्ती कृतियों के अध्ययन और मनन में कविता म चिन्तन की प्रौढ़ता का समावेश हो जाता है। इस प्रसंग म उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि कवि को अन्यदेशीय साहित्य का अध्ययन करते समय अनुकरण से दूर रह कर मौलिकता का अवलम्बन लेना चाहिए—"हमारे साहित्य के दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने के लिए यदि पश्चिम का साहित्य किसी प्रकार सहायक हो सकता है तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु जो सामग्री हम बाहर से लें उसे हम अनुशीलन और मननपूर्वक अपनी बना कर लें।"[2] मौलिक अभिव्यक्ति का आश्रय कविता का प्रथम गुण है, किन्तु इसकी उपलब्धि निस्सन्देह उसी कवि को हो सकेगी जो प्रतिभा-सम्पन्न होगा।

"कुमार" ने अध्ययन की भाँति लोक-दर्शन को भी काव्य-रचना के लिए आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध मे उनकी उक्ति अत्यन्त संक्षिप्त है—"जीवनगत संघर्ष ही साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है।"[3] इस कथन मे कवि के स्वर की निश्चयात्मकता स्पष्ट है। यह ठीक भी है, क्योंकि लोक-ज्ञान प्रतिभा की प्रदीप्ति में सहायक होता है। लौकिक घटनाओं के अवलोकन की भाँति प्रकृति का साक्षात्कार भी कवि के मन मे भावों को स्फुरित करता है। इसीलिए वर्मा जी ने काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रभाव का इन शब्दों में उल्लेख किया है—"उपत्यकाएँ, हिम शैल, बादल, पुष्प-राशि, वृक्ष-राजि ने मुझे हजारों भावनाएँ और कल्पनाएँ दीं।"[4] हिन्दी-काव्य-शास्त्र की परम्परा में इस मन्तव्य का उल्लेख भी नवीन नहीं है—आलोच्य कवि से पूर्व गोपालशरणसिंह और सुमित्रानन्दन पन्त इसका प्रतिपादन कर चुके हैं। तथापि इतना स्पष्ट है कि प्रकृति की अनन्त सुषमा से प्रभावित होने वाला कवि काव्य-रचना के लिए अपेक्षित भावुकता और रागात्मकता को विशेष परिमाण मे लिए हुए होता है। वर्मा जी ने अध्ययन, लोक-दर्शन और प्रकृति के साक्षात्कार पर बल देकर प्रकारान्तर से यही प्रतिपादित किया है कि काव्य-रचना के लिए प्रतिभा के उपरान्त चिन्तन और भावुकता की भी एक जैसी अपेक्षा होती है। काव्य-हेतु के विषय मे उनका दृष्टिकोण मूलतः यही है, इसीलिए उन्होंने अभ्यासप्रेरित कविता की स्पष्ट निन्दा की है—"कविता का परिश्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है × × ×

---

१. विचार-दर्शन, पृष्ठ १४२
२. विचार-दर्शन, पृष्ठ १४१-१४०
३. साहित्य शास्त्र, पंचम प्रकरण, पृष्ठ ५०
४. हिमहास, "काश्मीर और मैं" शीर्षक प्रसंग से उद्धृत

× × परिश्रम कर के लिखी हुई कविता घास काटने की क्रिया ही कही जा सकती है।"[1] यह दृष्टिकोण अपने आप मे पर्याप्त सत्यता लिए हुए है, किन्तु "कृशे कवित्वेपि जना कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते"[2] (कवित्वक्षमता के क्षीण होने पर भी श्रम करने पर व्यक्ति विदग्धों की गोष्ठी में भाग ले सकता है) जैसी उक्तियों के आलोक मे इसका अक्षरशः समर्थन नही किया जा सकता। इस सम्बन्ध मे महादेवी जी का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित है—काव्य मे अभ्यास के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु केवल अभ्यास का आश्रय काव्य रचना के लिए पर्याप्त नही है।

काव्य का प्रयोजन

श्री मुकुटधर ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं—आनन्द और लोक-हित, किन्तु दूसरी ओर उनका विश्वास यह है कि "कवि की अवस्था बदलती रहती है। उसी के अनुसार उसकी कविता के उत्कर्ष और उद्देश्य में भी भिन्नता आ जाती है।"[3] पाडेय जी ने इस सिद्धान्त की मौलिक रूप मे स्थापना की है, उनमे पूर्व किसी अन्य कवि ने इसका निर्देश नही किया था। उन्होंने इसी दृष्टिकोण को "कविता" शीर्षक लेख में भी इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है—

"हमें स्मरण रखना चाहिए कि कविता का उद्देश समय की आवश्यकता के अनुसार बदल जाया करता है। जिस समय समाज अवनति के अन्धकार में अभाव के घाव से जर्जरीभूत हो कर भू-लुण्ठित हो रहा हो, उस समय एक ओर यदि कविता-कामिनी कल्पना के मुकुर में अपने अप्रतिम रूप-वैभव की सुस्निग्ध छटा अवलोक कर स्वय ही विमुग्ध होने लगे तो उसका यह आचरण नितान्त ही गर्ह्य कहा जायगा। इस समय हमें लोकोत्तरानन्द को थोड़ी देर के लिए भूल कर लोकानन्द की ही परवा करनी चाहिए।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य का प्रयोजन समय की गति और कवि की रुचि के अनुकूल परिवर्तनीय होता है। तथापि आनन्द और लोक मगल काव्य के शाश्वत प्रयोजन हैं। प्रस्तुत कवि ने काव्य मे अलौकिक आनन्द की उपलब्धि को उसका प्राकृत गुण माना है—"कविता से आनन्द का सम्बन्ध नैसर्गिक है। आनन्द शब्द के आगे लोकोत्तर विशेषण कविता के महान् उद्देश्य को दर्पण की नाई सुस्पष्ट झलका देता है।"[5] कविता मे इस उद्देश्य की सिद्धि का प्रतिपादन परम्परागत रूप मे ही हुआ है, किन्तु आलोच्य कवि के चिन्तन का महत्व इस बात मे है कि उन्होने "कविता का उद्देश्य" शीर्षक लेख मे आनन्द को अनुभूति और जन हित से सहज सम्बद्ध माना है। उनके शब्दो मे

---

१. विचार-दर्शन, पृ० ६५
२ दण्डी, काव्यादर्श, १।१०५
३ माधुरी, फरवरी १६२३, पृष्ठ १७६
४. सरस्वती, दिसम्बर १६२१, पृष्ठ ३३६
५. सरस्वती, दिसम्बर १६२१, पृष्ठ ३३६

"कविता का उद्देश्य (यही) सत्य या सत है, उसके साथ चित् और आनन्द दोनों है।"[1] इससे काव्य के प्रयोजनों के सम्बन्ध में प्रस्तुत कवि के मर्म ज्ञान का सहज ही बोध हो जाता है। अनुभूति-सम्पन्न कविता में रस के फलस्वरूप आनन्द का और सत्य-दर्शन के परिणामवश शिवत्व का समावेश नितान्त स्वाभाविक है। पाठक जी का काव्य-रचना-काल द्विवेदी युग से छायावाद युग तक व्याप्त रहा है अतः उन्होंने द्विवेदीकालीन प्रवृत्ति के अनुसार सामाजिक मूल्यों के संरक्षण और संवर्द्धन को काव्य का विशिष्ट प्रयोजन माना है। यथा—

"जीवन धारण के लिए जीवन का अस्तित्व-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कविता समाज की पतितावस्था में उसके कानों में अपना चैतन्य-दायक गम्भीर नाद फूँक कर उसके हृदय में इसी अस्तित्व-ज्ञान को जगाने की चेष्टा करती रहती है। इस प्रकार वह समाज को मरने से बचा कर उसके हृदय की स्पन्दन क्रिया को जारी रखती है।"[2]

रामकुमार वर्मा ने काव्य के प्रयोजनों का संक्षिप्त रूप में विवेचन किया है। उनके अनुसार "साहित्य के माध्यम से आने वाली नवीन चेतना × × × × × दो रूपों में हमें प्राप्त होती है, पहला रूप आनन्द है और दूसरा पौरुष है।"[3] यहाँ "पौरुष" से कवि का अभिप्राय जीवन के उत्साह से है। वर्मा जी ने 'आकाशवाणी के माध्यम" शीर्षक रेडियो परिसंवाद में बाबू गुलाबराय के समक्ष इसी धारणा को इन शब्दों में व्यक्त किया था— "मेरे काव्य का उद्देश्य मन के बोझ को हलका करने के अलावा जीवन के परिष्करण और उसके गतिशील होने में है।"[4] स्पष्ट है कि उन्होंने काव्य से कवि और सहृदय को प्राप्त होने वाले आन्तरिक फलों को महत्व दिया है। ये दोनों प्रयोजन एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु प्रधानता आनन्द की है—"सौन्दर्य में इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का चरम आदर्श है।"[5] काव्य के आन्तरिक लक्ष्यों के प्रति विशेष आस्था रखने के कारण उन्होंने उसके प्रासंगिक फलों को महत्व नहीं दिया है। यश की इच्छा की तो उन्होंने चर्चा ही नहीं की, काव्य से आर्थिक सुविधा प्राप्त करने की लालसा का भी महादेवी की भाँति तीव्र विरोध किया है। "लेखक और प्रचार" शीर्षक लेख में इस दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है, "आज जब लेखकों की साहित्य-साधना ने व्यवसाय का रूप ले लिया है और आर्थिक दृष्टिकोण से कला और साहित्य की जाँच-पड़ताल होने लगी है तो लेखक "स्वान्तः सुखाय" के स्वप्न-मंदिर से निकल कर वस्तुवाद की मरुभूमि पर खड़ा हो गया है और आर्थिक लाभ के लिए अपने साहित्य को क्रय-विक्रय की वस्तु समझने लगा है।"[6] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि काव्य का मूल लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि है। लोक के

---

१ माधुरी, फरवरी १९२३, पृष्ठ १८०
२ सम्मेलन', दिसम्बर १९२१, पृष्ठ ३३७
३ साहित्य शास्त्र, द्वितीय प्रकरण, पृष्ठ ३३
४ विचार-दर्शन, पृष्ठ १७०
५ आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ ६
६. विचार-दर्शन, पृष्ठ १२८

सम्पर्क में आ कर कवि जन हित के सूक्ष्म मूल्यों की स्थापना करता है, किन्तु वस्तु-जगत् की स्थूलताओं में उलझ कर अर्थ की साधना करना हेय है।

काव्य के तत्व

आलोच्य कवियों में से काव्य के तत्वों का विवेचन केवल *डॉ० रामकुमार वर्मा* ने किया है। उनका दृष्टिकोण भी अनुभूति और कल्पना के विषय में ही मिलता है, चिन्तन के काव्यगत स्वरूप पर उन्होंने विचार नहीं किया। उनके मत से काव्य का प्रमुख तत्व "सत्य" है और कल्पना उसके विकास में सहयोग देती है। काव्य में जीवन की *मार्मिक अभिव्यक्ति को महत्व देने के कारण* ही उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि **"जीवन से अलग हटी हुई कविता साहित्य की सबसे बड़ी निर्लज्जता है।"**[१] इसी धारणा को उन्होंने डॉ० रामचरण महेन्द्र से एक भेंट में इन शब्दों में व्यक्त किया था—**"मैं जीवन और कला में अविच्छिन्न सम्बन्ध देखता हूँ, मेरे सामने कला जीवन का मुकुर बन कर आती है।"**[२] कविता को जीवन से सम्पृक्त रखना उसकी आन्तरिक आवश्यकता है। पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं के कवियों के अतिरिक्त, छायावाद के अन्तर्गत 'निराला" और महादेवी का प्रतिपाद्य भी मूलत यही रहा है। प्रस्तुत कवि ने अनुभूति और कल्पना के *विषय में "दिनकर" की भाँति समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाया है अर्थात् अनुभूति को* मुख्य मानने पर भी वे काव्य में कल्पना की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उदाहरण-स्वरूप एक रेडियो-परिसंवाद में गुलाबराय जी के प्रति उनकी यह उक्ति देखिए—

"कविता में प्राण तो केवल अनुभूति ही भरती है। × × × × × कल्पना यद्यपि कविता में नए-नए संसार की सृष्टि करती है, तथापि वह अनुभूति का स्थान नहीं ले सकती। उससे भावना में तीव्रता तो अवश्य आ जाती है किन्तु वह कविता में स्पन्दन नहीं ला सकती।"[३]

उपर्युक्त उद्धरण में कल्पना के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की गई है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविकता के आधार के अभाव में कल्पना भी सुशोभित नहीं होती। छायावादी कवि होने के नाते वर्मा जी ने अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में पन्त जी की भाँति कल्पना को विशेष महत्व दिया था, किन्तु कालान्तर में उन्होंने उसे अनुभूति से गौण स्थान देना ही उचित समझा। कल्पना को काव्य का प्रमुख तत्व मानने के विषय में कवि की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—**"कविता में मुझे कल्पना सब से अच्छी मालूम होती है। × × × × × कवि में निर्माण करने की शक्ति कल्पना के द्वारा ही आती है। मैं कल्पना का उपासक हूँ, इसीलिए मेरी "रूपराशि" अधिकतर कल्पना से निर्मित है।"**[४] काव्य में कल्पना अग्राह्य नहीं है, किन्तु सत्य से विमुख रहना भी तो कवि का धर्म नहीं

---

१. *आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ ३*
२. अवन्तिका, अक्तूबर १९५३, पृष्ठ ७७
३. विचार-दर्शन, पृष्ठ १२० १२१
४. रूपराशि, भूमिका, पृष्ठ १

है। इसीलिए महादेवी ने यह प्रतिपादित किया है कि वस्तु-जगत् के स्थान पर कल्पना को अत्यधिक प्रश्रय देना छायावाद के पराभव का कारण बना। रामकुमार वर्मा ने कल्पना के अतिरेक को काव्य का दूषण मान कर इसी विवेक का परिचय दिया है। उप-र्युक्त उद्धरण के उपरान्त यह उक्ति इसी की प्रमाण है—"मैं पहले कल्पना का उपासक था। मेरी रूप राशि तो अधिकतर कल्पना से ही निर्मित है। पर अब अनुभूति मुझे कल्पना से अधिक रुचिकर है।"[1] इन अवतरणों में अनुभूति को कल्पना से अधिक गौरव दिया गया है, किन्तु कवि का मूल प्रतिपाद्य यह है कि काव्य में इन दोनों तत्वों के सम न्वय का प्रयास किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरणों का अध्ययन पर्याप्त होगा--

(अ) "कल्पना जीवन के सत्य एवं प्रकृति के नियमों से भी सम्बन्ध रखती है। × × × × × इस प्रकार कल्पना जीवन के समानान्तर बहने वाली एक नूतन प्रकृति की असीम कार्य शक्ति है। संसार में चिन्तन को क्रिया का रूप दे कर कल्पना चिरन्तन सुख की अभिभाविका है।"[2]

(आ) "कल्पना के बीच में सत्य का सौन्दर्य और भी मर्मस्पर्शी तथा हृदयद्रावक हो जाता है। इसलिए सत्य के रूप को विकृत करने के लिए नहीं, वरन् सत्य को सजाने के लिए मैंने कल्पना को सेवक की भाँति बुला लिया है।"[3]

(इ) "उस कल्पना में कवि का अनुभव अन्तर्हित होता है। वह अनुभव भी उत्कृष्ट रूप का होता है। उसे जान कर हम कुछ क्षणों के लिए स्वयं कवि बन जाते हैं।"[4]

(ई) "कल्पना साहित्य की सृजन-शक्ति है। जिस प्रकार ब्रह्म, माया के माध्यम से अखिल विश्व की सृष्टि करता है, उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखक या कवि कल्पना के सहारे साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है। × × × × × कल्पना के लिए जीवन की अधिक से अधिक प्रत्यक्षानुभूति अपेक्षित है।"[5]

(उ) "मेरी अनुभूति रंग हीन पुष्प-जैसी है,
किन्तु वह खिलती है मेरे भाव-वृन्त में।
कल्पना-पराग के भले ही कण थोड़े हों,
किन्तु उनका है योग सत्य-मधु बिन्दु में।"[6]

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि काव्य में अनुभूति और कल्पना का समन्वय होना चाहिए। वस्तु के स्थूल रूप को सूक्ष्म रागात्मक चेतना प्रदान करना ही काव्य का चरम

---

१ चित्ररेखा, पृष्ठ ८४
२ संकेत, पृष्ठ ३४
३ चित्तौड़ की चिता, परिचय, पृष्ठ २
४ मुकुल (सुभद्राकुमारी चौहान), सिंहावलोकन, पृष्ठ १०
५ साहित्य शास्त्र, पंचम प्रकरण, पृष्ठ ६२
६ एकलव्य, चतुर्दश सर्ग, पृष्ठ २७५

लक्ष्य है। वर्मा जी ने प्रस्तुत प्रसग में शिव-तत्व का उल्लेख नही किया है, किन्तु पन्त जी की धारणा के अनुसार सत्य के भी तो दो रूप हैं—वस्तु-स्थिति और उसका इच्छित आदर्श रूप। अत यह सिद्ध है कि काव्य में प्रथमत सत्य का (जिसमें शिव स्वय निहित है) और उसके अनन्तर सुन्दर का सहज उल्लेख होना चाहिए।

काव्य के भेद

काव्य के तत्वो की भाँति उसके भेदो के विवेचन की ओर भी केवल *रामकुमार वर्मा* ने ध्यान दिया है। उनके विचार *महाकाव्य मे नायक की स्थिति और गीति काव्य* के गुणो के उल्लेख से सम्बद्ध है, किन्तु इनके विषय मे उनकी धारणाएँ अत्यन्त सक्षिप्त हैं। आधुनिक विचार धारा से प्रभावित होने के कारण वे महाकाव्य के नायक के लिए यह आवश्यक नही मानते कि वह सद्वशजात क्षत्रिय हो, उनके मत से साधारण कुल मे उत्पन्न शील-सम्पन्न व्यक्ति भी नायक का पद प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ एकलव्य के विषय मे कवि की यह उक्ति देखिए—"एकलव्य ने जिस आचरण का परिचय दिया है, वह किसी उच्च कुल के व्यक्ति के आचरण के लिए भी आदर्श है। वह अनार्य नहीं, आर्य है, क्योंकि उसमें शील का प्राधान्य है। यहीं उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह सुर अथवा सद्वश में उत्पन्न क्षत्रिय नहीं है।"[1] हिन्दी के वर्तमान आलोचकों के लिए यह धारणा नवीन नही है, किन्तु आधुनिक कवियो म इसका सर्वप्रथम उल्लेख करने का श्रेय वर्मा जी को ही है। इस मत की पृष्ठभूमि मे केवल गाधीवाद की प्रेरणा नहीं है, कवि ने भारत के जाति-वर्ग-भेद-रहित समाज से भी लाभ उठाया है। सामन्तीय सस्कृति के उन्मूलन के उपरान्त आज के वैज्ञानिक युग मे समाज के सब व्यक्तियो की स्थिति एक समान है। अत यह स्पष्ट है कि वर्मा जी के मन्तव्य का शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि से भी महत्व है।

आलोच्य कवि ने महाकाव्य के अतिरिक्त गीतिकाव्य के स्वरूप की भी सक्षिप्त समीक्षा की है। *"प्रसाद जी का आँसू" शीर्षक लेख मे प्रगीतात्मक रचना की विशेषताओ* को इन शब्दो मे व्यक्त किया गया है—"आँसू एक उच्चकोटि का गीति काव्य है। इसमें भावना की एकरूपता, अनुभूति की तीव्रता तथा मधुर सगीत आदि—गीतिकाव्य के अनेक गुण पाए जाते हैं।"[2] गीत की सफल रचना के लिए कवि को इन तीनो गुणो पर समान रूप से ध्यान देना होता है। इनमें से किसी एक के भी शिथिल होने पर उसकी रचना सहृदयों को प्रभावित नही कर पाती। वस्तुत इनमें से अनुभूति-प्रवणता को गीत का मूल हेतु माना जा सकता है। सगीत की मधुर स्वर-लहरी के माध्यम से भावना की अभिव्यक्ति अनुभूति का स्वाभाविक फल है। इस सम्बन्ध मे श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी की यह उक्ति पठनीय है—"ध्वनि शास्त्र के मार्मिक विद्वानों का कथन है कि जिस समय भावनाएँ हृदय में प्रबलता धारण करती हैं और अनिवार्य हो कर मुख के द्वारा बाहर

---

१. एकलव्य, भूमिका, पृष्ठ ६

२. विचार-दर्शन, पृष्ठ ५७

व्यक्त होना चाहती है, उस समय नाद-विशेष-युक्त शब्द-रचना बाहर निकलती है।"[1] स्पष्ट है कि वर्मा जी ने गीति काव्य के तत्वों की सूक्ष्म चर्चा की है, किन्तु उनकी मान्यताएँ मौलिक न होकर परम्परागत हैं—उनसे पूर्व निराला और महादेवी इनकी व्याख्या कर चुके थे। तथापि गीति-रचना के विषय में उनकी यह उक्ति मौलिक है—"यदि गीति काव्य लिखा जावे तो वह ऐसा हो जिसमें जीवन के अन्तरतम भाग की मूर्त अभिव्यक्ति हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखती हुई प्रकट की जावे। इस अभिव्यक्ति में छायावाद की प्रखर ज्योति होनी चाहिए।"[2] उनके सहयोगी कवियों में पन्त जी ने काव्य-मात्र में सांस्कृतिक चेतना की समष्टि पर बल दिया है, किन्तु इस धारणा को केवल गीतिकाव्य के प्रकरण में प्रस्तुत करने का श्रेय वर्मा जी को है। यद्यपि गीत-सृष्टि के लिए अपेक्षित आत्माभिव्यक्ति की पृष्ठभूमि में केवल आशा की स्थिति ही नहीं होती, उसमें कवि-हृदय की निराशा का भी उतना ही महत्व रहता है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आशा से अनुप्राणित रचना प्रमाता को उत्साह-लोक की ओर ले जाने में विशेष सक्षम होगी।

काव्य के वर्ण्य विषय

कविवर पांडेय ने काव्य में वर्णनीय विषयों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने भक्ति, प्रकृति और देश-प्रेम को कविता के मुख्य विषय मान कर कवि को नर-काव्य की रचना से विमुख रहने का सन्देश दिया है। उनके द्वारा अनुमोदित काव्य-विषयों के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

"लिखहु भक्ति-भरी हरि की कथा,
लिखहु प्रीति तथा प्रकृति-प्रथा।
लिखहु जो जननी यश हूँ यथा—
सफल जीवन होवहु सर्वथा॥"[3]

यद्यपि काव्य में इन तीनों विषयों का उल्लेख प्रत्येक युग में सहज अपेक्षित है, तथापि इतना स्पष्ट है कि पांडेय जी ने इनका उल्लेख छायावाद से प्रभावित हो कर नहीं किया है, इसके लिए वे मुख्यतः भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के ऋणी हैं। प्रकृति के प्रति उनका अनुराग छायावादी प्रभाव का भी फल हो सकता है, किन्तु इस प्रेरणा को द्विवेदी युग से उपलब्ध न मानने का भी कोई कारण नहीं है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भी "कविवर मुकुटधर" शीर्षक लेख में उनके प्रकृति-चित्रों को द्विवेदी युग से सम्बद्ध माना है। यथा—"वर्तमान युग में पन्त जी ने अपनी सुकुमार भावनाओं से हिन्दी के प्रांगन में जिस प्राकृतिक शोभा-श्री का सृजन कर दिया है, उस युग में मुकुटधर जी ने भी कुछ वैसी ही

१. काव्य और दर्शन, पृष्ठ २२
२. विचार-दर्शन, पृष्ठ ११२
३. इन्दु, दिसम्बर १९१२, "नर काव्य" शीर्षक कविता से उद्धृत

शिल्प कला का मनोहर परिचय दिया था।"[1] इससे स्पष्ट है कि मुकुटधर जी ने काव्य म प्रकृति-सौन्दर्य के अभिनिवेश को पर्याप्त महत्व दिया है। इसके अतिरिक्त देश भक्ति अथवा राष्ट्रीय भावना के सजीव प्रतिपादन को भी वे काव्य का गुण विशष मानते हैं। इस सम्बन्ध मे यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"हमारे प्रदेश में कई होनहार नवयुवक कवि हैं। उनसे हमारा कहना है कि भाई, देश और जाति को जगाना तुम्हारे ही हाथ है। उठो, जनता में वीरता के भाव भर दो, आशा, उत्साह और शक्ति का सचार कर दो, उसके कानों में सजीवता, चेतनता तथा अमरता का मन्त्र फूंक कर उसे निर्भय बना दो।"[2]

काव्य वण्य के विषय मे पाडेय जी की एक अन्य धारणा यह है कि कवि को नर-गुण गान के लिए काव्य रचना नही करनी चाहिए। द्विवेदी युग मे मानव स्तुति मे सम्बद्ध काव्य की यत्किंचित् रचना को देखते हुए इस सिद्धान्त का अपना महत्व है—

"करि दया विधि ने, तुमहीं, सखे,
यदि दई कछु शक्ति कवित्व की।
विनय तो मम या सुन लीजियो,
बिसर हूँ नर काव्य न कीजियो।'[3]

हिन्दी-काव्य शास्त्र के लिए यह दृष्टिकोण नवीन नहीं है, किन्तु इसका प्रतिपादन निश्चय ही महत्वपूर्ण है। भक्ति युग म गोस्वामी तुलसीदास ने **"कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।"**[4] कह कर इसी मन्तव्य को प्रस्तुत किया था। उन्होंने राम को अवतार मान कर लौकिक जनों के स्तवन की निन्दा की थी। साधारणत नर-काव्य-रचना की प्रवृत्ति का सम्बन्ध कवि के अर्थ मोह अथवा एमे ही किसी अन्य स्वार्थ से होता है, किन्तु यह अनिवार्य नही है। वर्तमान युग मे महात्मा गाधी और विनोबा जैसे व्यक्तियों का गुण-गान निन्दनीय नही होना चहिए, किन्तु धन की इच्छा से नर-काव्य लेखन निश्चय ही गहणीय है। प० मोतीलाल मेनारिया ने डिंगल भाषा की कविता म इस प्रवृत्ति के विकास को अनुचित मान कर कवि को जनता के प्रति अपने दायित्व के निर्वाह का उद्बोधन दिया है। उनके शब्दा म, **"डिंगल भाषा के कवियों का दृष्टि बिन्दु लौकिक था। वे प्राय धन प्रतिष्ठा के लोभ से कविता करते थे। अत नर काव्य अधिक लिखते थे जिनमें जन-साधारण की कोई रुचि नहीं थी।"**[5] इससे यह स्पष्ट है कि नर-काव्य की रचना को काव्य-क्षेत्र मे गौण स्थान देना चाहिए। भक्ति, प्रकृति और राष्ट्रीयता से सम्बद्ध कविताओं मे जिस गरिमा और औदात्य का समावेश हो सकता है उसे देखते हुए इस धारणा को उचित ही कहा जाएगा।

---

१ विशाल भारत, मई १९३४, पृष्ठ ५१६
२ सरस्वती, दिसम्बर १९२१, पृष्ठ ३३९
३ इन्दु, दिसम्बर १९१३, "नर काव्य" शीर्षक कविता से उद्धृत
४. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृष्ठ ४२
५. राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृष्ठ १२

श्री रामकुमार वर्मा ने काव्य में राष्ट्रीयता, लौकिक प्रेम और आदर्श नैतिक भावनाओं को स्थान देने पर बल दिया है। काव्य में देशानुराग को प्रकट करने के विषय में उनकी सम्मति अत्यन्त स्पष्ट है—**"वर्तमान समय में देश-भक्ति-सम्बन्धी कविताओं की ही रचना होनी चाहिए।"**[1] इस सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् कवि की रचनाओं में उत्साह की अन्तर्व्याप्ति असन्दिग्ध है। वर्मा जी इसके उल्लेख के लिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों के ऋणी रहे हैं, किन्तु केवल देश प्रेम के उल्लेख को काव्य का लक्ष्य मानना पर्याप्त नहीं है। इसीलिए अन्यत्र रीतिकालीन कविता की समीक्षा करते समय लौकिक प्रेम की सुरुचिपूर्ण अभिव्यक्ति को महत्व देकर उन्होंने अपनी अन्तरंग दृष्टि का उपयुक्त परिचय दिया है—**"साहित्य में लौकिक जीवन का चित्रण कोई पाप नहीं है यदि वह सुरुचिपूर्ण ढंग से हो।"**[2] उनके द्वारा अनुमोदित तृतीय विषय नैतिक आदर्शों का वर्णन है। वे नीति के अनुकूल रचित कविता को उसके शाश्वत होने का प्रमाण मानते हैं। उन्होंने इस मन्तव्य को ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है—**"प्राचीन साहित्य नीति-सम्मत होने के कारण आज भी जीवन का पथ-प्रदर्शक है। अतः साहित्य में नीति का अंग उसके जीवित रहने का एक अवलम्ब माना जा सकता है।"**[3] इन पंक्तियों में नीति के प्रति प्रबल आस्था प्रकट की गई है अर्थात् प्रस्तुत कवि ने काव्य में यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को अधिक महत्व दिया है। आदर्श के भवन में पल्लवित यथार्थ की उपेक्षा तो व्यर्थ है, किन्तु वस्तु-जगत् की स्थूल यथार्थवादिता पर आश्रित कविता की निन्दा ही स्वाभाविक है। प्रस्तुत कवि ने प्रगतिवाद पर आक्षेप करते हुए ठीक ही कहा है—**"साहित्य की रचना यदि प्रतिहिंसा लेकर हुई तो वह सर्वकालीन सत्य और सौन्दर्य से बहुत दूर होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। × × × × × सामयिक और वर्गगत आवश्यकताओं का बोझ साहित्य को बहुत दूर नहीं चला सकता।"**[4] इस अवतरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे यथार्थ और आदर्श के समन्वय में आस्था रखते हैं। राष्ट्र-प्रीति को आदर्शवाद से और लौकिक प्रेम को सुरुचि से सम्पन्न करने में विश्वास रखने वाले कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है।

काव्य-शिल्प

पाण्डेय जी ने काव्य के कला-पक्ष के विवेचन की ओर अत्यन्त सामान्य ध्यान दिया है। उन्होंने इस दिशा में केवल काव्य-भाषा की चर्चा की है, किन्तु वे उसे भाव की अपेक्षा गौण मानते हैं—**"भाषा कविता का परिधान मात्र है। अतएव कविता के हृदय को देखते हुए भाषा गौण ही ठहरती है।"**[5] यह दृष्टिकोण उचित ही है, किन्तु इसका यह

---

१. साहित्य समालोचना, पृष्ठ ३०
२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ३०४
३. साहित्य शास्त्र, तृतीय प्रकरण, पृष्ठ ४५
४. रेखाचित्र, मेरा अनुभव, पृष्ठ ६३
५. सरस्वती, दिसम्बर १९२१, पृष्ठ ३३८

तात्पर्य नहीं है कि कवि भाषा की रम्यता की ओर ध्यान ही न दे। पाण्डेय जी ने काव्य की भाषा का स्वतन्त्र विवेचन तो नहीं किया है, तथापि "भविष्य में हिन्दी का रूप क्या हो" शीर्षक लेख की निम्नांकित पंक्तियों के आधार पर अप्रत्यक्षत यह कहा जा सकता है कि वे काव्य-भाषा की समृद्धि के लिए उसमें अन्य भाषाओं के शब्दों के स्वाभाविक प्रयोग का समर्थन करते हैं—"बिना संस्कृत-शब्दों की सहायता के हिन्दी का चलना मुश्किल है। पर उसे जहाँ तक बने संस्कृत के उन बड़े-बड़े शब्दों से जिनका कि मतलब समझने में जन-साधारण को कठिनता हो, बचाना चाहिए। साथ ही वह उर्दू, फारसी और अंग्रेज़ी के प्रचलित शब्दों से काम ले तो अच्छा। ऐसे शब्दों का तत्सम या तद्भव जो रूप सर्वसाधारण में प्रचलित हो—वही रूप रहने देना चाहिए।"[1] यह कवि की नवीन स्थापना नहीं है—उनके अतिरिक्त अनेक पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों—बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद "पूर्ण", "नवीन", सियारामशरण गुप्त, "निराला" आदि—ने इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

रामकुमार वर्मा ने काव्य के शिल्प-सौन्दर्य में भाषा, अलंकार और छन्द के योग का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने काव्य की भाषा को संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से मुक्त रखने और उसे जन-सामान्य द्वारा व्यवहृत मुहावरों-लोकोक्तियों से समृद्ध करने पर विशेष बल दिया है। यथा—

(अ) "काव्य-आदर्शों के कारण भाषा कहीं-कहीं कृत्रिम हो जाया करती है। भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए उसे अलंकारों से सम्बद्ध करना एक प्रयास हो जाता है, उसकी शब्दावली सुसंस्कृत और तत्सम हो जाती है। पर जनसाधारण की भाषा में स्वाभाविकता और प्रवाह पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता। वह हृदय की वस्तु होती है और उसमें सजीवता रहती है।"[2]

(आ) "हमारी साहित्यिक भाषा और जन समुदाय की बोली का समन्वय होना आवश्यक है। × × × × × उसमें संस्कृत के कठिन शब्द अधिकाधिक मात्रा में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमें संस्कृत से दूर न होना चाहिए "संस्कृतता" से दूर होना चाहिए।"[3]

(इ) "आज भी हमारे जनपदों की बोलियों में ऐसे-ऐसे मुहावरे और शब्दरूप हैं जो हिन्दी-भाषा के विचार विन्यास में सौन्दर्य उत्पन्न कर सकते हैं। बहुत सी लोकोक्तियाँ जीवन के सत्यों का जिस सूक्ष्मता से अभिव्यंजन कर सकती हैं, बड़ी-बड़ी वाक्यावलियाँ उसके समीप तक नहीं पहुँचतीं।"[4]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि काव्य में भाषा की सरलता, शैली की स्वाभाविकता और मुहावरों की सम्पन्नता होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वर्मा जी ने काव्य-भाषा के इन

---

१. सरस्वती, जनवरी १९१६, पृष्ठ ३४
२ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ १२८
३ विचार-दर्शन, पृष्ठ १४७
४ मधुकर (पाक्षिक), बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण अंक, जनवरी १९४३, पृष्ठ ३५१

गुणों के निर्देश में मौलिकता नहीं दिखाई है, किन्तु साहित्य की भाषा को जनपदीय शब्दावली से समृद्ध करने के सिद्धान्त की पुनराभिव्यक्ति भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस सिद्धान्त का विस्तार करते हुए आलोच्य कवि ने काव्य शैली में वैविध्य, व्यंजनात्मकता और सरलता के समावेश के लिए यह प्रतिपादित किया है कि **"हमारी कविता में अन्य भाषाओं की शैलियों को भी हृदयंगम करने की क्षमता हो।"**[1] यह मन्तव्य कवि की सहृदयता का परिचायक है। अध्ययन के काव्य हेतुत्व का समर्थन करने वाले कवि के लिए यह स्वाभाविक भी है कि वह काव्य की अभिव्यंजना-पद्धति को अन्य भाषाओं की शैलियों से समृद्ध करने का प्रतिपादन करे। इस प्रकार की उदार दृष्टि रखने के कारण ही उन्होंने काव्य में व्याकरण के जटिल नियमों के निर्वाह को अनिवार्य नहीं माना है— **"महाकवियों ने कब व्याकरण की चिन्ता की है? वे व्याकरण के पीछे नहीं चलते, व्याकरण उनके पीछे चलता है।"**[2] इस उक्ति में कवि-स्वातन्त्र्य का निर्बन्ध प्रतिपादन हुआ है, किन्तु इसमें अनुचित कुछ भी नहीं है। काव्य की प्रगति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि *व्याकरण की सीमाएँ कवि की स्वच्छन्द भावना को नहीं बाँध सकतीं।* काव्य में रस के सहज समावेश के लिए उसे नियमों की जटिलता से मुक्त रखना ही होगा।

आलोच्य कवि ने भाषा की भाँति काव्य में अलंकार की स्थिति का भी पर्याप्त विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता प्रकीर्ण न होकर एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाती है। यथा—**"अलंकारों के प्रयोग में मेरी दृष्टि से पाँच बातों की प्रमुखता रहती है—भाषा की परिष्कृत सृष्टि, नाद-संसार की परिव्याप्ति, चमत्कार-प्रवणता, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, भाव-तीव्रता अथवा वस्तु-जगत् में प्रच्छन्न भाव को विभिन्न** *दृष्टि से उभार कर गति प्रदान करना।"*[3] *अलंकार के स्वरूप का इतना स्पष्ट विवेचन* वर्मा जी के आलोचक होने का फल है। उनसे पूर्व किसी भी कवि ने काव्य के आभूषणों का इतना सजग और व्यवस्थित विवेचन नहीं किया था, किन्तु उनका मन्तव्य सर्वथा मौलिक नहीं है—पूर्ववर्ती कवियों ने अलंकार के गुणों की स्फुट रूप में लगभग ऐसी ही चर्चा की है। मैथिलीशरण गुप्त ने अनुप्रास की स्वाभाविक और रम्य योजना पर बल देकर न केवल अलंकार को भाषा के परिष्कार में सहयोगी माना है, अपितु प्रकारान्तर से कवि को यह सन्देश दिया है कि अलंकार-योजना में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। "रत्नाकर" ने *अनुप्रास की श्रवण-सुखदता की चर्चा कर अलंकार के नादात्मक* रूप पर ही प्रकाश डाला है। अलंकारों से काव्य में चमत्कार की सृष्टि तो काव्य-शास्त्र का चिर-परिचित सिद्धान्त है ही, "हरिऔध" और "दिनकर" ने उनमें काव्य की भाव-गति में विविधता के संचार का भी संकेत किया है। यद्यपि उपर्युक्त कवियों ने अपनी धारणाओं को भिन्न शब्दावली में व्यक्त किया है, किन्तु उनकी मान्यताओं का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके विचार वर्मा जी के दृष्टिकोण के समान हैं।

१ विचार-दर्शन, पृष्ठ १४७

२. विचार-दर्शन, पृष्ठ ५८

३. साहित्य शास्त्र, नवम प्रकरण, पृष्ठ ११६

आलोच्य कवि ने काव्य में छन्द की स्थिति का भी सजग विवेचन किया है। उन्होंने नाथूराम शंकर और गोपालशरणसिंह की भाँति छन्द को कविता का स्वाभाविक गुण माना है—"कविता और छन्द से बड़ा निकट सम्बन्ध है। × × × × × यदि कविता को हम हृदयस्पर्शी बनाना चाहते हैं तो छन्द को लय से युक्त हो कर भावों के प्रकाशन का अवसर दें।"[1] काव्य में छन्द की आवश्यकता को स्पष्ट करने के अतिरिक्त यहाँ उसमें लय के विधान पर भी बल दिया गया है। प्रस्तुत कवि ने अपनी छन्द सम्बन्धी मान्यताओं को एक अन्य स्थल पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—"छन्द विधान से चार उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है—विशेष मनोभावों की अभिव्यक्ति में उसके अनुरूप नाद की व्यवस्था, हमारी रागात्मक वृत्तियों का अनुरंजन, साहित्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, स्मृति में काव्य की सुरक्षा।"[2] छन्द के ये सभी गुण परस्पर अन्तःसम्बद्ध हैं। भावानुरूप छन्द-योजना होने पर काव्य में जिस प्राकृत सौंदर्य का समावेश होगा उससे सहृदय की रागात्मक वृत्तियों का परितोष स्वाभाविक है। इस प्रभाव को स्थायी बनाने के लिए छन्द को लय से समृद्ध रखना निश्चय ही उपयोगी है और इन सभी विशेषताओं से सम्पन्न कविता भावक की स्मृति में तो सुरक्षित रहेगी ही।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कविवर "कुमार" के छन्द सम्बन्धी विचार परम्परा-प्रेरित हैं, तथापि मुक्त वृत्त के प्रयोग के विषय में उन्होंने अपने युग की धारणाओं का समर्थन नहीं किया है। "निराला" और पन्त द्वारा मुक्त छन्द के महत्व की उन्मुक्त घोषणा होने पर भी उन्होंने उसे काव्य के सहज सौन्दर्य में बाधक माना है। यथा—"आधुनिक समय के कवि छन्द को कविता का बन्धन मानते हैं। वे मुक्त वृत्त में अपनी भावनाओं को उँडेल कर निर्द्वन्द्व रूप से कविता लिखे चले जाते हैं। यह स्वतन्त्रता उन्हें भावों के प्रकाशन में स्वच्छन्दता भले ही प्रदान करे, किन्तु यह कविता के नादात्मक रूप की, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा करती है। कविता की विशेषता तो इसी में है कि वह नियमों के अन्तर्गत रहती हुई भी उनसे परे हो जाती है।"[3]

इस अवतरण पर किसी प्रकार की टिप्पणी से पूर्व प्रस्तुत कवि की ही एक अन्य उक्ति का अध्ययन वाछनीय है—"मुक्त वृत्त का उद्देश यह हो जाता है कि वह भावों को पुरानी रूढ़ियों से स्वतन्त्र ही कर, बनावट और कृत्रिम बन्धनों का बहिष्कार कर, पुराने भावों के दासत्व का नाश कर नाद के सहारे भावों में सौंदर्य लाता हुआ, स्वतन्त्र मार्ग का अन्वेषण कर रहा है।"[4] प्रस्तुत अनुच्छेद में उद्धृत की गई दोनों उक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवि ने मुक्त छन्द के समीक्षण में 'दिनकर' की भाँति आन्तरिक वैषम्य का परिचय दिया है। प्रथम उद्धरण में मुक्त छन्द के जिन दोषों (लय और स्वाभाविकता का अभाव) का निर्देश किया गया

१. अन्तर्जगत्, अपने विचार, पृष्ठ २ ३
२. साहित्य शास्त्र, नवम प्रकरण, पृष्ठ १२४
३. आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ १५
४. अन्तर्जगत्, अपने विचार, पृष्ठ ७

है, द्वितीय उक्ति में उन्हें ही उसकी विशेषताएँ मान लिया गया है। इस प्रकार का अनिश्चयात्मक दृष्टिकोण कवि के चिन्तन की शिथिलता का परिचायक है, किन्तु छन्द के प्रति उनकी आस्था को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे मुक्त छन्द को विशेष गौरव नहीं देते।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

प्रस्तुत कवियों ने काव्य के अन्य अंगों की चर्चा में विशेष भाग नहीं लिया है, इस विषय में केवल *रामकुमार वर्मा* की काव्यालोचन-सम्बन्धी धारणाएँ उपलब्ध होती हैं। उन्होंने आलोचना के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है। स्वयं समालोचक होने के नाते उनके द्वारा आलोचना के तत्वों का स्पष्टीकरण स्वाभाविक भी है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्तियाँ उद्धरणीय हैं—

(अ) "सबसे पहली बात, जो समालोचना में होनी चाहिए, यह है कि आलोच्य विषय से लेखक की पूर्ण जानकारी हो। × × × × × समालोचना में जो दूसरी बात होनी आवश्यक है, वह निष्पक्षता है। × × × × × तीसरी बात जो समालोचना में होनी उचित है, वह यह कि उसमें जो कुछ कहा जाय वह रचना पर कहा जाय, किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं। समालोच्य विषय रचना है न कि लेखक। × × × × × समालोचना में चौथी बात यह होनी चाहिए कि उसकी भाषा शिष्ट और सभ्य हो।"[1]

(आ) "आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो भी नियम या सिद्धान्त बनाये जावें, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि साहित्य की विकासोन्मुखी प्रकृति के अनुरूप वे स्थानान्तरित होती हुई दृष्टि को अपने में समाहित कर सकें।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रस्तुत किए गए विचार भी मौलिक न हो कर परम्परा-प्राप्त हैं। उनसे पूर्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आलोचक को विवेच्य विषय का गहन अध्ययन करने और निष्पक्ष भाव का आश्रय लेने का परामर्श दे चुके थे। "प्रेमघन", मैथिलीशरण, बालमुकुन्द गुप्त और लोचनप्रसाद पाडेय ने भी आलोचना में निष्पक्षता को आवश्यक माना है। बालमुकुन्द गुप्त ने इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर दिया था कि आलोचक को कवि की रचना की समीक्षा करनी चाहिए न कि व्यक्तिगत राग-द्वेष के आधार पर रचयिता की। समीक्षा में शिष्ट भाषा के प्रयोग के महत्व को लोचनप्रसाद पाडेय व्यंजना के माध्यम से प्रकट कर चुके थे। इसी प्रकार "दिनकर" को यह मत मान्य रहा है कि काव्य-शैली में नवीनता आने पर आलोचना के प्रचलित रूप में किंचित् परिवर्तन होना चाहिए। अतः यह सिद्ध है कि काव्यालोचन के विषय में प्रस्तुत कवि के सभी विचार पूर्ववर्ती अथवा सहवर्ती कवियों को प्रकीर्ण रूप में मान्य रहे हैं।

---

१. साहित्य समालोचना, पृष्ठ १४८, १५०, १५२, १५५

२. साहित्य शास्त्र, दृष्टिकोण, पृष्ठ २

विशिष्ट काव्य-मत

प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय कवियों ने छायावाद के स्वरूप की विस्तीर्ण मीमांसा तो की ही है, डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद के विषय में भी व्यवस्थित विचार प्रस्तुत किए हैं। आगे हम इस सम्बन्ध में उनकी धारणाओं की पृथक्-पृथक् समीक्षा करेंगे।

छायावाद-सम्बन्धी विचार

मुकुटधर जी ने काव्य में छायावाद के स्वरूप पर विविध प्रकरणों में विचार किया है, किन्तु उनके दृष्टिकोण में स्पष्टता और भ्रान्ति, दोनों ही हैं। उन्होंने छायावाद की सौंदर्य-दर्शन और कल्पना की प्रवृत्तियों के रहस्यात्मक रूप के कारण "कविता" शीर्षक लेख में भ्रान्तिवश उसे रहस्यवाद का पर्याय मान लिया है। यथा—

"वस्तुगत सौंदर्य और उनके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ हैं। यहीं कविता से अव्यक्त का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है, जो कभी विच्छिन्न नहीं होता। इस रहस्यपूर्ण सौंदर्य-दर्शन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव तरंगें उठती हैं वे प्रायः कल्पनारूपी वायु के वेग से ही शांत होती हैं, क्योंकि याथार्थ्य की साहाय्य-प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कवितागत भाव प्रायः अस्पष्टता लिए हुए होते हैं। इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम छायावाद (मिस्टिसिज़्म) है। जो लोग छायावाद को एक नई बात समझते हैं वे भूलते हैं। यथार्थ में वह कविता के साथ ही साथ उत्पन्न होता है।"[1]

स्पष्टतः यहाँ मूल प्रकरण को "छाया" और "रहस्य" शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया गया है जो अपने आप में एक असफल चेष्टा है। छायावाद के प्रारम्भ में आचार्य शुक्ल ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था—"छायावाद या रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो।"[2] "प्रसाद" और महादेवी का विवेचन इस भ्रान्ति से मुक्त है, उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद में मौलिक अन्तर माना है। छायावाद के अन्तर्गत रहस्य चिन्तन के विकास का सिद्धान्त असंगत नहीं है, किन्तु छायावाद से केवल इतना ही अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए मुकुटधर जी की यह उक्ति, "छायावाद का क्रीडांगन आध्यात्मिक भूमि है, जीव और परम को लेकर ही वह जीवन धारण करता है",[3] सीमित रूप में ही स्वीकार्य हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि छायावाद और रहस्यवाद को तत्वतः एक मानना अनुचित है, किन्तु छायावाद में आध्यात्मिकता के समावेश का सिद्धान्त अपने आप में सार्थक है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भी छायावाद की इस आत्मिक विशेषता की पूर्ण परिणति रहस्यवाद में ही मानी है—"छायावाद तथा रहस्यवाद है क्या ?

१. सरस्वती, दिसम्बर १९२१, पृष्ठ ३३७-३३८
२ चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १४८
३. सरस्वती, दिसम्बर १९२१, पृष्ठ ३३९

हमारी समझ में ये दोनों एक ही चीज़ नहीं हैं। × × × × × अनेक में एक ही चेतन के आभास से ही तो परब्रह्म के "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" का बोध होता है। छायावाद इस बोध मार्ग का एक साहित्यिक सोपान है, जिसकी पूर्णता रहस्यवाद में है।"[1] स्वभावत यह प्रश्न किया जा सकता है कि उस अव्यक्त के बोध के लिए छायावाद में किस प्रणाली को अपनाया जाता है? मुकुटधर जी के शब्दों में इस प्रश्न का यह समाधान है—"प्राकृतिक दृश्य और घटनाएँ छायावाद की प्रिय सामग्री हैं, वे सांकेतिक रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में साहाय्य पहुँचाती हैं।"[2] इस उक्ति की सार्थकता असन्दिग्ध है—कवि ने "प्रसाद", पंत और महादेवी की भाँति सौंदर्य के कथन को छायावाद का गुण तो माना ही है, इस सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यकतानुसार रहस्यात्मकता का आश्रय लेना भी अनुचित नहीं है। प्रकृति के माध्यम से अव्यक्त सत्ता के रहस्य-संकेत प्राप्त करना अपने आप में एक सूक्ष्म उपलब्धि है, कवि के रागात्मक हृदय की इस निधि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि छायावादी रचना में प्रकृति और अध्यात्म चिन्तन को प्रायः परस्पर सम्बद्ध रूप में स्थान मिलता है। मुकुटधर जी ने उसकी तृतीय विशेषता (अनुभूति का आश्रय) के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि उसे मानव जीवन से सम्पृक्त रहना चाहिए। यथा—"छायावादियों में विषय-वस्तुएँ दूर-दूर से लानी पड़ती हैं, पर यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उनकी भित्ति हमारे दैनिक जीवन की वे क्षुद्र क्षुद्र घटनाएँ अथवा वस्तुएँ ही होती हैं जिनसे कि हमारा चिर परिचय रहता है। स्वभाव से ही प्रिय घटनाएँ कवि के हाथों में पड़ कर अपरूप सौन्दर्य धारण करती हैं और हमें एक तरल-मादक पिला कर उन्मत्त सा बना देती हैं।"[3] यहाँ अनुभूति के अतिरिक्त छायावाद की एक अन्य विशेषता, स्थूल को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करना, का भी निर्देश हो गया है। मुकुटधर जी ने इनके विवेचन में मौलिकता का परिचय दिया है, छायावाद के आरम्भ-काल में इनका स्पष्ट उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छायावाद की भावात्मक विशेषताओं के विवेचन के प्रसंग में ही यह भी विचारणीय है कि आलोच्य कवि ने 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक लेख माला में प्रसंगवश छायावाद में इन दोषों की खोज क्यों की है—शब्द और अर्थ के अविच्छिन्न सम्बन्ध की समाप्ति, जटिलता, अस्पष्टता, असम्बद्धता, विषमता, असंगत रूपकों का विधान।[4] इस धारणा के मूल में पूर्व निश्चयों के आरोपण की स्थिति भी हो सकती है, किन्तु हमारे मत से ये विचार छायावाद के कवि को प्रमाद-ग्रस्त न होने देने के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। इनकी सार्थकता को भी, आंशिक रूप में ही सही, स्वीकार करना होगा।

मुकुटधर जी ने छायावाद के कला-पक्ष का संक्षिप्त विवेचन किया है। इनका

१ कवि और काव्य, पृष्ठ १४६, १५० १५१
२ श्री शारदा, सितम्बर १९२०, पृष्ठ ३४४
३ श्री शारदा, सितम्बर १९२०, पृष्ठ ३४३
४ देखिए "श्री शारदा", नवम्बर १९२०, पृष्ठ ६७-६८

कारण उनकी यह धारणा है—"यथार्थ में छायावाद भाव-राज्य की वस्तु है। उसमें केवल संकेत से ही काम लिया जाता है। भाषा उसमें भाव प्रकाशन का एक गौण साधन मात्र है।"[1] उन्होंने इस युग के अन्य कवियों की भाँति सांकेतिकता को छायावाद की भाषागत प्रवृत्ति माना है। यथा—"यदि यह कहा जाय कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक-चिह्न-मात्र हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।"[2] छायावादी रचना में अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का प्रसार उसकी स्वाभाविक विशेषता है। इसके फलस्वरूप काव्य में जिस सूक्ष्म सौन्दर्य का आविर्भाव होता है, वह विलक्षण है, किन्तु छायावाद के प्रारम्भ में ये सूक्ष्मताएँ ही उसके विरोध की कारण बन गई थीं। पाण्डेय जी ने इस विरोध का परिहार करने के लिए अत्यन्त सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। वे प्राचीन कविता की अभिधात्मकता और नवीन कविता की व्यंजना को स्वतन्त्र रूप में विकसित होते हुए देखना चाहते हैं। उनके शब्दों में, "हम यह नहीं चाहते कि वागर्थ-प्रतिपत्ति की सरल, सुन्दर, प्रासादिक रचना प्रणाली को इससे कुछ हानि पहुँचे। × × × × × प्राचीन प्रणाली को किसी तरह हानि पहुँचाए बिना छायावाद के योग से साहित्य को परिपुष्ट करना ही अभीष्ट होना चाहिए।"[3] अतः यह सिद्ध है कि उन्होंने छायावाद के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया है। वे छायावाद के गुणों के प्रबल समर्थक हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है—"छायावाद काव्य-कला का एक अपूर्व निदर्शन है। कवि की लेखनी का चातुर्य और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चमत्कार देखना हो तो छायावाद पढ़िए। × × × × × हमारी व्यक्तिगत क्षुद्र सम्मति तो यह है कि छायावाद को हिन्दी-साहित्य में अवश्य स्थान मिलना चाहिए।"[4]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने छायावाद के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण अधिकतर उसके भाव-सौन्दर्य पर ही केन्द्रित रहा है, छायावाद के कला-पक्ष की समीक्षा उन्होंने भी विशेष नहीं की। ईश्वर के रहस्य की छाया के उन्मेष को छायावाद मान कर उन्होंने भी मुकुटधर जी जैसे विचार व्यक्त किए हैं—

"छायावाद का अर्थ रहस्यवाद के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। × × × × × अनन्त पुरुष का आभास सान्त प्रकृति में होने लगता है। अपरिमित ईश्वर परिमित संसार में अपनी छाया फेंकता हुआ नजर आता है। पुरुष या ईश्वर की यही छाया जब कवि संसार के अंगों में वर्णन करता है तो उस वर्णन को छायावाद का नाम दिया जाता है।"[5]

स्पष्ट है कि लेखक ने रहस्यवाद को छायावाद से अधिक महत्व दिया है किन्तु इस सम्बन्ध में छायावाद के प्रमुख कवियों की सम्मति को ही प्रमाण मानना चाहिए। "प्रसाद" और महादेवी ने इन दोनों काव्य मतों में तात्विक अन्तर माना है और सुमित्रा-

---

१. श्री शारदा, सितम्बर १६२०, पृष्ठ ३४२
२. श्री शारदा, सितम्बर १६२०, पृष्ठ ३४१
३ श्री शारदा, दिसम्बर १६२०, पृष्ठ १४०
४ श्री शारदा, दिसम्बर १६२०, पृष्ठ १३६
५ अर्चना, अपने विचार, पृष्ठ १३ १४

नन्दन पन्त ने भी छायावाद की विशेषताओं का स्वतन्त्र रूप में उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में रामकुमार वर्मा द्वारा छायावाद को रहस्यवाद से अभिन्न मानना इसी का प्रतीक है कि वे रहस्यवाद के प्रति आवश्यकता से अधिक आग्रही हैं। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे यह कह सके हैं, "मेरे विचार में तो हिन्दी कविता में अभी सच्ची छायावादी कविता की सृष्टि ही नहीं हुई।"[१] "प्रसाद, "निराला", पन्त और महादेवी की छायावादी कविताओं की गरिमा को इस भाँति अस्वीकार कर देना सहज नहीं है। शुद्ध छायावादी कविता वही नहीं है जो रहस्यात्मकता से अनिवार्यतः अनुप्राणित हो, उसकी कतिपय अन्य विशेषताएँ (सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना, प्रकृति चित्रण, कल्पना, शैली की सांकेतिकता) भी हैं, जिन्हें सहसा विस्मृत नहीं किया जा सकता।

आलोच्य कवि ने छायावाद की इतर विशेषताओं को भी यथावत् मान्यता दी है। "छायावाद का प्रभाव—कविता पर" शीर्षक लेख में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसे अनुभूति से विलग नहीं किया जा सकता। यथा—"छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। *यह भौतिक संसार के क्रोड में प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण* करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है।"[२] यह दृष्टिकोण छायावादी काव्य सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाले सभी कवियों का मान्य रहा है। वस्तुतः जीवन की चेतना से असम्पृक्त कविता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। रामकुमार जी ने इस प्रवृत्ति को छायावाद का अनिवार्य गुण माना है, इसके अभाव में उसकी सफलता सन्दिग्ध हो सकती है। इसीलिए उन्होंने उसकी सफलता में चार बाधाओं की सम्भावना व्यक्त की है—"पहली बाधा तो अत्यधिक भावुकता का होना है। × × × × × दूसरी बाधा सत्य के सौन्दर्य में भावात्मक कल्पनाएँ करना है। × × × × × तीसरी बाधा है कवि का सदैव के लिए आकाश में उड़ कर पृथ्वी पर न आना। × × × × × चौथी बाधा है ईश्वर की सत्ता के सामने आत्मा की सत्ता का विनाश। × × × × × ईश्वर की सत्ता सर्वोपरि अवश्य हो, पर आत्मा की सत्ता भी संसार में एक स्थान रखे।"[३] स्पष्ट है कि कवि ने काव्य में जीवन की गम्भीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को महत्व दिया है।

वर्मा जी ने प्रकृति निरूपण को छायावादी कविता का तृतीय गुण माना है। उदाहरणार्थ छायावादी कवियों के विषय में यह उक्ति देखिए—"प्रकृति का क्षेत्र ही इन कवियों की कविता का क्षेत्र है। ऐसी स्थिति में इस कविता को यदि छायावाद के बजाय प्रकृतिवाद कहें तो अधिक युक्तिसंगत होगा। अनन्त के सम्मिलन की आकांक्षा और अन्तिम संयोग के पहले कवि को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण करना पड़ता है। × × × × × अतएव प्रकृतिवाद को हम छायावाद की पहली सीढ़ी मान सकते हैं।"[४]

---

१ अंजलि, अपने विचार, पृष्ठ १६
२ विचार-दर्शन, पृष्ठ ७०
३ साहित्य समालोचना, पृष्ठ १९-२१
४ अंजलि, अपने विचार, पृष्ठ १७-१८

प्रकृति को छायावाद का वर्ण्य विशेष तो उनके अन्य सहयोगी कवियों ने भी माना है, किन्तु उन्हें अव्यक्त सत्ता से सम्बद्ध दिखाने का आग्रह सभी ने नहीं व्यक्त किया। इस मन्तव्य को सर्वथा अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि प्रकृति के सहज सौन्दर्य की वर्णना न कर के उससे केवल आध्यात्मिक संकेत प्राप्त करना दुराग्रह की कोटि में आएगा। छायावाद का अन्तिम तत्व कल्पना और सौंदर्य का आख्यान है। वर्मा जी ने उसकी विविध विशेषताओं का उल्लेख करते हुए प्रसंगवश इसका भी कथन किया है—"उच्च कोटि की कल्पना, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन, सुख-दुख की एक तीव्र संवेदना, सौंदर्य का एक आलोकमय दृष्टिकोण और चित्रात्मकता छायावाद की विभूतियां हैं जो खड़ी बोली हिन्दी कविता को प्राप्त हुई।"[1] यह दृष्टिकोण इस बात का प्रत्यायक है कि प्रस्तुत कवि ने छायावाद का निकट से अध्ययन किया है।

उपर्युक्त अनुच्छेद में छायावाद की चित्रात्मकता की चर्चा कर के उसके शिल्प-सौंदर्य पर प्रकाश डाला गया है। चित्र-शैली के अतिरिक्त छायावाद में भाषा की भावानुकूलता और संगीतात्मकता भी विशेषत: अपेक्षित हैं। रामकुमार जी के शब्दों में, "छायावाद ने हिन्दी कविता के × × × × × भाषा पक्ष को भी अत्यन्त सौष्ठव प्रदान किया है। × × × × × भाषा भी भावों के अनुकूल अत्यन्त मधुर एवं संगीतपूर्ण हो गई है।"[2] इस मन्तव्य के प्रतिपादन में भी मौलिकता का आश्रय नहीं लिया गया है। विवेचन के लिए अपेक्षित व्यापकता का भी इसमें अभाव है, किन्तु इसमें विचारों की असंगति नहीं है। अत: संक्षिप्त होने पर भी इस वक्तव्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अस्तु, इस सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने छायावाद को रहस्यवाद का अंग मान कर तो विवादास्पद प्रश्न उठाया है, किन्तु उनकी अन्य मान्यताएँ अनुमोदनीय हैं।

रहस्यवाद-सम्बन्धी विचार

श्री रामकुमार वर्मा ने छायावाद की भांति रहस्यवाद के स्वरूप विवेचन में भी योग दिया है। उन्होंने उसका लक्षण निर्धारित करने के अतिरिक्त उसकी विशेषताओं पर भी विविध प्रकरणों में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार, "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है।"[3] स्पष्ट है कि रहस्यवाद की साधना के लिए साधक के मन में आत्म-समर्पण की तीव्रता का होना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण वर्मा जी को विशेष रूप से मान्य रहा है[4] क्योंकि साधना के मार्ग में अहं के त्याग और आत्मा

१. विचार-दर्शन, पृष्ठ ७५
२. विचार-दर्शन, पृष्ठ ७५
३. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ७
४. देखिए "संकेत", पृष्ठ १४३

के समर्पण का अभिप्राय है ज्ञान के स्थान पर आध्यात्मिक प्रेम की निरन्तरता के महत्व की स्थापना।[1] आलोच्य कवि ने इस मान्यता की पृष्ठभूमि में रहस्यवाद की चार विशेषताएँ निर्धारित की हैं। यथा—"रहस्यवाद में उतनी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है जितनी प्रेम की। × × × × × रहस्यवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें आध्यात्मिक तत्व हो। × × × × × तीसरी विशेषता यह है कि वह सदैव जागृत रहे, कभी सुप्त न हो। × × × × × चौथी विशेषता यह है कि अनन्त की ओर केवल भावना ही की प्रगति न हो वरन् सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा उस ओर आकृष्ट हो जाय।"[2] इन विशेषताओं का पृथक्-पृथक् निर्देश प्रसंग का अनावश्यक विस्तार-मात्र है। वस्तुतः इनका समंजन करने पर रहस्यवाद की इस परिभाषा को सहज ही प्राप्त किया जा सकता है—रहस्यवाद से हमारा अभिप्राय उस आध्यात्मिक साधना से है जिसमें अलौकिक शक्ति के परिचय के लिए ज्ञान के स्थान पर हृदय में प्रेम की शाश्वत जागृति को महत्व दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रहस्यवाद में ज्ञान की शुष्कता के स्थान पर प्रेम की मधुरता विशेष काम्य है। वर्मा जी के सहयोगी कवियों में "प्रसाद" और महादेवी ने भी रहस्यवाद को प्रेम से अनुप्राणित रखने पर बल दिया है। आलोच्य कवि ने सूफी मतावलम्बियों की भाँति यह प्रतिपादन किया है कि रहस्यवाद में लौकिक प्रेम अव्यक्त अलौकिक की साधना में सहायक हो सकता है—"रहस्यवाद में ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। अनुभूति के लिए पांडित्य की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।"[1] स्पष्ट है कि कवि ने रहस्यवाद को दार्शनिक सिद्धान्तों की जटिलता से मुक्त रख कर सहज स्वाभाविक परिस्थितियों में विकसित देखना चाहा है। रहस्यवाद के क्षेत्र में आने वाले दार्शनिक मत हैं—हठयोग और अद्वैतवाद। इनमें से हठयोग की अनिवार्यता का तो उन्होंने उल्लेख नहीं किया, किन्तु अद्वैत मत के विषय में उनके विचार अवश्य उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उनका मन्तव्य तो यह है कि "अद्वैतवाद ही मानो रहस्यवाद का प्राण है,"[3] तथापि वे इन दोनों सिद्धान्तों के स्वरूप में तात्विक अन्तर मानते हैं—अद्वैतवाद रहस्यवाद के विकास में सहायक अवश्य हो सकता है, किन्तु रहस्यवाद उसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण है। उन्हीं के शब्दों में, "अद्वैतवाद और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बन कर आत्मा में जागृत रहता है।"[4]

अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीवात्मा और परमात्मा का पूर्ण ऐक्य दार्शनिक दृष्टि से साधक

१ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ २५, २७, २६

२ आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ १०

३. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ २०

४ आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ ८

का चरम काम्य हो सकता है, किंतु रहस्यवाद की रागात्मकता के लिए उसमें स्थान नहीं है ? इस दृष्टिकोण की सार्थकता म विवाद के लिए स्थान नहीं है, किन्तु यह वर्मा जी की मौलिक स्थापना नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "काव्य में रहस्यवाद" शीर्षक निबन्ध में इस धारणा को इससे पूर्व ही निर्दिष्ट कर दिया था—"स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। × × × × × पर किसी वाद के साथ सम्बद्ध कर के उसे हम काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।"[१] यह मत अद्वैतवाद के प्रकरण मे प्रस्तुत नहीं किया गया है किन्तु रहस्य भावना को सैद्धान्तिकता के बन्धन से मुक्त रखने का अभिप्राय भी लगभग यही है। रहस्यवाद को ज्ञान की अपेक्षा प्रेम से सम्बद्ध मानने वाले कवि के लिए यह दृष्टिकोण स्वाभाविक ही है। वस्तुत "रहस्यवाद की कविता कभी सोच कर नहीं लिखी जा सकती। वह तो अनुभूति है, आप से आप उठने वाली तरंग है।"[२] अनुभूति का सम्बन्ध हृदय की रसमग्नता से है, अत यह स्वाभाविक है कि साधक आनन्द की तरंगों से लाभान्वित हो। कविवर "प्रसाद" ने रहस्यवाद मे अनुभूति और आनन्द के समन्वय की ऐसी ही कामना की थी। वर्मा जी ने उनके दृष्टिकोण को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है—"परमात्मा के लिए आकांक्षा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द है जिसमें प्रत्येक रहस्यवादी लीन रहता है।"[३] इसी मन्तव्य को उन्होंने एक स्थल पर इन शब्दो मे वाणी दी है—"रहस्यवाद की कविता × × × × × एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है।"[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रहस्यवादी रचना मे आध्यात्मिक अनुभूति, अद्वैत मत, प्रेम-माधुरी और आनन्द-भाव को विशेष स्थान प्राप्त रहता है। यद्यपि "प्रसाद" और महादेवी ने भी इसी सिद्धान्त को वाणी दी है, किन्तु इससे आलोच्य कवि के दृष्टिकोण का महत्व कम नहीं होता। उपर्युक्त भावात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त रहस्यवाद का एक अन्य गुण है उसकी अभिव्यञ्जना की सांकेतिकता। रामकुमार जी ने इस प्रवृत्ति को रूपकों की योजना कहा है। उनके अनुसार रहस्य-साधना की गम्भीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए रूपक की सकेतात्मकता का आश्रय अनिवार्य है। यथा—"वे रहस्यवादी स्वभावत अपने विचारों को किसी रूपक में प्रकट करते हैं। वे स्पष्ट रूप से अपने भाव कहने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि अनुभूत भाव सौन्दर्य इतना अधिक होता है कि वे साधारण शब्दों में उसे व्यक्त नहीं कर सकते।"[५] इस दृष्टिकोण की सार्थकता पर शंका नहीं की जा सकती। अनुभूति जितनी ही अधिक गम्भीर होगी, चाहे उसका सम्बन्ध लौकिक क्षेत्र से हो अथवा अलौकिक से, उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही स्पा-

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ १३० १३१
२ संकेत, परिचय, पृष्ठ ११
३. कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ५५
४. आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका, पृष्ठ १४
५ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ २१

त्मक होगी। यह दूसरी बात है कि लौकिक जगत् से सम्बद्ध रूपकों की अपेक्षा आध्यात्मिक रूपक अधिक जटिल होंगे।

सिद्धान्त-प्रयोग

आलोच्य कवियों की काव्य-धारणाओं के कृतिगत रूप पर तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जा सकता है—काव्य का अन्तरंग, काव्य का कला-पक्ष और विशिष्ट काव्य मत। इनके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा की काव्यालोचन-सम्बन्धी मान्यताओं के व्यावहारिक रूप का अध्ययन भी अभीष्ट हो सकता था, किन्तु उनके कवि रूप की भाँति उनका आलोचक-रूप भी इतना समृद्ध है कि उसके पृथक् विवेचन में सहना सगति प्रतीत नहीं होती। प्रस्तुत ग्रन्थ में आलोचक के समीक्षा सम्बन्धी विचारों की अपेक्षा कवि के आलोचना विषयक मत को ही अधिक महत्त्व दिया जा सकता है। अत इस स्थान पर वर्मा जी के आलोचक-रूप की मीमासा प्राय अप्रासंगिक होगी। अन्य शीर्षकों के अनुसार प्रस्तुत कवियों की सफलता-असफलता का मूल्यांकन इस प्रकार होगा—

१ काव्य का अन्तरंग

मुकुटधर जी ने काव्य के भाव-पक्ष के सवर्धन के लिए कवि को एक ओर यह परामर्श दिया है कि वह अपनी रचना में मौलिकता, सात्त्विकता, सत्य और लोक-मगल के समावेश के प्रति सजग रहे और दूसरी ओर भक्ति, प्रकृति, देश प्रेम एव करुण दृश्यों को काव्य के विशिष्ट वर्ण्य मान कर नर-काव्य की रचना का विरोध किया है। वस्तुत ये दोनों धारणाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। भक्ति, प्रकृति, देश-प्रीति और करुणा को वाणी देते समय मौलिकता, सात्त्विकता, शिवत्व और सत्य की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। पाडेय जी के काव्य-सिद्धान्तों के व्यवहार-पक्ष का अध्ययन करने में एक कठिनाई यह है कि उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकीर्ण रूप में प्राप्त होती हैं, उनका कोई सकलित रूप उपलब्ध नहीं होता। तथापि उपलब्ध कविताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी प्रवृत्ति प्रकृति और भक्ति से सम्बद्ध कविताओं की रचना की ओर अधिक रही है। प्राकृतिक छवि के उल्लेख की दृष्टि से "ओस की निर्वाण प्राप्ति", "किंशुक के प्रति", 'ऊषे", "रत्नाकर", "उद्गार", "कुररी के प्रति" आदि कविताएँ पठनीय हैं।[1] इन कविताओं में प्रकृति के विविध चित्रों की सहज-सुन्दर अवतारणा की गई है। इसी प्रकार "विश्व-बोध", "प्रार्थना", "अधीरा आँखें", "आराधना" आदि कविताओं में

१. देखिए (अ) सरस्वती, सितम्बर १९१७, पृष्ठ १२५
(आ) सरस्वती, फरवरी १९२१
(इ) सरस्वती, अक्तूबर १९२१
(ई) इन्दु, जुलाई १९१३
(उ) माधुरी, ज्येष्ठ, सवत् १९८६, पृष्ठ ६१८ ६१९
(ऊ) कवि-भारती, पृष्ठ २७७ २७९
२. देखिए (अ) सरस्वती, दिसम्बर १९१७, पृष्ठ ३२६

आध्यात्मिक विचार-धारा का पवित्र रूप में उल्लेख हुआ है। करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से "कैकेयी कापट्य' शीर्षक विस्तृत कविता[1] द्रष्टव्य है। उन्होंने राष्ट्र-प्रीति को स्वतन्त्र कविता में वाणी नहीं दी है (प्रयत्न करने पर भी हम ऐसी कोई कविता प्राप्त नहीं हो सकी), किन्तु उपर्युक्त कविताओं में एक-दो स्थानों पर यह संकेत अवश्य मिल सकता है कि वे कविता में देशानुराग की अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने अनुभूति (रस), कल्पना (सौंदर्य) एवम् आदर्श-यथार्थ के समंजन को काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य के विधान में सहायक माना है। इसके अतिरिक्त वे राष्ट्रीयता, लौकिक प्रेम, नीति और करुण रस के शिवत्वमय प्रतिपादन को भी काव्य का गुण मानते हैं। उनकी रचनाओं में अनुभूति को उतना प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं हुआ है जितना कि उनका दावा है। रहस्य के क्षेत्र में उनकी कल्पना का ही प्रवेश माना जा सकता है, अनुभूति का नहीं। मुख्य रूप से "रूपराशि' में और सामान्य रूप से अन्य कृतियों में कल्पना को ही मोहक अभिव्यक्ति दी गई है। यथार्थ एवं आदर्श के समन्वय का उदाहरण "एकलव्य" में प्राप्त होता है। जीवन के यथार्थ से संघर्ष करते हुए एकलव्य ने अपने व्यक्तित्व में जिस आदर्श लोक को स्थान दिया है वह निश्चय ही एक उपलब्धि है। उपर्युक्त सिद्धान्तों के निर्वाह के अतिरिक्त उन्होंने "वीर हमीर', "चित्तौड़ की चिता" और "जौहर" में राष्ट्रीयता के प्रतिपादन की ओर भी यथोचित ध्यान दिया है। 'निशीथ" शीर्षक खंड काव्य में लौकिक प्रेम के विप्रलम्भ पक्ष का मर्मस्पर्शी उल्लेख हुआ है, किन्तु उनकी रचनाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार रस के मादक चित्रों का प्रस्तुतीकरण उन्हें अभीष्ट नहीं है। "आकाश गंगा" की विविध कविताओं[2] एवं "एकलव्य" के स्फुट प्रकरणों में नीति को भी स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु सांसारिक प्रीति की भाँति नीति का उल्लेख भी उनकी कविता का लक्ष्य नहीं है। उन्होंने अपनी कविताओं में मुख्य रूप से करुण रस को स्थान दिया है। "निशीथ", "शुजा", "अभिशाप", 'चित्ररेखा" और "एकलव्य" में करुणा का अश्रु-सजल विस्तार इसका प्रमाण है।

२ काव्य का कला-पक्ष

मुकुटधर जी ने काव्य शिल्प के विवेचन में विशेष उत्साह न दिखा कर केवल यह प्रतिपादित किया है कि काव्य की भाषा सरल होनी चाहिए और कवि को संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करना चाहिए। भाषा की सरलता उनके काव्य की निधि है—"दुस्साहस", "महत्ता और क्षुद्रता', 'पथी" आदि रच

(आ) सरस्वती, अप्रैल १९१९, पृष्ठ २६६
(इ) श्री शारदा, फरवरी १९२१, पृष्ठ २६०
(ई) कवि भारती, पृष्ठ २७५

१ देखिए "इन्दु", जनवरी १९१३ का अंक
२. देखिए "आकाश-गंगा", पृष्ठ २३ २६, ५७-५८, ७२-७४

नामों की भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है।[1] "हृदय" शीर्षक कविता में मुस्त, परवाह, बेदम, चालबाजी, खासी, सरेबाजार आदि शब्दों के प्रयोग[2] से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है। *कवि रामकुमार वर्मा* ने काव्य के कला-पक्ष के अन्तर्गत एक ओर महाकाव्य और गीतिकाव्य का विवेचन किया है और दूसरी ओर भाषा, अलंकार तथा छन्द की समीक्षा की है। महाकाव्य के विषय में उनका प्रतिपाद्य यह है कि उसमें समाज के साधारण वर्ग के पात्रों को भी नायक का पद मिलना चाहिए। "एकलव्य" में इस मन्तव्य को पूर्ण गरिमा के साथ निर्वाहित किया गया है। गीतिकाव्य के विषय में उनका मन्तव्य यह है कि उसमें भावना की एकरूपता, अनुभूति की तीव्रता, सांस्कृतिक चेतना, भाषा की ज्योति और मधुर संगीत को स्थान दिया जाना चाहिए। उनके गीतों का सम्बन्ध प्रायः रहस्य-कल्पनाओं से रहा है, अतः उनमें संवेदना के स्पर्श और भाव-विशेष की अन्विति का अभाव नहीं है। सभी गीतों में इन गुणों की खोज व्यर्थ होगी, किन्तु उनके कुछ गीत निश्चय ही मार्मिक हैं।[3] उनके गीतों में भावना का स्तर प्रायः शुद्ध ही रहा है, अतः उनमें "सांस्कृतिक चेतना" को व्याप्ति के लिए भी अवकाश मिला है। भाषा की ज्योति उनकी शेष कविता में सर्वत्र उपलब्ध नहीं होती, केवल प्रकृति-सम्बन्धी कतिपय कविताएँ ही इसकी अपवाद हैं।[4] उनके काव्य का अधिकांश निराशा की गूँज से सम्बद्ध है, तथापि इस उक्ति से स्पष्ट है कि वे आशावाद की ओर से विमुख नहीं रहे हैं—**"मैं केवल अध्यात्म-क्षेत्र में निराशा का पोषक हूँ। भौतिकवाद की निराशा कविता को कल्याणकारी भावना को दूर तक नहीं ले जा सकती।"**[5] उनके गीतों में भावना की रंगीनी के अतिरिक्त लय-चेतना का भी सहज प्रसार मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि साधारण व्यतिक्रम होने पर भी उन्होंने काव्य के भेदों के विषय में अपने विचारों का प्रायः निर्वाह किया है।

आलोच्य कवि ने अपनी कविताओं में प्रसन्न पदावली और स्वाभाविक शैली पर उचित ध्यान दिया है, किन्तु मुहावरों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में अलंकारों का सहज-स्वाभाविक प्रयोग हुआ है अर्थात् उनके माध्यम से अर्थ-कान्ति और शब्द-कान्ति को विकास प्रदान करने में कृत्रिमता का आश्रय नहीं लिया गया है। भाषा और अलंकार की भाँति छन्द के विषय में भी उन्होंने प्रायः अपने सभी विचारों को मूर्त रूप दिया है। उनका प्रमुख प्रतिपाद्य यह है कि छन्द-रचना में

---

१. देखिए (अ) सरस्वती, जनवरी १९१७, पृष्ठ ४१
(आ) सरस्वती, जून १९१७, पृष्ठ ३०६-३१०
(इ) इन्दु, फरवरी १९१४, पृष्ठ १४७

२. देखिए "सरस्वती", मार्च १९१७, पृष्ठ १५१-१५२

३. देखिए "चित्ररेखा", पृष्ठ १, १४, २२, ४१, ४६

४. देखिए (अ) संकेत, पृष्ठ २३-२७, ३१, ५२, ८२
(आ) चन्द्रकिरण, पृष्ठ १०, २२, २५

५. विचार-दर्शन, पृष्ठ ११६

लय की उपेक्षा नही की जानी चाहिए। उनकी कविता का अधिकांश गेय रूप मे लिखित है, अत छन्दोबद्ध कविताओ मे भी लय का स्वभावत स्थान मिल गया है—"जौहर" की कविताएँ इसकी प्रमाण है। उन्होने छन्दो के चयन और निर्वाह मे जिस कुशलता का परिचय दिया है उससे उनके सुन्दर अशो को स्मृति मे सुरक्षित रखने की प्रेरणा भी मिलती है। मुक्त छन्द के विषय मे भी अपने विचारो का वे निर्वाह कर सके है। उन्होने प्राय अपनी सभी कृतियो मे मुक्त छन्द का बहिष्कार किया है।

३ विशिष्ट काव्य-मत

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत मुख्यत रामकुमार जी के सिद्धान्तो के प्रयोग-पक्ष का अध्ययन ही अभीष्ट है। मुकुटधर जी ने छायावाद मे जिन गुणो (अनुभूति, प्रकृति-चित्रण, आध्यात्मिकता और साकेतिक अभिव्यक्ति) को आवश्यक माना है उन पर "काव्य का अन्तरग" के विवेचन मे विचार किया जा चुका है। वैसे भी उनकी सभी कविताएँ छायावाद से सम्बद्ध नही है, किन्तु जिन रचनाओ मे यह प्रवृत्ति मिलती है वे उपर्युक्त गुणो से न्यूनाधिक रूप मे समन्वित अवश्य है। इसी प्रकार रामकुमार वर्मा द्वारा छायावाद की जो विशेषताएँ (कल्पना, प्रकृति-चित्रण, अनुभूति, सौन्दर्य, चित्रात्मकता) निर्दिष्ट की गई है, उनकी भी "काव्य का अन्तरग" के अन्तर्गत समीक्षा की जा चुकी है। वैसे भी ये सभी तत्व रूपराशि, चित्ररेखा और निशीथ मे सहज ही मिल जाते है। छायावाद के अतिरिक्त उन्होने रहस्यवाद का विवेचन करते हुए उसमें आध्यात्मिक अनुभूति, अद्वैत मत, प्रेम-तत्व और आनन्द भाव को स्थान देने पर बल दिया है। अजलि, सकेत और आकाश-गगा की विविध कविताओ में ये तत्व भी अपने कल्पनात्मक रूप मे मिल सकते है।

विवेचन

प्रस्तुत कवियो की काव्य विषयक मान्यताओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचक होने के नाते रामकुमार वर्मा ने मुकुटधर पाडेय की अपेक्षा काव्य-चिन्तन मे अधिक भाग लिया है, किन्तु पाडेय जी की धारणाएँ अपेक्षाकृत अधिक मौलिक है। विशेषत काव्य वर्ण्य और छायावाद के विवेचन में तो उन्होने पर्याप्त विद-ग्धता का परिचय दिया है। रामकुमार वर्मा के काव्य सिद्धान्तो मे काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य शिल्प, काव्यालोचन, छायावाद और रहस्यवाद की समीक्षा महत्वपूर्ण है। इन सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे मर्म-बोध और स्पष्टता का यथास्थान परिचय दिया गया है।

: ६ :

छायावादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

समन्वित विवेचन

छायावादी काव्य के प्रणेता कवि काव्य सिद्धान्तों के विवेचन के प्रति विशेष सजग रहे हैं। उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्त्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य-शिल्प और विशिष्ट काव्य-मन्तव्यों (छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद) के विवेचन में भी अधिक उत्साह प्रदर्शित किया है, किन्तु अन्य काव्यांगों (काव्य की आत्मा, रस, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन और काव्यालोचन) की समीक्षा की ओर से भी वे उदासीन नहीं रहे हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन में पूर्व-प्राप्त काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं से लाभान्वित होने पर भी कवियों ने मौलिक चिंतन का प्रशस्त परिचय दिया है—विशेषत "प्रसाद", "निराला", पन्त और महादेवी की प्रतिभा तो उद्भावक आचार्यों जैसी है। उन्होंने परम्पराओं का मौलिक रूप में पुनरास्थान करने के अतिरिक्त उनसे हट कर नवीन दिशाओं का उद्घाटन भी किया है। काव्य शिल्प, आदर्श और यथार्थ, अनुभूति और कल्पना, छायावाद और रहस्यवाद के विवेचन में इस दृष्टि से अनेक तथ्यों को खोजा जा सकता है। आगे हम इस युग के सभी कवियों की मान्यताओं पर एक साथ विचार करेंगे।

१ काव्य का स्वरूप

काव्य के लक्षण निर्धारण और उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण की दिशा में इस युग के सभी कवि सचेष्ट रहे हैं। उनके लक्षण की समानता यह है कि वे सभी काव्य में अनुभूति को स्थान देने के विषय में एकमत हैं। काव्य के इस गुण के अतिरिक्त उनमें सांस्कृतिक सौंदर्य, विश्वमानवता, युग चेतना की अभिव्यक्ति, आत्माभिव्यक्ति और स्वाभाविक सात्विकता को ग्रहण करने का भी उन्होंने समर्थन किया है। ये धारणाएँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों की मान्यताओं के अनुकूल होने पर भी नवीनता की छाप लिए हुए हैं। कारण स्पष्ट है—इन दोनों काव्य धाराओं का रचना-काल लगभग एक है, अत इनके कवियों के सिद्धान्त-प्रतिपादन में पूर्वापर क्रम की खोज करना सहज नहीं है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि इन सिद्धान्तों में से अनुभूति, युगप्रेरणा, स्वाभाविक सात्विकता और मानव धर्म के निर्वाह की चर्चा करने पर भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों ने छायावादी

कवियो को मान्य अन्य काव्य-गुणो (आत्माभिव्यक्ति, सास्कृतिक सौंदर्य आदि) की विशेष चर्चा नही की है। सब मिला कर छायावाद के कवियो ने पूर्ववर्ती काव्य-युग की अपेक्षा अन्तरग सौन्दर्य पर अधिक बल देते हुए काव्य के सूक्ष्मतर मूल्यो की प्रतिष्ठा का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है।

२ काव्य की आत्मा और रस

आलोच्य कवियो ने काव्य की आत्मा की समीक्षा की ओर अधिक ध्यान नही दिया है—इस दिशा मे मुख्यत पन्त और सामान्यत "प्रसाद", "निराला" और रामकुमार वर्मा का विवेचन उपलब्ध होता है। इन चारो कवियो ने काव्य मे रस की प्रमुखता का एक स्वर से समर्थन किया है। काव्य के अन्य सम्प्रदायो मे से "निराला" और रामकुमार वर्मा ने रीति को गौण रूप म महत्व दिया है और पन्त ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए रस के उपरान्त अलकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति को लगभग एक जैसा महत्व दिया है। स्थूल दृष्टि से इन कवियो ने किसी नवीन सिद्धान्त की उद्भावना नही की, किन्तु "प्रसाद" और पन्त का रस-विवेचन निश्चय ही गहरा है। 'प्रसाद" ने रस मे अनुभूति, समरसता और शैवागम के आनन्दवाद के अन्तर्भाव का उल्लेख कर हिन्दी-कवियो द्वारा विवेचित रस मार्ग की परम्परा मे निश्चय ही मौलिक रीति से योग दिया है। पन्त जी ने रस के स्वरूप पर उनकी भाँति स्वतन्त्र रूप से तो विचार नही किया है, किन्तु रसात्मकता से काव्य मे माधुर्य, ओज्ज्वल्य, आत्म-सस्कार और आनन्द के विधान की चर्चा कर उन्होने भी उसके स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इधर अरविन्द दर्शन के प्रभाव मे उन्होने मन सगठन के रूप मे रस की व्याख्या के लिए एक नवीन द्वार खोला है।

३. काव्य-हेतु

छायावादी कवियो ने पूर्ववर्ती कवियो की भाँति प्रतिभा को काव्य-रचना का मूल कारण माना है, किन्तु वे व्युत्पत्ति के महत्व की ओर भी सजग रहे हैं। "निराला" और रामकुमार वर्मा ने प्रतिभा को ईश्वरीय प्रसाद मान कर परम्परा का अधिक आग्रह के साथ निर्वाह किया है। पन्त जी ने केवल प्रतिभा को पर्याप्त न मानकर कवि को व्युत्पत्ति से सम्पन्न होने का परामर्श दिया है। इन कवियो को व्युत्पत्ति के सभी अग (काव्य और रीति-ग्रन्थो का अध्ययन, लोक-दर्शन, प्रकृति का साक्षात्कार) स्वीकार्य रहे हैं। अध्ययन के काव्य हेतुत्व की स्थापना के प्रसग मे "निराला" ने "दिनकर" की भाँति मौलिकता और भावापहरण के प्रश्न पर विचार किया है और अनुकरण को कवि का धर्म नही माना है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अतिरिक्त महादेवी, मुकुटधर पाडेय और रामकुमार वर्मा ने अभ्यास के काव्य-हेतुत्व की भी चर्चा की है, किन्तु इस ओर उनकी विशेष आस्था नही है, वर्मा जी ने तो उसे काव्य-साधन मानने मे ही आपत्ति की है। प्रतिभा के सहज मानने और व्युत्पत्ति मे विश्वास रखने वाले कवियो के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे अभ्यास

को अधिक महत्व न दें।

४ काव्य का प्रयोजन

काव्य के साधनों की भांति छायावादी कवियों ने काव्य-रचना के तत्त्वों के विवेचन में प्रायः परम्परा का नवीन आख्यान किया है। उनके दृष्टिकोण में एकरूपता यह है कि उन्होंने आनन्द और लोक-हित को काव्य के प्रमुख प्रयोजन माना है। आनन्द की व्याख्या में "प्रसाद" जी ने अभिनवगुप्त की भांति शैवाद्वैत का आश्रय लिया है और पन्त जी ने अन्तःसंस्कार और मन संगठन के रूप में उसका स्वरूप-विवेचन किया है। 'निराला" और महादेवी ने काव्य के स्थूल प्रयोजनों (यश और अर्थ की प्राप्ति) पर भी विचार किया है। "निराला" ने यश को काव्य का फल माना तो है, किन्तु वे यश को विषय पर सिद्धि प्राप्त करने के अर्थ में लेते हैं। यश के स्वरूप स्पष्टीकरण की दिशा में यह एक नवीन पग है। महादेवी ने काव्य में केवल यश को ही प्राप्य माना है, उससे अर्थ सिद्धि की वे विरोधी हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी कवियों का ध्यान मुख्यतः काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों पर केन्द्रित रहा है, उनके बाह्य पक्षों के प्रति उनका विशेष आग्रह नहीं है। यह दृष्टिकोण उनके गम्भीर विवेक का परिचायक है। काव्य के अन्तर्तत्त्वों पर ध्यान देने वाला कवि ही उसके प्रति अपने दायित्वों का सजग रूप से पालन कर सकता है, उनसे यश और अर्थ की प्राप्ति की चिन्ता में लीन रहना काव्य के सौन्दर्य के लिए हानिकारक हो सकता है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों ने काव्य के बाह्य प्रयोजनों की उपेक्षा की ओर पग तो उठाया था, किन्तु इस दृष्टिकोण का वास्तविक परिपाक छायावादी कवियों की उक्तियों में ही मिलता है।

५ काव्य के तत्व

मुकुटधर जी के अतिरिक्त छायावाद के सभी कवियों ने काव्य के तत्त्वों का विस्तृत और समृद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों की भांति उनका प्रतिपाद्य भी प्रायः यही रहा है कि अनुभूति काव्य का मूल गुण है। यद्यपि पन्त जी ने कल्पना के आधार पर सौन्दर्य-कथन को अनुभूति से अधिक महत्व दिया है, किन्तु अनुभूति की महत्ता की उपेक्षा उन्होंने भी नहीं की है। वस्तुतः इस काव्य धारा के रचयिताओं ने सत्य, शिव और सुन्दर के पारस्परिक सहयोग को ही काव्य का सर्वस्व माना है। यद्यपि काव्य में शिव-तत्त्व की स्थिति के विवेचन की ओर मुख्यतः "निराला", पन्त और महादेवी ने ही ध्यान दिया है (प्रसाद ने उसकी सामान्य रूप में चर्चा की है और रामकुमार वर्मा ने उसका उल्लेख ही नहीं किया), तथापि उसका महत्त्व प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सभी कवियों को मान्य अवश्य रहा है।

६. काव्य के भेद

काव्य के तत्त्वों की भांति काव्य-रचना के रूपों की समीक्षा न करने वाले अकेले कवि भी मकुटधर पाण्डेय हैं। अन्य कवियों में से "प्रसाद" और रामकुमार वर्मा ने महा-

काव्य का; "निराला", महादेवी और रामकुमार ने गीतिकाव्य का तथा पन्त ने गीत गद्य का विवेचन किया है। महाकाव्य के विवेचन में "प्रसाद" ने उसकी कथावस्तु और नायक के विषय में परम्परागत रूप में ही विचार किया है, किन्तु रामकुमार वर्मा ने समाज के साधारण वर्ग के व्यक्ति को भी सद्वंशजात क्षत्रिय के समान महत्व देकर निश्चय ही नवीन स्थापना की है। वस्तुत. इस युग में महाकाव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य के विवेचन में अधिक विदग्धता का परिचय दिया गया है। इस सम्बन्ध में "निराला" और महादेवी के विचार मौलिक तो हैं ही (राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों में उदयशंकर भट्ट द्वारा इसका प्रतिपादन काल-क्रम की दृष्टि से परवर्ती है), उन्होंने भाव-पक्ष और कला-पक्ष को सन्तुलित महत्व दे कर कवि-विवेक का भी उपयुक्त परिचय दिया है। इस काव्यांग की भाँति पन्त जी का गीत-गद्य-सम्बन्धी मत भी नवीन उद्भावना है। इस प्रकार प्रस्तुत काव्य-सरणि के कवि पूर्ववर्ती रचनाकारों की अपेक्षा काव्य के भेदों के विवेचन की ओर अधिक सजग रहे हैं।

७ काव्य के वर्ण्य विषय

आलोच्य युग में काव्य में वर्णनीय विषयों का विवेचन सभी कवियों को अभीष्ट रहा है। इस दिशा में "प्रसाद" और "निराला" का यह प्रतिपादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि *काव्य वर्ण्य में सजीवता, आनन्द और शांति प्रदान करने की क्षमता, गम्भीरता* तथा वैविध्य का होना आवश्यक है। इस धारणा की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत वर्ग के कवियों ने *प्रकृति, राष्ट्र-प्रीति, लोक-मानवता और आध्यात्मिकता को काव्य के मूल वर्ण्य माना* है। इनके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा ने नीति और लौकिक प्रेम को भी ग्रहणीय माना है, किन्तु "प्रसाद" ने द्विवेदीयुगीन कवियों की भाँति काव्य में रीति-शृंगार का विरोध किया है। इस युग की मौलिक देन यह है कि "प्रसाद", महादेवी और रामकुमार वर्मा ने उपर्युक्त विषयों को काव्य में स्थान देने के लिए वस्तु स्थिति और आदर्श का समंजन करने पर बल दिया है। मुकुटधर पाडेय द्वारा नर-काव्य की रचना का विरोध भी सम्भवत इसी कोटि की विचार-धारा का परिणाम है।

८ काव्य-शिल्प

आलोच्यकालीन कवियों में से काव्य-शिल्प का विवेचन मुख्यत "निराला", पन्त तथा रामकुमार वर्मा ने किया है। "प्रसाद" और महादेवी इस ओर से प्राय विरत रहे हैं और मुकुटधर पाडेय की भाषा-सम्बन्धी मान्यताएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं। इन कवियों के भाषा-विषयक विचार दो स्थानों पर उल्लिखित हैं—स्वतन्त्र रूप में तथा छायावाद के प्रकरण के अन्तर्गत। इन स्थानों पर उपलब्ध विचारों का समंजन करने पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों की भाषा-सम्बन्धी धारणाओं से लाभ उठाने के अतिरिक्त यह महत्वपूर्ण *स्थापना की है कि काव्य-भाषा में चित्रात्मकता,* लाक्षणिकता, वक्रता और सौंदर्यमय प्रतीक-विधान को विशेष स्थान मिलना चाहिए।

इनमें से पन्त द्वारा भाषा की रागात्मकता और चित्र भाषा के महत्व का प्रतिपादन विशेषतः मूल्यवान् है। ये स्थापनाएँ भाषा के वस्तु आधार (शब्द प्रयोग की गत्यनुगति-कता, व्याकरण बोध) तक सीमित नहीं हैं, इनके निर्धारण में भाषा के मनोविज्ञान का भी उपयोग किया गया है। काव्य-भाषा के अन्तर्विश्लेषण की दिशा में पूर्ववर्ती कवियों का योगदान भावानुकूल भाषा के महत्व की चर्चा तक ही सीमित था, भाषा की अन्य प्रवृत्तियों का मर्म उद्घाटन छायावादियों की ही देन है।

काव्य शिल्प के अन्य अंगों में से अलंकार का विवेचन केवल पन्त और रामकुमार वर्मा ने किया है। उन्होंने अलंकार की परम्परामुक्त विवेचना को अलम् न मान कर उसके स्वरूप की मनोवैज्ञानिक आलोचना की है। इस सम्बन्ध में उनके अन्तर्दर्शन का सार यह है कि अलंकार-योजना से वस्तु और अभिव्यंजना को नूतन रूप दिया जा सकता है, किन्तु इस प्रकरण में यह स्मरण रखना होगा कि अलंकार्य की श्रेष्ठता ही अलंकार को जन्म देती है और भाषा का आलंकारिक प्रयोग उसका तद्प्रसूत परिणाम है। स्पष्ट है कि छायावादी कवियों ने अलंकार को अलंकार्य से भिन्न मान कर भी उसके सर्व-स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। उनके छन्द-विषयक विचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। "निराला" और पन्त ने मुक्त छन्द की विशेषताओं (वर्ण-मैत्री, लय, स्थूल छन्द-नियमों का त्याग, निर्बन्ध भाव-प्रसार) का निर्देश कर अपने मौलिक दृष्टि-कोण का सजग परिचय दिया है। यद्यपि रामकुमार वर्मा ने इस छन्द का समर्थन नहीं किया है, तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इस युग में मुक्त छन्द के स्वरूप का उद्घाटन ऐति-हासिक महत्व रखता है। इस उपलब्धि के अतिरिक्त पन्त द्वारा मात्रिक छन्दों में संगीत के कोमल निर्वाह पर बल दिया जाना भी महत्वपूर्ण है, किन्तु उनके द्वारा वर्णिक छन्दों की उपेक्षा का समर्थन नहीं किया जा सकता। छन्द के स्थूल आधार (दग्धाक्षर, यति, यति-भंग, मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या और क्रम) की चिन्ता को पर्याप्त न मान कर उन्होंने उसमें स्वच्छन्द तुकान्त और स्वाभाविक लय पर विशेष बल दिया है। इससे स्पष्ट है कि वे भाषा और अलंकार के अतिरिक्त छन्द के मनोवैज्ञानिक अन्तर्विश्लेषण की दिशा में भी पर्याप्त सजग रहे हैं।

६ स्फुट काव्य-सिद्धान्त

आलोच्य कवियों ने काव्य के अन्य अंगों (काव्य के अधिकारी, काव्यालोचन और काव्यानुवाद) के विवेचन में पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उत्साह नहीं दिखाया है—इस दिशा में रामकुमार वर्मा की काव्यालोचन विषयक मान्यताएँ ही प्राप्त होती हैं। उन्होंने आलोचना में निष्पक्षता (व्यक्तिगत राग-द्वेष का त्याग), आलोच्य विषय के गम्भीर अनुशीलन, विषय के अनुसार आलोचना के मान-परिवर्तन और शिष्ट भाषा के प्रयोग को महत्व दिया है। किन्तु ये सभी विचार मौलिक न हो कर "प्रेमघन", आचार्य द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, मैथिलीशरण और लोचनप्रसाद पाडेय द्वारा पूर्व-कथित हैं।

१०. विशिष्ट काव्य-मत

प्रस्तुत युग में "निराला" के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों ने छायावाद के विवेचन में उत्साहपूर्वक भाग लिया है। उन्होंने छायावाद के भाव-पक्ष और कला पक्ष की सन्तुलित आलोचना की है। उनकी मान्यताओं में प्राय समानता रही है—अन्तर केवल इतना है कि जहाँ "प्रसाद" और महादेवी के अनुसार छायावाद और रहस्यवाद में निश्चित अन्तर है वहाँ मुकुटधर पाडेय और रामकुमार वर्मा ने छायावाद को रहस्यवाद की धारा माना है। तथापि छायावाद की विशेषताओं के निर्देश में ये सभी कवि एकमत रहे हैं। उनके मत से अनुभूति, प्रकृति चित्रण, कल्पना, सौंदर्य, आध्यात्मिकता, स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान, साकेतिकता और चित्रात्मकता छायावाद की विविध विशेषताएँ हैं। छायावाद के तत्वों का निर्धारण करने के अतिरिक्त पंत और महादेवी ने उसके पराभव के कारणों (जीवन के स्थान पर कल्पना के प्रति अधिक आग्रह, दुरूहता) की भी विवेकसंगत चर्चा की है। प्रस्तुत कवियों द्वारा विवेचित द्वितीय काव्य मत है रहस्यवाद। इसकी समीक्षा में "प्रसाद", महादेवी और रामकुमार वर्मा ने भाग लिया है और उनकी मान्यताएँ भी एकरूप रही हैं। उन्होंने अपरोक्ष अनुभूति, अद्वैत भाव, रागात्मकता, प्रेम-माधुरी, साकेतिकता और आनन्द-भाव को रहस्यवाद के मूल गुण माना है। यद्यपि हिन्दी के कवियों ने आदि काल और भक्ति काल में रहस्यवादी काव्य की पर्याप्त विस्तार से रचना की थी, किन्तु प्रस्तुत कवियों ने उसके स्वरूप की प्रथम बार चर्चा की है। इन दोनों काव्य-मतों के अतिरिक्त उन्होंने काव्यगत यथार्थ और आदर्श के विषय में भी सन्तुलित विचार प्रकट किए हैं। वस्तु-जगत् की भौतिकवादी व्याख्या और नीति के परिवेश में उसके उपदेशात्मक रूप में से उन्होंने किसी एक को एकांगी महत्व नहीं दिया है। देशकालानुरूप संस्कृति, सौंदर्य-कल्पना और अभिव्यंजना की चारुता को लक्ष्य में रख कर इनमें सामंजस्य की स्थापना ही उनका सन्देश है। इस प्रकार वे दोनों प्रकार के अतिवाद से पृथक् रहे हैं और उनकी दृष्टि मर्म पर केन्द्रित रही है।

मूल्यांकन

छायावादी कवियों के काव्य सिद्धान्तों के विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उन्होंने इस दिशा में पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान दिया है। उनसे पूर्व हिन्दी के कवियों ने काव्य-शास्त्र का भली भाँति मन्थन कर लिया था, तथापि छायावादी रचनाकारों ने काव्य के अंगों का केवल परम्परामुक्त विवेचन न कर मौलिक चिन्तन का असाधारण परिचय दिया है। काव्य का स्वरूप, रस, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प के विवेचन में उनकी मौलिक प्रवृत्तियों की सहज ही खोज की जा सकती है। छायावाद और रहस्यवाद की समीक्षा में तो उन्होंने उद्भावक आचार्यों की

प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में हिन्दी-काव्य-शास्त्र में रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा का बहुत-कुछ श्रेय इन्हीं कवियों को है। इस दृष्टि से केवल काव्य-सर्जना के क्षेत्र में ही नहीं, काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में भी इन विचारकों को युग-प्रवर्तन का गौरव प्राप्त है।

: ७ :

वैयक्तिक कविता के रचयिताओं के काव्य-सिद्धान्त

हिन्दी में वैयक्तिक कविता का विकास विगत २०-२५ वर्षों की देन है। यह छायावाद और प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी काव्य धारा है और इसके विकास में भगवतीचरण वर्मा, "बच्चन", नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल "अचल", शिवमंगलसिंह "सुमन", गिरिजाकुमार माथुर आदि अनेक कवियों ने योग प्रदान किया है। इनमें से प्रथम दो कवियों का सम्बन्ध तो मूल रूप से वैयक्तिक कविता से ही रहा है, किन्तु अन्य कवियों ने प्रगतिवाद अथवा प्रयोगवाद के अन्तर्गत भी काव्य-रचना की है। इस स्थिति के अनुसार प्रस्तुत अध्याय में भगवतीचरण वर्मा और "बच्चन" के काव्य सिद्धान्तों की ही समीक्षा की गई है। वस्तुत वही इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि है। "अचल", नरेन्द्र शर्मा और "सुमन" के काव्य सिद्धान्तों की हमने प्रगतिवादी काव्य सिद्धान्त के अन्तर्गत मीमांसा की है और गिरिजाकुमार माथुर की काव्य मान्यताओं का प्रयोगवादी काव्य सिद्धान्त के अन्तर्गत विवेचन किया है। वैयक्तिक कविता के विषय में उनकी प्रकीर्ण उक्तियों का भी वही उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में विवेचनीय कवियों में से काल क्रम के अनुसार भगवतीचरण वर्मा का नाम पहले आता है, किन्तु निस्सन्देह काव्य-रचना के क्षेत्र में उनकी अपेक्षा "बच्चन" ने अधिक कार्य किया है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक कविता के प्रतिनिधि कवि भी "बच्चन" ही है भगवतीचरण वर्मा के काव्य में इस प्रवृत्ति का समावेश उसी रूप में हुआ है, जिस रूप में यह नरेन्द्र शर्मा, "अचल" और शिवमंगलसिंह "सुमन" के काव्य में उपलब्ध है। अत हमने काल-क्रम का विपर्यय होने पर भी 'बच्चन" के सिद्धान्तों का पहले विवेचन किया है और भगवतीचरण वर्मा की चर्चा बाद में की है। आगे हम उनकी काव्य धारणाओं पर एक साथ विचार करेंगे।

काव्य का स्वरूप

कविवर "बच्चन" ने काव्य लक्षण और कवि-कर्म पर प्रकीर्ण रूप से विचार किया है, किन्तु उनकी धारणाएँ सुसगठित न हो कर सक्षिप्त है। उन्होंने भाव-सम्पन्नता और रागात्मकता को कविता के मूल गुण माना है—"कविता सचमुच पाठक और कवि के हृदय को जोड़ने का साधन है—या एक मानव-हृदय को दूसरे मानव हृदय के साथ।"[1] इस उक्ति से स्पष्ट है कि काव्य वह रचना है जिसमें कवि सहृदय को मानव-मन की अनुभूतियों की रागात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रभावित करता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता

१. सोपान, भूमिका, पृष्ठ ८

है कि वे साधारणीकरण को काव्य का मुख्य गुण मानते हैं। वस्तुतः कवि अपनी अनुभूति के बल पर मानव-जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करता है। "बच्चन" के शब्दों में, "डालना सब पर सदा कवि, निज हृदय की स्नेह छाया।"[1] यह सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण कवि-जीवन की सर्वोत्तम निधि है और इसके माध्यम से ही कवि अपनी कविता में स्पष्टता, स्वाभाविकता और माधुर्य का समावेश कर उसे विश्वजनीन बना पाता है। "बच्चन" के मत से कवि इस समरसता की भावना के फलस्वरूप सत्य, शिव और सौन्दर्य के प्रेरक तत्वों को सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्ता से हृदयंगम कर संसार का मार्ग-प्रदर्शन करता है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति इस प्रकार है—

"जो सत्य, शिव, शुभ सुन्दर, सुचिकर होता है
दुनिया रहती है उसके प्रति अभी अजान,
वह उसे देखती, उसके प्रति नतशिर होती
जब कोई कवि करता उसको आँखें प्रदान।"[2]

इस उक्ति से साधारणतः कवि की महत्वपूर्णता का बोध हो सकता है, किन्तु आज के संघर्ष प्रधान व्यवसायात्मक युग में वस्तु स्थिति लाना यही है। कवि को लोक के लिए पथ प्रदर्शक मानना केवल भावुकता की देन नहीं है। वह विद्यमान वस्तु में जिस अविद्यमान रूप का दर्शन करता है, उसी को लक्षित कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने "सुकवि सकीर्तन" शीर्षक कविता में लिखा है—

"तुच्छ वस्तु हम जिसे लेखते,
तुम महत्वमय उसे देखते।
जब तुम उसका भेद बताते,
तब हम भी उसको लख पाते॥"[3]

जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द" की इस उक्ति से भी इसी सिद्धान्त का बोध होता है—"कला अग्रगति, इसके पीछे हर युग सब जग चलता है।"[4] इस विवेचन से स्पष्ट है कि भाव-सम्पन्न, रागात्मक और स्वाभाविक कविता मानव-मात्र को प्रभावित करते हुए युग-युग तक जीवित रहती है। इन गुणों की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि कवि जीवन के निकट सम्पर्क में रहे। "बच्चन" के शब्दों में, "कविता, जगती के प्रांगण में, जीवन की किलकारी"[5] है। जीवन के प्रति आस्था रखने वाले कवि के हृदय में अनुभूति की गहनता होती है और इसी के फलस्वरूप वह सहृदय को संवेदित करने वाली रचना प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। इसके अतिरिक्त सफल कविता की रचना के लिए यह भी अनिवार्य है कि कवि अपने आप को उसमें सर्वथा लीन कर दे। उसकी अभिव्यंजना भावों

१. मधुकलश, पृष्ठ ३६
२. खादी के फूल, पृष्ठ १५०
३ पद्य प्रबन्ध, पृष्ठ ५६
४. बलिपथ के गीत, पृष्ठ ६५
५. आरती और अंगारे, पृष्ठ ५५

की अनुगामिनी होनी चाहिए। इसीलिए "बच्चन" ने लिखा है—"कलाकार वह बड़ा, कला पर अपनी, जो हावी होता है।"[1] यहाँ "कला" से कवि का अभिप्राय भावना की तीव्रता और अभिव्यंजना की शक्ति, दोनों से है। उन्होंने काव्य की इन सभी विशेषताओं को एक स्थान पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"आप मेरे पाठक हैं तो मैं यह मान लेता हूँ कि आपने मेरी अभिव्यक्ति को उसकी साधारणता-स्वाभाविकता, उसके व्यक्तित्व-आकर्षण, उसकी सजीवता सांगिकता और उससे सह एवं सम अनुभूति के कारण स्वीकार किया है।"[2] उपर्युक्त विचारों का समंजन करने पर यह कहा जा सकता है कि काव्य वह रचना है जिसमें अनुभूति की तीव्रता, भावों की सजीव स्वाभाविकता, भावना और अभिव्यंजना की सहकारिता और रागात्मकता की ओर उचित ध्यान दिया जाए।

भगवतीचरण वर्मा ने "बच्चन" की अपेक्षा काव्य के स्वरूप का अधिक व्यवस्थित विवेचन किया है। अमृतलाल नागर के "बूँद और समुद्र" शीर्षक उपन्यास की समीक्षा करते हुए उन्होंने माखनलाल चतुर्वेदी की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि सफल साहित्य की रचना के लिए कृतिकार को स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखना चाहिए, वाद विशेष के *बन्धन में आबद्ध होकर वह अपने भावों की सहज अभिव्यक्ति नहीं दे सकता*—"वादों का विरोध अथवा प्रतिपादन आज के दिन साहित्यिक कलाकारों की सब से बड़ी कमजोरी बन गई है।"[3] जब कवि हृदय की सहज आस्था के साथ काव्य प्रणयन करता है, तभी उसकी रचना युगान्तरकारी तत्वों से सम्पन्न हो पाती है। "महान् कलाकार युग का निर्माता हुआ करता है",[4] अत: कवि को जीवन के मूल्यों से उदासीन नहीं होना चाहिए। "बच्चन" की भाँति प्रस्तुत कवि का प्रतिपाद्य भी यह है कि काव्य में जीवन की गरिमा को उपयुक्त स्थान मिलना चाहिए। कर्मरत मानव जीवन की अभिव्यक्ति में सजीवता और स्वस्थता का अभाव तो हो ही नहीं सकता। वर्मा जी ने महादेवी की "यामा" की समीक्षा करते हुए इस तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—"कला में सादगी की बहुत बड़ी आवश्यकता है। उसी कलाकार की देन आज महत्व की समझी जायगी जो जिन्दगी के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल सके।"[5] काव्य में जीवन की स्वस्थ, सजीव और प्रेरणादायक अभिव्यक्ति कवि-मात्र के लिए आदर्श रही है, *किन्तु कवि का महत्व* इस बात में है कि वह इस सिद्धान्त को स्वीकार करते समय मौलिक भाव-कथन की गरिमा को न भूल जाए। सिद्धान्त में एकरूपता होने पर भी जीवन की व्याख्या भिन्न भिन्न रीति से की जा सकती है। वस्तुत "साहित्य का काम है सृजन—और सृजन में नवीनता होनी चाहिए।"[6] वर्मा जी ने इस मन्तव्य को एक अन्य स्थल पर इन शब्दों में व्यक्त किया है,

१. आरती और अंगारे, पृष्ठ ११३
२. आरती और अंगारे, भूमिका, पृष्ठ ११
३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १३ जनवरी १६५७, पृष्ठ २३
४. मानव, भूमिका, पृष्ठ ७
५. विशाल भारत, जनवरी १६४०, पृष्ठ ८६
६. मानव, भूमिका, पृष्ठ १४

"महान् साहित्य वही कहलाता है जो मौलिक होता है।"[१] अत: यह स्पष्ट है कि जीवन की स्वस्थ, स्वाभाविक और मौलिक अभिव्यक्ति ही काव्य का आदर्श है।

आलोच्य कवि ने अनुभूति की सजीवता और मौलिकता के उपरान्त "नवीन" जी की भाँति स्पष्टता को काव्य का तृतीय गुण माना है। अस्पष्टता का मूल कारण है अनुभूति की अपरिपक्वता। अर्थ की स्पष्टता सत्काव्य का सर्वोत्तम गुण है। इसके लिए भावना की सहजता की भाँति अभिव्यंजना की सुख-सम्पन्नता भी विशेष रूप से वांछनीय है। वर्मा जी ने इस गुण के निर्वाह को काव्य की प्रमुख विशेषता माना है—'मैं तो कभी भी उस काव्य को जिसमें भाषा तथा भाव की स्पष्टता न हो, सफल काव्य मानने को तैयार नहीं, क्योंकि ऐसी हालत में तो कला के ध्येय की ही हत्या हो जाती है।"[२] इससे सिद्ध है कि काव्य में स्पष्टता की अन्विति के लिए भावना और अभिव्यंजना की स्वाभाविकता को उचित महत्व देना चाहिए। काव्य में प्रभाव-सृष्टि की क्षमता के समावेश का यही रहस्य है। यह दृष्टिकोण द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तकारों और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों का सहज आदर्श रहा है। आलोच्य कवि ने स्वाभाविकता से युक्त कविता को साधारणीकरण में सहायक माना है। उनके अनुसार "कला का एकमात्र उद्देश्य संवेदना की सृष्टि है—अपनी भावना में दूसरों को लय कर देना।"[३] प्रमाता को संवेदित करने में असमर्थ कविता स्थायी नहीं हो सकती। जब कोई प्रतिभाशाली कवि समाधि की स्थिति प्राप्त होने पर मन में उठने वाली भाव तरंगों को ज्यों का त्यों अंकित कर देता है, तभी वह सच्ची कविता की रचना करता है। ऐसी कविता भावक के चित्त को अपने में बाँध लेती है और वह रस के सागर में डूबने-उतराने लगता है। वर्मा जी ने इस धारणा को अन्यत्र भी इन शब्दों में प्रकट किया है—"जितनी सफलता के साथ एक कवि अपनी भावना को, उसी सम्मोहन, उसी प्रखरता और उसी प्रभाव के साथ जैसी उसमें थी, दूसरे पर व्यक्त कर देता है, दूसरे को अपने में तन्मय कर लेता है, वह उतना ही सफल है।"[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में अनुभूति की तीव्रता, स्वाभाविकता और स्पष्टता का होना आवश्यक है अन्यथा वह प्रभावक्षम नहीं बन पाता। इन गुणों के अतिरिक्त उन्होंने अपने समकालीन कवि "दिनकर" की भाँति भावना को वैज्ञानिक दृष्टि से सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करने को भी काव्य की विशेषता माना है। इसीलिए उन्होंने मानसिक समतुल्यता को कवि का प्रथम गुण निर्धारित किया है—"सफल कवि होने के लिए मनुष्य में मानसिक समतुल्यता का होना आवश्यक है।"[५] जब कवि के चित्त में समरसता की स्थिति होती है तब वह वस्तु-सत्य को अधिक निकट से परख पाता है। उसकी उक्ति में वैज्ञानिक स्पष्टता भी तभी आती है। वर्मा जी ने इस धारणा को इस

१. सरस्वती, जून १९५८, पृष्ठ ३९५
२. प्रेम-संगीत, दो शब्द, पृष्ठ १५
३. सरस्वती, मार्च १९५८, पृष्ठ १६६
४. प्रेम-संगीत, दो शब्द, पृष्ठ १४, १५
५. मधुकण, भूमिका, पृष्ठ १६

प्रकार प्रस्तुत किया है—"इन कविताओं में मैंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखा है—हो सकता है कि इस दृष्टिकोण को काव्य की कमजोरी समझा जाय, पर मेरे मत से इस वैज्ञानिक युग में कविता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करके ही सशक्त बनाया जा सकता है।"[1] काव्य मे इस धारणा का निर्वाह करने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वैज्ञानिकता लाने के लिए कविता की भावात्मक सत्ता को हानि नही पहुँचानी चाहिए।

काव्य की आत्मा

आलोच्य कवियो ने मौलिकता और व्यापकता की दृष्टि से काव्य के प्राण-तत्व का विशेष विवेचन नही किया है। कविवर "बच्चन" ने रस को काव्य का आन्तरिक गुण माना है—"रस-डूबा स्वर में उतरामा, यह गीत नया मैंने गाया।"[2] काव्य के अन्य सम्प्रदायो का उल्लेख उन्होने नही किया, क्योंकि वस्तु-मात्र को रस स्निग्ध बनाना ही उन्हें अभीष्ट है—"नीरस को रसमय कर देना, हो मेरी रसना का साका।"[3] यह दृष्टिकोण उचित ही है, क्योकि रस विहीन रचना से कवि को आत्म-सुख नही मिलता। "मधुबाला", "मधुशाला", "हलाहल" आदि रचनाओं के रसपूर्ण स्थल भी इस तथ्य के प्रतीक हैं कि कवि ने रस को काव्य का आन्तर तत्व माना है। "बच्चन" की काव्य प्रेरणा मुख्य रूप से फारसी के प्रसिद्ध रसवादी कवि उमर खैयाम की रचनाओं पर आधृत रही है। अत उन्होने शुष्क सत्य की अपेक्षा रस-सृष्टि मे सहायक मधुर कल्पना को अधिक महत्व दिया है—"शुद्ध ज्ञानी चाहिए तो, चाहिए रससिद्ध कवि भी।"[4] काव्य मे मधुरता, उज्ज्वलता और आनन्द के सन्निवेश के लिए रस की साधना कवि-मात्र से अपेक्षित है। रस की मधुर सम्पदा के सम्पर्क मे आ कर साधारण शब्द भी प्राणवान् हो उठते हैं। आलोच्य कवि ने मर्म-गरिमा से रहित पदावली को निस्सार मान कर महर्षि वाल्मीकि से वर-रूप मे रस रहस्य प्राप्त करने की इच्छा की है—

> "रस-मर्म रहित ध्वनियों में मैं क्या गाऊँ,
> तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।"[5]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि रस की साधना कवि का मुख्य कर्तव्य-कर्म है। यह परम्परा-प्राप्त काव्य-सिद्धान्त है, किन्तु रस के प्रति अटूट आस्था रखना किसी भी कवि के लिए गौरव की बात है। इसीलिए उर्दू के विख्यात कवि मौलाना हाली ने मनोरंजक कविता (दिलफरेब) के स्थान पर रसमर्मी रचना (दिलगुदाज) को आदर दिया है—

---

१. त्रिपथगा, प्रस्तावना से उद्धृत
२. आरती और अंगारे, पृष्ठ ११७
३. आरती और अंगारे, पृष्ठ २८
४. मधुकलश, पृष्ठ ६२
५. आरती और अंगारे, पृष्ठ ३२

"ऐ शेर ! दिल फरेब न हो तू तो ग़म नहीं।
पर तुझपे हैफ़ है जो न हो दिल गुदाज तू।"[1]

"बच्चन" की भाँति *भगवतीचरण वर्मा* ने भी काव्य में रस को प्रधानता दी है, किन्तु वे ध्वनि-संगीत के महत्व के प्रति भी उतने ही सतर्क रहे हैं। जहाँ उन्होंने "महाकाल" शीर्षक काव्य-रूपक के लिए यह कहा है, "यह एक काव्य है और कविता होने के नाते इसमें रस का परिपाक है जो इसके सुगम होने में सहायक होगा"[2] वहाँ "यामा" शीर्षक लेख में इससे सर्वथा विपरीत बात कह डाली है—"हम यह मानते हैं कि (कविता में) अर्थ का होना आवश्यक है, पर यदि बिना अर्थ पर ध्यान दिये हुए ध्वनि और संगीत से ही कविता द्वारा एक भावना प्रकट हो सकती है, तो अर्थहीनता का दोष क्षम्य हो जाता है।"[3] स्पष्ट है कि प्रथम उद्धरण में रस के महत्व की घोषणा करने पर भी द्वितीय अवतरण में संगीत को प्रमुखता दी गई है। इन उक्तियों को समन्वित करते हुए यही कहना ठीक होगा कि काव्य में रस प्रमुख है, किन्तु कवि को संगीत के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए। काव्य में रस की महिमा वर्मा जी को अन्यत्र भी स्वीकार्य रही है—"कला में जो कृत्रिम है—छन्द, भाषा आदि—वह कला का शरीर है। उसका प्राण है कवि की भावना अथवा कवि का प्राण।"[4] भावना (रस) की तुलना में भाषा को महत्व न देकर यहाँ रीति सिद्धान्त की प्रमुखता का निषेध किया गया है, जो उचित ही है। रस का प्रकर्ष अभिव्यंजना-सौन्दर्य पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु सुन्दर भावना और ललित पदावली का संयोग रस साधना में बाधक न हो कर साधक ही सिद्ध होगा। आलोच्य कवि ने रीति का एकान्त तिरस्कार न कर उसे रस के सहायक धर्म के रूप में मान्यता दी है। यथा—

"जितना ही अधिक रस उत्पन्न किया जा सके उतनी ही अच्छी कविता होगी। × × × × × कविता को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, अन्तररूप और बहिर्रूप और कविता में रस उत्पन्न करने के लिए उन दोनों रूपों के सुन्दर निर्वाह की आवश्यकता है।"[5]

काव्य-हेतु

प्रस्तुत प्रकरण में विचारणीय कवि काव्य-हेतु की समीक्षा के प्रति पर्याप्त सजग रहे हैं। कविवर "बच्चन" ने संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य हेतुओं में से प्रतिभा और व्युत्पत्ति का समर्थन करने के अतिरिक्त प्रणय से प्राप्त प्रेरणा को भी काव्य-रचना का प्रेरक स्रोत मान कर मौलिक स्थापना की है। उन्होंने प्रतिभा अथवा प्रेरणा को काव्य-

१. मधुशाला हाला और उनका काव्य, पृष्ठ १०२
२ त्रिपथगा, पृष्ठ ४६
३ विशाल भारत, जनवरी १९४०, पृष्ठ ६५
४ प्रेम-संगीत, दो शब्द, पृष्ठ ६
५. मधुकण, भूमिका, पृष्ठ २५

रचना का मूल हेतु माना है। यह प्रेरणा कवि के मन में स्वतः उद्भूत होती है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती—"कभी-कभी कविता लिखने के लिए हृदय में आवेग उठता है और वह रोका नहीं जा सकता।"[1] कविवर 'नवीन' ने "कुछ भावाभिव्यक्ति बरबस हो ऐसी घड़ियों में हो जाती"[2] कह कर प्रतिभाशाली कवि की इसी विवशता को व्यक्त किया है। "बच्चन' ने अपनी उक्ति में 'कभी कभी' प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य की रचना प्रयास से नहीं हो सकती। यद्यपि यही प्रयास अन्ततः अभ्यास का रूप धारण कर लेता है और रीतिकालीन आचार्य केशवदास ने इसे काव्य का मुख्य हेतु माना है,[3] किन्तु "बच्चन' को यह मत स्वीकार्य नहीं है। कवि को नींद न आने का उल्लेख उन्होंने भी किया है—"जिन रातों को सारा आलम सोया करता, उनमें सयम घर, शायर जागा करते हैं,"[4] किन्तु यह रात्रि-जागरण उस अवसर पर कवि की प्रतिभा के उन्मेष का फल है, न कि प्रयास का। द्विवेदी युग में प० लोचनप्रसाद पांडेय का प्रतिपाद्य भी लगभग यही रहा है किन्तु इतना निश्चित है कि "बच्चन' ने काव्य में प्रयास की स्थिति को उसका दूषण माना है—इससे कविता की स्वाभाविकता को हानि पहुँचती है। यथा—

"उस कविता को क्या दे कर के नाम पुकारूँ कहो, कहो,
जिसके अंदर हो प्रयास, कल-कल-स्वर स्वतः प्रवाह न हो।"[5]

प्रस्तुत कवि ने प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति को भी काव्य का साधन माना है। उनके मत से काव्य रचना के लिए अन्य कवियों की रचनाओं का अध्ययन प्रेरक तत्व का कार्य करता है। यथा—"पता नहीं, अन्य लेखकों का अनुभव है या नहीं, मेरा तो है कि कभी-कभी हम दूसरे कवि की रचना पढ़ कर भी कविता लिखने को प्रेरित होते हैं। ऐसी प्रेरणाओं से कविता लिखना अपराध नहीं है।"[6] यह मत स्पष्टतः मनोविज्ञान पर आधृत है और इसमें मानव की अनुकरणप्रियता पर प्रकाश पड़ता है। आचार्य भामह ने भी यह स्थापना की थी कि "अन्य व्यक्तियों के निबन्धों का अध्ययन कर (कवि को) काव्य-रचना करनी चाहिए—विलोक्याऽन्यनिबन्धाश्च कार्यं क्रियादरः।"[7] रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ ने भी यह प्रतिपादित किया है कि काव्य-रचना के विविध कारणों में से एक यह भी है कि किसी कवि के मुख से कविता का श्रवण किया जाय—

---

१ हलाहल, कवि-परिचय, पृष्ठ १५
२. ऊर्मिला, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ १०२
३ "चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत सोर,
सुवरण को सोधत फिरत, कवि, व्यभिचारी, चोर"
—(कविप्रिया, ३।४)
४ आरती और अंगारे, पृष्ठ ६६
५. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ४६
६ वनफूल, कन्हैयालाल सेठिया, भूमिका से उद्धृत
७ काव्यालंकार, १।१०

"कवि सो सुनिबो बहुत पुनि करिबो घनि अभ्यास।
तासो कविता होनि है कारन हिये हुलास॥"[1]

आलोच्य कवि ने अध्ययन की भांति प्रकृति के अवलोकन को काव्य-रचना में सहायक मान कर भी व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया है। प्रकृति के निसर्ग सौन्दर्य के दर्शन से कवि के मन में गीत रचना की प्रेरणा स्वतः उदित हो जाती है —"मूक मेरी लेखनी को आज फिर प्रेरे हुए बादल।"[2] इसी प्रकार उन्होंने एक अन्य कविता में ग्रीष्म बयार को सम्बोधित करते हुए उससे काव्य प्रेरणा की प्राप्ति को सम्भव माना है—"कवि की उर कलिका खिल जाए, हरहरा उठो तुम एक बार।"[3] उनके समकालीन कवियों में गोपाल-शरणसिंह, सुमित्रानन्दन पन्त और उदयशंकर भट्ट ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त काव्य साधनों के अतिरिक्त उन्होंने नारी को कविता का मूर्त रूप मान कर लौकिक प्रणय सम्बन्ध की पवित्रता को भी काव्य रचना का प्रेरक स्रोत माना है। इस विषय में उनकी उक्ति इस प्रकार है—

"काम न तेरा कविता करना, किन्तु भावना मुझमें भरना।
कवि करने वाली तू है कविता सजीव, हे प्राण।"[4]

'बच्चन' ने इस काव्य हेतु की स्थापना स्वतन्त्र रूप में की है। यद्यपि उन्होंने इसे अपनी व्यक्तिगत काव्य प्रेरणा के रूप में उपस्थित किया है, किन्तु यह मत अन्य अनेक कवियों के विषय में भी सत्य सिद्ध हो सकता है। उर्दू के कवि नासिख ने इसी धारणा के फलस्वरूप कहा है—"इश्क को दिल में दे जगह नासिख, इल्म से शायरी नहीं आती।"[5] हिन्दी के आलोचकों में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु का मत भी यही है—"प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है।"[6] इन उक्तियों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि 'बच्चन' की धारणा मौलिक नहीं है, तथापि इस प्रसंग में भी उनकी महत्ता इस बात में है कि उन्होंने अपने मन को बिना किसी संकोच के व्यक्त किया है।

भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में "कला का स्रोत × × × × × अन्तर्प्रेरणा में है।"[7] प्रेरणा अथवा प्रतिभा को कवि का अर्जित गुण न मान कर उन्होंने उसे प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक विशेषता के रूप में ग्रहण किया है। यथा—"मेरा विचार है कि कवित्व प्रतिभा मनुष्य में एक प्राकृतिक गुण हुआ करता है, यह गुण अध्ययन से अथवा प्रयत्न करने से नहीं उत्पन्न किया जा सकता।"[8] इस उक्ति में अभ्यास के काव्य-हेतुत्व को अस्वीकार

१. रसराजनिधि, पृष्ठ तरंग, छन्द ४
२. प्रणय पत्रिका, पृष्ठ ५३
३. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ६३
४. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग १, पृष्ठ ७८
५. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, भाग २, पृष्ठ १६ से उद्धृत
६. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृष्ठ १२०
७. सरस्वती, अप्रैल १९५८, पृष्ठ २४७
८. मधुकण, भूमिका, पृष्ठ २१

करने के साथ-साथ व्युत्पत्ति का भी तिरस्कार किया गया है, किन्तु यह वर्मा जी की प्रतिनिधि मान्यता नहीं है। प्रयत्नपूर्वक रचित कविता की निन्दा तो उन्हें अन्यत्र भी अभीष्ट रही है, किन्तु कवि की चेतना पर अध्ययन के प्रभाव को उन्होंने स्वीकार कर लिया है। प्रयत्नसाध्य कविता के प्रति उनकी निम्नोक्त उक्ति से यही स्पष्ट होता है कि काव्य में निसर्गसिद्ध प्रतिभा की दीप्ति ही प्रधान है—

"कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति लगातार छन्द कहते चले जाते हैं। इस स्थान में वास्तविकता यह होती है कि लगातार परिश्रम करने के बाद लोग छन्द बड़ी सरलतापूर्वक बना लेते हैं, उनका मस्तिष्क इतना संगीतपूर्ण हो जाता है कि वे अपने प्रत्येक वाक्य में गति उत्पन्न कर लेते हैं। पर ऐसी स्थिति में हमारा यह कहना है कि कविता स्वयं ही प्राकृतिक है, अनुचित होगा।"[1]

इस कथन को स्वीकार करने के लिए प्रतिभा की दो कोटियाँ माननी होंगी। शुद्ध प्रतिभा के बल पर रचित कविताओं में स्वाभाविक गरिमा होगी, क्योंकि प्रतिभा कवि के दिव्य चक्षुओं के उन्मीलन में सहायक होती है। इसके विपरीत प्रयासप्रेरित रचना में बाह्य शोभा के विधायक अंग तो होंगे, किन्तु उसमें आन्तरिक औदात्य का उचित निर्वाह न हो सकेगा। प्रतिभा के प्रति विशेष आग्रह के फलस्वरूप आलोच्य कवि ने व्युत्पत्ति के विवेचन में साधारण अन्तर्वैपम्य का परिचय दिया है। पूर्वोक्त उद्धरण में व्युत्पत्ति को प्रतिभा के विकास में सहायक माना गया है, किन्तु 'सुमित्रानन्दन पन्त" शीर्षक लेख में अध्ययन के महत्व को स्पष्ट स्वीकृति दी गई है—"उन इने-गिने कवियों में जिनकी कुछ कविताओं में मैंने कभी-कभी अपने को खो दिया है, जिनकी कविताओं ने ज्ञान अथवा अज्ञात रूप में मुझे प्रभावित किया है, सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान बहुत ऊँचा है।"[2] इसी प्रकार "मैथिलीशरण गुप्त" शीर्षक लेख की ये पंक्तियाँ भी इसी आशय से लिखी गई हैं कि कवि उनकी रचनाओं के अध्ययन से प्रभावित है—"मुझे कवि बनने की प्रेरणा मैथिलीशरण गुप्त से ही मिली है, वे एक तरह से मेरे गुरु हैं।"[3] इन उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आलोच्य कवि ने प्रतिभा की भाँति व्युत्पत्ति के महत्व को भी स्वीकार किया है। उन्होंने प्रणय के प्रेरणादायक स्वरूप को भी मान्यता दी है। प्रियतमा के प्रति कथित यह उक्ति इसका प्रमाण है—"पागल मैं कहता हूँ अपने, तुमने ये जितने गीत लिखे।"[4] इस विवेचन से स्पष्ट है कि "बच्चन" और भगवतीचरण वर्मा की काव्य-हेतु विषयक मान्यताओं में अद्भुत समानता है।

काव्य का प्रयोजन

"बच्चन" ने काव्य के प्रयोजनों का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया है। उन्होंने

---

१. मधुकलश, भूमिका, पृष्ठ २४

२ आजकल, मार्च १९५८, पृष्ठ १२

३ आजकल, मई १९५८, पृष्ठ २७

४ मानव, पृष्ठ २५

आनन्द को काव्य का मूल प्रयोजन माना है और उसने लोक हित की व्यवस्था की सामान्य चर्चा की है। काव्य से रचयिता और पाठक, दोनों को आनन्द प्राप्त होता है, विशेषत कवि अपने विकल हृदय को शान्ति और उल्लास प्रदान करने के लिए काव्य रचना में प्रवृत्त होता है—"कवि अपनी विह्वल वाणी से, अपना व्याकुल मन बहलाता।"[1] कवि की वाणी में इस गुण के प्रादुर्भाव के लिए अनुभूति की अभिव्यक्ति अपेक्षित है। अनुभव एक का हो कर अनेक का हो जाता है, अत उससे प्राप्त होने वाला सुख भी कवि के मन में सहृदय-मात्र तक प्रसरित रहता है। काव्य की महत्ता इसी में है कि उसके भाव-वैभव पर मुग्ध होकर जनता उसके अध्ययन से आनन्द लाभ करे—"किसी भी रचना की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जब जनता उसे खरीदे, पढ़े और उसका रस ले।"[1] आलोच्य कवि ने एक अन्य स्थल पर इन दोनों धारणाओं का इस प्रकार समन्वय कर दिया है—"जनगीता रचते हुए मैंने एक विशेष सुख का अनुभव किया है। मेरी हार्दिक कामना है कि जो इसे पढ़ें सुनाएँ उन्हें भी वही सुख प्राप्त हो।"[3] काव्य से इस प्रयोजन की सिद्धि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर अब तक अनेक कवियों को प्रतिपाद्य रही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कवि ने बहुमुखी वृत्ति के स्थान पर अन्तर्मुखी दृष्टि को अपनाया है। इसीलिए उन्होंने साधारण मनोरंजनात्मक कविताओं में रुचि प्रदर्शित करने वालों को अपरिष्कृत अथवा अस्वस्थ प्रकृति वाले पाठक माना है। कविता का स्वरूप आनन्दमय अवश्य है, किन्तु यह आनन्द स्थूल मनोरंजन का वाची नहीं है। इसकी प्राप्ति के लिए अध्येता को सुरुचिपूर्ण गहन अध्ययन का आश्रय लेना चाहिए। यथा—

"जिसके लिए कवि अथवा लेखक ने साधना की है उसका आनन्द लेने के लिए पाठक को भी साधना करनी पड़ती है। कविता से सहज ही आनन्द प्राप्त करने की माँग बढ़ती जा रही है—बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है।"[4]

उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि काव्य से कवि को आत्म-सुख और समर्थ पाठक को उच्च कोटि का आनन्द मिलता है। काव्य का द्वितीय मुख्य प्रयोजन है लोक हित का विधान। "बच्चन" ने उसकी स्वतन्त्र स्थापना नहीं की है, किन्तु "कोयल" शीर्षक कविता में कोकिल को कवि की प्रतिनिधि मान कर अप्रत्यक्ष रूप से मत निर्धारित किया जा सकता है। इस कविता में कवि का प्रतिपाद्य यह है कि काव्य का लक्ष्य यश प्राप्ति न हो कर लोक हित की व्यवस्था है। उदाहरणस्वरूप कोकिल की यह उक्ति देखिये—

"नहीं चाहती दिग्दिगन्त में कीर्ति गान मेरा गूँजे,
नहीं चाहती आ कर दुनिया सादर पद मेरा पूजे।

---

१ एकान्त संगीत, पृष्ठ ७३
२ मधुशाला, ग्यारहवें संस्करण की भूमिका, पृष्ठ ५
३. जनगीता, मंगलाचरण, पृष्ठ "ङ"
४. धार-पार, एक दृष्टिकोण, पृष्ठ ३७

स्वर्ग प्रसन्न हुआ यदि मुझसे मुझको ऐसा गान मिले,
जिसको सुन कर मरे हुओं को जीवन का वरदान मिले।"[1]

स्पष्ट है कि काव्य जीवन्मृतों को जीवन प्रदान करता है। कवि के प्राण रस से सिंचित होने पर जीवन-वेलि में नूतन उत्साह आनन्द आ जाता है। काव्य में जीवन की आदर्श अभिव्यक्ति के फलस्वरूप पाठक अपने चरित्र का भी उसी के अनुरूप संस्कार करना चाहता है। कवि कृति से समाज हित की व्यवस्था का यही रहस्य है।

भगवतीचरण वर्मा ने काव्य के आन्तरिक प्रयोजन के अतिरिक्त उसके बाह्य प्रयोजनों की मीमांसा भी की है। उन्होंने "बच्चन" की भाँति यह प्रतिपादित किया है कि काव्य से रचयिता और प्रमाता को आनन्द प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ "नई कविता—नया साहित्य" शीर्षक लेख का यह अंश देखिए—"कविता का ध्येय आत्म सन्तुष्टि ही नहीं है, कविता मुख्यतः दूसरों के मनोरंजन के लिए लिखी जाती है।"[2] यहाँ 'मनोरंजन" से कवि का अभिप्राय मन में विशिष्ट उल्लास की सृष्टि से होना चाहिए, क्योंकि स्थूल रुचियों की तृप्ति काव्य का लक्ष्य नहीं है। स्वान्त सुख को महत्त्व देने वाला कवि साधारण मनोरंजन को साहित्यकार का अभीष्ट मान भी नहीं सकता। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरण में आत्म-सुख की अपेक्षा पर सुख को अधिक गौरव दिया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में वर्मा जी का मत एकरूप नहीं है। "साहित्य का स्रोत" शीर्षक लेख में स्वान्त सुख को ही काव्य का फल माना गया है—

"मैं बहुजनहिताय वाले सिद्धान्त को स्वीकार अवश्य करता हूँ, पर इस बहुजनहिताय के सिद्धान्त को साहित्य का स्रोत मानने को किसी भी हालत में तैयार नहीं हूँ। स्वान्त सुखाय वाले तत्व में ही साहित्य का सृजन है, केवल समाज द्वारा उस साहित्य की स्वीकृति बहुजनहिताय वाले तत्व पर निर्भर है।"[3]

यहाँ स्वान्त सुख के प्रति आवश्यकता से अधिक आग्रह प्रदर्शित किया गया है किन्तु इस पर भी कवि की पूर्ण आस्था नहीं है। इस अवतरण में लोक हित को स्वान्त सुख के बाद स्थान दिया गया है, किन्तु साथ ही उन्हें यह भी विश्वास है कि "जो साहित्य लोकहित और जन कल्याण की उपेक्षा करता है वह निष्प्राण साहित्य है।"[4] स्पष्ट है कि आलोच्य कवि ने इन धारणाओं के प्रतिपादन में अन्तर्वैषम्य का परिचय दिया है। काव्य में लोक हित के महत्व को उन्होंने अन्यत्र भी इस प्रकार वाणी दी है—"मेरी सम्मति में, साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है—भावना का उदात्तीकरण।"[5] अथवा "कला और साहित्य की सफलता एवं सार्थकता लोकहित और समाज-कल्याण पर आश्रित है।"[6]

---

१ सतरंगिनी, पृष्ठ २४
२ आजकल, जुलाई १९५६, पृष्ठ ४४
३ सरस्वती, अप्रैल १९५८, पृष्ठ २४
४ प्रभातिका, अक्तूबर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ १७
५. प्रभातिका, अक्तूबर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ १६
६ सरस्वती, फरवरी १९५८, पृष्ठ ८८

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोच्य कवि इस समस्या का समाधान करने में असफल रहा है कि काव्य में आनन्द की उपलब्धि मुख्य है अथवा लोक हित का विधान? इसी प्रकार वह यह निर्णय नहीं कर पाया है कि कवि अपनी रचना को आत्म-सन्तोष के लिए लिखता है किंवा भावक की परितुष्टि के लिए। वस्तुत कवि को इन प्रश्नों में उलझना ही नहीं चाहिए था। तथ्य यह है कि ये दोनों ही काव्य के अन्तरंग प्रयोजन हैं—कवि इनमे से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। स्वान्त सुख के लिए रचित कविता का लोक-मानस से सहज सम्बन्ध होना चाहिए और जन हित के विधान में सहायक कृति केवल उपदेशात्मक न हो कर आनन्द-भाव से युक्त होनी चाहिए।

भगवतीचरण ने काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों की भांति उसके बाह्य प्रयोजनों पर भी यथेष्ट विचार किया है। उन्होंने यश-लालसा को सत्कवि का एकमात्र काम्य नहीं माना है, परन्तु काव्य से आर्थिक सुविधाओं की प्राप्ति के विषय में उनका दृष्टिकोण उदार रहा है। 'निराला' जी की भांति उनका मन्तव्य भी यह है कि काव्य में सजीव वर्णन स्वत ख्यातिदायक होता है, कवि को अपने लिए यश-व्यवस्था की स्वयं चिंता नहीं करनी पड़ती। यथा—"नई कविता में बिना परिश्रम यश और ख्याति प्राप्त करने की जो प्रवृत्ति है, उससे जो वास्तविक कलाकार हैं उन्हें बचने की नितान्त आवश्यकता है। × × × × × जीवित वही कविता रहेगी जो भावना और शिल्प इन दोनों के आधारभूत सत्य पर अवलम्बित है।"[1] इस दृष्टिकोण की सारवत्ता के विषय में शंका का कोई कारण नहीं है। भावना और अभिव्यंजना की समृद्धि से काव्य में जिस प्रभावक्षमता का समावेश होगा वह कवि को अमरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। अत यह सिद्ध है कि कवि-वर्णन में सजीवता, सात्विकता और हृदय की प्रेरणा का होना परमावश्यक है। आलोच्य कवि ने यश-लालसा की भांति अर्थ-मोह को भी साहित्यकार के लिए त्याज्य माना है, किंतु स्वाभाविक रूप में प्राप्त होने वाली आर्थिक सुविधाओं का तिरस्कार उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है—

(अ) "मैं साहित्य को आजीविका का साधन मानने में संकोच नहीं करता।"[2]

(आ) "हरेक कला की भांति मैं साहित्य को भी अधिकांश में आजीविका का साधन मानता हूँ।"[3]

यह निर्विवाद है कि काव्य-रचना का उद्देश्य केवल आजीविका की व्यवस्था नहीं है—अलौकिक आनन्द और लोक-संग्रह जैसे महत्तर लक्ष्य ही उसके स्वरूप-विधायक हैं। धन की उपलब्धि तो काव्य का गौण फल है, उसकी सिद्धि युग धर्म के निर्वाह में है। वर्मा जी काव्य को आजीविका का साधन मानने पर भी उसके इस अन्तर्रहस्य के प्रति जागरुक रहे हैं। उदाहरणस्वरूप "साहित्य का प्रभाव" शीर्षक लेख से यह वाक्य देखिए—"कलाओं में केवल साहित्य ऐसा है जिसका उद्देश्य मात्र आजीविका नहीं होता, वह इस-

१. आजकल, जुलाई १९५६, पृष्ठ ४५
२. सरस्वती, मार्च १९५८, पृष्ठ १७०
३ सरस्वती, जुलाई १९५८, पृष्ठ १६

लिए कि बौद्धिक होने के कारण साहित्य में विचार-नेतृत्व और युग निर्माण की क्षमता है।"[1]

उपर्युक्त समीक्षण से स्पष्ट है कि कवि-जीवन में अर्थ साधन है, न कि साध्य। वर्मा जी के मत से "कला के सृजन का एक गौण उद्देश्य अर्थ का उपार्जन होगा।"[2] उसे मुख्य काव्य-फल मानने के लिए वे स्वयं प्रस्तुत नहीं हैं। काव्य से सम्पत्ति-लाभ की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि "जो साहित्यकार सुख-सुविधा के लिए बिक जाए, वह स्रष्टा साहित्यकार नहीं।"[3] अर्थ की लालसा में लिखित रचना तो प्रतिभा के आलोकित क्षणों में ही हो सकती है। समाज के लिए उपयोगी अनुभूति और आन्तरिक उल्लास के अभाव में काव्य रचना का दम भरना दम्भ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह उक्ति इसी तथ्य की प्रत्यायक है—"मान, प्रतिष्ठा, आदर, धन, वैभव—ये सब शारीरिक तत्व हैं, आत्मिक तत्व नहीं हैं और मेरे मत से इन चीजों को प्राप्त करने के लिए लिखा गया साहित्य स्वान्तःसुखाय नहीं है।"[4]

काव्य के तत्व

"बच्चन" ने अनुभूति को काव्य का आधारभूत तत्व माना है, किन्तु वे कल्पना के महत्व के प्रति उदासीन नहीं हैं। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक काव्य-कृतियों में अनुभूति की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व दिया है, तथापि मुख्यतः वे काव्य को मानव-जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। "*मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया*" और "**गीत वही बाटेगा सब को, जो दुनिया की पीर सके ले**"[5] जैसी काव्य-पंक्तियाँ इसकी प्रत्यायक हैं। कविता में मार्मिकता के समावेश लिए उसमें अनुभूति की व्याप्ति अत्यन्त आवश्यक है। आलोच्य कवि ने साहित्यकार को अनुभूति-समृद्ध रह कर सृष्टि में समरसता का प्रसार करने का सन्देश दिया है और उसकी सहज संवेदनशीलता की इन शब्दों में चर्चा की है—"*जगजीवन के सुख दुःखों से, भीग रहा है कवि का तन-मन।*"[6] कवि की यह सहृदयता ही काव्य में सजीवता, स्पष्टता, प्रभाव और माधुर्य की सृष्टि करती है। इसीलिए "बच्चन" ने रागमयी कविता (जिसमें कल्पना के समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है) में भी जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त स्थान माना है। यथा—

"राग के पीछे छिपा चीत्कार कह देगा किसी दिन,
हैं लिखे मधुगीत मैंने हो खड़े जीवन समर में।"[7]

---

१. सरस्वती, मई १९५८, पृष्ठ ३२१
२. आलोचना, अप्रैल १९५५, पृष्ठ ६६
३. सरस्वती, दिसम्बर १९५४, पृष्ठ ३८६
४. प्रभारिका, अक्तूबर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ १७-१८
५. आरती और अंगारे, पृष्ठ २२५ तथा २२४
६. आकुल अन्तर, पृष्ठ ९२
७. मधुकलश, पृष्ठ ५४

यह दृष्टिकोण कवि की प्रौढ अनुभूति का परिचायक है। काव्य में जीवन के उच्चतर मूल्यों का निर्देश अनुभूति से ही सम्भव हो पाता है। अनुभूति-प्रधान रचना में जीवन के रस (और विष) की मधुर अभिव्यक्ति रहती है और पाठक उसके अनिवार्यतः प्रभाव ग्रहण करता है। "बच्चन" ने इस विषय का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

"जीवन-अनुभव-स्वाद न कटु यदि मेरी जिह्वा पर आता,
कौन मधुर मादकता मेरे गीतों के अन्दर पाता।"[1]

'बच्चन' के काव्य में अनुभूति की भाँति कल्पना का माध्यम सर्वत्र ग्रहण किया गया है, तथापि उन्होंने उसे मुख्य रूप से अपनी प्रारम्भिक कृतियों में स्थान दिया है। फलतः कल्पना के काव्यगत महत्व के विषय में उनकी सैद्धान्तिक उक्तियाँ भी प्रारम्भिक रचनाओं (मधुशाला, मधुकलश तथा प्रारम्भिक रचनाएँ, द्वितीय भाग) में उपलब्ध होती हैं। इस दिशा में उनका आग्रह इतना प्रबल रहा है कि उन्होंने एक रुबाई में रूपक के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि कवि-रूपी साकी का कविता-रूपी प्याला केवल कल्पना-रूपी हाला से पूरित हो सकता है। इस हाला को भावना-रूपी लता से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने काव्य में कल्पना की व्यापकता के अनुकूल इस काव्य-चषक को निरन्तर हालापूरित रहने वाला माना है। उन्होंने प्रमाता को मदपान करने वाले व्यक्ति की संज्ञा प्रदान की है और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को काव्य-रूपी मधुशाला में घटित होते हुए दिखाया है। उनके द्वारा उपस्थित किया गया यह सम्पूर्ण प्रतिपादन एक कल्पना है: यथा—

"भावुकता अंगूर लता से, खींच कल्पना की हाला,
कवि साकी बन कर आया है, भर कर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिएँ दो लाख पिएँ,
पाठकगण हैं पीने वाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि "बच्चन" ने काव्य में कल्पना के समावेश को अध्येता के चित्त पर व्यापक प्रभाव को अंकित करने में सहायक माना है। उन्होंने "कवि", "जौहरी" तथा "गान-दान" शीर्षक कविताओं में भी यह प्रतिपादित किया है कि काव्य में कल्पना को स्थान देने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।[3] "कल्पना-विरद" शीर्षक कविता में यह आग्रह अपनी चरम सीमा पर है—"विश्व कल्पना का यह लख कर सत्य विश्व भूले।"[4] इस अवतरण में कल्पना को अनुभूति की अपेक्षा प्रमुख स्थान दिया गया है, किन्तु उनके काव्य में वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है। उनकी रचनाओं में केवल कल्पना का विलास नहीं है, वे सत्य के आलोक से सहज मुखरित हैं। उनके काव्य में जीवन की अनुभूतियों का जीवन्त चित्रण इसका प्रमाण है। अतः यदि उन्होंने

१. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ४४
२. मधुशाला, चतुर्थ रुबाई
३. ये कविताएँ "प्रारम्भिक रचनाएँ", भाग २ में संकलित हैं।
४. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ७८-७९

कल्पना के साहचर्य में अनुभूति की प्रधानता का सिद्धान्त रूप में उल्लेख किया होता तो अधिक उचित होता।

श्री युत भगवतीचरण वर्मा ने काव्य के तत्वों का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। "बच्चन" और अधिकांश अन्य कवियों की भाँति उन्होंने भी अनुभूति को कविता का आन्तरिक गुण माना है—**"अनुभूति का तत्व साहित्य का मूल तत्व है, क्योंकि इसी में आनन्द का सृजन है।"**[1] अनुभवप्रेरित रचना में जिस स्वाभाविकता और सहज स्निग्धता की स्थिति रहती है वह प्रमाता के चित्त को रस-लोक में अवश्य ले जाती है। जीवन को निकट से देखने वाला साहित्यकार कृत्रिमता का पोषक नहीं होता, उसकी रचना में स्वान्त सुख की प्रेरणा स्वत निहित रहती है। वर्मा जी ने अनुभूतिजनित आनन्द को काव्य का लक्ष्य मान कर उसे ज्ञान की बोझिलता से दूर रखना चाहा है—*"कला का सम्बन्ध मन से है, मन का क्षेत्र अनुभूति है ज्ञान नहीं है।"*[2] *स्पष्ट है कि कवि ने चिन्तन को अनुभूति से गौण माना है। काव्य में अनुभूति की रसात्मकता निश्चय ही* वांछित है, किन्तु चिन्तन की भी एकान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि चिन्तन के अनुभूत रूप को वाणी दी जाए। वास्तव में प्रस्तुत कवि ने पन्त जी की भाँति सत्य (अनुभूति) और शिव (चिन्तन) को सुन्दर में निहित मान कर अन्यत्र यही विचार व्यक्त भी किया है—**"सुन्दर शब्द में सत्य और शिव की मान्यता को भी मैं निहित समझता हूँ। जो सत्य नहीं है या जो कल्याणकारी नहीं है वह सुन्दर हो ही नहीं सकता।"**[3] *इस उक्ति से सिद्ध है कि सत्य, शिव और सुन्दर की सहकारिता ही* कविता का लक्ष्य है।

काव्य में व्यक्ति-तत्व

काव्य के तत्वों के विषय में उपर्युक्त विचारों का अध्ययन करने के उपरान्त काव्य में व्यक्ति-तत्व के समावेश अर्थात् वैयक्तिक कविता के स्वरूप पर विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा। "बच्चन" ने वेदनानुभूतियों की अभिव्यक्ति को वैयक्तिक कविता की मुख्य प्रवृत्ति माना है। उनकी *निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ* इसी तथ्य की प्रत्यायक हैं—

(अ) "मैं रोया, इसको तुम कहते हो गाना,
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छन्द बनाना।"[4]

(आ) "गीत कह इसको न दुनिया, यह दुखों की माप मेरे।"[5]

(इ) "उलककर गीत गाते हैं, हृदय के घाव—।"[6]

---

१ सरस्वती, अप्रैल १९५८, पृष्ठ २४६
२. सरस्वती, अप्रैल १९५८, पृष्ठ २४६
३ सरस्वती, जून १९५८, पृष्ठ ३६३
४. मधुबाला, पृष्ठ १००
५. मधुकलश, पृष्ठ ४१
६. एकान्त संगीत, पृष्ठ ७८

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि वेदना की अभिव्यक्ति अथवा करुण रस की उद्भावना काव्य के लिए अपरिहार्य है। आलोच्य कवि ने इस मन्तव्य की स्थापना में एक ओर भवभूति के करुण रस विषयक मत से प्रेरणा ली है और दूसरी ओर वे शैले की इस उक्ति से प्रभावित रहे हैं—"करुणतम भावना को व्यक्त करने वाले गीत सर्वाधिक मधुर होते हैं।"[1] काव्य कवि की वेदना का मधुरिमामय व्यक्त रूप है, किन्तु यह विकलता अपने आप में तीव्र अवश्य है। उदाहरणस्वरूप 'बच्चन" की ये पंक्तियाँ देखिए—

(अ) "मौन रहा करता है लेकिन, कवि का दर्द कसाला।
तब तक जब तक हर पीड़ा है गीत नहीं बन जाती॥"[2]

(आ) "भावनाओं का मधुर आधार, साँसों से विनिर्मित।
गीत कवि उर का नहीं उपहार, उसकी विकलता है॥"[3]

इस मन्तव्य का दुःखवादी काव्य की छाया में तो समर्थन किया जा सकता है, किन्तु प्रगीत काव्य के स्वरूप की दृष्टि से यह सर्वांशतः सत्य नहीं है, क्योंकि गीत में आनन्दवादी भावना का समावेश भी सहज सिद्ध है। तथापि इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि प्रस्तुत कवि ने सुमित्रानन्दन पन्त की उक्ति (कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है)[4] के अनुरूप वेदना को काव्य का प्रमुख अंग माना है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि वैयक्तिक कविता में आत्मानुभूति का विशेष स्थान रहता है। यह अनुभूति या तो भौतिक जगत् के प्रति कवि की प्रतिक्रियाओं के रूप में एकान्तिक होगी अथवा इसका रूप लोक-सम्बद्ध रहेगा—"यह तो निर्विवाद है कि कला में अभिव्यक्ति पाने वाली प्रत्येक अनुभूति व्यक्तिगत ही होती है, पर कला में अभिव्यजित होने योग्य प्रत्येक अनुभूति को कुछ ऐसा भी होना पड़ता है जो सार्वजनिक हो।"[5] स्पष्ट है कि "बच्चन" को अनुभूति के ये दोनों रूप स्वीकार्य हैं। *"माली" शीर्षक कविता में "कविता उपवन के माली"* (कवि) की एकान्तिक प्रवृत्ति को इन शब्दों में प्रकट किया गया है—

"तुझसे इस जग से क्या नाता,
तूने अपनी सृष्टि बना ली।"[6]

एकान्तिकता की भाँति लोक-सम्बद्धता भी वैयक्तिक कविता में स्वाभाविक है। यद्यपि काव्य में युगाभिव्यक्ति सर्वथा अनिवार्य नहीं है, तथापि यह निश्चित है कि युगीन

---

१. "Our sweetest songs are those,
that tell of saddest thought."
(The Complete Poetical Works of Percy Bysshe Shelley, Page 603)

२ प्रणय पत्रिका, पृष्ठ ५५

३ आकुल अन्तर, पृष्ठ २

४ आधुनिक कवि, द्वितीय भाग, पृष्ठ १५

५. बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ २० २१

६. प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ १२७

विचार-धारा के आलोक मे काव्य रचना करने से कवि के व्यक्तित्व मे सबलता आती है। "बच्चन" के शब्दो मे,"युग-युग की घटनाओ, युग की विचार-धाराओं का जो प्रभाव कला-कृतियों पर पडता है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी एक महत्ता रखता है। सच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व में कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है। फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित कर के ही कला का प्रभाव दिखला सकता है।"[1] इस सिद्धान्त की स्थापना तर्क-सगत है। जब कवि अपनी व्यक्ति चेतना के आलोक मे अनुभूति प्राप्त कर उसे काव्य मे बिम्बित करता है तब उसमे उसका व्यक्तित्व भी अप्रत्यक्ष रूप मे अवश्य प्रतिफलित हो जाता है। वैयक्तिक कविता के इसी गुण के कारण पाठक को उसका अध्ययन करते समय कवि की अनुभूति, चिन्तन-शक्ति एव कल्पना के परीक्षण मे विशेष सुविधा रहती है। इस स्थान पर यह शका उठती है कि यदि वैयक्तिक कविता मे केवल कवि की अनुभूतियो का ही चित्रण रहना है तो ससार के लिए उसका क्या उपयोग है? "बच्चन" ने इस शका के निवारणार्थ यह मत व्यक्त किया है कि जब अन्य व्यक्ति कवि की भांति सासारिक अनुभव प्राप्त करते है, तब उनकी अनुभूति के स्तर मे तो अन्तर हो सकता है, किन्तु अनुभव की प्रकृति मे मौलिक भेद नही होता,—फलस्वरूप कवि की वैयक्तिक अनुभूति भी साधारणीकृत होकर मानव-मात्र को प्रभावित कर सकती है। 'अभावो की रागिनी" शीर्षक कविता मे इस मत को इन शब्दो मे व्यक्त किया गया है—

"एक ऐसा गीत गाया जो सदा जाता अकेले,
एक ऐसा गीत जिसको सृष्टि सारी गा रही है।"[2]

साधारणीकरण की प्रक्रिया से कवि के व्यक्तिगत भावो को सहृदय-मात्र के लिए सवेदनक्षम मान कर वर्तमान आलोचको मे बाबू गुलाबराय ने भी इसी सिद्धान्त को व्यक्त किया है—"कवि लिखता अपने ही दृष्टिकोण से है लेकिन वह सब समानधर्मा पाठकों व श्रोताओं के आनन्द और उपभोग का विषय बन जाता है, इसीलिए साहित्य में व्यक्तित्व को महत्व देते हुए भी साधारणीकरण की आवश्यकता हो जाती है।"[3] आलोच्य कवि ने वैयक्तिक कविता मे उपर्युक्त विशेषताओ के अतिरिक्त विषय-वैविध्य को भी आवश्यक माना है। उन्होने इस प्रसग मे छायावादी काव्य पर एकरसता का दोषारोपण कर वैय-क्तिक कविता को उससे मुक्त माना है—"छायावादी कविताओं में एकरसता थी। वैय-क्तिकता की प्रमुखता के साथ बहुरसता का आगमन हुआ है।"[4] इस धारणा का अक्ष-रश समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि छायावादी कविता कतिपय विशिष्ट वर्ण्यों में सीमित होने पर भी सर्वत्र एकरस नहीं थी। छायावाद की प्रतिनिधि रचनाओ मे एक-रसता के लिए उत्तरदायी भावावृत्ति का पर्याप्त अभाव रहा है। फिर, वैयक्तिक कविता

---

१. पल्लविनी, एक दृष्टिकोण, पृष्ठ ६
२ सतरगिनी, पृष्ठ ६१
३. काव्य के रूप, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ ११
४. गाने गीत (एकेर्सरण "निशा"), भूमिका से उद्धृत

भी तो एकरसता से मुक्त नहीं है—उसमें भी प्रेम, दुःख, निराशा आदि भावनाओं को एक-जैसी अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैयक्तिक कविता में कवि के हृदयोद्गारों की विविधतामयी व्यंजना से बहुरसता का समावेश सहज सम्भव है। मानव की व्यक्तिगत समस्याएँ इतनी सीमित नहीं है कि उन्हें बहुमुखी अभिव्यक्ति न दी जा सके।

भगवतीचरण जी ने काव्य में कवि-व्यक्तित्व के समावेश के प्रश्न पर "बच्चन" की भाँति विस्तारपूर्वक विचार किया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है—"एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह है कि क्या साहित्य वैयक्तिक चेतना की उपज है या वह सामाजिक चेतना की उपज है। × × × × × मुझे तो केवल इतना कहना है कि साहित्यकार व्यक्ति है और वह अपनी निजी भावना से प्रेरित हो कर उस साहित्य का सृजन करता है जो उसका सत्य है। × × × × × मैं साहित्य का स्रोत सामाजिक मान्यता या चेतना को किसी हालत में नहीं मान सकता।"[1] यहाँ लोक-सम्बद्ध अनुभूति की अपेक्षा एकान्तिक अनुभव को अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु कवि में लोक-संग्रही वृत्ति का अभाव नहीं है। "स्वान्तः सुखाय" शीर्षक लेख में व्यक्तितत्व को प्रधान मानने पर भी लोक-मंगल की उपेक्षा नहीं की गई है—

"जन-कल्याण और लोक-हित के नवीन दृष्टिकोण पर पूर्ण रूप से आस्था रखते हुए भी स्वान्तः सुखाय में व्यक्तिवाद की जो सीमा है उसकी महत्ता मुझे स्वीकार करनी ही पड़ती है। मैं समझता हूँ कि व्यक्तिवाद की यही सीमा महान् साहित्य का सृजन कर सकती है, व्यक्तिवाद की यह अहम् की भावना ही सृजन का मूल स्रोत है।"[2]

इन अवतरणों में स्पष्ट है कि वैयक्तिक कविता में कवि की आत्मानुभूति का आत्म-सुखदायी उल्लेख रहता है। "बच्चन' की शब्दावली में यह आत्मानुभव "कवि की वेदना" है और उससे प्राप्त होने वाला आत्म-सुख "मानसिक विकलता की शान्ति" है। प्रतिपादन-शैली का बाह्य अन्तर होने पर भी इन दोनों कवियों की मान्यताएँ तत्वतः एक हैं। "बच्चन" ने जिसे बहुरसता कहा है, भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में वही प्राण-रस से सिंचित कला है—"साहित्य या कला को प्राणवान् बनाता है कलाकार अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व का निक्षेप। प्रत्येक प्राणवान और सशक्त साहित्य में साहित्यकार का यह व्यक्तित्व मूर्त होता है।"[3] सहृदय को प्रभावित करने में सक्षम रचना एकरसता के दोष से स्वभावतः मुक्त होगी। इसी प्रकार "बच्चन" ने कवि के व्यक्तिगत भाव को समान धर्म वाले प्रमाता का भाव बनाने के विषय में साधारणीकरण-सिद्धान्त का जिस रूप में उल्लेख किया है वह भी वर्मा जी को मान्य है—"× × × × × उस भावना का मेरे व्यक्तित्व से सम्बन्ध है। मैं चाहता हूँ कि वही भावना मैं दुनिया के अन्य लोगों तक पहुँचा दूँ। थोड़ी देर के लिए मैं दुनिया को अपनी तन्मयता में तन्मय कर दूँ × ×

१. सरस्वती, अप्रैल १९५८, पृष्ठ २५०-२५१
२. प्रभारिका, अक्तूबर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ १७
३. सरस्वती, जुलाई १९५८, पृष्ठ १४

× × × (उसे) शब्दों द्वारा व्यक्त कर के मैंने काव्य-कला को जन्म दिया।"[1] वैयक्तिक कविता की एकान्तिकता में विश्वास रखने पर भी यहाँ कवि ने उसे लोक मानस में प्रतिष्ठित करने की कामना व्यक्त की है। उनकी मान्यताएँ 'बच्चन" की विचार धारा के निकट हैं, अतः पुनरुक्ति से बचने के लिए यहाँ विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं है।

काव्य के भेद

वैयक्तिक कविता के रचयिताओं ने काव्य के सभी रूपों का विवेचन न कर केवल गीतिकाव्य के स्वरूप की समीक्षा की है। प्रगीतकार "बच्चन" ने गीत के स्वरूप को इन शब्दों में प्रकट किया है—"प्रत्येक गीत को सर्व-स्वतन्त्र, अपराधित और अपने में ही परिपूर्ण मान कर पढ़ा या गाया जाता है और उसका रस लिया जाता है। अब यह गीतकार का काम है कि गीतों की परिमित परिधि के भीतर ही भावों का उद्रेक और विकास कर उन्हें वांछित परिणति पर पहुँचा दे।"[2] इस उक्ति में गीतिकाव्य के दो गुणों को स्पष्ट किया गया है—(अ) उसमें किसी एक ही भाव की स्वतन्त्र और परिपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है (आ) उसके अध्ययन से भावक को रस अथवा आनन्द की उपलब्धि होती है। प्रस्तुत काव्य-रूप के ये दोनों गुण आलोचना जगत् के लिए नवीन नहीं हैं, किन्तु कवियों की परम्परा में इनमें से प्रथम गुण का निर्देश सर्वप्रथम "बच्चन" ने ही किया है।

वर्मा जी ने प्रगीतात्मक कृति को काव्य के लिए निधि के समान माना है। उनका मन्तव्य है कि जब प्रगीत काव्य में लय के साथ-साथ भावात्मकता का भी सुन्दर सम्मिश्रण होता है तब उसके अध्ययन से पाठक के चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। यथा—"यदि हम स्वर प्रधान संगीत में अच्छे से अच्छे भाव भर दें या भाव प्रधान कविता में अच्छी से अच्छी स्वर लहरी पैदा कर सकें तो कविता तथा संगीत एक हो जाता है और वही काव्य या संगीत सर्वोच्च होगा।"[3] यहाँ अर्थ-सौरस्य के अतिरिक्त लय के लालित्य को गीत का अनिवार्य गुण माना गया है। इस प्रतिपादन में नवीनता नहीं है—उनके अतिरिक्त "निराला", महादेवी, उदयशंकर भट्ट और रामकुमार वर्मा का मत भी यही है। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने गीतिकाव्य के स्वरूप की परिपूर्ण मीमांसा नहीं की है। उनकी धारणाओं का समजन करने पर भी गीत की परिभाषा अपूर्ण रह जाती है, क्योंकि गीत केवल वह रचना नहीं है जिसमें भाव विशेष की स्वतन्त्र, परिपूर्ण, लयबद्ध तथा आनन्दात्मक अभिव्यक्ति हो,—उसमें आत्माभिव्यक्ति आदि अन्य तत्वों का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है।

काव्य के वर्ण्य विषय

आलोच्य कवियों के काव्य-वर्ण्य-सम्बन्धी विचारों की मीमांसा के लिए काव्य के

---

१. प्रेम मान, दो शब्द, पृष्ठ १४

२. आरती और अंगारे, भूमिका, पृष्ठ ११

३. मधुकण, भूमिका, पृष्ठ २४

तत्वों के विषय में उनकी धारणाओं को पृष्ठभूमि में रखना होगा। उन्होंने अनुभूति को काव्य का मूल तत्व माना है, अत स्वाभाविक रूप से उनकी रचनाओं में जीवन की विविधताओं के कथन को प्रायमिकता मिली है। अनुभूति के महत्व से सम्बद्ध उक्तियों में ही प्रत्यक्ष रूप से यह भी उल्लेख हुआ है कि जीवन के सुख-दुःख का कथन काव्य का मुख्य वर्ण्य है। अत ऐसी धारणाओं को पुन उद्धृत करना विषय का अनावश्यक विस्तार होगा। "बच्चन" ने "रवि जहाँ जाता नहीं है, खेल में जाता वहाँ मैं"[1] कह कर "जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि" की प्रसिद्ध उक्ति के अनुकूल काव्य के विषयों को असीम माना है। इसीलिए जीवन के सामाजिक पक्ष के प्रति कवि की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के महत्व का स्वीकार करने के अतिरिक्त उन्होंने देश-प्रेम की अनुभूतियों के उल्लेख को भी काव्य का विशिष्ट वर्ण्य माना है। यथा—

(अ) "काव्य-कल्पना के डैनों पर चढ़ मैं उड़ता जाऊँ,
बहुत दूर जा कर भी अपने भारत को न भुलाऊँ।"[2]

(आ) "न आज स्वप्न-कल्पना-सुरा छको,
न आज बात आसमान की बको।
स्वदेश पर मुसीबतें, मुलेखको,
उसे प्रदान आज लेखनी करो।"[3]

इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि काव्य में कल्पनाजनित मोहक चित्रों के अतिरिक्त राष्ट्र प्रेम जैसे उदात्त विषय को भी स्थान प्राप्त होना चाहिए। इस धारणा की सारवत्ता के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती, किन्तु "बच्चन" का काव्य इस बात का साक्षी है कि उन्होंने देश प्रेम को कविता का मूल विषय नहीं माना है। उनकी रचनाओं का मूल स्वर व्यक्तिगत अनुभूतियों का उल्लेख है

"बच्चन" की भाँति *भगवतीचरण वर्मा* ने भी मानव-जीवन के अनुभूति सिद्ध उल्लेख को प्रमुख काव्य वर्ण्य माना है। इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष उक्तियाँ काव्य के तत्वों की आलोचना करते समय उद्धृत की जा चुकी है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भी यह प्रतिपादित किया है कि कवि को जग के अभावों का उल्लेख करना चाहिए। "कवि का स्वप्न" और "कवि जी" शीर्षक कविताओं में प्रकृति और लौकिक प्रेम की कल्पनाओं में मग्न कवि को भौतिक अभावों की भूमि पर उतरने का सन्देश दिया गया है। उदाहरणस्वरूप इन कविताओं से क्रमश निम्नलिखित अवतरण देखिए—

(अ) "कवि सहसा सिहरा, काँप उठा सुन भूखे बच्चों का रोदन,
पत्नी की पथराई आँखों में केन्द्रित था जग का क्रन्दन,

---

[1] बुद्ध और नाचघर, पृष्ठ १०७
[2] प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २, पृष्ठ ४६
[3] धार के इधर-उधर, पृष्ठ ६६

गन्दे से टूटे कमरे में होता अभाव का था नर्तन
कवि खड़ा हो गया पागल सा उसके उर में थी कौन जलन ?"[1]

(आ) "उस दिन में कुछ उखड़ा सा या कुछ डरे हुए से थे कवि जी,
मैं सुनता था जग का रोना, वे कहने पर थे तुले निजी !
मैं सोच रहा था मानव को हैं दाने-दाने के लाले,
वे आसमान पर उड़ते थे अपने वैभव में मतवाले !"[2]

इन अवतरणों में कल्पना के अतिरेक के स्थान पर सामाजिक अनुभूतियों की समृद्धि को कवि का धर्म माना गया है। यह दृष्टिकोण कवि पर प्रगतिवादी प्रभाव का फल है। काव्य में समाज-दर्शन को अभिव्यक्ति देने में तो कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु कल्पना का सन्तुलित आधार भी उतना ही महत्वपूर्ण है। आलोच्य कवि ने उपर्युक्त अवतरणों में कल्पना की उपेक्षा की है, किन्तु यथार्थ में अनुभूति प्रधान विषय को भी कल्पना के स्पर्श से आलोकित करना कवि के लिए स्वाभाविक है। यह कवि की अपनी इच्छा है कि वह जग जीवन के दैन्य की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दे, किन्तु कल्पना का एकान्त तिरस्कार वहाँ भी नहीं हो सकता—कम से कम कवि भावी सांस्कृतिक स्वर्णोदय की कल्पना तो कर ही सकता है।

काव्य-शिल्प

आलोच्य कवियों में *श्री हरिवंशराय "बच्चन"* ने काव्य शिल्प के अन्तर्गत केवल छन्द की समीक्षा की है। उन्होंने भावानुकूल छन्द-योजना को काव्य का स्वाभाविक गुण माना है। इस सम्बन्ध में उनका वक्तव्य इस प्रकार है—"कविता में भाव, भाषा और छन्द का अटूट सम्बन्ध है। कोई छन्द लिया जाय तो उसमें सम्बद्ध भाव और उसमें ढली भाषा सहज ही आ जाती है। × × × × × किसी विशेष प्रकार के भाव किन्हीं विशेष प्रकार की भाषा और छन्द की अवतारणा करते हैं।"[3] पूर्ववर्ती कवियों द्वारा भावानुसार छन्द विधान का उल्लेख होने पर भी छन्द और भाषा के अविच्छिन्न सम्बन्ध की यह चर्चा अपेक्षाकृत नवीन है।

छन्द को भावना और भाषा से सम्बद्ध मानने के अतिरिक्त "बच्चन" ने मुक्त छन्द और कतिपय विदेशी छन्दों (सानेट, उर्दू-छन्द और रुबाई) के स्वरूप की सजग समीक्षा की है। उनकी छान्दसिक मान्यताएँ रूढ़िगत न हो कर विकासशील हैं अर्थात् उन्होंने छन्द के क्षेत्र में नवीनताओं का स्वागत किया है। उनके शब्दों में, "यदि काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब है तो इसमें तुकान्त छन्द, अतुकान्त छन्द और मुक्त छन्द सब की सार्थकता है।"[4] इस धारणा के फलस्वरूप उन्होंने मुक्त छन्द के स्वरूप-निर्धारण में पर्याप्त सहृदयता

---

१. सरस्वती, मार्च १९३७, पृष्ठ २०९
२. रूपाभ, फरवरी १९३९, पृष्ठ ५२
३. मेरा रूप तुम्हारा दर्पण (बालस्वरूप "राही"), भूमिका, पृष्ठ ४
४. बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ १०

का परिचय दिया है। मात्रा, गति और तुक-सम्बन्धी परम्पराओं के प्रति आग्रह न रखने के कारण यह छन्द कवि की स्वतन्त्रचेता मनोवृत्ति का परिचायक है—"मुक्त छन्द (वह है) जिसकी पंक्तियों में मात्रा और लय की समता रूढ़ि न बन गई हो और न तुक पर ही आग्रह हो।"[१] इस उद्धरण में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं है, किन्तु "बच्चन" की अन्य मान्यताएँ (मुक्त छन्द में लय, गद्यवत् भाषा और जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को स्थान देने का प्रतिपादन) महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी ये पंक्तियाँ देखिए—

(अ) "मुक्त छन्द में लिखने वालों का एक और भ्रम में दूर करना चाहूँगा कि इस प्रकार की कविता अकेले में बैठ कर आँखों से पढ़ने के लिए है। गम्भीर से गम्भीर कविता को स्वर से तलाक दिला देने की बात मेरे मन में नहीं बैठती।"[२]

(आ) "मुक्त छन्द के द्वारा गद्य और काव्य की भाषा का विपर्यय भी घटाया जा सकता है।"[३]

(इ) "अगर मुक्त छन्द को यह समझ कर अपनाया जाय कि जीवन की कुछ-कुछ क्यों, बहुत सी ऐसी समस्याएँ हैं जो केवल उसके द्वारा ही मुखरित की जा सकती हैं तो उसके विकास और विविधता की सम्भावनाएँ असीमित हैं।"[४]

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि मुक्त काव्य में लयात्मकता, गद्य की भाषा जैसी सरल स्वाभाविकता और जीवन की अनुभूतियों की प्रेरणा अपेक्षित है। प्रगीतकार होने के नाते संगीत गति के प्रति उनकी रुचि स्वाभाविक है। अनुभूति को काव्य का मूल तत्व मानने के कारण उन्होंने मुक्त काव्य में भी जीवन की समस्याओं की अभिव्यक्ति को देखना चाहा है। इसी प्रकार अनुभूति प्रधान रचनाओं में भाषा की सहजता की सार्थकता भी स्वयं सिद्ध है। मुक्त छन्द के अन्य विवेचकों में से "निराला" ने उसमें लय-तत्व के महत्व की चर्चा की है, किन्तु शेष दोनों विशेषताओं का उल्लेख करने का श्रेय "बच्चन" को है। मुक्त छन्द की भाषा को गद्य की भाषा के निकट लाने का प्रयास साधारणतः चिन्तनीय हो सकता है किन्तु आलोच्य कवि ने उसमें लय को प्रधान मान कर कवित्व गुण का ह्रास नहीं होने दिया है। मुक्त छन्द को सफल और जनप्रिय बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें मानव जीवन की सहज लय की उपेक्षा न की जाए।

मुक्त छन्द के उपरान्त "बच्चन" का विवेच्य विषय है काव्य में विदेशी छन्दों का प्रयोग। श्री बालकृष्ण राव की "रात बीती" शीर्षक कृति की समीक्षा करते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी के सानेट छन्द की इन शब्दों में चर्चा की है, "सानेट की काया में केवल एक ही भाव या विचार समाहित किया जा सकता है।"[५] सिद्धान्त विवेचन के लिए

---

१ बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ ६

२ बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ २०

३ बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ १६

४ बुद्ध और नाचघर, भूमिका, पृष्ठ १६

५ सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४१, संख्या ४, संवत् २०१२, पृष्ठ ८५

अपेक्षित व्यापकता के न होने पर भी यह कथन इसलिए महत्वपूर्ण है कि प० लोचनप्रसाद पाडेय के उपरान्त सानेट के विश्लेषण पर उन्होंने ही विचार किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, "हरिऔध", लोचनप्रसाद पाडेय और "निराला" की भाँति हिन्दी-कविता में उर्दू-छन्दों के प्रयोग का भी विवेचन किया है। उर्दू-छन्दों के प्रयोग का विरोध उन्हें अभीष्ट नहीं है, किन्तु वे उनके अन्धानुकरण से असहमत हैं—"उर्दू के छन्दों को स्वीकार करने से इस बात का खतरा है कि लेखक विवशता से उर्दू के शब्द भावों की धारा में बह जाय। यह हमें स्पष्टता से समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का जन्म उसी चीज को दुहराने के लिए नहीं हुआ जिसे उर्दू कह चुकी है।"[1] स्पष्टत यहाँ इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है कि किसी अन्य भाषा के छन्दों का प्रयोग करते समय कवि को अपनी भाषा के गुणों का विस्मरण न कर देना चाहिए। यह कथन कवि के सन्तुलित विवेक का परिचायक है—वे अन्य भाषाओं के छन्दों के प्रति असहिष्णु नहीं हैं, किन्तु उदारता की भी एक सीमा होती है।

उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने फारसी के रुबाई छन्द की भी समीक्षा की है। वस्तुत हिन्दी कविता में रुबाई को प्रचलित करने और उसके सैद्धान्तिक रूप को स्पष्ट करने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने रुबाई के बाह्य रूप का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि "रुबाई का शाब्दिक अर्थ है चौपाई, चौपदा या चतुष्पदी।"[2] श्री अब्दुल अजीज हनफ़ी "अमीक" ने "कुछ रुबाई के बारे में" शीर्षक लेख में "रुबाई" की व्युत्पत्ति "अरबअ्" शब्द से मानी है—"रुबाई शब्द का अर्थ है चार मिसरों वाली। अरबी में अरबअ् चार को कहते हैं।"[3] प्रस्तुत छन्द के चरणों में तुक निर्वाह के विषय में "बच्चन" ने यह मत व्यक्त किया है—"रुबाई एक विशेष प्रकार के छन्द का नाम है जिसमें पहली पंक्ति का तुक दूसरी पंक्ति के तुक से मिलता है, तीसरी पंक्ति का तुक विभिन्न होता है और मन में चौथे तुक की प्रत्याशा जगाता है जो फिर पहली और दूसरी पंक्ति का होता है"[4] यह मत भी फारसी के रुबाई छन्द को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया गया है। डॉ० अली असगर हिक्मत के अनुसार "सभी रुबाइयों का छन्द एक ही है और उनकी प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ अर्धालियाँ परस्पर तुकान्त होती हैं।"[5] रुबाई के बहिरंग की समीक्षा के अतिरिक्त "बच्चन" ने उसके भाव-पक्ष पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार उसमें मूलत मानवीय वेदनाओं का चित्रण रहता है—आशा, निराशा और अभावों का मार्मिक उल्लेख ही उसकी विशेषता है। यथा—"रुबाईयात मनुष्य की जीवन के प्रति आसक्ति और जीवन की मनुष्य के प्रति उपेक्षा का गीत है। × × × × × यह गीत जीवन-मायाविनी के प्रति मानव का एकान्तिक प्रणय निवेदन है। × × × × × रुबाइ-

१. मेरा रूप तुम्हारा दर्पण (कान्तमहल "ग्रन्थी"), भूमिका, पृष्ठ ६
२ मधुशाला, पृष्ठ २५
३ सरस्वती, मार्च १९५६, पृष्ठ १६२
४. खैयाम की मधुशाला (कमला चौधरी), भूमिका, पृष्ठ ३
५. फारसी साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ १५२

यात सुख का नहीं दुख का गीत है, सन्तोष का नहीं असन्तोष का गान है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रुबाई में किसी मार्मिक अनुभूति का संगीतमय कथन रहता है और यह छन्द कुछ विशेष भावों के लिए रूढ़ हो गया है। तथापि रुबाई में केवल इतने ही विषयों के वर्णन की सीमा नहीं होती, इनके अतिरिक्त नैतिक आदर्शों का कथन भी इसकी अपनी विशेषता है। इस सम्बन्ध में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का यह कथन द्रष्टव्य है—"फारसी में रुबाई चार मिसरों का छन्द होता है, जिसमें नीति या उपदेश की बड़ी-बड़ी बातें थोड़े शब्दों में सुन्दर तथा रूढ़ोक्तिपूर्ण (मुहावरेदार) भाषा में कही जाती हैं।"[2] नैतिकता के अतिरिक्त दार्शनिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण भी रुबाई का स्वाभाविक गुण है। डॉ० अली असग़र हिकमत के अनुसार, "इसमें सामान्यतया रोमानी भावनाएँ, दार्शनिक या रहस्यवादी विषय अथवा दैनंदिन की समस्याएँ वर्णित रहती हैं।"[3] रुबाई के विषय में 'बच्चन' की मान्यताओं के अपूर्ण होने का कारण स्पष्ट है—यह विदेशी छन्द है, अतः इसके विषय में उपलब्ध तथ्य और कवि के अपने अनुभव स्वभावतः सीमित होंगे। तथापि उनका महत्त्व इस बात में है कि हिन्दी में इस छन्द का विवेचन करने वाले वे प्रथम कवि हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने काव्य-शिल्प के अन्तर्गत भाषा और छन्द का विवेचन किया है। उन्होंने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों की भाँति प्रसाद गुण को काव्य का आदर्श माना है—"दुरूहता को मैं कला के क्षेत्र में दोष समझता हूँ।"[4] अभिधा वृत्ति के प्रति आस्था रखने के कारण उन्होंने व्यंजना अथवा ध्वनि को भाषा का परम गुण न मान कर स्पष्टता को ही कवि का साध्य कहा है—"संकेतवाद की महत्ता स्वीकार करते हुए भी मुझे उसमें विश्वास नहीं। मैं तो सीधी-सादी बात में पूर्ण प्रभाव भर देने में विश्वास करता हूँ।"[5] काव्य में प्रसाद गुण की निर्मल व्याप्ति से उसका अर्थ स्वतः भासित होता है, किन्तु नैसर्गिक प्रसादत्व को संकेतमयी अभिव्यंजना से समृद्ध करने के प्रति कवि को उपेक्षा-भाव न रखना चाहिए। तथापि यह स्मरणीय है कि संकेत विधान के लिए कृत्रिम शब्द-योजना कवि का आदर्श नहीं है, अन्यथा काव्य में रस की प्रतिष्ठा को भी हानि पहुँचती है। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप आलोच्य कवि ने काव्य-पुरुष के शरीरांगों में भाषा का महत्व स्वीकार तो किया है, किन्तु वे उसके लिए रस का बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने व्याकरणिक नियमों की जटिलता को कवि भावना की स्वाभाविकता में बाधक माना है—

"यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि रस को उत्पन्न करने के लिए हमें कहीं-कहीं शुद्ध व्याकरण को भी बलिदान करना पड़ता है। यह व्याकरण के नियमों का उल्लंघन हमें केवल कविता को गति प्रदान करने के लिए करना पड़ता है।"[6]

१. खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ १३-१४
२. समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ ७८२
३ फारसी साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ १५२
४. विस्मृति के फूल, भूमिका, पृष्ठ ३
५ प्रेम-संगीत, दो शब्द, पृष्ठ १५
६ मधुकण, भूमिका, पृष्ठ २६

भगवतीचरण जी ने छन्द के विवेचन में "बच्चन" की भाँति श्रम नहीं किया है, तथापि उनकी धारणाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने छन्द को कविता का नित्य धर्म माना है। यथा—"वही कविता समाज द्वारा स्वीकृत होगी जो दूसरों का मनोरंजन कर सके। छन्द और अनुप्रास दूसरों के मनोरंजन में कविता के सहायक रहे हैं। आज की जो कविताएँ जनता द्वारा पढ़ी जाती हैं और प्रशंसित हैं, वे छन्द और अनुप्रास के सहारे ही मनोरंजन करती हैं।"[1] काव्य में छन्द का निर्वाह कवि की व्यक्तिगत रुचि और सामर्थ्य पर निर्भर करता है। तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि छन्द का यथावत् विधान न करने पर भी रचनाकार को छन्द की आत्मा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इससे कविता में लय के विधान में विशेष सुन्दरता रहेगी। छन्द रचना के प्रति आग्रह रखने के कारण वर्मा जी ने मुक्त छन्द का सर्वथा तिरस्कार किया है—

"मेरे विचार से तो मुक्त काव्य में जितना सौन्दर्य गति से प्रदान किया जाता है वह व्याकरण के नियमों के उल्लंघन से हर लिया जाता है। इसलिए मुक्त काव्य यदि गद्य से अधम नहीं तो उससे अच्छा भी नहीं कहा जा सकता। कला के क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं।"[2]

यहाँ मुक्त छन्द के प्रति कवि की असहिष्णु प्रवृत्ति सहज व्यंजित है। मुक्त काव्य को लय से अनुप्राणित मान कर भी उन्होंने उसे व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों से दूषित माना है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। काव्य में गति-योजना का फल व्याकरण विरोध नहीं है, सत्य तो यह है कि प्रवाहमयी कविता में साधारण व्याकरणिक व्यतिक्रमों की चिन्ता ही नहीं की जाती। काव्य भाषा का विवेचन करते समय प्रस्तुत कवि ने इस मत पर स्वयं भी बल दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्व निश्चयों के आरोपण के कारण उन्होंने मुक्त छन्द का विवेचन नहीं किया है।

स्फुट काव्य-सिद्धान्त

उपर्युक्त काव्य-सिद्धान्तों के अतिरिक्त "बच्चन" ने काव्य के अधिकारी और काव्यानुवाद के विषय में स्फुट विचार व्यक्त किए हैं, किन्तु भगवतीचरण वर्मा की इस ओर प्रवृत्ति नहीं रही है। आगे हम इन काव्य-मतों की क्रमशः समीक्षा करेंगे।

१. काव्य के अधिकारी

"बच्चन" ने काव्य-पदावली के स्थूल अर्थ को सहज बोध्य माना है, किन्तु वे उसके विशिष्ट अर्थ को सर्वजनसुलभ नहीं मानते। उन्होंने अनुभूति को काव्य की आधार-भूमि माना है। यही कारण है कि जहाँ काव्यगत विचार-तत्व को बुद्धि के द्वारा ज्ञान किया जा सकता है, वहाँ भावात्मक कविताओं को समझने के लिए हृदय-तत्व का सहयोग अपेक्षित होता है। इस विषय में उनके विचार इस प्रकार हैं—"शब्दों के पर्दे को उठा कर

१. आजकल, जनवरी १९५६, पृष्ठ ४४
२. मधुकण, भूमिका, पृष्ठ २६-२७

कवि की भावनाओं को हृदयगम करना कठिन काम है। साधारण ज्ञान और बुद्धि रखने वाला मनुष्य भी कठिन से कठिन कविता के शाब्दिक अर्थ को प्रयत्न करने से जान सकता है, परन्तु भावनाओं को समझने के काम में बुद्धि और ज्ञान कुछ भी काम नहीं देते। किसी कविता का अर्थ तटस्थ रह कर भी जाना जा सकता है पर भावनाओं को समझने के लिए अपने को कवि के साथ एक करना पड़ता है। साहित्य को समझने के लिए जीवन के अनुभव की आवश्यकता होती है।"[1] इन उद्धरण से स्पष्ट है कि काव्य का आस्वाद केवल बुद्धि का विषय न हो कर प्रतिभा और सहृदयता से सम्बद्ध है। वस्तुत यहाँ साधारणीकरण सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पाठक को यह सन्देश दिया गया है कि काव्य के अर्थ-ग्रहण के लिए उसे कवि प्रतिभा से तादात्म्य स्थापित करना चाहिए। कवि के समान रस-चेतना से युक्त सहृदय ही भाव प्रधान कविता को उचित रूप में हृदयगम कर पाता है। काव्य के रस को प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि यही है। इस विषय में उनके विचार अन्यत्र भी इस प्रकार मिलते हैं—

"साहित्य का आनन्द लेने के लिए भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है। यह तो प्रारम्भिक बात हुई। इसके पश्चात् साहित्य की वृत्ति पहचाननी और उसके साथ संवेदना रखनी पड़ती है। तभी कोई साहित्य अपने रस की गाँठ खोलता है।"[2]

२ काव्यानुवाद

काव्य के अनुवाद के लिए शब्दानुवाद और भावानुवाद की दो स्वीकृत प्रणालियाँ हैं, किन्तु इनमें से शब्दानुवाद का आश्रय लेने से भावात्मक कविता के अनुवाद में सजीवता का समावेश नहीं हो पाता। "बच्चन" ने अनुवाद-कला के इस सत्य को स्वीकार करते हुए ये विचार व्यक्त किए हैं—"अपने अनुवाद के विषय में मुझे केवल यह कहना है कि मैं शब्दानुवाद करने के फेर में नहीं पड़ा। भावों को ही मैंने प्रधानता दी है। साथ ही फिट्ज़जेरल्ड के कथनानुसार अनुवाद को सजीव बनाने का प्रयत्न किया है।"[3] अनुवाद में भावों की सजीवता के लिए अनुवादक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व अथवा रचनात्मक प्रतिभा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। "बच्चन" के अनुसार "सफल अनुवाद वह है जिसमें अनुवादक का व्यक्तित्व भी अपनी झलक दिखाता रहे। यह जहाँ दिखेगा, वहाँ रचना अनुवाद न हो कर मौलिक-सी प्रतीत होगी।'[4] यह दृष्टिकोण श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और 'दिनकर' को भी मान्य रहा है, किन्तु भावानुवाद का अभिप्राय यह नहीं है कि मूल कवि की शब्द-सम्पत्ति की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाए। कवि को छायानुवाद का आश्रय तो नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इससे मूल रचना के भाव-विभव के प्रति भी अन्याय हो सकता है, किन्तु भावान्तरण करते समय वह शब्दानुवाद की प्रवृत्ति का सर्वथा बहि-

१ खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ १५-१६
२ पल्लविनी (सुमित्रानन्दन पन्त), एक दृष्टिकोण, पृष्ठ ८
३ खैयाम की मधुशाला, भूमिका, पृष्ठ ६६
४ शेक्सपियर के सॉनेट (राजेन्द्र द्विवेदी), प्राक्कथन, पृष्ठ "ड"

प्कार नहीं कर सकता—अनुवाद को अविकल रखने के लिए इन दोनों का सहभाव आवश्यक है। "बच्चन" ने इस मत को इस प्रकार व्यक्त किया है—"इसका (मैकबेथ का) अनुवाद करने में मैंने चार विशेष लक्ष्य अपने सामने रखे थे—अनुवाद छायानुवाद न हो कर अविकल हो, शेक्सपियर के कवित्व की रक्षा की जाए, नाटक सामान्य शिक्षित-दीक्षित जनता के सामने खेला जा सके, और चरम लक्ष्य यह हो कि अनुवाद, अनुवाद न मालूम हो।"[1] इस अवतरण में भावानुवाद और शब्दानुवाद के सहयोग, मूल रचना के भावों के संरक्षण, (अभिनय की सुकरता के लिए) अनुवाद की भाषा की सरलता और प्रतिपादन की सजीवता पर बल दिया गया है। इनमें से भाषा की सरलता तो मूल कृति में वर्णित विषय पर अवलम्बित है, किन्तु अनुवाद के अन्य अंगों पर ध्यान देना प्रत्येक भाषान्तरकार का धर्म है।

इस स्थान पर यह भी विचारणीय है कि विदेशी कृति का अनुवाद करते समय अनुवादक का देश विशेष की सांस्कृतिक विभिन्नताओं को अनूदित कृति में किस रूप में समाविष्ट करना चाहिए? "बच्चन" का मत है कि अनुवादक को ऐसे अवसर पर मूल कृति में प्रतिपादित भावनाओं में परिवर्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि "किसी देश की कविता के साथ ही वहां का वातावरण इस रीति से जुड़ा रहता है कि उसे अलग करना उसके साथ अन्याय करना ही कहा जाएगा।"[2] हिन्दी कवियों की परम्परा में इस मन्तव्य को सर्वप्रथम "बच्चन" ने प्रस्तुत किया है। यह दृष्टिकोण स्पष्टतः मान्य है, क्योंकि इस सावधानी के अभाव में अनुवाद को हानि पहुँचती है। अनुवाद की उपर्युक्त विशेषताओं का निर्देश करने के अतिरिक्त उन्होंने उसमें कलागत सौन्दर्य के विधान के लिए भाषा और छन्द विषयक कतिपय नियमों का निर्वाह करने पर बल दिया है। भाषा में सजीवता की योजना के लिए उन्होंने मूल कृति में उपलब्ध सरल मुहावरों को यथास्थान प्रयुक्त करने का सन्देश दिया है। यथा—"फारसी और उर्दू के वे सरल-सुलभ मुहावरे जो हमारी भाषा और हमारे दिनानुदिन के जीवन में घुल मिल गए हैं उनका उन्होंने (श्रीमती कमला चौधरी ने) पूरा उपयोग किया है।"[3] यह दृष्टिकोण इस रूप में स्वीकार्य तो है, किन्तु अंग्रेजी से अनूदित कृति में स्थिति निश्चय ही इससे भिन्न होगी।

आलोच्य कवि ने अनूदित कृति में छन्द प्रयोग के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि किसी विशिष्ट छन्द में निबद्ध भावों को अन्य भाषा में रूपान्तरित करते समय उसी छन्द का आधार ग्रहण किया जाना चाहिए अन्यथा रूपान्तरित कविता के भाव-सौन्दर्य में क्षीणता आ सकती है। यथा—"छन्द और भाव में घनिष्ठ सम्बन्ध है। रुबाइयात का अनुवाद कुछ लोगों ने रुबाई के छन्द में ही रक्खा है—मेरा अनुवाद रुबाई छन्द में नहीं हो सका। मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि

---

१ मैकबेथ का पद्यानुवाद, भूमिका, पृष्ठ "भ"
२ खैयाम का जाम (कमला चौधरी), भूमिका, पृष्ठ ३
३ खैयाम का जाम, भूमिका, पृष्ठ ३

रुबाई छन्द छोड़ देने से कविता की भावाभिव्यंजना अवश्य कुछ कम हो गई है।"[1] यह मन्तव्य पूर्णतः स्वीकार्य नहीं है। हमारे विचार में कवि को अनुवाद करते समय मूल छन्द के निकट सम्पर्क में रहने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु इसकी अनिवार्यता कभी-कभी अव्यवहार्य भी हो सकती है—यद्यपि रुबाई छन्द इसके लिए अपवाद है। इस प्रसंग में उन्होंने यह भी व्यक्त किया है कि मूल छन्द में निहित भावों के लिए अनुवाद में उतना ही छन्द-विस्तार अपेक्षित है, किन्तु यदि अनुवादक ऐसा न कर सके तो इसे दूषण नहीं मानना चाहिए। यथा—"रुबाई का आदर्श तो यही है कि वह चार पंक्तियों में किसी भाव को पूर्ण कर दे, पर अनुवाद करते समय यदि यह आदर्श न निभ सके तो मैं इसे कोई अपराध अथवा त्रुटि नहीं समझता।"[2] उनके पूर्ववर्ती कवियों में श्रीधर पाठक ने पंक्ति प्रति पंक्ति अनुवाद के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत किये थे। यह सिद्धान्त भाषान्तरकार की स्वतन्त्रता का बोध कराता है। वस्तुतः छन्द की स्थिति भाषा के अनुकूल परिवर्तनीय होनी है—किसी एक भाषा में निश्चित छन्दों को अन्य भाषा में ज्यों का त्यों उपस्थित कर सकना सम्भव होने पर भी अनिवार्य नहीं होना चाहिए।

विशिष्ट काव्य-मत

काव्य में यथार्थ और आदर्श

साहित्य में यथार्थ और आदर्श की अभिव्यक्ति के प्रश्न पर केवल *भगवतीचरण वर्मा* के विचार उपलब्ध होते हैं। उन्होंने "यथार्थवाद और आदर्शवाद" शीर्षक लेख में इस समस्या पर प्रकीर्ण रूप से चिन्तन किया है और अन्त में इन दोनों के समन्वय की कामना की है—"साहित्य और कला का भाग होने के कारण आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों में ही कुरूपता को कोई स्थान नहीं। असद् और कल्याण से दोनों ही परे हैं। वस्तुतः प्रत्येक यथार्थवाद आदर्शवाद होना चाहिए जहां तक सद् और कल्याण को प्रतिपादित करने का प्रश्न है, और प्रत्येक आदर्शवाद को यथार्थवाद बनना चाहिए जहां तक शाश्वत सत्य और मान्यताओं का प्रश्न है।"[3] इस दृष्टिकोण की सारवत्ता स्वयं स्पष्ट है। यथार्थ और आदर्श को विरोधी विचार-धाराओं का रूप न देकर उन्हें समन्वित कर देना अपने आप में एक बहुत बड़ी सिद्धि है। छायावादी कवियों में "प्रसाद", महादेवी और रामकुमार वर्मा का दृष्टिकोण भी यही रहा है। इस लक्ष्य को दृष्टिपथ में रखने का अभिप्राय है सत्य और शिव अथवा अनुभूति और चिन्तन में सद्भाव की स्थापना पर बल देना। अतः यह स्पष्ट है कि यथार्थ और आदर्श के स्वरूप एवं महत्त्व का पृथक् रूप में विशेष निर्देश न करने पर भी आलोच्य कवि ने उनके सहयोग पर बल देकर परम्परा का विवेकपूर्ण पालन किया है।

---

१. खैयाम का जाम, भूमिका, पृष्ठ ३४
२. खैयाम की मधुशाला, टिप्पणी-खण्ड, पृष्ठ १५६
३. सरस्वती, जून १९५८, पृष्ठ ३१६

सिद्धान्त-प्रयोग

१ काव्य का अन्तरंग

"बच्चन" ने काव्य में भाव-सौन्दर्य के विधान के लिए इन तत्वों पर बल दिया है—(अ) उसमें रस, रागात्मकता और स्वाभाविक भावों की सम्पन्नता अपेक्षित है, (आ) अनुभूति की प्रधानता के कारण काव्य में मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति मुख्य रहती है, किन्तु उसमें कल्पना का तिरस्कार नहीं होना चाहिए। उन्होंने इन सिद्धान्तों के काव्यगत प्रतिफलन पर उचित ध्यान दिया है। वैयक्तिक अनुभूति से प्रेरित होने के कारण उनकी रचनाएँ रस और रागात्मकता से सम्पन्न हैं। स्वभावतः उनमें अभिव्यक्ति की सहजता का भी सर्वत्र प्रसार रहा है। उनकी उत्तरवर्ती रचनाओं में लोक-हित को गति प्रदान करने वाली भावनाओं के उल्लेख की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, किन्तु उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ कल्पना प्रधान हैं। परवर्ती कृतियों (आकुल अन्तर, निशा निमन्त्रण, एकान्त संगीत, आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर) में अनुभूति की प्रमुखता रही है, किन्तु उसके पार्श्व में कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। काव्यगत व्यक्ति-तत्व का विवेचन करते समय उन्होंने वेदनाभिव्यक्ति और विषय वैविध्य पर विशेष बल दिया है। उनकी रचनाओं में वेदना की प्रायः सर्वत्र व्याप्ति रही है, किन्तु "हलाहल", "निशा निमन्त्रण" और "एकान्त संगीत" में इस प्रवृत्ति को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। "सूत की माला" और "खादी के फूल" में वेदना के वैयक्तिक आधार के अतिरिक्त मानव-मात्र की पीड़ा को वाणी देने का प्रयास किया गया है। विषय-वैविध्य की दृष्टि से उनकी रचनाओं में जीवन-संघर्ष, प्रणय और प्रकृति को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त 'बंगाल का काल', "सूत की माला" और "खादी के फूल' में स्वदेश प्रेम को भी स्थान मिला है।

"बच्चन" के ज्येष्ठ सहयोगी कवि *भगवतीचरण वर्मा* ने काव्य में अन्तरंग सौन्दर्य के विधान के विषय में लगभग उन-जैसे विचार ही व्यक्त किए हैं। रसमयी रचना की दृष्टि से "प्रेम-संगीत" की कविताएँ विशेषतः द्रष्टव्य हैं और जीवन की स्वस्थ, स्वाभाविक एवं मौलिक अभिव्यक्ति का प्रयास उनकी अन्य रचनाओं में भी मिलता है। कल्पना के स्थान पर अनुभूति की तीव्रता के प्रति वे "मधुकण" के रचना-काल से ही सजग रहे हैं। "प्रेम-संगीत" में मुक्तक एकान्तिक अनुभवों को और "मानव" में प्रधानतः लोक-सम्बद्ध अनुभूतियों को स्थान देकर उन्होंने इसी सजगता का परिचय दिया है। "मानव" की अनेक कविताओं (कवि का स्वप्न, जीवन-दर्शन, विषमता, भैंसागाड़ी, ट्राम, राजा साहब का वायुयान, कवि जी का कितना विशद ज्ञान आदि) में भौतिक प्रभावों को महत्व देकर उन्हें वैज्ञानिक ढंग से निरूपित करने का भी प्रयास किया गया है अर्थात् ऐसी कविताओं में भावना के अतिरिक्त विचार-तत्व को भी स्पष्ट अभिव्यक्ति है।[1] इन कविताओं पर प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है, किन्तु यहाँ यह उल्ले-

---

१. देखिए "मानव", पृष्ठ ३६ ३८, ६६-६५

खनीय है कि प्रगतिवाद कवि की प्रतिनिधि मान्यता नहीं है—उनका विश्वास वैयक्तिक कविता पर ही है। इस सम्बन्ध में इस उक्ति को प्रमाण माना जा सकता है—"मुझे प्रयोगों पर विश्वास है, मुझे प्रगति पर विश्वास है, पर प्रयोगवाद या प्रगतिवाद पर मुझे विश्वास नहीं है।"[1] अतः उपर्युक्त कविताओं में उपलब्ध प्रगतिवादी मनोवृत्ति को भी कवि के व्यक्तित्व का उन्मेष ही माना जा सकता है।

२ काव्य का कला-पक्ष

प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत आलोच्य कवियों के गीति काव्य और काव्य शिल्प-सम्बन्धी विचारों के व्यावहारिक रूप का अध्ययन अभीष्ट है। "बच्चन" ने गीत में एक ही भाव की स्वतन्त्र और परिपूर्ण अभिव्यक्ति पर बल दिया है—उनके गीतों में इस नियम का व्याघात उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि वे स्वतन्त्र व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आश्रित हैं। "बंगाल का काल" तथा "बुद्ध और नाचघर" में मुक्त छन्द का प्रयोग करते समय भी वे अपने विचारों के सहज प्रतिफलन के प्रति सजग रहे हैं। इन रचनाओं में तुक के प्रति आग्रह न रख कर उसका सुविधानुसार प्रयोग हुआ है और लय, भाषा की सहजता तथा अनुभूति की विविधता की ओर उचित ध्यान दिया गया है। 'मधुशाला' और "हलाहल" में रुबाई विषयक विचारों के निर्वाह में भी कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। हाँ, सानेट और उर्दू-छन्दों के विषय में उनके विचार सिद्धान्त-चर्चा तक ही सीमित हैं, फिर सिद्धान्त भी इतने संक्षिप्त हैं कि उनके आधार पर रचना की व्यावहारिक स्थिति का परीक्षण नहीं किया जा सकता। *कवि भगवतीचरण वर्मा* ने गीत में लय और भावात्मकता के समावेश की चर्चा की है। "मधुकण", "मानव" और 'प्रेम-संगीत' में संकलित फुटकर गीतों में इन विशेषताओं की सहज व्याप्ति रही है। काव्य शिल्प के अन्तर्गत भाषा की सहजता को सिद्धान्त-रूप में महत्त्व देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यवहार में भी उसे आदर्श माना है। इसी प्रकार गीतों के अतिरिक्त छन्दोबद्ध कविताएँ प्रस्तुत कर उन्होंने छन्द के प्रति अपनी आस्था को भी सहज व्यवहार्य रखा है।

३ इतर काव्य सिद्धान्त

इस स्थान पर विवेच्य कवियों की काव्यानुवाद और विशिष्ट काव्य-मत-विषयक धारणाओं के कृतिगत रूप की समीक्षा अपेक्षित है। "बच्चन" ने "खैयाम की मधुशाला", 'मैकबेथ" और "ओथेलो" में अनुवाद की विशेषताओं (भावानुवाद का शब्दानुवाद से समन्वय, मूल भावों की सुरक्षा, प्रसन्न पदावली, सजीव प्रतिपादन और मूल छन्द के अनुरूप छन्द-विस्तार) का प्रायः निर्वाह किया है। इस सम्बन्ध में उनके अनुवादों में साधारण अपवाद मिलते अवश्य हैं, किन्तु वे चिन्तनीय नहीं हैं। इसी प्रकार *भगवतीचरण वर्मा* ने भी कविता में यथार्थ और आदर्श के समावेश के विषय में अपने सिद्धान्तों का उचित निर्वाह किया है। "प्रेम-संगीत" और "मानव" में यथार्थ और आदर्श

1. विस्मृति के फूल, भूमिका, पृष्ठ ३

को वर्ण्य विषय के अनुसार स्थान देने पर भी उनका अन्तिम लक्ष्य इनमें समन्वय की स्थापना करना है। "त्रिपथगा" में इस उद्देश्य की सहज सिद्धि हुई है।

विवेचन

प्रस्तुत प्रकरण में अन्य अध्यायों की तुलना में काव्यांग चर्चा की सक्षिप्तता को देखते हुए "बच्चन" और भगवतीचरण वर्मा की धारणाओं के विवेचन और तदुपरान्त उनके समन्वित विवेचन को एक साथ प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त और सुविधाजनक रहेगा। आलोच्य कवियों ने काव्य-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करने में एक-जैसा उत्साह दिखाया है, किन्तु उनकी उपलब्धियों में अन्तर है। जहाँ "बच्चन" ने गीतिकाव्य, छन्द और वैयक्तिक कविता के विवेचन में मौलिकता दिखाई है वहाँ भगवतीचरण वर्मा ने पूर्व प्रतिपादित मान्यताओं का ही पुनर्कथन किया है—यहाँ तक कि उनके वैयक्तिक कविता-विषयक विचारों में भी पुनरावृत्ति है। "बच्चन" ने रुबाई छन्द, काव्य के अधिकारी और काव्यानुवाद की सम्यक् समीक्षा करके भी यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवती बाबू की अपेक्षा वही इस दिशा में अधिक सक्रिय रहे हैं। उनका प्रतिपादन यत्र-तत्र भावुकता से प्रेरित रहा है, तथापि विचारों की सहज तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण उनका प्रयास अभिनन्दनीय है। आलोच्य कवियों की मान्यताओं का पूर्ववर्ती काव्य धाराओं के अन्तर्गत प्रस्तुत किए गए विचारों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी यही कहा जा सकता है कि उन्होंने मुख्यतः रुबाई छन्द और वैयक्तिक कविता के विषय में तथा सामान्यतः गीति काव्य के विषय में मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। उनकी अन्य काव्य मान्यताएँ पूर्णतः परम्पराप्रेरित हैं। पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उन्होंने भी कतिपय काव्यांगों का सक्षिप्त अथवा अर्द्धव्यक्त विवेचन प्रस्तुत किया है—काव्य की आत्मा, काव्य वर्ण्य और काव्य भाषा के विषय में उनके विचार ऐसे ही हैं।

मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैयक्तिक कविता के रचयिताओं ने पूर्ववर्ती काव्य-मान्यताओं से यथास्थान लाभ उठाते हुए यत्र-तत्र उन्हें वैयक्तिक स्पर्शों से पुष्ट किया है। रुबाई के विषय में "बच्चन" का विवेचन हिन्दी के लिए मूल्यवान् है और काव्य में व्यक्ति-तत्व की प्रतिष्ठा के लिए भी इन दोनों कवियों का प्रयास महत्वपूर्ण है। उनके काव्यांग विवेचन में मौलिकता अधिक नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वे आलोचक के लिए अपेक्षित चिन्तन शक्ति से समृद्ध हैं। उनके अधिकांश विचार परम्परा के अनुकूल अवश्य हैं, किन्तु वे अनुकृत नहीं हैं—उनके पीछे कवियों की अपनी अनुभूति का आलोक विद्यमान है। उनके काव्य का मूल तत्व है अनुभूति—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों ने कवि के अनुभवों को लोक सम्बद्ध रखने पर बल दिया है, किन्तु वैयक्तिक कवियों ने एकान्तिक अनुभूति को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना है। इसमें कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि कवि सामाजिक होने पर भी व्यक्ति ही है।

: ८ :

प्रगतिवादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

आधुनिक युग मे प्रगतिवादी काव्य-धारा का उद्भव सवत् १९९४ के लगभग छायावादी काव्य-पद्धति के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। अत इस काव्य का विकास विगत दो दशाब्दियो म ही हुआ है। इस अवधि मे काव्य रचना की दृष्टि से अनेक कवियों ने योग दिया है, किन्तु सिद्धान्त-प्रतिपादन मे सब की रुचि नहीं रही है। केवल नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल "अचल" और शिवमगलसिंह 'सुमन' ने काव्य के अधिकाश अगों का प्रगतिवाद के आलोक मे अध्ययन किया है। उनके अतिरिक्त सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारीसिंह "दिनकर" और नागार्जुन ने प्रगतिवाद के स्वरूप विवेचन मे भाग लिया है। इनमे से पन्त और 'दिनकर" के अन्य काव्य-विचारो का पूर्ववर्ती परिच्छेद म उल्लेख हो चुका है और नागार्जुन ने उनके विवेचन म विशेष भाग नहीं लिया है। आलोच्य कवियो न प्रगतिवाद के प्रति विशेष आग्रह के फलस्वरूप अपनी काव्य विषयक मान्यताओ को पूर्ववर्ती कवियो की भाँति स्वतन्त्र रूप मे प्रस्तुत नहीं किया है। इस नवीनता के फलस्वरूप उनकी धारणाओ मे पारस्परिक समानता का भी अनिवार्य रूप से समावेश हो गया है। अत नरेन्द्र शर्मा, "अचल" और "सुमन' की मान्यताओं का पृथक्-पृथक् विवेचन न कर प्रत्येक काव्याग के अनुसार उन पर एक-साथ विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

काव्य का स्वरूप

प्रगतिवादी कवियो ने कल्पित अनुभवो और सूक्ष्म भाव-स्वप्नों को काव्य की प्रकृति के अनुकूल न मान कर सामयिक सामाजिक अवस्थाओ और राजनैतिक समस्याओं के आधार पर काव्य की नवीन परिभाषा प्रस्तुत की है। उन्होंने कवि को सामाजिक दायित्व का सवहनकर्ता मान कर सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। इस प्रसग मे देश-काल के युगानुरूप उल्लेख का सिद्धान्त भी उन्हें स्वीकार्य रहा है। नरेन्द्र शर्मा ने "कला चिरजीवी" शीर्षक लेख मे भौतिक जीवन की वास्तविकताओं के आधार पर काव्य की यह समाजवादी व्याख्या प्रस्तुत की है—"**कला को जीने के लिए, चिरजीवी बनने के लिए ऐसे सन्देश का वहन करना होगा जो सामाजिक व्यवस्था को बदलने में समर्थ हो × × × × × सामाजिक क्रान्ति और योजना के अनुसार सामाजिक पुनर्निर्माण के पक्ष में कलाकार को आना चाहिए।**"[1] यहाँ वर्ग सघर्ष से सम्बद्ध

[1] हस, मार्च १९४१, पृष्ठ ५१२-५१३

समकालीन प्रश्नों को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली से हल करने और सामाजिक परिवर्तनों की क्रान्तिकारी रूपरेखा प्रस्तुत करने को काव्य का आदर्श माना गया है। यह धारणा कार्ल मार्क्स की विचार धारा से प्रभावित है, अतः "सामाजिक पुनर्निर्माण" के अभिप्राय को मार्क्स के शब्दों में व्यक्त करना ही उचित होगा। इस विषय में शिवदानसिंह चौहान की यह उक्ति द्रष्टव्य है—"मार्क्स के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह जगत् को और मानव-जीवन को शोषण से मुक्त, इसकी सम्पदा को सर्वजनसुलभ और समाज को समृद्ध और प्रगतिशील बनाने के लिए इसके वर्तमान आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों, नैतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-मूल्यों को बदलने का लक्ष्य और मार्ग बताता है।"[1] स्पष्ट है कि जनवादी साहित्य में श्रेणी-संघर्षों अथवा वर्ग द्वन्द्वों का युगनियामक उल्लेख होता है। उसकी सार्थकता इसी में है कि लेखक समकालीन जीवन के प्रति उन्मुख होने में गौरव का अनुभव करे।

उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवियों ने काव्य को आत्मवादिता की परिधि से मुक्त कर उसमें समाजवादी विवेक अथवा सामूहिक क्रान्ति-दर्शन को अनिवार्य माना है। इस सम्बन्ध में "अचल" का मत इस प्रकार है—"कविता सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और कवि के सामाजिक अनुभवों की स्वतन्त्र वर्णना है।"[2] यह वक्तव्य काव्य में सामाजिक अनुभवों की प्रधानता का बोध कराता है। प्रगतिवादी साहित्यकारों ने सामाजिक अनुभूति की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से व्याख्या की है। इसीलिए "अचल" ने लिखा है—"साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक संग्राम का व्यक्तीकरण है।"[3] कविता जीवन की सम-विषम वृत्तियों में सामञ्जस्य की स्थापना करती है। प्रगतिवादी विचार-पद्धति इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उसमें समाज के लिए उपयोगी चिन्तन को प्राथमिकता दी जाती है। व्यक्ति-तत्व को अहंवादी अभिव्यक्ति काव्य का लक्ष्य नहीं है, अतः उसमें समाज विकास की नवीन सम्भावनाओं का चित्रण होना चाहिए। इस सम्बन्ध में "अचल" की धारणा इस प्रकार है—

"साहित्य सदैव मानव समाज की स्वाधीनता के लिए किया गया विचारात्मक और कलात्मक उद्योग है जो व्यक्तिवादी समाज में सम्पूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक स्वाधीनता का प्रवर्तक होता है।"[4]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रगतिवादी लेखक जन-संघर्ष के चित्रण और सामाजिक पुनर्निर्माण के सन्देश को काव्य का गुण मानते हैं। इस विषय में मलयालम के प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि श्रीयुत जी० शंकर कुरुप की यह धारणा उल्लेखनीय है—"प्रत्येक प्रगतिशील कलाकार का उद्देश्य वर्तमान जीवन से प्रत्यक्ष अनुभवों को प्राप्त करना और उन्हें अभिव्यक्त करने वाली अपनी रचना को कलात्मक और सामाजिक मूल्यों से सम्पुष्ट

१. साहित्यानुशासन, पृष्ठ १४३
२. काव्य-समर, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६४
३. समाज और साहित्य, अनुग, पृष्ठ ८
४. समाज और साहित्य, आमुख, पृष्ठ ३

करना है।"[1] हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों में शिवमंगलसिंह "सुमन" ने इस विचार को इन उक्तियों में वाणी दी है—

(अ) "मैंने गाए हैं गान जगत जीवन के।"[2]

(आ) "है कला कला के लिए न यह जीवन का।"[3]

कला को कला-विलास का साधन-मात्र न मान कर उसे जीवन की अनुभूतियों से समृद्ध रखना कवि के स्वस्थ चिन्तन का बोध कराता है। तथापि यह स्मरणीय है कि प्रगतिवाद के अन्तर्गत अनुभूति का अर्थ है यथार्थ वस्तु-जगत् की अनुभूति। फिर, वस्तु-जगत् में भी प्रगतिवादी कवि वर्ग-संघर्ष तक ही अनुभूति की परिधि को संक्षिप्त कर देता है। वर्ग-समाज की विषमताओं और अनाचारों को देख कर ही "सुमन" ने सर्वहारा वर्ग की वेदना के उल्लेख को काव्य की निधि माना है—

(अ) "आज युग की आग अपने राग में भर,
गीत नूतन गा रहा हूँ।"[4]

(आ) "मेरे उर में जो निहित व्यथा,
कविता तो उसकी एक कथा।"[5]

(इ) "कवि की आँख विश्व के उर—
की व्यथा टटोल रही है।"[6]

इन उक्तियों में वेदना को काव्य का प्राण माना गया है, किन्तु यह वेदना प्रणय की असफलता, वियोग अथवा कर्म-क्षेत्र में आने वाली निराशा से प्रेरित नहीं है—इसके पीछे दलित वर्ग की जीवन-धारा की प्रत्यक्ष अनुभूति है। वेदना का उल्लेख मन में निराशा और निष्क्रियता को जन्म दे सकता है, किन्तु प्रस्तुत काव्य-धारा में उसकी समष्टि का अर्थ है क्रान्ति का सजीव उद्बोधन। अतः यह स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने शोषितों की विवशताओं के प्रत्यक्ष दर्शन को समाज के पुनर्विधान की चर्चा का अनिवार्य उपादान माना है।

प्रगतिवादी काव्यकारों ने कविता में देश-काल की युगानुरूप अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दिया है। "अंचल" के अनुसार, "किसी भी देश की कविता के लिए यह असम्भव है कि वह वहाँ के सांस्कृतिक प्रभावों से अछूती रह सके।"[7] साधारणतः प्रगतिशील कवि वस्तुवादी दृष्टि को महत्व देते हैं, किन्तु काव्यगत सांस्कृतिक प्रभाव केवल यथार्थ के वाची न हो कर आदर्श का भी बोध कराते हैं। वस्तुतः कवि-कर्म की पूर्णता भी

---

१. देवनागर, कार्तिक, संवत् २०१०, पृष्ठ ३४
२. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ५५
३. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ५५
४. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८
५. हिल्लोल, पृष्ठ २२
६. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ १४
७. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ १०

इसी मे है कि काव्य-स्रष्टा प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूतियों को सांस्कृतिक आदर्शों के आलोक मे वाणी दे। इस सम्बन्ध म आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की यह उक्ति उद्धरण-योग्य है—"जिस प्रकार निराधार भावुकता आध्यात्मिक या आदर्शवादी साहित्य का एक दूषण है उसी प्रकार सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का। × × × × × जागृत चेतना द्वारा अनुभूतियों का संयमन और परिष्करण भी अत्यावश्यक है।"[1] चेतना को प्रबुद्ध करने मे विगत सांस्कृतिक मर्यादाओं की भाँति समकालीन जीवन धारा भी उपयोगी होती है। इसीलिए "अचल" ने लिखा है—"सामयिक वातावरण एवं चिन्ता-धारा बड़े अंश में साहित्य-निर्माताओं को प्रभावित करती है।"[2] उपर्युक्त अध्ययन के आलोक मे यह कहा जा सकता है कि विगत और वर्तमान से स्वस्थ प्रेरणाएँ प्राप्त करने वाला कवि भविष्य मे स्थायी रहने वाले काव्य का सृजन करता है।

काव्य की आत्मा

प्रगतिवादी कवि काव्य की आत्मा के विवेचन की दिशा मे विशेष क्रियाशील नही रहे है, तथापि "अचल" की निम्नलिखित उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य मे रस को मूलवर्ती स्थान प्राप्त है—

(अ) "रस के स्वरूप की सारवानता काव्य में असंदिग्ध है।"[3]

(आ) "मेरा विश्वास है कि ऊँची से ऊँची सामयिकता, सामाजिकता और प्रगतिशीलता—आदर्शों की बड़ी से बड़ी स्वप्न-योजना रस के माध्यम हो से साकार और सप्राण होती है।"[4]

(इ) "कविता का लक्ष्य रस की प्राण प्रतिष्ठा है।"[5]

(ई) "मेरे गान, मेरे गान, अमर साधना के निर्माण।
वन कविता में मधुरस दान, गूंज रहे हैं मेरे गान॥"[6]

इन उक्तियों मे "रस" शब्द का प्रयोग विशेष सन्दर्भ म हुआ है—*उसकी आनन्दवादी व्याख्या न कर* अहं के सामाजीकरण अथवा मन संगठन को रस माना गया है। उनके अनुसार पूँजीवादी समाज की रचनाएँ सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा कर कल्पना और व्यक्तिगत अनुभूतियों को प्रश्रय देती हैं। फलत रस मे युक्त होने पर भी वे मत्सराभ्र की परिधि से बाहर है, क्योंकि कविता मे सामूहिक हित को शीर्ष स्थान मिलना चाहिए। काव्य म रस की अवतारणा तभी सार्थक होगी जब कवि वैयक्तिक प्रवृत्तियों की तारतम्य के अनु-

---

१. अपराजिता (अचल), अवेरा, पृष्ठ २३
२. हिन्दी साहित्य अनुशीलन, पृष्ठ १४८
३. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ५
४. माखनलाल चतुर्वेदी: एक अध्ययन, सम्पादक—पद्मकान्त पुरुषोत्तम वास्त, ("अचल" का "माखनलाल जी का प्रगतिशील दृष्टिकोण" शीर्षक लेख), पृष्ठ ३०
५. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६६
६ मधूलिका, पृष्ठ ८३

कूल प्रकट करेगा। डॉ० रामविलास शर्मा ने "रस सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य" शीर्षक लेख में इस धारणा को इस प्रकार प्रकट किया है—"साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूल कर आर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वप्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वह समाज के विकास में कभी सहायक न हो सकेगा।"[1] यहाँ न तो रस की साधारणता सत्ता का तिरस्कार हुआ है और न ही रस को बुद्धि से शासित दिखाया गया है। प्रगतिवादी कवियों और आलोचकों का मन्तव्य केवल यही है कि काव्य-वर्ण्य को वर्ग द्वन्द्व तक सीमित रख कर रस की निष्पत्ति भी उसी सन्दर्भ में होनी चाहिए। इस प्रकार वस्तुवाद के प्रति आग्रही हो कर भी वे रस के महत्व के प्रति उदासीन नहीं हैं।

प्रगतिवाद में ध्वनि, अभिव्यंजना-कौशल (रीति), अलंकार और वक्रोक्ति का विशेष माहात्म्य नहीं है। अतः कवियों ने भी उनके काव्यगत महत्व का स्वतन्त्र निरूपण नहीं किया है। इस सम्बन्ध में "अचल" की एकमात्र उपलब्ध उक्ति यह है—"हमारे यहाँ जो भिन्न-भिन्न काव्य-सम्प्रदाय बन गए हैं—रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय ये एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं।"[2] इस दृष्टिकोण की सारवत्ता असंदिग्ध है, किन्तु रस के अतिरिक्त अन्य काव्य-सम्प्रदायों के विवेचन के अभाव में प्रगतिवादी कवियों के काव्यात्मा-सम्बन्धी विचारों को अपूर्ण मानना होगा।

काव्य-हेतु

आलोच्य काव्य-धारा के कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य के प्रेरक तत्व माना है—अभ्यास के महत्व पर उन्होंने विचार नहीं किया। "अचल" ने काव्य-रचना की प्रेरणा को कवि का स्वभावज गुण माना है—"लिखता मैं तभी हूँ जब मेरे भीतर कला की वेदना फूटती है। आग्रह की पूर्ति के लिए मैं नहीं लिख पाता।"[3] शिवमंगलसिंह "सुमन" ने प्रेरणा के प्रभाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"आज मेरे गान बरबस, कण्ठ में फिर उतर आए।"[4] प्रतिभा का उन्मेष होने पर कवि भावावेश के फलस्वरूप काव्य रचना के लिए विवश-सा हो जाता है। यह काव्य-शास्त्र का चिर-परिचित सिद्धान्त है, अतः इसके विशेष विवेचन की स्पष्टतः आवश्यकता नहीं है। प्रतिभा के अतिरिक्त आलोच्य कवियों ने व्युत्पत्ति को भी काव्य का प्रमुख हेतु माना है। अध्ययन के महत्व के विषय में "अचल" की ये उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

(अ) "पल्लव और वीणा की कविताएँ पढ़-पढ़ कर मेरे भीतर कामना जागी कि

---

१. प्रगति और परम्परा, पृष्ठ ११६
२ काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ११
३ मैं इनसे मिला, भाग २ (पद्मसिंह शर्मा "कमलेश"), पृष्ठ १८५
४. हिल्लोल, पृष्ठ ६६

में भी कविता लिखूं।"[1]

(आ) "प्रत्येक तत्वनिष्ठ कलाकार, जो जीवन की विषमताओं का हल सुझाता है, मुझे प्रभावित करता है।"[2]

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती काव्य कृतियों के अनुशीलन से प्रोत्साहन पा कर कवि स्वयं भी सृजन की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार से प्रेरणा लाभ करना कवि का दोष नहीं है—"सुमन" ने तो इसे उसका गुण माना है, "परवर्ती कवि में पूर्ववर्ती कवि की प्रतिध्वनि दोष से अधिक गुण ही मानी जाती है।"[3] राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कवियों में "दिनकर" का दृष्टिकोण भी यही रहा है। काव्य विशेष का अनुशीलन करने पर उससे साधारण संकेत प्राप्त करना अपराध नहीं है—हाँ, कवि में मौलिक प्रेरणा का अभाव नहीं होना चाहिए।

आलोच्य कवियों ने प्रतिभा और अध्ययन के महत्व को परम्परानुसार मान्यता दी है, किन्तु लोक दर्शन के विषय में उनकी धारणाएँ रूढ़ि मुक्त हैं। नरेन्द्र शर्मा ने लोक-साक्षात्कार से प्राप्त अनुभव को कवि के लिए अनिवार्य माना है—"नियति का यह प्रयोजन है कि कवि को हो विशद अनुभव।"[4] लोक सत्य के परिचय और प्रतिपादन से काव्य में जिस गम्भीर ज्ञानालोक का प्रसार होता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रगतिवादी रचनाकारों ने लोकानुभव की प्राप्ति के लिए स्वभावतः सर्वहारा-वर्ग के जीवन-दर्शन को महत्व दिया है। "अंचल" ने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"आज की गलत सामाजिक व्यवस्था और उसके शोषण के दुष्परिणामों ने भी मुझे प्रेरणा कम नहीं दी है।"[5] काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में यह दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है। यदि "बच्चन" और भगवतीचरण वर्मा लौकिक प्रणय को काव्य का प्रेरक तत्व मान सकते हैं तो शोषितों की वेदना का परिचय प्राप्त करने वाले कवि के हृदय में भाव-स्फुरण को अवास्तविक कैसे माना जा सकता है? प्रेम की मादकता में लीन रहने वाले कवि की अपेक्षा पर-पीड़ा से द्रवित हो कर नव जागरण का नाद करने वाले कवि की वाणी का समाज से अधिक सम्बन्ध है। प्रथम काव्य प्रेरणा कवि के व्यक्तित्व से सम्बद्ध होने के कारण एकान्तिक है, किन्तु द्वितीय काव्य-हेतु का आधारभूत दर्शन लोक-संग्रह है। स्पष्टतः स्वस्थ सामाजिक प्रेरणाओं से सवलित कविता मानव-व्यक्तित्व को विशेष उत्कर्ष प्रदान करती है। "अंचल" की भाँति "सुमन" ने भी शोषितों की जीवन धारा के परिचय को काव्य का विशिष्ट कारण माना है—

---

१. अवन्तिका, नवम्बर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ ४७१
२. मैं इनसे मिला, भाग २, पृष्ठ १७६
३. अभिव्यंजना (भगवानदास तिवारी), आमुख, पृष्ठ ?
४. हंसमाला, पृष्ठ २६
५. मैं इनसे मिला, भाग २, पृष्ठ १७१

(अ) "हाय, प्रभाव तुम्हारा मुझको देता रहा सदा प्रोत्साहन,
इन गीतों के लिए तुम्हारा ऋणी रहूँगा मैं आजीवन।"[1]

(आ) "जब कि पक्षी की व्यथा से आदिकवि का व्यथित अन्तर,
प्रेरणा कैसे न दे कवि को मनुज-कंकाल जर्जर।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की रचना के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति समान रूप से अपेक्षित है। प्रगतिवादी काव्यकारों ने इन सिद्धान्त के प्रतिपादन में परम्परा के विवेकपूर्ण निर्वाह के अतिरिक्त मौलिकता का भी युक्तियुक्त परिचय दिया है—

काव्य का प्रयोजन

प्रगतिवादी कवियों ने काव्य के अन्तर्बाह्य प्रयोजनों का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार काव्य का मुख्य प्रयोजन क्रान्ति-विकास अथवा समाज-सुधार है। वर्ग-युद्ध को अनिवार्य मानने के कारण वे सर्वहारावाद का आश्रय ले कर काव्य को बहुसंख्यक श्रमिकों के मंगल विधान में सहायक रखना चाहते हैं। नरेन्द्र शर्मा ने कवि को संकीर्णता और अहं से मुक्त रहने का सन्देश दिया है तथा मानवसुलभ सहानुभूति के प्रसार को काव्य का लक्ष्य माना है। यथा—"इसलिए और भी चिन्ता है कि सैद्धान्तिक संकीर्णता तथा अहंकार और बुद्धि की सगाई के कारण सामयिक वादों के रागद्वेषात्मक वातावरण में पनपने वाले पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण कहीं आज के कवि को हमारी मूलतः मानवी समस्याओं के प्रति व्यापक सहानुभूति और सच्ची समीक्षा-बुद्धि से वंचित न कर दें अथवा कवि का स्वर केवल आगत की अनुगूंज बन कर ही न रह जाय।"[3] शर्मा जी का अभिप्राय कवि को पूँजीवादी प्रभावों और मध्यवर्गीय विचार धाराओं से अप्रभावित रहने का सन्देश देना है। कवि के समक्ष आने वाली प्रमुख मानवीय समस्या वर्गहीन समाज का विधान है। अतः वह यान्त्रिक युग के आर्थिक और राजनैतिक आन्दोलनों के प्रति विशेष सजग रहता है। समीक्षा-बुद्धि उसे इस ओर सतत जागरूक रखती है और आगत की अनुगूंज न बनने का संकल्प वर्ग क्रान्ति को जन्म देता है। स्पष्ट है कि उन्होंने सामाजिक विषमताओं की समाप्ति को काव्य का लक्ष्य माना है। लोक-जीवन का विकास कवि-मात्र का ध्येय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" शीर्षक निबन्ध में लोक-संगठन द्वारा मन संगठन का इसी रूप में उल्लेख किया है—

"सुन्दरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती। × × × × × साहित्य सुन्दर का उपासक है, इसीलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा।"[4]

---

१. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ७८
२ विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८
३ हंसमाला, प्रस्तावना, पृष्ठ ७
४ अशोक के फूल, पृष्ठ १८६

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि काव्य समाज के असामंजस्य को समाप्त करने का साधन है। शिवमंगलसिंह "सुमन" ने इस मत का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है, किन्तु उनकी काव्योक्तियों में स्पष्ट है कि वे शोषित जनता के हित साधन को काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

(अ) "बिखरे जीवन के मुक्त स्वरों में बोलो।"[1]

(आ) "युग की कसौटी पर चढ़ी है आज मेरी साधना।"[2]

(इ) 'मेरी ज्वाला से परिचित हो पाए हो तो,
तुम भी अपना आकुल अन्तर सुलगाओ।"[3]

इन अवतरणों में धन के विषम वितरण से उत्पन्न युगीन समस्याओं को राजनीति के धरातल पर सुलझाने का आग्रह स्पष्ट है। यहाँ लोक-मंगल को संकीर्ण अर्थ में ग्रहण किया गया है—मंगल का अर्थ यहाँ भौतिक उत्कर्ष मात्र है। इसीलिए इस दृष्टिकोण की परिणति उच्च मानवीय आदर्शों में न हो कर रक्त क्रान्ति में होती है। अन्य कवियों में "अंचल' ने काव्य से समाज के उपकार के विषय में ये विचार व्यक्त किए हैं—

(अ) "साहित्य यदि वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर जोर देगा।"[4]

(आ) "कवि सबसे बड़ा समाजशास्त्री होता है। × × × × × काव्य उसका उपलक्ष्य हो जाता है और लक्ष्य होता है उस सामाजिक सत्य और मानवीय जीवन-योजना की पूर्णता का ऐक्यबोध जो सामाजिक चैतन्य का मार्मिक आधार है।"[5]

(इ) "सारी कला प्रचार है ऐसा न कह कर यदि हम कहें कि साहित्य सदैव एक वस्तुसत्ता से पूर्ण सामाजिक प्रयोजन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति है तो उचित होगा। × × × × × साहित्य का दूसरा प्रयोजन है प्रत्येक उस स्थिति को नए तौर पर सृजित करना जो मनुष्य में जीवन के प्रति अनुराग पैदा करती है।"[6]

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि जीवन के रूढ़ सिद्धान्तों को नवीन रूप में प्रस्तुत करने के लिए सामाजिक क्रान्ति का निर्देश करना काव्य का मूल प्रयोजन है। कवि वस्तुवादी जगत् से सम्पर्क स्थापित कर अपनी रचना में जीवन को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है। समाजवादी कवि की कविता में स्वभावतः जीवन के प्रतिपादन का अर्थ शोषित वर्ग की स्थिति के उल्लेख से है। समाज में व्याप्त आर्थिक विषमताओं को समाप्त कर पीड़ित मानवता को मुक्ति का सन्देश प्रदान करना कवि का लक्ष्य-विशेष है। प्रगतिवादियों ने इस लक्ष्य की पूर्ति में केवल वस्तुवादी दृष्टिकोण को महत्व दिया है—यही उनकी

१ पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ७०
२. पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ७१
३. पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ८०
४. किरण-बेला, भूमिका, पृष्ठ 'ख'
५. लाल चूनर, भूमिका, पृष्ठ २
६. समाज और साहित्य, आमुख, पृष्ठ १०

एकांगिता है, अन्यथा काव्य में समाज-कल्याण का विरोध कौन करेगा ? यदि वे विगत सांस्कृतिक आदर्शों को जीर्ण-शीर्ण न मानें, उन्हें अनिवार्यत: परिवर्तनीय न मान कर उदार दृष्टिकोण अपनाएँ, तो उनके विचारों का सहज समर्थन किया जा सकता है।

काव्य का द्वितीय आन्तर प्रयोजन आनन्द की प्राप्ति है, किन्तु आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रश्नों पर विशेष ध्यान देने के कारण प्रगतिवादियों ने आनन्द-साधना को काव्य का प्राथमिक लक्ष्य नहीं माना है। अथवा यों कहें, वे मन-संगठन की अपेक्षा लोक-संगठन का अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिए उन्होंने आनन्द की व्याख्या के लिए समाज-कल्याण को पृष्ठभूमि में रखा है। इस सम्बन्ध में "अचल" की उक्ति इस प्रकार है—**"कविता का लक्ष्य—उसका आधारभूत सत्य आनन्द है। × × × × × आनन्द से बड़ा कौन लोकहित होगा—जीवन की कौन-सी उपयोगिता उससे बड़ी कही जायगी ?"**[1] इस अवतरण से स्पष्ट है कि "अचल" ने वर्गहीन समाज के विधान में आस्था रखते समय आनन्द की उपेक्षा नहीं की है। यह आनन्द केवल बहुसंख्यक श्रमिकों के लिए है, अभिजात वर्ग वालों के लिए नहीं! कारण यह है कि प्रगतिवादी काव्य का आधार उच्चवर्गीय जीवन नहीं है, उसमें श्रेणी-संघर्ष का क्रान्तिकारी उन्मेष रहता है। इस सीमा के होने पर भी यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वे आनन्द को काव्य का विशिष्ट फल मानते हैं। शिवमंगलसिंह "सुमन" ने काव्य से स्वान्त:सुख की प्राप्ति के विषय में यह मत व्यक्त किया है—

> **"छन्दों में रो गा कर ही मैं,**
> **क्षण भर को कुछ सुख पा जाता।"**[2]

इस मान्यता को इस रूप में स्वीकार करने में भी कुछ परिसीमाएँ हैं। काव्य-सृजन से प्राप्तव्य सुख क्षणिक नहीं होता, उसे अलौकिक और शाश्वत आनन्द की संज्ञा दी गई है। सत्कविता की पंक्तियाँ केवल सृजन, अनुशीलन अथवा श्रवण के समय ही आनन्द नहीं देतीं, कालान्तर में उनकी स्मृति भी मन को आनन्द-विह्वल करती है। क्षण-स्थायी सुख प्रदान करने वाली रचना को सामयिक मानना होगा, उसमें कालान्तरस्थायित्व लाने के लिए कवि को युग-युग से संस्कार-रूप में प्राप्त भावनाओं को महत्त्व देना होगा।

आलोच्य काव्यकारों ने काव्य के प्रासंगिक फलों में से यश और सम्पत्ति-लाभ की समीक्षा की है। यश की उपलब्धि को उन्होंने काव्य का सहज परिणाम माना है। "सुमन" के शब्दों में **"कवि मिट जाता लेकिन उसका उच्छ्‌वास अमर हो जाता है।"**[3] लोक-कल्याण की ओर प्रवृत्त कवि-वाणी रसात्मक होने के कारण कालान्तरस्थायी होती है—युग-युग तक मानव-हृदय को संवेदित करना उसका सहज गुण हो जाता है। जिस कविता में सहृदय को तदाकार कर लेने की क्षमता होगी उसे काल का प्रमाद नष्ट नहीं कर

---

१. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६
२. हिल्लोल, पृष्ठ २२
३. पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ २७

पाएगा। "सुमन" ने "गुप्त जी की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर" शीर्षक कविता में इसी मन्तव्य को निम्नलिखित सकेतात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है—

"देखो, वीणा वादिनि वीणा बजा बजा कहती है—
रहे तुम्हारी कीर्ति चिर अमर औ चिरगांव निवासी !"[1]

यश की स्वीकृति देने पर भी प्रस्तुत कवियों ने आर्थिक सुविधाओं की प्राप्ति को काव्य का लक्ष्य नहीं माना है। नरेन्द्र शर्मा ने इस प्रयोजन को दृष्टि में रख कर काव्य रचना करने वाले कवियों की भावनाओं में गतिरोध की स्थिति मानी है। उदाहरणस्वरूप उनकी निम्नलिखित काव्योक्तियाँ देखिए—

(अ) "पड़े तालियाँ या कनक कठमाला,
नहीं काव्य, जो दे न जग को उजाला !"[2]

(आ) "हुआ नित्य निर्धन कवि बन कर धनी, लालसा का चेरा,
व्यवसायी बन गई भावना, सुविधा ने डाला डेरा।
गई साधना, रही वासना, अहंकार फिर मंडराया !
"सबल स्वार्थ की निर्बल आत्मा"—यह न हृदय को समझाया !
कनक-तीलियों में बन्दी है, कवि जन मन बहलाने को,
यदि विचार करते भी हैं तो, केवल मन समझाने को,
घट के पट में छिपा चेतना नेत्र नींद में अलसाया !"[3]

(इ) "क्या बताऊँ मौन है क्यों काव्य की उर-सारिका !
कल्पना के कण्ठ को कटक बने हैं नौलते !
बहुत समझाया कि भय है, किन्तु मन माना नहीं—
कनक-तीली सम्पदा की बहुत घातक है सखे !"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि श्रेष्ठ काव्य का मानदण्ड लोक मगल है न कि यश (तालियाँ) अथवा अर्थ (कनक तीली, नौलखे, कनक कठमाला) की प्राप्ति। जब कवि धन की तृष्णा से काव्य रचना करता है तब काव्य के भाव-तत्व के सम्यक् विकास में बाधा पहुँचती है। यह तृष्णा कवि के मन में अहं को जन्म देती है और स्वार्थ प्रेरित होने के कारण उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है। उक्त अवस्था में स्वस्थ काव्य प्रेरणा का अभाव होने के कारण कवि साधारण मनोरंजनात्मक काव्य की रचना में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः काव्य-सृजन शुद्ध साधना का विषय है—लौकिक सम्पदा का मोह उसकी गरिमा को हानि पहुँचाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने ये विचार प्रकट किए हैं—"कविता इस प्रकार साधना का विषय न रह कर, जीविका का साधन मात्र बन रही है। यो अन्तर्दृष्टि से नहीं, कवि बहिर्दृष्टि से प्रेरित होना सीख रहे हैं। इस विषय में सजग

१. हिल्लोल, पृष्ठ ११६
२. हसमाला, पृष्ठ २७
३. हसमाला, पृष्ठ ४३
४. हसमाला, पृष्ठ ४४

होने की आवश्यकता है।"[1] कवि को धन की तृष्णा से मुक्त रहने का यह सन्देश नरेन्द्र जी की समसामयिक परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया का सूचक है। इस धारणा की सार्थकता को आधुनिक युग से पूर्व अन्य काव्य-युगों में भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इस दिशा में अर्थ प्रेरणा से लिखित रीतिकालीन काव्य में विलास और मनोरंजन का चित्रण द्रष्टव्य है। कवि के मन पर कनक-सम्पदा के प्रभाव का इससे स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है?

उपर्युक्त समीक्षा से सिद्ध है कि प्रगतिवादी कवियों ने पूर्ववर्ती काव्य मान्यता के अनुसार धन की तृष्णा को कवि की दुर्बलता माना है। उनके सहयोगी कवि "अंचल" का मत भी यही है, "कलाकार को जीविका के लिए दूसरा माध्यम चुनना चाहिए। × × × × × यह अवश्य है कि जो वह लिखे, उसे वह अधिक से अधिक मूल्य पर बेचे और उस पर ज्यादा से ज्यादा लाभ पाने की चेष्टा करे, लेकिन लिखे वह स्वच्छन्द प्रेरणा से ही, पैसे के लिए नहीं।"[2] पूंजीवाद का विरोध करने वाले प्रगतिशील साहित्यकारों द्वारा इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है। यद्यपि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का अर्जन अनिवार्य है, किन्तु शोषितों का संरक्षक कवि इस ओर प्रलोभन का भाव कैसे रख सकता है? इस आस्था पर अडिग रहने के लिए आत्मा में विशिष्ट सबलता होनी चाहिए, किन्तु परिस्थिति-चक्र कवि को धन की कामना के लिए विवश कर सकता है। "कलाकार की विक्री" शीर्षक कविता में "अंचल" ने इसी भाव को प्रकट किया है—

"अब तक मेरे आदर्शों का स्वप्न न बिलकुल था मुरझाया।
आज अकम्पित पौरुष मेरा धन के आगे बिकने आया।।"[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य का लक्ष्य नव जागरण का सन्देश देते हुए आनन्द की विभूति को सुरक्षित रखना है। सत्कविता से यश और सम्पत्ति की उपलब्धि स्वाभाविक रूप से होगी, इसके लिए तृष्णाकुल रहना कवि का धर्म नहीं है।

काव्य के तत्व

प्रस्तुत कवियों ने अनुभूति को काव्य का मूल तत्व माना है, काव्य के वैज्ञानिक आधार पर बल दे कर चिन्तन को अनुभूति का सहवर्ती रखा है और कल्पना की सामान्य चर्चा की है। उन्होंने व्यक्तिवाद की उपेक्षा कर भौतिक यथार्थवाद के उल्लेख को काव्य का सर्वस्व माना है। फलतः उनके अनुभव-क्षेत्र और चिन्तन की दिशा का सम्बन्ध भी भौतिक संघर्षों को वाणी देने से है। नरेन्द्र शर्मा ने "नहीं काव्य, वह जो नहीं सत्य का घर"[4] जैसी उक्ति में सत् तत्व के प्रति जिस प्रबल आग्रह को व्यक्त किया है वह वस्तु-

१. आवरण, मई १९५८, पृष्ठ ८
२. मैं इनसे मिला, भाग २, पृष्ठ १८७
३. विराम चिह्न, पृष्ठ १६
४. हंसमाला, पृष्ठ २७

सत्य के वैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ही इंगित करता है। प्रगतिवादी कवि अनुभूति के अंचल में विचार-तत्व की महत्ता के प्रति निरन्तर जागरूक रहे हैं। इसीलिए नरेन्द्र शर्मा ने कवि की तुलना कृषक से की है—"मनोभूमि में ज्योतिबीज बोने वाले हम, कवि किसान हैं।"[1] स्पष्ट है कि वे काव्य में अनुभूति और चिन्तन के सद्भाव पर बल देते हैं। उनके अनुसार कवि को भौतिक जीवन के निकट सम्पर्क में आ कर काव्य रचना करनी चाहिए। यथा—

"यदि लेखक अपने अनुभव और विचारों को अपने ही समाज से जिससे कि उसके पाठक भी अधिक परिचित हैं, परिस्थितियाँ और बाह्य उपकरण चुन कर व्यक्त कर सके और पाठकों से परिचित साँचों में ढाल कर अपनी कृतियों को सामने रख सके तो निस्सन्देह उसके रचनात्मक विचारों में अधिक शक्ति होगी और उसकी कला में अधिक प्रभाव होगा।"[2]

इस अवतरण से स्पष्ट है कि कवि को समाज के परिचित क्षेत्रों से भाव संकलन करना चाहिए। नरेन्द्र शर्मा ने इन विचारों को प्रगतिवाद की जन जीवन में सम्पृक्त रहने की प्रवृत्ति से प्रभावित रह कर व्यक्त किया है, किन्तु पूर्वाग्रह से मुक्त होने के कारण उनका प्रतिपादन स्वस्थ है। काव्य में अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति हृदय साधना से सम्बद्ध है, अतः कवि को रचना के अवसर पर अपने अन्तस् का विश्लेषण करना चाहिए। इसीलिए नरेन्द्र शर्मा ने कहा है—"मैंने अपने गीत सघन-वन अन्तराल से खोज निकाले।"[3] अनुभूति का आलोक काव्य में स्थायी मूल्यों की सृष्टि करता है, अतः कवि को नित्य नये अनुभव प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में नरेन्द्र शर्मा की धारणा निम्नस्थ है—

"तू नये सत्य के लिये नित्य कर मन मथन,
ओ,स्वर मेरे ! तू आगत की अनुगूंज न बन।"[4]

उपर्युक्त मीमांसा से सिद्ध है कि अनुभूति की अवदान स्थिति काव्य की निधि है। वस्तुवाद के प्रति आग्रह रखने वाले कवियों के लिए इस दृष्टिकोण की स्थापना स्वाभाविक भी है। वस्तु-जगत् में व्याप्त अर्थ-संघर्ष का चित्रण करने वाला कवि कल्पना-विलास से कैसे सन्तुष्ट हो सकता है ? इसीलिए "अंचल" ने कल्पना को अनुभूति की आश्रिता माना है—अनुभूति प्रधान रचना में कल्पना की स्वस्थ, सन्तुलित और गरिमामयी अभिव्यक्ति ही उन्हें स्वीकार्य है। उदाहरणस्वरूप "आत्म निवेदन" शीर्षक लेख की ये पंक्तियाँ देखिए—

"काव्यात्मक सृजन में मैं कल्पना को अनुभूति की मुखापेक्षी मानता हूँ। यदि अनुभूति में गहराई, तीव्रता और व्यापकता होगी तो उसका शृंगार करने वाली कल्पना

१. अग्निशस्य, पृष्ठ ५८
२. हंस, सितम्बर १९३८, पृष्ठ २६
३. कदलीवन, पृष्ठ ७
४. हंसमाला, पृष्ठ १३

भी उदात्त, विराट, स्पन्दनशीला और प्राणवान होगी। नहीं तो यह केवल रुढिगत और सांप के त्यक्त केंचुल-जैसी निष्प्राण होगी।"[१]

यहाँ कल्पना की उपेक्षा न कर के उसे अनुभूति की भाँति सहज सजीव रखने पर बल दिया गया है। यह दृष्टिकोण कवि के सन्तुलित विवेक का परिचायक है, किन्तु स्थूलता के प्रति आवश्यकता से अधिक आग्रह के कारण प्रगतिवादी कवि ने कल्पना के प्रति इस सहृदयता का परिचय सर्वत्र नही दिया है। इस सम्बन्ध मे नरेन्द्र शर्मा और शिवमगलसिंह 'सुमन' की उक्तियाँ क्रमश इस प्रकार है—

(अ) "कवि ! बोलो, क्यों हुआ आज यह परिवर्तन असमय ?
जीवन की ज्योत्स्ना पर क्यों श्यामल निशान छाया ?
वस्तुसत्य को छोड, चूँकि सपनों को अपनाया !"[२]

(आ) "सोचो, नवयुग अरुणोदय में सन्ध्या रागिनी किसे रुचती,
थोथी कल्पना तुम्हारी यह क्या सत्य कसौटी पर कसती।"[३]

यहाँ कल्पना का तिरस्कार कर के वस्तु सत्य को महत्व दिया गया है, किन्तु यह दृष्टिकोण तर्क-सगत नही है। उपर्युक्त कवियो की भाँति नागार्जुन ने भी "कैसे जन-कवि" शीर्षक कविता मे कवि को स्वप्न-कल्पनाओ का त्याग कर सर्वहाराओं की भूमि पर उतरने का सन्देश दिया है।[४] वस्तु-लोक का यथातथ्य रूप मे उल्लेख सुरुचि के अतिरिक्त कुरुचि को भी स्थान देगा। पडित रामदहिन मिश्र के अनुसार, "कल्पना कवि को असत् से सत् की सृष्टि करने में समर्थ बनाती है।"[५] अत समाजवादी कवि यथार्थ के समक्ष कल्पना की एकान्त उपेक्षा नही कर सकता। अनुभूति और कल्पना को सहगामी मानने मे ही काव्य-कला की पूर्णता है।

काव्य के वर्ण्य विषय

आलोच्य काव्य प्रणेताओ ने काव्य मे वर्णनीय विषयो का विस्तृत विवेचन नहीं किया है—उसके मतानुसार कवि को पीडितो की वेदना और लौकिक प्रेम के स्वरूप का उल्लेख करना चाहिए। यद्यपि "अचल" के मतानुसार, "कविता जीवन के समस्त व्यापारों को अपना विषय बनाती है,"[६] तथापि कवि के विषय में "सुमन" की यह उक्ति भी तथ्यपूर्ण है—"कितना भी कह डाले, लेकिन अनकहा अधिक रह जाता है।"[७] इन उक्तियो से स्पष्ट है कि काव्य मे सृष्टि के समस्त क्रिया-व्यापार वर्णनीय है, किन्तु कवि

---

१ अवन्तिका, नवम्बर दिसम्बर १९५६, पृष्ठ ४८२
२ मिट्टी और फूल, पृष्ठ ७१
३ प्रलय सृजन, पृष्ठ १२
४ देखिए "हस", फरवरी १९४८, पृष्ठ ३४७
५ काव्य-दर्पण, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३२
६ काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ १
७ पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ५२

अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण उन सबका उल्लेख नहीं कर पाता। प्रगतिवादी कवियों ने स्वभावत शोषितों की पीड़ा के उल्लेख को कविता का प्रथम वर्ण्य माना है। "सुमन" की ये सहानुभूतिपूर्ण उक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं—

(अ) "गीतों में पद दलितों की ही
पीड़ा का मैंने गान किया।"[1]

(आ) "जिनका कोई नहीं, उन्हें कवि की वाणी बढ़कर अपनाए।"[2]

इनके अतिरिक्त "अचल" और "सुमन" की निम्नलिखित काव्योक्तियों में भी कवि को क्रमश यही सन्देश दिया गया है कि पीड़ित हृदय की व्याख्या करना उसका प्रथम धर्म है—

(अ) "यह निहत्थों औ" निरीहों का महाबलिदान कातर
दीर्घ शोषण का चरम बीभत्स यह विद्रूप लख कर
आज कवि का मूक क्यों स्वर।"[3]

(आ) "वेदना असहाय हृदयों में उमड़ती जो निरन्तर,
कवि न यदि कह दे उसे तो व्यर्थ वाणी का मिला वर।"[4]

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भौतिक यथार्थ अर्थात् जीवन की अर्थपरक व्याख्या काव्य का प्रमुख विषय है। इसीलिए प्रगतिवादियों ने दुर्भिक्ष, चोरबाजारी, हड़ताल, घूसखोरी आदि सामयिक विषयों पर काव्य-रचना की है। उन्होंने आर्थिक जीवन की विषमताओं से उत्तेजित हो कर कवि को शोषण के विरुद्ध क्रान्ति करने का सन्देश दिया है। प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक कॉडवेल ने काव्य में जातीय और राष्ट्रीय मूल्यों तथा आत्मभूत रस के स्थान पर अर्थशास्त्र के आधार-ग्रहण को महत्व दिया है।[5] स्पष्ट है कि प्रगतिवाद के पृष्ठपोषकों ने सामाजिक आर्थिक समस्याओं के समाधान को प्राथमिकता दी है। काव्य में दलित मानवता की सहानुभूतिपूर्ण चर्चा के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु इसके लिए कवि के दृष्टिकोण में समरसता का होना आवश्यक है। शोषितों की व्यथा के उल्लेख का तात्पर्य वर्ग-भेद का प्रचार नहीं होना चाहिए। समाज-क्रान्ति का प्रचार करने वाले कवि की दृष्टि केवल आर्थिक जीवन पर केन्द्रित रह कर पूर्ण नहीं बन सकती। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक लिखा है—"हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव समूह की कल्पना करते हैं, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा, उसे पूर्णत सांस्कृतिक और नैतिक मानव भी होना चाहिए।"[6]

---

१. प्रलय सृजन, पृष्ठ ३१
२. विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८३
३ करील, पृष्ठ ५८
४ विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८
५. "Poetry is to be regarded then, not as anything racial, national, genetic or specific in its essence, but as something economic".
(Illusion and Reality, Page 14)
६ नया साहित्य नये प्रश्न, पृष्ठ २१८

प्रगतिवादी कवियो द्वारा स्वीकृत द्वितीय वर्ण्य विषय प्राकृत जीवन का स्वस्थ रूप मे आख्यान है। उन्होने स्वस्थ काम का तिरस्कार नही किया है अर्थात् काम प्रवृत्ति के प्रति उनका मत वर्जनात्मक नही है। उन्होंने यौनवृत्ति को परम्परा के अनुसार अभिव्यक्ति नहीं दी है, किन्तु उनके वर्णनो मे सुरुचि का अभाव नही है। इसीलिए उन्होंने विलास चित्रण को महत्व न देकर काम भावना को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करने पर बल दिया है। उनकी रचनाएँ केवल वैयक्तिक काम-तृष्णाओं के परितोष पर आधारित नही हैं, अत उन्होंने अश्लीलता के आरोप का प्रत्याख्यान भी किया है। काव्यगत काम प्रवृत्ति के विषय मे "अचल" की यह उक्ति पठनीय है—"वासना के गान गाते कवि चला सूनी डगर में।"[1] यहाँ "वासना" शब्द का प्रयोग विचारणीय है। साधारणत वासना का अभिप्राय काम कुंठाओं की उद्दाम अभिव्यक्ति है, किन्तु शृगार का अतिरेक काव्य मे शोभनीय नही होता। इसीलिए "अचल" ने काव्य मे अश्लीलता के समावेश का इन शब्दों मे प्रतिरोध किया है—"नग्नता का आरोप स्वीकार करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। मैं मानता हूँ कि अपने आवेगात्मक पुनर्जन्म के प्रारम्भिक दिनों में मैंने दो-चार कविताओं में वासनाओं की तीव्र अभिव्यक्ति की है और मेरा भाव-प्रकाशन शारीरिकता की तरंगों से परिपूर्ण है, लेकिन मेरे पूरे काव्य में पाँच प्रतिशत लाइनें भी तो ऐसी नहीं हैं।"[2] इस अवतरण मे काव्यगत स्थूल शृगार का अप्रत्यक्ष रीति से विरोध किया गया है। स्वस्थ सिद्धान्त-चर्चा की दृष्टि से यह मन्तव्य स्पष्टत समर्थन की अपेक्षा रखता है। जीवन मे अर्थ और काम-सम्बन्धी आवश्यकताओं को अस्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु अपनी दृष्टि को केवल उन्ही पर केन्द्रित रखना कवि का आदर्श नही है। मौलिकता के अचल मे शिवत्व का निर्वहन कवि का धर्म है, इससे विरत होकर सत्काव्य की रचना असम्भव है। इसीलिए "अचल" ने यौवन-सुलभ प्रेम-कामनाओं के अतिरिक्त विश्व ज्ञान की उज्ज्वल और उदात्त अभिव्यक्ति को कवि का अभीष्ट माना है। यथा—

"मेरे गान, मेरे गान, इनमें भरा विश्व का ज्ञान।
किरणों का मोती-सा हास, यौवन के मधुमय आख्यान॥"[3]

काव्य-शिल्प

प्रस्तुत प्रकरण मे विचारणीय कवियो ने काव्य के कला-पक्ष के कान्ति वर्द्धक अगो मे से विशेषत काव्य-भाषा का और सामान्यत अलकार तथा छन्द का विवेचन किया है। छायावादी काव्य-धारा मे काव्य शिल्प के सयोजक तत्वो की अतिसूक्ष्मता को लक्षित कर उन्होने प्रतिक्रियास्वरूप उन्हें सहज रूप प्रदान करने पर बल दिया है। काव्यगत अनुभूति के स्पष्टीकरण के लिए शब्दावली की सरलता अनिवार्यत अपेक्षित है। "अचल" के शब्दों मे, "अनुभूति की प्रचुरता काव्य-भाषा को भी अधिक सरल बेसाख्ता और

१. अपराजिता, पृष्ठ ४
२ मैं इनसे मिला, भाग २, पृष्ठ १७१ १७२
३. मधूलिका, पृष्ठ ८१

यथार्थवाहिनी बना सकती है।"[1] नरेन्द्र शर्मा ने भी काव्य में बौद्धिकता से प्रभावित गुरु-गम्भीर शब्दों के प्रयोग का विरोध किया है। उनका मत है कि जो कवि ऐसे शब्द प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं वे उस क्षेत्र की सुन्दरतम पदावली का प्रयोग करने पर भी आत्मा के अनुभव को व्यक्त करने में सफल नहीं हो पाते—"उज्ज्वल बौद्धिक शब्दजाल में, सत्याभासों का तम है।"[2] वस्तुत: बौद्धिकता से प्रेरित भाषा कवि को भावों की गहराई तक नहीं पहुँचने देती। अत: कवि को सत्य का प्रतिपादन करने के लिए सहज और मधुर भाषा का प्रयोग करना चाहिए। इस विषय में उनकी निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(अ) "मेरे रोमों से गीत खिलें, किरणें फूटें जैसे रवि से,
रसभरे पके अंगूरों-से हों मधुर शब्द मेरे कवि के।"[3]

(आ) "हो न सके पहचान सत्य की जिनके कारण,
ऐसे व्यर्थ प्रतीक बनाओ नहीं अकारण।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी काव्य शिल्प का मूल तत्व सहजता है—उसके कवियों ने शैलीगत अस्पष्टता को काव्य का गम्भीर दोष माना है। अभिव्यंजना कौशल को सूक्ष्मता प्रदान करने वाले तत्वों (ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा चमत्कार-वृत्ति, लयात्मक भाषा) के प्रति भी उनका आग्रह नहीं है। छायावादी रचनाओं में इनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रयोगों के प्रति उनकी सहानुभूति नहीं है,—कारण है उनका वस्तुवादी होना। नागार्जुन ने "मांजो और मांजो" शीर्षक कविता में काव्य-वस्तु (अर्थ) को गौण स्थान दे कर शिल्प-चमत्कार को प्रश्रय देने वाले कवि के प्रति निम्नलिखित व्यंग्य प्रस्तुत किया है—

"वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार
ध्वनि और व्यंग पर मरता है संसार
वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान!
शब्द को दिया क्यों अर्थ का दान?
ध्वनि ही ध्वनि देते, देते मात्र लय-तान।"[5]

प्रगतिवादियों द्वारा स्वीकृत काव्य वर्ण्यों को देखते हुए इस मन्तव्य को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। जन-साधारण की मन:स्थिति को वाणी देने वाली कविता में न तो भाषा की सूक्ष्मता अपेक्षित है और न ही उसे जटिल रखा जा सकता है। काव्य-भाषा के ये दोनों रूप क्रमश: कल्पना और चिन्तन को महत्व देने वाली रचनाओं में ग्राह्य हैं। प्रगतिवादी काव्य-सर्जकों ने काव्य के तत्वों की मीमांसा करते समय कल्पना और

१. अवन्तिका, नवम्बर दिसम्बर १९५१, पृष्ठ ४८२
२ हंसमाला, पृष्ठ २२
३ मिट्टी और फूल, पृष्ठ ४३
४. कदली-वन, पृष्ठ ६१
५. हंस, दिसम्बर १९५०, पृष्ठ ७१

चिन्तन में से किसी को भी गौरव नहीं दिया है। उनकी दृष्टि अनुभूति की सरलता पर केन्द्रित रही है, अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रसन्न पदावली ही अपेक्षित है।

आलोच्य कवियों ने भाषा की भाँति अलंकार के विवेचन में भी क्रान्तिकारी दृष्टि का परिचय दिया है। अलंकार मोह को कृत्रिम भाव योजना के लिए उत्तरदायी मान कर नरेन्द्र शर्मा ने स्पष्ट कहा है—

(अ) "यह अलंकार बहु भार मोह के
बंधन हैं, दे तोड़ इन्हें।"[1]
(आ) "वाणी अलंकारप्रिय बन कर,
केवल बोझिल छन्द हो गई।"[2]

काव्य में अलंकार-निरूपण का प्रयोजन शब्द अथवा अर्थ के चमत्कार से क्रमशः सहृदय की बुद्धि अथवा हृदय को प्रभावित करना है। यद्यपि उनकी अस्वाभाविक योजना का कदापि समर्थन नहीं किया जा सकता, तथापि आलोच्य कवि द्वारा उन्हें सर्वथा त्याज्य मानना भी अतिवादी स्थापना है। वस्तुतः उनका प्रतिपाद्य यह होना चाहिए था कि अलंकार काव्य के लिए उसी अवस्था में इष्ट हैं जब कवि उनकी योजना कर के भी भावानुभव की अभिव्यक्ति की ओर मुख्य ध्यान दे सके। अलंकार कविता के लिए साध्य तो नहीं हैं, किन्तु वे उसके सौन्दर्य विकास में उपयोगी साधन अवश्य हैं। यद्यपि उर्दू की इस उक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि "नहीं मुहताज ज़ेवर का, जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी", तथापि इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि अलंकार विधान का एकान्त तिरस्कार किया जाए। सत्य से मुखरित अलंकार विहीन कविता में मानव-मन को प्रभावित करने की क्षमता आ अवश्य सकती है, किन्तु स्वाभाविक अलंकार-संघटन से इस प्रभाव की हानि नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में उर्दू के प्रसिद्ध कवि डॉ० इकबाल का यह मत सर्वथा ग्राह्य है—"स्वाभाविक अर्थ-लालित्य (हुस्नेमानी) को कवि की ओर से शृंगार-सज्जा (मश्शातगी) की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि प्रकृति लाला के फूल का मेंहदी से स्वतः शृंगार करती है"—

"मेरी मश्शातगी की क्या ज़रूरत हुस्नेमानी को,
कि फितरत ख़ुद ब ख़ुद करती है लाला की हिनाबन्दी।"[3]

प्रगतिवादी कवियों ने अलंकार के नैसर्गिक विधान पर बल देने के अतिरिक्त अनावश्यक छन्द बन्धन के त्याग को भी काव्य का गुण माना है। यद्यपि इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध नहीं होता, तथापि महात्मा गान्धी की मृत्यु के उपरान्त उनके विषय में नरेन्द्र शर्मा के इस उद्‌गार से इसका संकेत अवश्य मिल जाता

---

१. हंसमाला, पृष्ठ १३
२. कदली-वन, पृष्ठ ८६
३. डॉ० इकबाल और उनकी शायरी (हरलाल चोपड़ा), पृष्ठ ६

है--"जो प्रबन्ध है उसे छन्द के प्रति कैसी अनुरक्ति ?"[1] यहाँ "प्रबंध" से कवि का अभिप्राय गान्धी जी के चरित्र से है किन्तु इसे काव्य के वर्ण्य मात्र के लिए भी ग्रहण किया जा सकता है। इस अर्थ को ग्रहण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को छन्द-योजना करते समय भाव प्रवाह की सुरक्षा की ओर उचित ध्यान देना चाहिए।

विशिष्ट काव्य-मत

प्रगतिवाद को गति प्रदान करने वाले कवियों ने आधुनिक युग की विविध काव्य-प्रणालियों में से एक ओर काव्य में यथार्थ और आदर्श की अभिव्यक्ति का विवेचन किया है और दूसरी ओर प्रगतिशील कविता के स्वरूप की मीमांसा की है। आगे हम इनके विषय में उनकी धारणाओं का क्रमश पर्यालोचन करेंगे।

काव्यगत यथार्थ और आदर्श

आलोच्य काव्य-धारा के अन्तर्गत यथार्थवाद और आदर्शवाद के स्वरूप की अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा की गई है। साधारणतः इन दोनों काव्य-मतों को परस्पर विरोधी माना जाता है, किन्तु "अंचल" ने इनमें से किसी के प्रति पूर्वाग्रह न रख कर इन्हें एक-दूसरे के लिए पूरक के रूप में ग्रहण किया है। उनके अनुसार, "आदर्श और यथार्थ दोनों उपलक्ष्य हैं, लक्ष्य नहीं—साधन हैं, साध्य नहीं। × × × × × कला दोनों से जीवन के रंग और रूप ले कर, दोनों से प्राण-स्रोत खींच कर भी दोनों से परे होगी।"[2] तात्पर्य यह है कि काव्य-वस्तु को सजीवता प्रदान करने में इन दोनों सिद्धान्तों का अपना अपना महत्व है। यथार्थ जगत् की अनुकृति से काव्य में अनुभूति की स्वच्छता का समावेश होता है और आदर्श विचारों की स्थापना से उसमें शाश्वत गरिमा आती है। काव्यगत यथार्थ की वस्तुवादी वृत्ति को संयमित करने में आदर्शवाद का विशेष योग रहता है। इसी प्रकार आदर्शवाद की नीति और संस्कृति विषयक दम्भ में परिवर्तित न होने देने के लिए यथार्थवाद सतत जागरूक रहता है। "अंचल" ने कलाकार के लिए इन दोनों के अनुशीलन को आवश्यक माना है—"यथार्थवाद मेरे लिए एक चित्रण शैली है, जीवन-दर्शन नहीं और आदर्शवाद मेरे निकट जीवन-हीन परम्पराओं का दास बनाने वाला मतवाद नहीं, वरन् एक क्रान्तिमुखी मर्यादा है।"[3] इस उक्ति में कवि के दृष्टिकोण की समतुल्यता को सहज ही देखा जा सकता है—विशेषता यह है कि प्रगतिवादी होने पर भी उन्होंने आदर्श के समक्ष यथार्थ की वस्तुमत्ता को अधिक आदर नहीं दिया है।

प्रगतिवाद-विषयक विचार

उपर्युक्त काव्यांगों का प्रगतिवाद के आलोक में अध्ययन करने के उपरान्त प्रगति-

---

१. रक्त-चन्दन, पृ० ६७

२. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ४५

३. मैं इनसे मिला, भाग २, पृ० १९७

वादी रचना-धारा के स्वरूप का स्वतन्त्र विवेचन भी अपेक्षित है। इन कवियों के अति-रिक्त सुमित्रानन्दन पन्त और रामधारीसिंह "दिनकर" ने भी प्रगतिवाद की मीमांसा में भाग लिया है। यद्यपि इस समय व इस काव्य धारा से सम्बन्ध विच्छेद कर चुके हैं और उनकी उक्तियाँ भी प्रकीर्ण रूप में ही उपलब्ध हैं तथापि उन्होंने इसके स्पष्टीकरण में तटस्थ आलोचकों की भाँति जो योग दिया है वह महत्वपूर्ण है। आलोच्य कवियों के प्रगति-वाद-विषयक मन्तव्यों का परीक्षण करने पर प्रस्तुत काव्य धारा में इन प्रवृत्तियों को लक्षित किया जा सकता है—नवीन सामाजिक जागृति, राजनैतिक चेतना, कल्पना की अतिशयता का निषेध और वैयक्तिक प्रवृत्ति का विरोध। इनकी विस्तृत मीमांसा के अति-रिक्त उन्होंने प्रगतिवाद के दोषों की सहृदयतापूर्वक चर्चा की है। आगे हम उनकी मान्य ताओं का क्रमश पर्यालोचन करेंगे।

१ नवीन सामाजिक जागृति

प्रगतिवादी कवियों ने अर्थ प्रेरित वर्ग-संघर्ष को मानव-मुक्ति में बाधक मानकर सामाजिक जागरण की नवीन भूमिका प्रस्तुत की है। उनके विवेचन का मूल आधार द्वन्द्वा-त्मक भौतिकवादी चेतना है—उसके प्रभाव को समाप्त कर जीवन में समरसता की स्थापना उनका ध्येय विशेष है। इस सम्बन्ध में नरेन्द्र शर्मा की यह उक्ति द्रष्टव्य है—"प्रगति-वाद साहित्य और कला के क्षेत्र में वह सक्रिय मतवाद विशेष है जो—समाज की प्रगति में व्यक्ति की प्रगति तथा व्यक्ति की प्रगति में समाज की प्रगति जानता है।"[1] समाज और व्यक्ति के सापेक्षिक महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि लोक-मंगल की साधना काव्य का आन्तरिक प्रयोजन है। प्रगतिवादी रचनाकार मानव की भौतिक काम-नाओं का व्यक्तिगत आधार पर विश्लेषण न करके उनके समाधान के लिए सामाजिक क्षेत्रों का अन्वेषण करता है। इस प्रकार उसका ध्येय मानवता के विकास के लिए पृष्ठा-धार की प्रस्तुति है। "अचल" के शब्दों में, "*प्रगतिवादी कला विलासिता या अलस बौद्धि-कता की हिमायती नहीं है। वह दुर्धर्ष मानवता का विकासोन्मुख आदर्श-प्रेरित किन्तु यथार्थ जीवन दर्शन सामने रखती है।*"[2] प्रस्तुत उक्ति से स्पष्ट है कि प्रगतिशील सामा-जिक मान्यताएँ आदर्श और यथार्थ के समजन पर आधृत रहती हैं। विलास के सामन्तीय उपकरणों और बौद्धिक जड़ता का विरोध उसकी अपनी विशेषता है और इस दृष्टिकोण की सार्थकता भी स्पष्ट है। जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को समाप्त कर समाज विकास की पीठिका प्रस्तुत करने का विरोध कौन करेगा? तथापि इसमें सन्देह नहीं कि स्थूल वस्तुसत्ता के आग्रह में सूक्ष्म नैतिक आदर्शों का तिरस्कार कवि का धर्म नहीं है। प्रगतिवादियों ने सूक्ष्म के स्थान पर स्थूल की प्रतिष्ठा और वर्ग क्रान्ति के प्रचार को अधिक महत्व दिया है—अत उनकी रचनाओं में रस की मार्मिकता का सर्वत्र प्रसार नहीं हो सका है। स्थूल के

---

१ आलोचना, जुलाई १९५२, पृष्ठ ८८

२ समाज और साहित्य, पृष्ठ ७७

प्रति उनके आग्रह को पन्त जी की "स्वप्न और सत्य" शीर्षक कविता में निम्नलिखित अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है—

"स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव संस्कृति निर्माण,
स्थूल-युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !"[1]

सत्य, शिव और सुन्दर को काव्य के लिए अपेक्षित मान कर भी उन्हें स्थूलता की ओर प्रवृत्त रखना दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस नवीन परिभाषा के अन्तर्गत स्थूल को ही सूक्ष्म का प्रतिनिधि माना गया है, किन्तु यह सिद्धान्त मूलतः पन्त के काव्य की अन्तश्चेतना के विरुद्ध है—क्योंकि उन्होंने न तो अपनी पल्लवकालीन रचनाओं में इसे स्थान दिया है और न उनकी नवीनतम कृतियों (शिल्पी, रजतशिखर, अतिमा, वाणी, सौवर्ण) में ही इसे मुख्य अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है—तथापि उन्होंने उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में इसे पर्याप्त सशक्त शब्दों में प्रतिपादित किया है। उन्हें स्थूल का "जन-चेतना की अभिव्यक्ति" वाला अर्थ मान्य रहा है और उनकी परवर्ती कृतियों में उसके इसी अर्थ की व्याप्ति मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित है कि प्रगतिवाद में यथार्थ और आदर्श के समन्वय द्वारा मानव की ऐहिक उन्नति की कामना की जाती है, किन्तु इनमें से प्रधानता वस्तुवादी दृष्टि की ही होती है। वस्तु चित्रण से उनका अभिप्राय सामाजिक अर्थ-तन्त्र को वाणी देने से है। नागार्जुन ने २५ सितम्बर, सन् १९४९ को इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए इसी मत के फलस्वरूप कहा था—"सर्वसाधारण जनता को ही हम अपनी अधिस्वामिनी समझते हैं। हमारी सारी प्रेरणाओं और कल्पनाओं का मूल स्रोत यही है।"[2] इस धारणा को लेकर काव्य-रचना करने में तो कोई दोष नहीं है, किन्तु इसके पीछे स्वस्थ प्रेरणाओं का होना नितान्त आवश्यक है। सर्वसाधारण के सुख-दुख की गाथा प्रस्तुत करते समय पूँजीवाद के प्रति घृणा का प्रचार नहीं किया जाना चाहिए। मानव-हृदय की प्राकृत भावनाएँ केवल अर्थ-विधान के प्रश्न से सम्बद्ध नहीं हैं, उनके पीछे एक व्यापक सांस्कृतिक चेतना भी है। काव्य को समाजवादी धारणाओं के प्रचार का साधन मानने वाले कवि इस तथ्य का अन्तरंग दर्शन नहीं कर पाए हैं, किन्तु वास्तविकता यही है कि काव्य को केवल वर्ग-क्रान्ति का उद्घोषक नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में कविवर "दिनकर" की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—"वर्गहीन समाज की स्थापना का प्रयत्न धन की तामसिक प्रभुता की प्रतिक्रिया का परिणाम है, किन्तु साहित्य मनुष्य की व्यापक और नित्य-अनित्य सभी प्रकार की भावनाओं का गुम्फन है। × × × × × क्या वर्गहीन समाज के लोग प्रेम और विरह, तृष्णा और वासना,

१. ग्राम्या, पृष्ठ ६४
२. हंस, जनवरी १९५०, पृष्ठ ४५

राग और मोह, रूप के वाण और आध्यात्मिक चिन्ताओं से परे हो जाएँगे।"[1] उनके सहयोगी कवियों म "अचल' का दृष्टिकोण भी यही है—

(अ) "केवल व्यग्य और विपाक्त भावुकता कविता नहीं है। आज नव जागरण और सास्कृतिक परम्परा का रसमय समन्वय करने की आवश्यकता है। पन्त से ले कर छोटे से छोटे प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवि ने इस महान् सत्य को समझ लिया है।"[2]

(आ) "जन बल की दुर्दम शक्तियों का लौकिक सत्य और असत्य से सघर्ष (मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक भूमिका में) जब तक काव्य की मूल रसधारों से सम्पर्क और दृढ पारस्परिक विश्वास नहीं स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ में सच्चे प्रगति-काव्य की रचना असभव है।"[3]

इन अवतरणों से सिद्ध है कि काव्य का लक्ष्य रस का परिपाक अथवा आनन्द की अभिव्यक्ति है—राजनीति के सिद्धान्त विशेष का प्रचार उसकी परिधि से बाहर है। भाव-सत्य की उपेक्षा कर वस्तु सत्य के एकागी निर्धारण को महत्व दना कहाँ तक समीचीन है ? नरेन्द्र शर्मा ने सत्तव्य मे वस्तु-दृष्टि को भावात्मकता स सम्पन्न करन पर बल दे कर इस धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है—"वस्तुजगत् और भावजगत् परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। वह तो परस्पर सम्बद्ध है, रहे हैं और रहेंगे। दोनों के पक्षपातियों का एकागी दृष्टिकोण केवल अर्धसत्यों का पोषण करता रहा है।"[4] कवि का धर्म ससार को बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से परखना नहीं है, उसे मानव-हृदय की रागात्मकता को अक्षुण्ण रखना होता है। अस्थायी काव्य मतों म उलझ कर कवि रस की उपेक्षा कर बैठता है। वस्तु-सत्य के महत्व को स्वीकार करने पर भी कवि को उसके प्रति मोह नहीं रखना चाहिए। नरेन्द्र शर्मा ने अपनी वाणी को सम्बोधित करते हुए उक्त अभिप्राय को इस प्रकार प्रकट किया है—

"सब वाद विवाद सामयिक हैं,
तू मुक्त हृदय कर जग दर्शन।"[5]

उनके अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त और "दिनकर" का दृष्टिकोण भी यही रहा है। पन्त जी ने प्रगतिवाद से वर्ग क्रान्ति के सन्देश को निष्कासित कर उसमे जन हित की आदर्शवादी चर्चा की कामना की है। उनका उद्देश्य आदर्शवाद की भारतीय और मार्क्सवादी व्याख्याओं म सन्तुलन स्थापित करना है—"मैंने मार्क्सवाद के लोक-सगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद दोनों का सश्लेषण करने का प्रयत्न किया है।"[6] इस उक्ति से स्पष्ट है कि पन्त जी की मनसा पर किसी प्रकार के

---

१ रसवन्ती, भूमिका, पृष्ठ ३
२ हिन्दी साहित्य अनुशीलन, पृष्ठ ३०१ ३०२
३ लाल चूनर, भूमिका, पृष्ठ २
४ कदलीवन, भूमिका, पृष्ठ ५
५ हसमाला, पृष्ठ १३
६ गद्य-पथ, पृष्ठ ८३

पूर्वाग्रह का भार नहीं रहा है। यदि प्रगतिवादी कवि इसकी सार्थकता को समझने का प्रयास करते तो इस काव्य धारा का स्वस्थ आधार पर विकास हो सकता था। इस आस्था के अभाव में प्रगतिवादी साहित्यकारों के विचार दम्भ मात्र रह जाते हैं। नागार्जुन की यह उक्ति इसका प्रमाण है—"सबसे महत्वपूर्ण अच्छी और जानदार चीजें आज मजदूर वर्ग के लेखकों द्वारा लिखी जा रही हैं।"[1] इस धारणा को उनके अतिरिक्त और कौन स्वीकार करेगा? प्रगतिवादी रचनाकारों की ऐसी मिथ्या धारणाओं और वर्ग संघर्ष के प्रति उनकी अटूट आस्था को लक्षित कर के ही "दिनकर" ने यह प्रतिपादित किया है—"मुझे लगता है कि प्रगतिवाद साहित्यिक आन्दोलन ही नहीं था। अधिक से अधिक उसे हम वैचारिक आन्दोलन कह सकते हैं।"[2] अतः यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवि को समाज दर्शन के लिए विशाल हृदयता का परिचय देना चाहिए। सर्वहारा-वर्ग की आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति का उद्घोष मात्र पर्याप्त नहीं है। समाज को नव जागृति प्रदान करने के लिए नवीन लोक-संगठनात्मक आदर्शों की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।

२ राजनैतिक चेतना

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि प्रगतिवादी काव्य तभी सफल हो सकता है जब उसमें मानव मैत्री, सौन्दर्य बोध तथा सांस्कृतिक चेतना को नवीन रूप में समन्वित किया जाए। दुर्भाग्यवश प्रगतिवादी काव्य में इस लक्ष्य की पूर्ण परिणति सम्भव न हो सकी। इसका कारण यह है कि उसके साहित्यकारों ने उसे राजनीति के सिद्धान्त विशेष (साम्यवाद) से सम्बद्ध कर उसमें स्थायी और स्वतन्त्र मत की स्थापना के लिए अवकाश न रहने दिया। पन्त जी ने प्रगतिवाद की इस दुर्बलता को स्वीकार किया है, किन्तु वे इसे अस्थायी मानते हैं। उनका मत है कि प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य मानवतावादी दृष्टिकोण की स्थापना द्वारा मानवीय संस्कृतियों में समन्वय की भूमिका प्रस्तुत करना है। यथा—

"प्रगतिवाद के अन्तर्गत आपको जो एक राजनीति संघर्ष से बोझिल विचार तथा भावना धारा मिलती है उसे प्रगतिवाद का निम्नतम धरातल अथवा अस्थायी स्वरूप समझना चाहिए। अपने स्थायी अथवा परिपूर्ण रूप में वह एक सांस्कृतिक धरातल की सृजनात्मक चेतना है जिसका उद्देश्य विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के विभेदों से मनुष्य की चेतना को मुक्त कर उसे युग परिस्थितियों के अनुरूप व्यापक मनुष्यत्व में सवारना है।"[3]

इस उद्धरण में प्रगतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी भावी उपलब्धियों की आदर्शवादी दृष्टिकोण से सम्भावना की गई है, किन्तु आलोच्य काव्य धारा के अब तक के विकास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पन्त जी की उपर्युक्त घोषणा को प्रगतिवादी कवियों ने क्रियात्मक रूप नहीं दिया। राजनैतिक विचार धारा

१. हंस, जनवरी १९५०, पृष्ठ ४५
२ चक्रवाल, दो शब्द, पृष्ठ २
३. गद्यपथ, पृष्ठ २०६

से आवश्यकता से अधिक प्रभावित रहने के कारण वे स्वस्थ प्रेरणाएँ उपस्थित करने में प्रायः असफल रहे हैं। पन्त जी ने इस दिशा में अपनी ओर से योग तो दिया है, किन्तु प्रगतिवादी साहित्य में राजनीति के प्रति पूर्वाग्रह को लक्षित कर अन्ततः उन्होंने इस काव्य-धारा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

प्रस्तुत काव्य मत की समीक्षा करने वाले अन्य कवियों में से "दिनकर" का मत भी यही है। उन्होंने प्रगतिशील कविता को विकासमग्न रचना के अर्थ में ग्रहण किया है, उसे साम्यवाद का पर्याय मानने की संकुचित दृष्टि उन्होंने भी नहीं अपनाई है। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति इस प्रकार है—"प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि, नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चर्वण, पुरातन-विजृम्भन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं।"[1] परम्परागत रूढ़ियों का विरोध कर नवीन जीवन दृष्टि को महत्व देने वाले काव्य को प्रगतिशील मानना कवि के सन्तुलित विवेक का परिचायक है। काव्य को राजनीति के सिद्धान्त-विशेष से सम्बद्ध करना उसके विकास को सीमाबद्ध कर देना है। तथापि प्रगतिवाद के प्रति आग्रही कवियों ने उसे राजनीति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में सहायक अवश्य माना है। इस सम्बन्ध में "अचल" की उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(अ) "प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाता है तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती।"[2]

(आ) "प्रगतिवादी के सामने सबसे पहली समस्या है उस समाज को बदलने की—सुधार के द्वारा नहीं वरन् साम्यवादी क्रान्ति के माध्यम से—जो मनुष्य के मनुष्यत्व को पग-पग पर प्रताडित करता है।"[3]

इन गद्यांशों में मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद को प्रगतिवाद का प्रायः पर्याय ही माना गया है, किन्तु काव्य और राजनीति को अन्योन्याश्रित मानने का सिद्धान्त व्यवहारतः अनुचित है। स्वयं "अचल" ने भी साम्यवाद के प्रति एकान्त निष्ठा को महत्व न दे कर कवि को अन्य सामाजिक-राजनैतिक विचार-धाराओं के प्रति सहिष्णुता रखने का सन्देश दिया है। इस सम्बन्ध में उनका वक्तव्य इस प्रकार है—"प्रगतिवाद मार्क्सवाद को आधार मान कर चलता है। यहाँ तक ठीक है। पर दूसरे जीवन-दर्शनों को वह उपेक्षा की दृष्टि से क्यों देखता है? गान्धीवाद के प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त भी मानवता के कल्याण के उतने ही बडे उपकरण हैं।"[4]

इस मीमांसा के बल पर यह कहा जा सकता है कि साम्यवादी विचार-धारा से प्रभावित होना प्रगतिवादी कवि के लिए स्वाभाविक है, किन्तु उससे अप्रभावित होना काव्य का दूषण है। इस स्थान पर यह भी विचारणीय है कि प्रगतिवादी कवि का राष्ट्रीय

१. रसवन्ती, भूमिका, पृष्ठ ?
२. समाज और साहित्य, पृष्ठ २
३. समाज और साहित्य, पृष्ठ १४६
४. काव्य-संग्रह, भाग ?, भूमिका, पृष्ठ ६७

विचार धारा से कितना सम्बन्ध होता है ? साधारणतः प्रगतिवाद को राष्ट्र विरोधी माना जाता है, किन्तु "अंचल" ने राष्ट्र प्रीति के कथन को उसका स्वाभाविक गुण माना है। यथा—

"प्रगतिवाद को जो लोग राष्ट्रीयता का विरोधी मानते हैं, वे भूल करते हैं। प्रगतिवाद केवल पूँजीवाद का विरोधी होता है, सामन्तवाद का विरोधी होता है और जनता की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनने वाले जो इतर वाद हैं, उनका विरोधी होता है, राष्ट्रीयता का नहीं।"[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रगतिवाद मुख्यतः सामाजिक आन्दोलन है। समाज की उन्नति का अर्थ राष्ट्र की उन्नति भी है किन्तु इसके लिए केवल साम्यवाद का आधार लेना उपयुक्त न होगा। प्रगतिशीलता को महत्व देने वाले कवि का राष्ट्रीय दृष्टिकोण उदार होना चाहिए। अंचल के शब्दों में "प्रगतिशील कविता में हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं, नव निर्माण की प्रवृत्तियों और रचनात्मक प्रेरणाओं की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[2] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवि काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के प्रति जागरूक रहता है तथापि राष्ट्रीयता का स्थान देते समय उसे यह न भूलना चाहिए कि साम्यवाद का एकान्त प्रचार काव्य का लक्ष्य नहीं है।

३ कल्पना की अतिशयता का निषेध

प्रगतिवादी काव्य का उद्‌भव छायावादी कविता की सूक्ष्मता के प्रति विरोध-स्वरूप हुआ था। अतः उसमें कल्पना की मोहकता के स्थान पर वस्तु-सत्य के प्रतिपादन को विशेष महत्व दिया गया है। इस दृष्टि से 'दिनकर' ने कल्पित भाव-लोक के स्थान पर कृषकों की ज्वलन्त समस्याओं के प्रतिपादन को काव्य का लक्ष्य माना है और नरेन्द्र शर्मा ने शब्दों के उन नवीन सूक्ष्म अर्थों को अस्वीकार किया है जिन्हें छायावादी कवियों ने कल्पना और प्रतीक-योजना के आधार पर निर्मित किया था। इस सम्बन्ध में उनकी उक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(अ) "सुनना हो जिनको, सुनें, कि मैं मायापुर में
रंगों के मोहक पाश तोड़ने आया हूँ,
जो प्राण खेत की पगडंडी पर दौड़ रही
सुरपुर में उसकी लपट छोड़ने आया हूँ।"[3]

(आ) "नहीं पनपते आज कल्पना के कोमल अंकुर।
शब्द वही, पर अर्थ नहीं वह, बदली परिभाषा।"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि काव्य में स्वप्न-जाल (मायापुर) के स्थान पर

---

१ मैं इनसे मिला, भाग २, भूमिका, पृष्ठ १८२-१८३
२ काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६८
३ नील कुसुम, पृष्ठ ७८
४ मिट्टी और फूल, पृष्ठ ७१

वस्तु-दृष्टि को महत्व प्राप्त होना चाहिए। इसी प्रकार कल्पना द्वारा अभिव्यञ्जना को सूक्ष्मधर्मी बनाने के स्थान पर जन-साधारण की सहज भाषा का प्रयोग कवि का अभीष्ट है। सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से ये विचार सुन्दर हैं, किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत इनके प्रति एकान्त आग्रह अनुचित होगा। वस्तु से विमुख करने वाली और मोहक शब्द जाल में बँधी हुई कल्पना का तिरस्कार तो स्वाभाविक है, किन्तु वस्तु-व्यापार की रूपरता का सस्कार करने में उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में "अचल" की यह उक्ति पर्याप्त सार्थक है—"भ्रान्तिवाद को सपनों से आपत्ति नहीं है। परन्तु वे स्वप्न एक नूतन, सुन्दर, परिपूर्ण और आदर्श जीवन के निर्माण के प्रतीक होने चाहिएँ।"[1]

४ वैयक्तिक प्रवृत्ति का विरोध

कल्पना के आतिशय्य का विरोध करने के अतिरिक्त प्रगतिवादी रचनाकारों ने उसे कवि की व्यक्तिगत चेतना का परिणाम भी नहीं माना है। काव्य को सामाजिक क्रिया के रूप में मान्यता दे कर नरेन्द्र शर्मा ने इस विषय में ये विचार प्रस्तुत किए हैं—

"यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पा कर पैदा होने वाले अन्तर के अविश्वास (नाशवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा तब तक वह अपने क्षयरोग का उपचार न कर सकेगा। उसे अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित करने के लिए उसे पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रह कर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।"[2]

काव्य में जीवन-चेतना की स्वस्थ अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनमें से नाशवाद और दुःखवाद के त्याग का समर्थन किया जा सकता है, किन्तु कविता को मुख्यतः समाज तथा राजनीति से सम्बद्ध रखने का सुझाव चिन्तनीय है। यह सत्य है कि सामाजिक चेतना का अवलम्बन लेने से वर्तमान युग की अनियन्त्रित व्यक्तिवादी कविता को नियन्त्रित करने में सहयोग मिलेगा, किन्तु समाज को केवल साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुकूल वाणी देना श्रेयस्कर न होगा। प्रगतिवाद में कवि की अन्तर्मुखी दृष्टि (व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति) के स्थान पर बहिर्मुखी विचार-धारा (सामाजिक क्रियाओं का उल्लेख) को महत्व देते हुए "अचल" ने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किए हैं—

(अ) "आज की प्रगतिशील कविता एक नवीन हृदय धर्म और बुद्धि-धर्म चला कर—व्यक्ति के अहम् को समष्टि के जागरण का रूप दे कर अपनी एक दृष्टि निश्चित कर चुकी है और उसी का विनियोग जीवन के अंग प्रत्यंग में करा के एक नवीन मानवता के निर्माण के लिए संघर्ष कर रही है।"[3]

---

१. समाज और साहित्य, पृष्ठ २६
२. प्रवासी के गीत, वक्तव्य, पृष्ठ ५
३. किरण-वेला, भूमिका, पृष्ठ "ख"

(आ) "प्रगतिवाद का लक्ष्य ही उस समाज की स्थापना है जिसमें व्यक्ति और समाज के पार्थक्य की रेखा न होगी। उस वैयक्तिक अनुभूति का क्या महत्व है जो व्यक्तित्व को सर्वप्रधान बना कर समाज के लिए अपरिचित रह जाती है ?"[१]

समाजवादी जीवन धारा में व्यक्ति को पृथक् महत्व न देकर उसे समाज की एक इकाई के रूप में ग्रहण किया जाता है। यह दृष्टिकोण सामाजिक क्षेत्र के लिए तो उपयोगी हो सकता है, किन्तु साहित्य रचना के लिए इसका अवलम्बन नहीं लिया जा सकता। काव्य का सम्बन्ध आत्माभिव्यक्ति से है—कवि लोक दर्शन को महत्त्व देने पर भी काव्य में समाज के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं को वाणी देता है। डॉ० नगेन्द्र ने भी "प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य" शीर्षक लेख में इस मन्तव्य को इन शब्दों में प्रकट किया है—"साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक और सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई, और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है।"[२]

प्रगतिवाद के पराभव के कारण

प्रगतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त, नरेन्द्र शर्मा और "अचल" ने उसके पराभव के कारणों की भी समीक्षा की है। पन्त जी ने इस प्रसंग में छायावाद और प्रगतिवाद की तुलना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि छायावाद की रागात्मक वैयक्तिकता और सौन्दर्यमयी आदर्शवादिता प्रगतिवाद में वस्तु-प्रधान सामाजिकता में परिणत हो गई। इसी प्रकार उसमें विद्यमान भावों की सुरुचि-पूर्ण उदारता के स्थान पर प्रगतिवाद में वर्ग संघर्ष से प्रेरित संकीर्णता का आश्रय लिया गया। स्पष्ट है कि जिस प्रकार छायावाद अपनी अतिसूक्ष्मता के कारण अस्पष्ट रहा उसी प्रकार प्रगतिवाद भी स्वस्थ विचारों के अभाव में असफल रहा। इस विषय में पन्त जी के विचार इस प्रकार हैं—

"छायावाद का प्रारम्भिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने की हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट् चेतना के प्रति एक क्षीण दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा।"[३]

इस अवतरण से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवियों ने एकांगी दृष्टिकोण के फल-स्वरूप स्वस्थ सामाजिक प्रेरणाओं को अभिव्यक्ति नहीं दी है। इसका कारण है अनुभूति की सबलता का अभाव। नरेन्द्र शर्मा ने इस प्रसंग में उन पर यह आरोप लगाया है कि

१. काव्य-संग्रह, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ६२
२. काव्य चिन्तन, पृष्ठ ६६
३. गद्यपथ, पृष्ठ १३५-१३६

मध्यवर्गीय प्राणी होने के नाते प्राय वे साधारण जनता के सम्पर्क में नहीं आते और उनकी रचनाओं में मार्मिकता का उपयुक्त समावेश नहीं हो पाता। यथा—

"हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनके संस्कार और उनकी जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता के लिए वे दुरूह हैं। जनता उनके अस्तित्व से भी अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण ग्राहक कहाँ मिलेंगे ?"[1]

इस अवतरण से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी रचना में पूँजीवाद और मध्यवर्गीय जीवन-धारा के स्थान पर सर्वहाराओं के जीवन का चित्रण होना चाहिए। इसके लिए कवि को पूर्व संस्कारों का त्याग कर जनता के जीवन में घुल मिल जाना होगा, अन्यथा उसकी रचना में सक्रिय सजीवता न आने पाएगी। "अचल" की इस उक्ति में भी प्रगतिवाद की असफलता के लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति की अपरिपक्वता को दोषी ठहराया गया है—

"प्रगतिवादी कविता में काव्य का व्यापक और महान् सत्य—आत्मानुभूति का निचोड़—कम उतरा है। प्रगतिवाद ने नई शैलियाँ और नए प्रयोग तो दिए हैं पर नए प्राणों का निर्माण वह नहीं कर पाया। ये कवि समय की उन शक्तियों को धुंधले रूप में ही पहचान पाए जो भविष्य का निर्माण करती हैं। ये कवि सामाजिक सत्य का अनुभव तो कर पाए, उसे अपने काव्य द्वारा लोक धर्म और विश्वबोध में परिणत न कर सके। कविता नई जीवन-भूमि पर जा कर भी अपने लिए अधिकाधिक प्राण-पोषक तत्त्वों का संचय न कर सकी। प्रगतिवाद बहुत जल्द रूढ़ और गतिहीन हो गया।"[2]

प्रगतिवाद की अनुपलब्धियों पर उसके विरोधी आलोचकों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, किन्तु इन पंक्तियों का महत्व इसलिए अधिक है कि इनमें प्रगतिवाद के एक कट्टर समर्थक ने उसके दोषों का उल्लेख किया है। उनके आरोप सर्वथा समीचीन हैं—सस्ती सामयिकता के फेर में प्रगतिवादी कवि जीवन के आन्तरिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति लगभग उदासीन रहे। फलत उनकी रचनाओं में आत्मानुभूति की दीप्ति से आने वाली शाश्वत गरिमा का अभाव रहा। यदि उन्होंने साम्यवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रति व्यर्थ का आग्रह न रख कर मानवतावाद की प्रतिपत्ति पर बल दिया होता तो उन्हें अधिक सफलता मिल सकती थी।

सिद्धान्त-प्रयोग

प्रगतिवादी काव्यकारों ने मुख्यत काव्य की आन्तरिक समृद्धि में योग देने वाले तत्वों और विशिष्ट काव्य-मत का विवेचन किया है, तथापि काव्य के कला-पक्ष के विषय में उनके विचारों के रचनागत रूप की भी संक्षिप्त समीक्षा की जा सकती है।

१ काव्य का अन्तरंग

आलोच्य कवियों ने काव्य के भाव-पक्ष की पुष्टि के लिए दो बातों को आवश्यक

१. अवामी के गीत, वक्तव्य, पृष्ठ ४
२ काव्य-संग्रह, भाग २, भिक्षा, पृष्ठ ६५

माना है—(अ) काव्य लोक-सगठन का साधन है, अत उसमे वर्ग-संघर्ष एव भौतिक यथार्थवाद का शान्तिपरक उल्लेख अभीष्ट है, (आ) काव्य का अन्तरग तत्व रस है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिए केवल आर्थिक-सामाजिक समस्याएँ और स्वस्थ काम भावनाएँ ही साधन रूप हैं। समाज के पुनर्निर्माण के लिए क्रान्ति का आह्वान् सभी प्रगतिवादी कवियो ने किया है, किन्तु उन्होने प्राय सघर्ष को ही वाणी दी है, समन्वय का गुण उनकी रचनाओं म अधिक नही है। नरेन्द्र शर्मा ही एकमात्र कवि हैं जिन्होंने "लाल निशान जैसी कविताओं[1] म क्रान्ति के उग्र रूप का समर्थन करने पर भी अपनी उत्तरवर्ती रचनाओ मे वर्ग-द्वन्द्व को महत्व नही दिया है। भौतिक यथार्थ का उल्लेख करते समय वे प्राय मन सगठन के महत्व को नही भूले हैं। फलत उनकी रचनाएँ केवल पूँजीवाद और समाजवाद के वैषम्य को प्रकट नहीं करती, उनमे सास्कृतिक प्रभाव भी विद्यमान हैं। उनके सहयोगी कवियो मे "अचल" ने "करील" और "किरण-वेला"[2] की अधिकाश कविताओं मे और "लाल चूनर", "मधूलिका" तथा "विराम चिन्ह" की "मज़िल", "आज मरण की ओर", "दलित उत्पीडित मनुज" आदि कविताओं मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, युग-चेतना और जन-क्रान्ति को व्यापक स्थान दिया है। 'सुमन' की "प्रलय-सृजन", "जीवन के गान" और 'विश्वास बढता ही गया" शीर्षक कृतियो की अधिकाश कविताओ मे भी इन्हीं प्रवृत्तियों को स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रगतिवादी कवियो ने अपनी रचनाओं मे राजनीति, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र का आधार लेकर विशेषत बाह्य जगत् का उल्लेख किया है। मानव जीवन के अन्तर्बाह्य निरूपण के अभाव मे उनकी भावनाओं पर बुद्धि का अकुश रहा है। व्यक्तिवाद के प्रति अनास्था के फलस्वरूप उनके चिन्तन की दिशा भी लगभग एक सी रही है। परिणामत स्वतन्त्र अनुभवो और वैविध्य का अभाव उनकी कविताओं को उन्मुक्त रस से युक्त नहीं होने देता। हाँ, "प्रभातफेरी", "प्रवासी-गीत", "अपराजिता", 'मधूलिका", 'पर आँखें नही भरी" आदि कृतियों की अधिकाश प्रेम-कविताओं में रस माधुरी की ओर भी उचित ध्यान दिया गया है। साधारणत ऐसी कविताओं मे सयोग-वियोग की एकान्तिक अनुभूतियों का स्वच्छ उल्लेख हुआ है। यद्यपि "अचल" की कुछ कविताएँ अश्लील रूप मे वासना की छाप भी लिए हैं, किन्तु उनमे आसक्तिजनक स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवि भौतिक यथार्थ के चित्रण मे सफल रहे हैं, किन्तु यदि उन्होंने वैयक्तिक विकास की उपेक्षा न की होती तो वे अधिक स्फूर्तिदायी कविता लिख सकते थे।

२ काव्य का कला-पक्ष

आलोच्य कवियो मे काव्य-शिल्प की दृष्टि से नरेन्द्र शर्मा और नागार्जुन ने भाषा की सहजता पर विशेष बल दिया है। नरेन्द्र जी की रचनाओं मे इस प्रवृत्ति का उपयुक्त

---

१ देखिए "हस", अप्रैल १९४७, पृष्ठ ७१६

२. देखिए "किरण-वेला", पृष्ठ ५३, ७०, ८२, ९८

विकास उपलब्ध होता है। "रक्त चन्दन" को अपवाद-रूप में छोड़ कर उनकी कृतियों में भाषा की सहजता और भावानुकूलता को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। प्रतीक-विधान की जटिलता से काव्य में आने वाली अस्पष्टता के दोष से भी उनकी भाषा मुक्त रही है। नागार्जुन की "चातकी", "मुस का पुतला", "शान्ति का मोर्चा" आदि कविताओं में भी भाषा की स्पष्टता अथवा अभिधा वृत्ति को प्रत्यक्ष स्थान प्राप्त हुआ है।[1] भाषा की अस्पष्टता की भाँति नरेन्द्र शर्मा ने काव्य में अलंकार-मोह और छन्द-बन्धन की कृत्रिमता को भी त्याज्य माना है। व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने अपनी भावनाओं को अलंकार-भार से आक्रान्त नहीं होने दिया है। "पलाश-वन" की कतिपय कविताओं (अच्छा ही हुआ, वासना की देह, ज्येष्ठ का मध्याह्न, फागुन की आधी रात आदि) की मुक्त छन्द में रचना कर उन्होंने छन्द-बन्धन को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं रखा है। तथापि उनकी रचनाओं का सौन्दर्य उनकी छन्दोबद्धता में ही है।

३ विशिष्ट काव्य-मत

प्रगतिवादी कवियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रगतिवाद के स्वरूप का विवेचन है, किन्तु "अचल" ने काव्य में यथार्थ और आदर्श के सहयोग पर भी बल दिया है। सिद्धान्त-प्रयोग की दृष्टि से उनकी रचनाओं में इस तत्व को प्रायः अभिव्यक्ति नहीं मिली है। अर्थ और काव्य-सम्बन्धी समस्याओं को यथार्थ रूप में प्रकट करना ही उनका अभीष्ट है, तथापि "विराम चिन्ह" की अनेक कविताओं में यथार्थ और आदर्श के समन्वय की भी स्थिति रही है। प्रस्तुत कवियों ने प्रगतिवाद की स्वरूप-चर्चा के प्रसंग में यह प्रतिपादित किया है कि उसमें सामाजिक जागरण की अभिव्यक्ति के लिए इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए—साम्यवादी सिद्धान्तों के अनुसार राष्ट्रीयता का उल्लेख, स्थूल के प्रति आग्रह, कल्पना का त्याग, वैयक्तिकता के स्थान पर वर्ग-संघर्ष का चित्रण, सांस्कृतिक परम्पराओं का मानवतावादी अध्ययन! आलोच्य कवियों में से पन्त जी ने "युगवाणी" की "मार्क्स के प्रति" "भूत दर्शन" और "साम्राज्यवाद" शीर्षक कविताओं में साम्यवाद के प्रति आस्था को वाणी अवश्य दी है, किन्तु "समाजवाद-गान्धीवाद" शीर्षक कविता से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस ओर दुराग्रह न रख कर स्वस्थ चिन्तन को ही महत्व दिया है। "हिमालय का सन्देश" जैसी उदात्त कविताएँ लिखने वाले कवि "दिनकर" ने भी अपनी कविताओं को साम्यवादी प्रचार का साधन नहीं बनाया है।[2] प्रगतिवादी कविताओं में राजनैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति सुमनकृत "प्रलय-सृजन" और अचलकृत "करील" एवं "किरण-वेला" में अवश्य हुई है। नागार्जुन की "जयति जयति सर्वमंगला", "रामराज", "महाशत्रुओं की दाल न गलने देंगे" आदि कविताओं में क्रमशः साम्राज्यवाद का

---

१. देखिए (अ) कल्पना, अगस्त १९५३, पृष्ठ ६२६

(आ) हंस, मार्च १९४६, पृष्ठ ३४१

(इ) हंस, अक्तूबर १९५०, पृष्ठ ६८-७०

२. देखिए "नील कुसुम", पृष्ठ ९३

विरोध, कांग्रेस-शासन के प्रति व्यंग्य तथा जनसंघ हिन्दू-महासभा की निन्दा को लक्षित किया जा सकता है।[1]

प्रगतिवाद की अन्य विशेषताओं में से पन्त जी ने एक ओर "ग्राम्या" की अनेक कविताओं (कठपुतले, गाँव के लड़के, वह बुड्ढा, धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच आदि) में स्थूल विषय-वर्णन की प्रणाली को अपनाया है और दूसरी ओर "युगवाणी" की "धनपति", "मध्य वर्ग" और "श्रमजीवी" शीर्षक कविताओं में वर्ग संघर्ष की भावना को स्थान दिया है। तथापि इन दोनों तत्वों का उल्लेख उनकी प्रगतिवादी रचनाओं का प्रतिनिधि गुण नहीं है। उनकी दृष्टि मूलतः जन-भावना की संस्कृति प्रेरित अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रही है। "दिनकर" ने "रेणुका", "हुंकार", "सामधेनी" तथा "धूप और धुआँ" में संकलित प्रगतिवादी रचनाओं में इन प्रवृत्तियों को प्रायः पन्त की भाँति ही ग्रहण किया है। इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा ने भी प्रगतिवाद को उसके सकीर्ण अर्थ में व्यवहृत नहीं किया है। "मिट्टी और फूल" की विविध कविताओं (गाँव की धरती, देवली कैम्प जेल में, युग और मैं, आज आदि), "शूल-फूल" की "भिखारिन" और "वेश्या" शीर्षक रचनाओं एवं "कदली-वन" की "ताड़ का जोड़ा" शीर्षक कविता में स्थूलता के प्रति साधारण आग्रह होने पर भी वर्ग-संघर्ष का लगभग अभाव रहा है। तथापि जहाँ ये तीनों कवि प्रगतिवाद में उदात्त तत्व के समावेश के प्रति प्रयत्नशील रहे हैं वहाँ "अंचल", "सुमन" और नागार्जुन ने स्थूल वस्तुपरक दृष्टि को भी महत्व दिया है। किन्तु शोषितों की वेदना को चित्रित करने वाली कविताओं में कल्पना का प्रत्यक्ष समावेश न होने पर भी उनकी प्रेम-सम्बन्धी कृतियों में कल्पना और वैयक्तिकता को प्रचुर स्थान मिला है। "मधूलिका", "अपराजिता" और "वर्षान्त के बादल" की अधिकांश रचनाएँ इसकी प्रमाण हैं।

विवेचन

वैयक्तिक कविता के रचयिताओं की भाँति प्रगतिवादी कवियों के काव्य सिद्धान्त भी संक्षिप्त हैं, अतः पूर्ववर्ती कवियों की काव्य शास्त्रीय उपलब्धियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन पृथक् रूप में वांछित नहीं है। उन्होंने काव्य की आत्मा और काव्य-शिल्प के विवेचन में परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु अन्य काव्यांगों की समीक्षा में मौलिकता के लिए पर्याप्त अवकाश रहा है। उपर्युक्त काव्यांगों की मीमांसा वैसे भी अत्यन्त संक्षेप में की गई है—इनमें से केवल काव्य-भाषा में सहजता को स्थान देने का उल्लेख महत्वपूर्ण है। काव्य में रस की प्रमुखता, अलंकार और छन्द के विवेचन में किसी प्रकार की विदग्धता का परिचय नहीं दिया गया है। इसी प्रकार विशिष्ट काव्य-मत के अन्तर्गत यथार्थ और आदर्श की समीक्षा भी परम्पराप्रेरित है। अन्य काव्यांगों में से काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य के तत्व और काव्य-वर्ण्य की आलोचना में परम्परा का अनुसरण

---

१. देखिए (अ) हंस, वर्ष २२, अंक ६-७, पृष्ठ १२७-१३५
(आ) हंस, जून १९४६, पृष्ठ ४९२
(इ) हंस, मार्च १९४८, पृष्ठ ४३०-४३१

करने पर भी यथास्थान मौलिकता का आश्रय लिया गया है। इन्होंने प्रतिभा और अध्ययन के काव्य हेतुत्व की तो पूर्ववर्तियों की भाँति ही स्थापना की है, किन्तु शोषितों की पीडा के परिचय से काव्य प्रेरणा की उपलब्धि का सिद्धान्त नवीन है। इसी प्रकार काव्य प्रयोजन की विवेचना के प्रसग म आनन्द और यश की प्राप्ति का समर्थन एव अर्थ-सिद्धि का विरोध तो अन्य कवियों को भी मान्य रहा है, किन्तु लोक-हित को सामाजिक क्रान्ति का पर्याय मानना प्रगतिवादियों की देन है। काव्य हेतु और काव्य प्रयोजन के प्रसग म य उद्भावनाएँ स्पष्टत प्रगतिवाद के आलोक म प्रस्तुत की गई हैं। इनमें न सामाजिक क्रान्ति को काव्य का लक्ष्य मानना तो आपत्ति-योग्य हो सकता है, किन्तु दलित मानवता के परिचय मे काव्य-सृजन की प्रेरणा का प्राप्त होना स्वाभाविक है।

आलोच्य कवियों ने काव्य के तत्वों की समीक्षा करते समय राष्ट्रीय-सास्कृतिक कवियों की भाँति कल्पना के अतिरेक को काव्य का दोष माना है, किन्तु इस सम्बन्ध में उनका आग्रह दुराग्रह के समीप जा पहुँचा है। अनुभूति को समाज के वस्तु पक्ष का अध्ययन मानने के कारण वे कल्पना के साथ न्याय न कर सके हैं। वस्तुत काव्य अनुभूति और कल्पना के सन्तुलित सहयोग से कान्ति-लाभ करता है, अत इनमें न किसी एक की उपेक्षा कवि के एकागी दृष्टिकोण की परिचायक है। अत यह स्पष्ट है कि इन काव्यागों के विवेचन म मौलिकता का एक ही सूत्र रहा है—दलित-वर्ग के प्रति सहानुभूति और उनकी अवस्था को उन्नत बनाने के लिए क्रान्ति का समर्थन।

उपर्युक्त काव्यागों की अपेक्षा विवेच्य साहित्यकारों ने काव्य का स्वरूप और प्रगतिवाद की समालोचना मे नवीन दृष्टिकोण को विशेष सफलता के साथ अपनाया है। काव्य मे अनुभूति और देश-काल की युगानुरूप अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मान कर तो पूर्व-प्राप्त मान्यताओं का ही पुनर्कथन किया गया है, किन्तु उसे हृदय-साधना का फल मान कर गम्भीर विवेक का परिचय दिया गया है। काव्य को समाज के पुनर्निर्माण मे सहायक मान कर स्पष्टत नवीन मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत कवियों की सर्वथा नवीन उद्भावना है प्रगतिवाद का विवेचन। हिन्दी-काव्य के विकास में छायावाद, रहस्यवाद *और वैयक्तिक कविता की भाँति प्रगतिवाद का भी ऐतिहासिक महत्व है।* यद्यपि आलोचकों ने उसके स्वरूप का पर्याप्त तात्विक विवेचन किया है, तथापि प्रगतिवादी कवियों द्वारा उसके स्वरूप का स्वतन्त्र निर्धारण इसलिए महत्वपूर्ण है कि विवेचक के विश्लेषण की अपेक्षा रचनाकार की अन्त स्वीकृति विशेष मूल्यवान् होती है। आलोच्य कवियों ने प्रगतिवाद के भाव-पक्ष का समृद्ध विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु उसके कला-पक्ष की स्वतन्त्र चर्चा के अभाव में उनके दृष्टिकोण को एकागी मानना होगा।

मूल्यांकन

प्रगतिवादी कवियों की काव्य विषयक मान्यताओं के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने हिन्दी-काव्य शास्त्र की प्रचलित परम्परा को नवीन मोड देने का प्रयास किया है। साम्यवाद के क्रान्ति-सन्देश से परिचालित होने के कारण उनकी सभी

मान्यताएँ समर्थनीय नहीं है, तथापि उनके विचारो की सर्वथा उपेक्षा भी नही की जा सकती। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रति प्रबल आग्रह की निन्दा की जा सकती है, किन्तु मानववाद का समर्थन इन कवियो की गम्भीर समीक्षा-दृष्टि का प्रत्यायक है। इसी प्रकार सामाजिकता के प्रति आग्रहशील होने के कारण काव्यगत व्यक्ति-तत्व की उपेक्षा कर इन कवियो ने मूल को पहचानने मे भूल की है, किन्तु स्वप्न-कल्पनाओ की मोहकता मे लीन रहने वाले व्यक्तियो को संघर्षरत समाज की विभीषिकाओ से परिचित करा कर एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ किया है। प्रगतिवादी कवियो की तीसरी अनुपलब्धि भाव-पक्ष के समक्ष कला-पक्ष को प्राय उपेक्षित कर देना है। यदि उन्होंने काव्य के अन्तरग और बहिरग का एक-जैसी सजगता से विवेचन किया होता तो हिन्दी-काव्य शास्त्र मे काव्य-शिल्प के विवेचन मे नवीन उद्भावनाओं की सभावना की जा सकती थी। इन त्रुटियो के होने पर भी अन्त मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र म प्रगतिवाद के उद्भव और विकास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि उसके रचयिताओं ने सामाजिक क्रान्ति और राजनैतिक मत के प्रचार को उसका मूलवर्ती लक्ष्य न माना होता, तो उसके पराभव का प्रश्न ही नहीं उठता था। भविष्य मे साम्यवादी विचार धारा की उग्र यथार्थवादिता का सयमन हो सकने पर प्रगतिवाद का भावी रूप भी उज्ज्वल हो सकता है।

: ६ :

प्रयोगवादी कवियों के काव्य-सिद्धान्त

छायावाद की अतीन्द्रिय भाव-सामग्री और सूक्ष्म शैली शिल्प के प्रति कवियों की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में तो प्रकट हुई ही, उसके अचल में प्रयोगवाद का भी प्रारम्भ हुआ। इस काव्य प्रवृत्ति का प्रथम उन्मेष सवत् १९९४ के लगभग स्थिर किया जा सकता है। प्रयोगवादी कवियो ने वर्तमान जीवन की विविधताओ और सघर्ष स्थितियो के अनुकूल वस्तु और शैली विषयक नवीन प्रयोगों को महत्व दिया है। इस काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि "अज्ञेय" हैं और "तार सप्तक" तथा "दूसरा सप्तक" के कवियो के अतिरिक्त अनेक अन्य कवियो ने भी इसे विकसित किया है। प्रस्तुत प्रकरण मे सभी कविया के काव्य-सिद्धान्तो की समीक्षा अव्यावहारिक होगी--स्थान-सकोच के अतिरिक्त पुनरावृत्ति से बचने के लिए भी यह आवश्यक है कि केवल प्रतिनिधि कवियो की मान्यताओ पर विचार किया जाए। इसीलिए इस अध्याय मे "अज्ञेय", गिरिजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती के सिद्धान्तो को प्राथमिकता दी गई है। आलोच्य कवियों का मूल विषय प्रयोगवाद के स्वरूप का स्पष्टीकरण है। फलत काव्यागो के विषय मे उनकी अधिकाश मान्यताएँ उसी प्रकरण मे अभिव्यक्त हुई हैं। उनके द्वारा विचारित विषय हैं—काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प। इन काव्यागो के सम्बन्ध मे उनकी धारणाएँ प्रकीर्ण और प्रासगिक रूप मे उपलब्ध हैं, अत इन पर विचार करते समय उनकी प्रयोगवाद विषयक मान्यताओ को दृष्टि मे रखना आवश्यक है।

काव्य का स्वरूप

प्रयोगवादी कवियो मे काव्य-कला के स्वरूप के स्पष्टीकरण की ओर मुख्यत "अज्ञेय" ने ध्यान दिया है। नई कविता के अग्रदूत होने के नाते उनकी विवेचना प्राय नवीन सन्दर्भों को लिए हुए है, क्योंकि उनका विश्वास है कि "जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"[1] कवि कर्म को नई दिशा की ओर उन्मुख करने के प्रयास मे उन्होने सर्वप्रथम कवि को यह सन्देश दिया है कि वह अतिव्यक्तिवादी

---

१. तार सप्तक, पृष्ठ ७५

प्रवृत्तियों में उलझने को ही अपना कर्तव्य न मान ले। उन्होंने काव्य को कवि के अनुभवों का निर्व्यक्तीकरण माना है और उसके सर्वजनीन पक्ष को व्यक्तिवाद से अधिक महत्त्व दिया है। यथा—

"काव्य-रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पृथक् करने का प्रयत्न है—अपने ही भावों के निर्व्यक्तीकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म-निवेदन है, और सच हो कर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग्य नहीं है—सर्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।"[1]

इस मत के प्रतिपादन में इलियट द्वारा प्रस्तुत काव्यगत अव्यक्तिवाद से प्रेरणा ली गई है और काव्य में तटस्थ वृत्ति पर बल दिया गया है। कवि विविध संवेदनों और अनुभवों में समन्वय स्थापित करता है, किन्तु साथ ही व्यष्टि के वृत्त में न बंध कर स्वय निर्विकार रहता है। वह अपने व्यक्तित्व को पृथक् रख कर समष्टिगत मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है। निर्व्यक्तीकरण को वह इसलिए आवश्यक मानता है कि उसके अभाव में रोमानी भावनाओं के प्रभाव की शंका बनी रहती है। इस प्रकार वह अपनी भावनाओं को रूढ़ नहीं होने देना चाहता, अपितु पिछली अनुभूतियों के प्रति मोह न रख कर नये अनुभव-क्षेत्रों की खोज करता है।

निर्वैयक्तीकरण के वास्तव में दो अर्थ होते हैं—व्यक्ति की अनुभूतियों को सर्वजनीन रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति और दूसरे व्यक्ति की राग-द्वेषमयी परिधि से निकल कर कला की साधना—दोनों ही इसके अन्तर्गत आ सकती हैं। प्रस्तुत काव्य धारा के कवियों ने इन दोनों की ओर संकेत किया है। एक ओर गिरिजाकुमार माथुर ने "नित्य-नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक" शीर्षक लेख में काव्यगत भावों की अनुभूत, सहज और सर्व-ग्राह्य रखने पर बल दिया है। यथा—"हम नहीं समझते कि दुरूहता ही श्रेष्ठता की कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य होता है वह दुरूह होता है। × × × × × श्रेष्ठ साहित्य का तो लक्षण ही यह है कि वह अत्यन्त जटिल अनुभवों को अत्यन्त सहज और सर्वग्राह्य रूप में व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचा कर उसमें से सर्वजनीन सत्य का असल डोरा निकाल लाता है।"[2] दूसरी ओर "अज्ञेय" ने कला की साधना पर बल दिया है—

(अ) "केवल विषय या वस्तु का सत्य उतना ही अधूरा है जितना कि केवल विषयी का या संवेदक का। कवि या साहित्य-स्रष्टा के लिए यह अधूरापन विशेष रूप से खतरनाक है क्योंकि इन दोनों के सम्बन्धों को देखना और देखते रहना और अचूक ढंग से प्रेषित करना ही कवि-कर्म का विशेष उत्तरदायित्व है।"[3]

(आ) "कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है, और निरसन्देह उसका समाज के प्रति भी दायित्व है, किन्तु जो व्यक्ति और समाज का पचड़ा खड़ा करते हैं वे

---

१. चिन्ता, भूमिका, पृष्ठ ६
२. आलोचना, जनवरी १९५६, पृ० १३८
३. नयी कविता, अंक २, पृष्ठ ३३

बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर ये निष्कर्ष निकलते हैं—(१) काव्य आत्माभिव्यक्ति नहीं है, (२) वह कला-साधना है जिसमें कवि अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को वस्तु रूप प्रदान करता है। वास्तव में अभिव्यक्तिवादी कवियों की ये मान्यताएँ एक प्रकार का विरोधाभास उपस्थित करती हैं। किन्तु काव्य के स्वरूप के विषय में इस वर्ग के कवियों का यही मत है।

काव्य की आत्मा

प्रयोगवादी कवियों ने काव्य-वस्तु और शैली को नवीन प्रयोगों से अनुप्राणित रखने के प्रति विशेष आग्रह रखा है, अतः काव्य की आत्मा के विषय में उनके विचार परम्परा से भिन्न हैं। उन्होंने चमत्कार को काव्य का आन्तरिक गुण मानने पर विशेष बल दिया है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" की यह उक्ति उल्लेखनीय है—"काव्य का रस कवि में, या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में, या किसी शब्द विशेष में नहीं है, वह काव्य रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है।"[2] चमत्कार का सम्बन्ध रस की अपेक्षा बुद्धि से विशेष है, अतः उसे प्राण-तत्व मानने के प्रसंग में कवियों ने मानो विचार प्रभाव को काव्य की आत्मा मानने की ही साग्रह स्थापना की है। इस प्रभाव की अन्विति के लिए उपर्युक्त उद्धरण में अभिव्यक्ति की वक्रता को महत्व दिया गया है, जो भारतीय आचार्यों के वक्रोक्ति सिद्धान्त से दूर नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि वक्रोक्ति-जन्य चमत्कार अथवा तद्प्रसूत विचार-प्रभाव काव्य का जीवन है।

चमत्कार और विचार प्रभाव को काव्य की आन्तरिक विशेषताएँ मानने के अतिरिक्त आलोच्य कवियों ने नवीन अर्थ-व्यंजना को भी काव्य की आत्मा माना है। शब्दों की अप्रचलित अर्थ-व्यंजना को चमत्कार-सम्भव मानकर "अज्ञेय" ने स्पष्ट लिखा है—"कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। × × × × × अभिधेयार्थयुक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिससे वह रचना करता है, ऐसी रचना जिसके द्वारा वह अपना नया अर्थ उसमें भर सके, उसमें जीवन डाल सके।"[3]

इस अवतरण में काव्य को नवीन अर्थ से विभूषित करने में ध्वनि की सार्थकता को प्रकट किया गया है। शब्द को अप्रचलित अर्थ में प्रयुक्त करने से काव्य में दुरूहता आने की आशंका रहती है, किन्तु प्रयोगवादी कवियों ने ऐसे शब्द प्रयोग को कवि की

१. शरणार्थी, भूमिका, पृष्ठ २

२. त्रिशंकु, पृष्ठ ४१

३ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १२

विवशता माना है। "अज्ञेय' के अनुसार "कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।"[1] इस लक्ष्य की पूर्ति में कल्पना-तत्व और बुद्धि तत्व का सहयोग अपेक्षित है जो क्रमशः ध्वनि और वक्रोक्ति से सम्बद्ध हैं। प्रयोगवाद के अन्य कवियों में धर्मवीर भारती ने इस मत को इन शब्दों में प्रकट किया है—"जब कवि जीवन का आस्वादन करता है तो उसे ऐसे कितने ही स्पन्दन संवेदन मिल जाते हैं जिनके लिए उसे एक नयी अभिव्यंजना की खोज करनी पड़ती है।"[2] इन उक्तियों से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवि शब्दगत वक्र अर्थ व्यंजना के प्रति विशेष सचेष्ट रहे हैं। इस धारणा को नवीन परिवेश में प्रस्तुत किया गया है किन्तु भारतीय काव्य शास्त्र में वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धान्त का योगदान भी यही है। आलोच्य कवियों ने काव्य-सम्प्रदायों को उनके परिचित रूप से भिन्न रूप में देखने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उनके समक्ष मूलभूत समस्याएँ वही हैं जिन्होंने वक्रोक्ति और ध्वनि मत को प्रेरणा दी थी।

प्रयोगवादी कवियों ने वक्रोक्ति और ध्वनि की भाँति काव्य में रीति को भी पर्याप्त गौरव दिया है। नयी कविता में अर्थ, अभिव्यक्ति और लय को नवीन रूपों में प्रतिष्ठित करना उनका ध्येय है। इसीलिए गिरिजाकुमार माथुर ने भाषा की मधुरता और सुकुमारता पर बल दे कर रीति के महत्व की स्थापना की है—"ध्वनि-विधान में मेरे प्रयोग मुख्यतः स्वर-ध्वनियों के हैं। व्यंजन-ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत रीतिकालीन रूढ़ि समझता हूँ। × × × × × शब्द की आत्मा स्वर-ध्वनि है। इसी कारण उस पर अवलम्बित संगीत आन्तरिक, गम्भीर और स्थायी है।"[3] प्रश्न यह नहीं है कि स्वर-ध्वनि और व्यंजन ध्वनि में से किसे प्रमुखता दी जाए, अपितु मूल तत्व यह है कि आलोच्य कवि ने रीति विषयक नवीन प्रयोगों को महत्व दिया है। इन काव्य-सम्प्रदायों को महत्व देते समय प्रयोगवादी कवियों ने रस की एकान्त उपेक्षा नहीं की है। "अज्ञेय" की यह उक्ति इसकी प्रमाण है—"करुणा से आर्द्र हो के कवि ने बाँधे छन्द, गाया गान।"[4] यहाँ काव्य की रागात्मक सत्ता का उद्घाटन हुआ है, पहले की भाँति बुद्धिप्रसूत चमत्कारवाद का समर्थन कवि का ध्येय नहीं है। काव्य को कवि का हृदय द्रव मानना रस की महत्ता का सूचक है, किन्तु "अज्ञेय" ने रस की महिमा स्वीकार करते समय नयी कविता के प्रतिमानों को दृष्टि में रखा है। उन्होंने यथार्थ पर आधारित नवीन भाव-बोध को रस का हेतु माना है। और उसने अमाना के साधारणीकरण को काव्य की सफलता का मापक कहा है। उदाहरणस्वरूप "नयी कविता : एक सम्भाव्य

१. तार सप्तक, पृष्ठ ७५
२. दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७८-१७९
३. तार सप्तक, पृष्ठ ४१
४. इत्यलम्, पृष्ठ १९०

भूमिका" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

"हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें—
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको, कमपि को, क ख ग को
अपनी-सी पहचनवा सकें,
रसमय कर के दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिए वही है।"[1]

साधारणतः प्रयोगवादी कवियों ने नवीनता के मोह में रस की प्राथमिकता की उपेक्षा की है, किन्तु उपर्युक्त उद्धरण से सिद्ध है कि रस का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया जा सकता। फिर भी, यह स्पष्ट है कि वे रस का परम्परागत सहज भाव से ग्रहण नहीं करते। उन्होंने रस की अपेक्षा विचार प्रभाव को अधिक महत्व दिया है, क्योंकि वे सहजानुभूति के स्थान पर विशेषीकरण और उक्ति-वैचित्र्य पर मुग्ध हैं। परिणाम यह होता है कि वे मधुमती भूमिका के लिए अपेक्षित व्यापक व्यक्तित्व प्राप्त नहीं कर पाते और साधारणीकरण की समस्या जटिल हो जाती है। इस सम्बन्ध में 'अज्ञेय" का निराकरण इस प्रकार है—

"तार सप्तक के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्योंकि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। × × × × × यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गई हैं। × × × × × जो आज की वास्तविकता है उससे रागात्मक सम्बन्ध × × × × × स्थापित कर के (वे) उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं।"[2]

इस विषय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे यह लिखा है—"कवि नए तथ्यों को उनके साथ नए रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नए सत्यों का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बना कर उनका साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है।"[3] कवि और सहृदय की अनुभूतियों का साधारणीकरण करने वाली शक्ति का आधार रागात्मकता है। भावात्मक प्रसंगों पर वैचारिकता का बोझ साधारणीकरण के मार्ग को अवरुद्ध करता है। प्रयोगवादी कवि अपरिचित और असाधारण की खोज में रहता है, चेतन-अवचेतन भाव-खंडों को वैज्ञानिक दृष्टि से परखता है, अतः उसकी रचना में प्रेषणीयता नहीं आ पाती। अप्रत्याशित चमत्कार का मोह उसे यह सोचने के लिए विवश करता है कि अपने महत्व-

१ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ४४
२ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १०
३ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १२

पूर्ण कथ्य (?) को प्रस्तुत करते रहना चाहिए, भले ही उसे ग्रहण करने वाला जन-वर्ग सीमित हो।[1] अत साधारणीकरण को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने के लिए वह प्रयत्नशील ही नहीं होता। "अज्ञेय" के इस तर्क को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान सांस्कृतिक परिवर्तनों से उद्भूत नवीन रागात्मक सम्बन्धों को न्यायोचित अभिव्यक्ति देने के लिए साधारणीकरण की नवीन प्रणालियों की खोज करनी होगी। कारण स्पष्ट है—युग मानस की विविडता ने कवि और प्रमाता को एक साथ प्रभावित किया है, अत साधारणीकरण की प्रणालियाँ यथावत् उपयोगी हैं। प्रयोगवाद की अनेक रचनाओं में सहजानुभूति के स्थान पर चमत्कार-वृत्ति की प्रधानता है, जो अवाछनीय है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों ने चमत्कार (वक्रोक्ति), नवीन अर्थ-व्यजना (ध्वनि), कल्पना-तत्व (ध्वनि), बुद्धि-तत्व, रीति एव विचार-प्रभाव के अर्थ में रस को काव्य के आत्म तत्व माना है। साधारणीकरण की प्रचलित प्रणालियों की उपेक्षा कर उन्होंने रस को यथावत् मान्यता नहीं दी है, अत वे कभी उसे विचार प्रभाव तक सीमित कर देते हैं और कभी बौद्धिक रस की असगत कल्पना करते हैं। उन्होंने काव्य की आत्मा का नवीन आधार पर विवेचन करना चाहा है, किन्तु उनकी मान्यताओं के प्रेरक स्रोत भारतीय आचार्यों के मान्य काव्य-सम्प्रदायों से बाहर नहीं पड़ते। अत यह कहा जा सकता है कि उन्होंने वक्रोक्ति, ध्वनि और रीति के सम्मिलित रूप को काव्य का जीवन माना है और रस को बौद्धिक चमत्कार के रूप में ग्रहण किया है।

काव्य-हेतु

आलोच्य कवियों ने काव्य के प्रेरक तत्वों की मनोयोग से विवेचना की है। उन्होंने व्युत्पत्ति के काव्य-कारणत्व का विशेष विस्तार से प्रतिपादन किया है, किन्तु मूर्द्धन्य स्थान प्रतिभा को ही दिया है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" की निम्नलिखित उक्तियों का अध्ययन अभीष्ट है—

(अ) "कलाकार का मन एक भडार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जब कि कवि प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग नहीं उत्पन्न हो जाएगा।"[2]

(आ) "लेखन-शिल्प का उसके लायक अभ्यास और अध्ययन मैंने किया ही है। किन्तु साहित्य-शिल्प में आस्था रखते हुए भी यान्त्रिक सफलता का उपासक मैं नहीं हुआ हूँ, न कभी होना चाहता हूँ।"[3]

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है *कि काव्य-रचना के लिए लोक-दर्शन से प्राप्त अनु*भव, पूर्ववर्ती कृतियों के अनुशीलन और रचनाभ्यास की अपेक्षा तो होती है, किन्तु इन सबको एक सूत्र में बाँधने वाली शक्ति कवि की प्रतिभा ही है। धर्मवीर भारती ने "काव्य-

१. देखिए "दूसरा सप्तक", भूमिका, पृष्ठ १३
२. त्रिशकु, पृष्ठ २९
३. शरणार्थी, भूमिका, पृष्ठ २

सृजन—अन्तःप्रेरणा और पलायन" शीर्षक लेख में इस मत को और भी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है—"जब तक कलाकार में अन्तःप्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कलाकृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।"[1] यह सत्य है कि कवि आन्तरिक प्रेरणा से काव्य की रचना करता है, किन्तु क्या काव्य-मार्ग में निपुणता प्रदान करने वाले अन्य साधनों की उपेक्षा की जा सकती है? "अज्ञेय" की उपर्युक्त उक्तियों को ध्यान में रखने पर उत्तर नकारात्मक होगा। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार्य लोंजाइनस की यह उक्ति द्रष्टव्य है—"प्रकृति सर्वदा ही मौलिक और प्राणभूत आधारतत्व के रूप में होती है, किन्तु व्यवस्था द्वारा सीमाएँ तथा उपयुक्त अवसर निर्धारित किए जा सकते हैं और उपयोग एवं व्यवहार के लिए समुचित नियम प्राप्त हो सकते हैं।"[2] इस उक्ति का यथार्थ अनुशीलन गिरिजाकुमार माथुर की मान्यता में उपलब्ध होता है। उन्होंने काव्य-हेतु का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है, किन्तु "सम्भवों की दुनियाँ" शीर्षक कविता की निम्नस्थ पंक्तियों में इस काव्यांग की संकेतात्मक चर्चा हुई है—

> "कोयला अभागा बन सकता था हीरा
> सोत महानद धार
> फल कर पौधा बन सकता था कान्तार
> वह जो असफल रहा—
> व्यास, भरत, कालिदास
> सब में है हीरो एक—
> शर्त : सम्भाव्य की ज़मीन, बीज का विकास
> परिस्थिति की खाद।"[3]

प्रस्तुत उद्धरण में प्रतिभा (सम्भाव्य की ज़मीन और बीज) को काव्य-साधन और व्युत्पत्ति (परिस्थिति की खाद) को उसका आभूषण माना गया है। आलोच्य कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है—रचना के लिए अपेक्षित प्रतिभा सबके पास होती है, किन्तु प्राकृतिक शक्ति का प्रसार उसी समय होता है जब उसे व्युत्पत्ति का सम्बल प्राप्त होता है। प्रयोगवादी कवियों ने व्युत्पत्ति के अंगों में से स्वतन्त्र वातावरण, लोक-दर्शन और अध्ययन का उल्लेख किया है। धर्मवीर भारती के मत से स्वतन्त्र राष्ट्र के कवि की भावनाएँ ही सच्ची प्रतिभा से आलोकित रहती हैं, परतन्त्रावस्था में उसकी कल्पना कुंठित हो जाती है—

> "गुलाम कल्पना कभी न जोत बन निखर सकी
> न प्यास की पुकार पर ओस बन उतर सकी।"[4]

हिन्दी-कवियों में इस धारणा को सर्वप्रथम बालमुकुन्द गुप्त ने प्रस्तुत किया था,

---

१. आधार, मार्च १९५६, पृष्ठ ६६
२. काव्य में उदात्त तत्व, पृ३ ४५
३. निकष (३ ४), जनवरी १९५७, पृष्ठ ११८
४. दूसरा सप्तक, पृष्ठ १८२

किन्तु यूनान में सिसेरो आदि अनेक साहित्यकारों ने जनतन्त्र-व्यवस्था का प्रतिभा के विकास में सहायक माना था।[1] प्रतिभा मन का स्वतन्त्र व्यापार है—उस पर स्वाधीनता अथवा पराधीनता का नियन्त्रण नहीं हो सकता, किन्तु भारती की उक्ति से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि वे प्रतिभा के महत्व के प्रति विशेष जागरूक हैं।

प्रयोगवादी कवियों ने लोक-साक्षात्कार की नवीन संदर्भ में व्याख्या की है। 'अज्ञेय" ने इस प्रसंग में कवि के अहं के विस्फोट को काव्य का कारण विशेष माना है। यह अहं समाज की रूढ़िवादिता के प्रति कवि की प्रतिक्रिया का फल है। यथा—"कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है। × × × × × समाज के साधारण जीवन में अपना स्थान न पा कर तो वह प्रेरित होता है कि वह स्थान बनाए, अतएव पुरानी लीकों पर चलने की असामर्थ्य ही नई लीकें बनाने की सामर्थ्य को प्रोत्साहन देती है।"[2]

इस धारणा का मूल कारण कवि का वैयक्तिक दृष्टिकोण है। इसके फलस्वरूप ही वह मन की संकुल भावनाओं को वस्तुपरक अभिव्यक्ति देता है और असाधारण तथा उलझे हुए प्रतीकों का आश्रय लेता है। उपर्युक्त धारणा के मूल में दूसरी बात है बुद्धिवाद के प्रति अत्यधिक आग्रह। इस आग्रह के कारण वह समाज के साधारण जीवन से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता और फल यह होता है कि उसकी संवेदनाएँ अस्पष्ट रह जाती हैं। अपर्याप्ति के प्रति विद्रोह की भावना अन्यत्र नहीं है, किन्तु समाज में सभी कुछ अपर्याप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में धर्मवीर भारती का मत अधिक सन्तुलित है—"कला-सृजन का जो वास्तविक उत्स अपने अन्दर है, उस तक पहुँचने के लिए अगर कलाकार कभी निरर्थक और अनुपयोगी बाह्य औपचारिक यथार्थ से पलायन कर आत्मलीन होता है, तो वह तो उच्च स्तर की कला सृजन की प्रथम और अनिवार्य शर्त है।"[3] सांसारिक सत्य से पलायन करना यह का फल है, किन्तु भारती ने सभी कुछ को अपर्याप्त न मान कर केवल अनुपयोगी यथार्थ का त्याग करने का सन्देश दिया है। "अज्ञेय" ने लोक-दर्शन से अभावात्मक प्रेरणा ली है, वह भारती में नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि "अहं के विस्फोट" के काव्य हेतुत्व को कुछ सीमाओं के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित है कि काव्य-सृजन में प्रतिभा की भाँति लोक-दर्शन का भी अपना महत्व है। आज के युग में लोक-साक्षात्कार का अभिप्राय है—कवि द्वारा समकालीन सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक वातावरण को अपनी वर्गीय स्थिति के अनुकूल ग्रहण करना। वर्तमान जीवन के संघर्षों में निर्लिप्त लोक-दर्शन के लिए स्थान नहीं है, अतः प्रयोगवादी कवि समाज हित को महत्वपूर्ण मानने पर भी वस्तु का वैयक्तिक आधार पर प्रस्तुत करते हैं। वैसे भी तटस्थ लोक-ज्ञान दर्शन-शास्त्र और

१. देखिए "काव्य में उदात्त तत्व" पृष्ठ ३४ तथा ११२

२ त्रिशंकु, पृष्ठ २६-२७

३ आधार, मार्च १९५६, पृष्ठ ७४

समाज-विज्ञान का विषय है, काव्य का नहीं। इसीलिए भारती ने लिखा है—"मेरी परिस्थितियाँ, मेरे जीवन में आने और आ कर चले जाने वाले लोग, मेरा समाज, मेरा वर्ग, मेरे सवर्ष, मेरी समकालीन राजनीति और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, इन सभी का मेरे और मेरी कविता के रूप-गठन और विकास में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भाग रहा है।"[1] स्पष्ट है कि लोक-सान्निध्य से प्रेरणा-लाभ के उपरान्त कवि अपनी कृतियों में वस्तु-जगत् के प्रति रागात्मक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं का उल्लेख करता है।

आलोच्य कवियों ने काव्य-रचना से पूर्व पूर्ववर्ती कृतियों के अध्ययन के महत्व को भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" का यह मत द्रष्टव्य है—"रुढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वाञ्छनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।"[2] उन्होंने "शेखर—एक प्रश्नोत्तरी" शीर्षक परिसवाद में श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भी इसी धारणा को व्यक्त किया है—"साहित्य पढ़ता हूँ तो उससे प्रेरणा भी मिलती ही है। जब हम किसी कलाकार की प्रतिभा के सामने झुकते हैं तो उसमें से स्वय भी कला के प्रति निष्ठावान् होने की कर्तव्य-प्रेरणा पाते हैं।"[3] इन उक्तियों की पृष्ठभूमि में सन्तुलित विचार-प्रणाली है, पूर्वाग्रह नहीं। काव्य-रचना केवल अध्ययन पर आधारित नहीं है, किन्तु उपलब्ध काव्य-सम्पद् की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। काव्यानुशीलन के प्रति ऐसी आस्था रखने पर भी यह स्मरणीय है कि "अतीत के कृतित्व का अन्धानुकरण विघातक होगा।"[5] इस धारणा के मूल में भी किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है, किन्तु परम्परा विद्रोह के प्रति अभ्यस्त प्रयोगवादी स्वर के कारण "अज्ञेय" ने अन्यत्र यह लिखा है—"परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर तोड़ मरोड़ कर देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता।"[4]

परम्परा के प्रति कवि की अनास्था के दो कारण हो सकते हैं—एक तो स्वय अनुभव प्राप्त करने की इच्छा और दूसरे चमत्कार-वृत्ति। पूर्ववर्ती कवियों के अनुभवों को कल्पना के माध्यम से स्वीकार करने की अपेक्षा अनुभव-सग्रह की ओर स्वय प्रयत्नशील होना निश्चय ही अधिक अच्छी प्रेरणा है। "अज्ञेय" ने "मेरी कविता" शीर्षक लेख में "चिन्ता" की छठी कविता के विषय में ठीक ही लिखा है—"मेरा अनुमान है कि इस पर भी ठाकुर की गीताजलि का प्रभाव परोक्ष रूप से रहा हो, × × × × × वे भाव कल्पित ही अधिक थे, अनुभूत कम!"[6] इस उक्ति से स्पष्ट है कि अध्ययन से प्रेरित हो कर लिखी गई रचना में अनुभूति के स्थान पर कल्पना का प्राबल्य होता है, जो

१. ठण्डा लोहा तथा अन्य कविताएँ, भूमिका, पृष्ठ ७
२ त्रिशकु, पृष्ठ ३१
३. आकाशवाणी प्रसारिका, जनवरी-जून १९५५, पृष्ठ ३-४
४ त्रिशकु, पृष्ठ ३३
५ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ ७
६. कल्पना, नवम्बर १९५३, पृष्ठ ९४३

उतना वाछनीय गुण नही है। जब कवि इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर अनुभव-प्राप्ति के प्रति स्वय सचेष्ट होता है, तब कविता के विकास मे स्वाभाविकता रहती है। दुर्भाग्य से प्रयोगवादी कवियो ने इसकी परिणति चमत्कारवाद मे की है अर्थात् वे काव्य वर्ण्य और अनुभूति के मध्य बौद्धिक सम्बन्ध को स्थान देते हैं। अत अध्ययन की अपेक्षा लोक दर्शन को विशेष महत्व देने पर भी उनकी रचना में रागात्मक रूप पर प्राय बौद्धिकता का आवरण रहता है। अध्ययन करते समय भी "अपर्याप्ति के विरुद्ध विद्रोह" की भावना उनका पीछा नही छोडती। फल यह होता है कि जिस "अह" से प्रेरित होकर वे काव्य रचना करते हैं, वह उनकी कृति के लिए विघातक रहता है।

काव्य का प्रयोजन

प्रयोगवादी कवियो ने काव्य से प्राप्य फलो का विस्तृत विवेचन किया है। इस सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी रही है, बहिर्मुखी नही। इसीलिए उन्होने आनन्द और लोक-कल्याण को काव्य के सहज प्रयोजन माना है, किन्तु उनकी मान्यताएँ प्राग्पूर्व न होकर किंचित् नवीनता लिए हैं। काव्य से कवि को उपलब्ध होने वाले आनन्द के विषय मे "अज्ञेय" ने स्पष्ट लिखा है—"कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में स्वान्त सुखाय भी होता है।"[1] धर्मवीर भारती ने कविता को शान्ति, विश्वास और दृढता की जननी मान कर स्वान्त सुख की इस प्रकार व्याख्या की है—"कविता ने उसे (भारती को) अत्यधिक पीडा के क्षणों में विश्वास और दृढ़ता दी है। कविता भारती के लिए शान्ति की दाया और विश्वास की आवाज रही है।"[2] स्पष्ट है कि काव्य कवि की आत्मा को आनन्दलीन तो करता ही है, उसके व्यक्तित्व को उदात्त भी बनाता है। यह दृष्टिकोण अत्यन्त सन्तुलित है, किन्तु इस सम्बन्ध मे "अज्ञेय" द्वारा प्रस्तुत किये गए अन्य विचार परस्पर उलझे हुए हैं। स्वान्त सुख का विरोध करते हुए उन्होने लिखा है—"मैं स्वान्त सुखाय नहीं लिखता। कोई भी कवि केवलमात्र स्वान्त सुखाय लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है"[3] इस धारणा का पूर्वोक्त उद्धरण के विचारों से समन्वय करने पर यह कहा जा सकता है कि वे आनन्द और लोक-हित के समजन मे विश्वास रखते हैं। प्रथम अवतरण मे स्वान्त सुख को काव्य का प्राथमिक लक्ष्य मानने पर भी द्वितीय उक्ति मे उसकी कुछ न कुछ उपेक्षा अवश्य हुई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रयोगवादी कवि के एकान्त वैयक्तिक प्रयोगो का मूलाधार प्राय व्यक्तिगत सन्तोष होता है। जन-कल्याण की गरिमा का या तो वहाँ अभाव रहता है अथवा वह अस्पष्ट संवेदनाओं और उलझे हुए भाव-खडों के कारण उसे उचित आकार नही दे पाता। फिर भी, काव्य को

---

१. त्रिशकु, पृष्ठ २६
२. दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७७
३. तार सप्तक, पृष्ठ ७५

पर-सुख का साधन मानने की चेतना उनके मन में अवश्य रहती है। इस विषय में "अज्ञेय" की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

"जो पाता
हूँ अपने को मुट्ठी कर उसे गलाना चमकाता हूँ
अनिर्वच आह्लाद-सा लुटाता हूँ।"[1]

स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समष्टिगत सुख के प्रसार पर अधिक बल देते हैं। काव्य से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति कवि की रसानुकूल प्रौढोक्ति पर निर्भर है। उपर्युक्त काव्य-पंक्तियों में प्रतिपादित कवि-साफल्य के लिए लोक-रंजन और मन-संगठन समान रूप से आवश्यक हैं। काव्यगत रस से सहृदय के आत्म-रंजन की सारवत्ता असंदिग्ध है, किन्तु इस सम्बन्ध में भारती का मत इतना निर्भ्रान्त नहीं है। उन्होंने रस की अपेक्षा भावना और विचार में निहित प्रभाव को अधिक महत्त्व दिया है। यथा—

"कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक मात्र न रह कर प्रभाव डालना हो गया है। बहुत सी कविताएँ भारती को बहुत अच्छी लगती हैं, जिनमें परम्परागत रस-तत्त्व कम रहता है पर वे प्रभावित बहुत करती हैं। उनका प्रभाव स्थायी रहता है। उनके प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं। बल्कि कभी-कभी तो भाव और ज्ञान ही नहीं, अभाव और अज्ञान भी उनकी परिधि में आ जाते हैं।"[2]

इस दृष्टिकोण के मूल में चमत्कार के प्रति आस्था है, क्योंकि रस का पूर्ण परिपाक न होने पर रचना क्षणिक चमत्कार-प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकती। भाव और ज्ञान के अतिरिक्त अभाव और अज्ञान अर्थात् जीवन मूल्यों के अस्पष्ट निर्धारण को भी प्रभावात्मक मान कर उन्होंने निश्चय ही अधूरे दर्शन का परिचय दिया है। काव्यगत बुद्धि-तत्त्व प्रभाव-सृष्टि में सक्षम तो होता है, किन्तु उसकी तुलना में राग-पक्ष का महत्त्व अधिक है। अतः भावनामूलक रस की उपेक्षा करना परम्परा के प्रति असफल विद्रोह-मात्र है। काव्य का मूल परिणाम रस अथवा आनन्द का प्रसार है, उसकी अमित शक्ति को साधारण प्रभाववादी व्याख्या में लीन नहीं किया जा सकता। भारती ने भी "अन्धा युग" की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि लोक-सामंजस्य की ओर प्रवृत्त मन सुख काव्य का लक्ष्य है। यथा—

"पर एक नशा होता है—अन्धकार के गरजते महासागर की चुनौती स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का, और फिर अपने को सारे खतरों में डाल कर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोर कर, बचा कर, धरातल तक ले आने का—इस नशे में इतनी गहरी वेदना और इतना तीखा सुख घुला मिला रहता है कि उसके आस्वादन के लिए मन बेबस

---

१. इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ४६-४७
२. दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७८

हो उठता है ! उसी की उपलब्धि के लिए यह कृति लिखी गई।"[1]

इस उद्धरण में जीवन-संघर्ष के काव्यगत भावन से प्राप्य हर्ष और विषाद को काव्य का फल माना गया है। काव्यजन्य आनन्द के मूलाधार तत्वों की यह नवीन व्याख्या है।

आलोच्य कवियों ने काव्य के सुखात्मक रूप के अतिरिक्त उसके लोकोन्मुख पक्ष का भी उद्घाटन किया है। 'अज्ञेय" ने उज्ज्वल आदर्शों के कथन को कवि-हृदय की सहज प्रवृत्ति के रूप में देखा है—"कला × × × × ×एक नैतिक उद्देश्य से अन्त सलिल है।"[2] इस उक्ति से स्पष्ट है कि कवि की रचना में सदाचरणमूलक लोक नीति का प्रतिपादन होना चाहिए। काव्य में आन्तरिक सत् चेतना की प्रतिष्ठा के विषय में उनकी निम्नलिखित काव्योक्तियां द्रष्टव्य हैं—

(अ) "कवि, एक बार फिर गा दो !
एक बार इस अन्धकार में फिर आलोक दिखा दो !"[3]

(आ) "भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के
कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।"[4]

इन अवतरणों से सिद्ध है कि काव्य से प्रमाता को सत्पथ के अवलम्बन की प्रेरणा मिलती है और वह अदृश्य रूप में शिक्षा प्राप्त करता है। किन्तु काव्य से नीति की अस्पष्ट सूचना परम्परागत रीति है। साधारणतः प्रयोगवादी कवियों ने जीवन के रूढ़िगत मूल्यों के प्रति अविश्वास प्रकट किया है और मानवीय यथार्थ को सौन्दर्य-बोध के नवीन धरातल पर देखने का प्रयास किया है। पूर्वनिर्धारित मत के कारण वे युग-पुरुष को केवल नवीन मानवीय चेतना से स्पन्दित देखना चाहते हैं, पुराने संस्कारों की सदाशयता पर उन्हें शंका रहती है। "अज्ञेय" की उपर्युक्त उक्तियाँ इस प्रभाव से मुक्त हैं, किन्तु प्रयोगवादी कवियों ने व्यवहार रूप में इसी जीवन-दर्शन को अपनाया है। अन्तर्मुखी वृत्ति को वस्तुगत दृष्टि से समन्वित करने के प्रयास में वे जिन रचनाओं को प्रस्तुत करते हैं उनमें जन-कल्याण के रागात्मक तत्व की अपेक्षा बौद्धिक निविडताओं की प्रधानता हो जाती है। इस स्थिति को लक्ष्य में रखकर गिरिजाकुमार माथुर ने "प्रयोगशील कविता का भविष्य" शीर्षक लेख में यह मत व्यक्त किया है—

"जीवन के समस्त कल्याणकारी तत्वों और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव सामाजिक अराजकता का लक्षण है जिसे प्रयत्नपूर्वक दूर किया जाना चाहिए। × × × × ×यदि जीवन के मंगलमय भविष्य में हम विश्वास करते हैं तो आज के कवि को भविष्य काव्य का निर्माण करना होगा और आगम पर नजर जमाना होगा।"[5]

---

१. अन्धा युग, भूमिका, पृष्ठ १
२. त्रिशंकु, पृष्ठ २८
३. इत्यलम्, पृष्ठ ६१
४. हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ४४
५. मध्यप्रदेश(?), जनवरी १९५४, पृष्ठ २५०

नई कविता के सर्जकों ने जीवन मूल्यों की वर्तमान विशृंखलता को भेद कर बहिरन्तर को स्पन्दित करने वाले सत्य की खोज को आज के साहित्यकार का मूल दायित्व माना है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" का मत अत्यन्त स्पष्ट है—"केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्व नहीं है, महत्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो।"[1] युगीन वातावरण के गहन तम को समाप्त करने और नूतन आलोक का सन्देशवाह बनने के लिए प्रयोगवादी कवि आत्मानुसन्धान का आश्रय लेता है। परम्परा के प्रति बौद्धिक अनास्था और अति-वैयक्तिक भावनाओं के वातावरण में वह आत्म-सत्य को पाने का प्रयास करता है। इसीलिए धर्मवीर भारती ने लिखा है—"भारती केवल परम्परा तोड़ने मात्र के लिए परम्परा नहीं तोड़ता और न प्रयोग मात्र के लिए प्रयोग करता है। × × × × ×एक स्वस्थ आत्मविश्लेषण कम से कम अभी तक तो भारती में है, आगे देखा जाएगा।"[2] आत्म-विश्लेषण का अर्थ वैयक्तिक उपचेतनग्रस्त भावनाओं में लीन होना नहीं है, अपितु अवचेतन की रुद्ध ग्रन्थियों को खोलना और वर्तमान महासक्रान्ति के वातावरण में अन्तर्विश्वासों को प्राप्त करना है। आज के संकटकालीन युग में लोकसंघर्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए केवल वैयक्तिक दर्शन पर्याप्त नहीं है, नई कविता में सामाजिक शक्तियों का स्पन्दन और विस्तराग भी होना चाहिए। उदाहरणस्वरूप गिरिजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती की निम्नस्थ उक्तियों को क्रमश देखिए—

(अ) "वस्तु और रूप विधान—दोनों के सम्बन्ध में नए प्रयोग करते समय हमें ध्यान रखना होगा कि वह प्रयोग व्यक्ति जीवन के जिस प्रश्न को सीमित रूप से ले कर आगे बढ़ रहा है वह एक बड़े रूप में सारी दुनिया पर घटित किया जा सकता है अथवा नहीं।"[3]

(आ) "मैं अपना पथ बना रहा हूँ। जिन्दगी से अलग रह कर नहीं, जिन्दगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुख-दर्द में एक गम्भीर अर्थ ढूंढता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जनव्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करते हुए।"[4]

साधारणत प्रयोगवादी रचनाओं में रागात्मक विकृति के फलस्वरूप अनुदात्त भावनाओं और आत्ममुग्धता के कारण मानसिक कुहासे को स्थान मिला है, किन्तु लोकोन्मुख आत्मद्वन्द्व में इनका समाधान मिल सकना प्राय निश्चित है। डॉ० नामवर सिंह ने गजानन माधव मुक्तिबोध के काव्य की समीक्षा करते हुए इसी तथ्य को वाणी दी है—"लोकोन्मुखी आत्म-संघर्ष ही टिकाऊ होता है, आत्मोन्मुखी आत्म-संघर्ष प्राय अपने आप को समाप्त कर डालता है।"[5] दुर्भाग्य से, प्रयोगवादी साहित्यकार बौद्धिक धारणाओं को

---

१ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ ८
२ दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७९
३ अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृष्ठ २५०
४ ठण्डा लोहा तथा अन्य कविताएँ, भूमिका, पृष्ठ ८
५ कृति (सम्पादक—नरेश मेहता), नवम्बर १९५८, पृष्ठ ५३

अपरूप अभिव्यक्ति और व्यक्तित्व की सूक्ष्म गहन विचित्रताओं में ही उलझ कर रह गए हैं। भावना के उपचेतन धरातल को अलम् मान लेने के कारण उनकी रचनाओं में महत्तर सांस्कृतिक संवेदनों के लिए स्थान ही नहीं रहा है। इसीलिए श्री शिवदानसिंह चौहान ने "हिन्दी कविता का विकास" शीर्षक लेख में यह मत व्यक्त किया है—"साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुंठा, किशोर प्रौढत्व और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है।"[1] इस असफलता का कारण यह है कि ये कवि अन्त स्पर्शी शिव प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि काव्य में सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा अनुपयुक्त है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" की मान्यता एकरूप नहीं है। निर्व्यक्तीकरण सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण उन्होंने "मैं और शेखर" शीर्षक लेख में साहित्य के सामाजिक पक्ष को महत्व न देकर यह विचार प्रकट किया है कि काव्य केवल कवि के आत्म-संस्कार का साधन है—"साहित्यकार समाज को बदलता है यानी वह उसका अनिवार्य कर्तव्य और ध्येय है। लेखक अनिवार्यतः सामाजिक क्रान्तिकारी है, इस किशोर मोह से मैंने छुटकारा पा लिया है। लेखक सिवा अपने के कुछ को नहीं बदलता, सिवा कला की समस्या के कोई समस्या हल नहीं करता।"[2] साधारणतः इस उक्ति में प्रगतिवादी काव्य-दर्शन का विरोध किया गया है, किन्तु इस प्रसंग में कला को जीवन से सम्बद्ध मानने के सिद्धान्त का भी विरोध हो गया है और कला को कला के विकास में सहायक रखने पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ काव्य को केवल कवि की आत्मा के उत्कर्ष में सहायक माना गया है, उससे सामाजिक को प्राप्त होने वाले दिशा निर्देश की उपेक्षा की गई है। प्रश्न यह है कि लोक-जीवन की उपेक्षा कर केवल कला के विकास पर बल देना कहाँ तक न्यायसंगत है? इसी प्रकार कवि की आत्मा से उद्भूत होने वाली रचना को सहृदय की आत्मा के परिष्करण में सहायक न मानना भी अनुचित है। "अज्ञेय" ने प्रस्तुत वक्तव्य में सहृदय की उपेक्षा की है, किन्तु पूर्वोक्त उद्धरणों में उन्होंने स्पष्ट किया है कि काव्य के अध्ययन से भावक को सत् असत् का विवेक प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि ये कवि काव्य के आन्तरिक प्रयोजनों के प्रति सजग होने पर भी उन्हें केवल उलझे हुए रूप में प्रस्तुत कर सके हैं।

आलोच्य कवियों ने काव्य से प्राप्य भौतिक फलों को महत्व नहीं दिया है। "अज्ञेय" ने काव्य को धन की तृष्णा से मुक्त रखने पर बल देने के निमित्त ये विचार प्रकट किए हैं—(अ) "साहित्य की कला, जो गरीबी से कभी बहुत दूर नहीं रही थी, कभी गर्वीली और मुक्त थी, लेकिन आज हम देखते हैं कि वह बन्दिनी है",[3] (आ) "साहित्यकार से हमारा अभिप्राय निरे लेखक से कुछ अधिक है—अर्थात् वह व्यक्ति जो लेखन-

१. काव्य धारा, संख्या १, सन् १९५५, पृष्ठ ४५
२. साहित्य दर्पण, अक्तूबर १९५७, पृष्ठ ५
३. त्रिशंकु, पृष्ठ २१

कार्य को धन-सचय के एक सम्भाव्य निमित्त से अधिक कुछ मान कर मनोयोगपूर्वक उसकी साधना करता है।"[१] स्पष्ट है कि काव्य का ध्येय केवल द्रव्य-लाभ नहीं है, उसका सृजन स्वतन्त्र साधना का विषय है। काव्य की रचना धन वैभव के लिए नहीं की जानी चाहिए, भले ही सत्कृति से परिणामत अर्थ-लाभ भी हो जाए। काव्य को प्रौढ स्तर पर दीपित रखने के लिए इस सिद्धान्त का निर्वाह अत्यन्त आवश्यक है। सम्पत्ति के मोह की भाँति यश के प्रलोभन और दलगत राजनीति के प्रचार को भी काव्य की गरिमा के लिए हानि-कर मानना होगा। इस प्रश्न पर धर्मवीर भारती ने अधिक विस्तार मे विचार किया है—"जब कलाकार × × × × × कुछ आरोपित धारणाएँ स्वीकार करता है—चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हो या राजनीतिक दवाव के कारण, या सस्ती लोकप्रियता के लोभ के कारण हो—उस समय वह अपनी अन्त प्रेरणा से पलायन करता है, उससे विच्छिन्न हो जाता है। फलस्वरूप उसकी कृतियाँ झूठी पडने लगती हैं और उनका कला-त्मक स्तर समाप्त हो जाता है।"[२] काव्य का राजनीति का मच बनाने से उसकी भाव सम्पदा का नाश होता है। यदि कवि अपनी भावनाओ का औचित्यपूर्ण सहृदयात्मक प्रति-पादन करेगा तो परिणाम रूप मे सम्पत्ति और अमरकीर्ति भी उसे अवश्य मिलेगी। कवि का ध्यान वस्तु की ऊर्जा पर रहना चाहिए, अन्यथा मूल के अभाव मे प्रासगिक सिद्धियाँ भी दुर्लभ रहेंगी। इस सम्बन्ध मे सेमुएल जॉनसन का यह मत स्मरणीय है—"वास्तव में ऐसी रचनाएँ अधिक नहीं होतीं जिनसे किसी लेखक को, चाहे वह कितना ही विद्वान् और प्रातिभ हो, सुदीर्घकालीन यश (और अन्य प्रासगिक सिद्धियों) की आशा हो सकती है।"[३]

काव्य के तत्व

प्रयोगवाद के कवियो ने काव्य के आधारभूत तत्वो मे से अनुभूति की विशेष चर्चा की है और चिन्तन तथा कल्पना के स्वरूप का सक्षिप्त विश्लेषण किया है। इस सबध में "अज्ञेय" की उक्तियाँ इस प्रकार है—

(अ) "मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपना अनुभूत ही लिखे।"[४]

(आ) "मै अखिल विश्व की पीडा सचित कर रहा हूँ—क्योंकि मैं जीवन का कवि हूँ।"[५]

इन उक्तियो का प्रयोगवाद के सन्दर्भ मे अध्ययन करने पर यह कहा जा सकता है कि काव्य मे कलाकार के अनुभवो को वाणी दी जाती है, किन्तु ये अनुभव व्यक्तिगत होने

---

१. त्रिशकु, पृष्ठ ७८

२ आधार, मार्च १९५६, पृष्ठ ७४

३ "There are, indeed, few kinds of composition from which an author, however, learned or ingenious can hope a long continuance of fame".

(The Rambler, Page 174)

४ शरणार्थी, भूमिका, पृष्ठ २

५. भग्नदूत, पृष्ठ १५१

पर भी देशकाल-सापेक्ष होते हैं अर्थात् कवि लोकानुभवों को आत्मनियन्त्रित कर के प्रस्तुत करता है। इसीलिए "अज्ञेय" ने अन्यत्र यह लिखा है—"*कवि का कथ्य उसकी आत्मा का* **सत्य है। यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है, उतना ही काव्योत्कर्षकारी है।**"[1] इस प्रकरण में काव्य की व्यक्ति-संवेदना के स्थान पर उसे लोक-सम्बद्ध रखने पर बल दिया गया है, किन्तु इतना निश्चित है कि लोक-चेतना का मार्ग व्यक्तिगत राग की भूमि में हो कर जाता है। इस सम्बन्ध में धर्मवीर भारती का मत उल्लेखनीय है—"**साहित्य का आधार व्यक्ति ही है। जीवन और मौत, दुख और सुख, अंधेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में, व्यक्ति के माध्यम से होती आई है और होती रहेगी।**"[2]

उपर्युक्त मीमांसा के आलोक में यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी कवियों ने कवि के व्यक्तित्व और उसकी समाज निष्ठा को अन्त सम्बद्ध माना है। वे प्रगतिवादी लेखकों की भाँति वर्ग-संघर्ष को महत्व नहीं देते, अपितु उनका लक्ष्य सम्पूर्ण मानव-समाज की *समस्याओं का सन्धान कर उनमें वैयक्तिक सम्बन्धों की स्थापना है। इस प्रकार उनकी अनु*-भूति का क्षेत्र प्रगतिवादियों की भाँति संकीर्ण नहीं है, उसके पीछे मानववाद का दृढ़ आधार है। उदाहरणस्वरूप गिरिजाकुमार माथुर की यह उक्ति देखिए—"**उसके (कविता के) लिए उन सभी प्रवृत्तियों और पक्षों के वे तत्व ग्राह्य होते हैं जिनका रास्ता मानवीयता, सामाजिक न्याय और जीवन भविष्य की आस्था से हो कर जाता है।**"[3] इस पथ की खोज के लिए प्रयोगवादी कवि रूढ़ि-स्थिरता का त्याग कर नवीन धारणाओं का आश्रय लेता है। वह प्रयोगहीन परम्पराओं का समर्थन नहीं करता, अपितु व्यक्तिगत विवेक द्वारा आत्म-सत्य को पाने का प्रयास करता है। इस प्रकार उसकी अनुभूति चिन्तन अथवा बुद्धि-वाद का आश्रय पा कर ही पल्लवित होती है। वह युग के यथार्थ को आत्मसात् कर उसे चिन्मय रूप देने में विश्वास रखता है। इस विषय में धर्मवीर भारती का यह मत अव-लोक्य है—"**किसी भी युग का महान प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलन्त सम-स्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। महान काव्य की अनुभूति के डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी भी विच्छिन्न नहीं होने देते।**"[4] अनुभूति में प्रभाव और आन्तरिकता लाने के लिए केवल बाह्य यथार्थ का परिचय पर्याप्त नहीं है, अपितु नवीन आयामों की खोज के लिए चिन्तन का आश्रय भी उसका स्वाभाविक अंग है। किन्तु, सत्य और शिव के एकीकरण की इच्छा रखने पर भी प्रयोगवादी कवि अहम् की प्रवृत्ति के कारण उचित न्याय नहीं कर पाता। वह नवीन संभावनाओं में विश्वास रखता है, किन्तु अहंवाद और बौद्धिक भार के फलस्वरूप अनुभव की महत्ता को भूल जाता है। सामाजिक तत्व को बिम्बरूप में ग्रहण करने की अपेक्षा वह चमत्कारवाद में उलझ कर पूर्व प्राप्त

---

१ तार सप्तक, पृष्ठ ७८

२. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृष्ठ १३६

३. धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ ९

४. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृष्ठ १२९

अनुभव-राशि के परीक्षण को ही पर्याप्त मान बैठता है। उदाहरण के लिए "अज्ञेय" के ये विचार देखिए—

"काव्य में नूतनता × × × × × लाने के लिए कवि को नूतन अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी खोज × × × × × उसे मानवीय वासनाओं के विकृत रूपों की ओर ही ले जाएगी, और उस पर पुष्ट होनेवाला साहित्य या काव्य मानवीय विकृति का ही साहित्य होगा।"[1]

नवीन अनुभवों से विरति का अभिप्राय है जीवन के यथार्थ से पलायन! आश्चर्य की बात यह है कि यथार्थ के नये तत्वों की खोज में विश्वास रखने वाले कवि ने पिछले अनुभवों से ही कैसे सन्तोष कर लिया? इसके मूल में कवि की यह विचार-धारा हो सकती है कि पहले पिछली अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण कर उन्हें भाव-बोध का नया धरातल प्रदान किया जाए और इसके उपरान्त अनुभव को नवीन और व्यापक क्षेत्र में ग्रहण किया जाए। किन्तु "अज्ञेय" ने एक भूल यह की है कि वे नवीन अनुभवों की खोज को अनिवार्य रूप से विकृतिपरक मानते हैं। प्रयोगवादी क्षेत्र में ही लक्ष्मीकान्त वर्मा ने यह माना है कि अनुभव की पुनरावृत्ति विकृति के लिए उत्तरदायी है। उनके अनुसार "विकृति मूल प्रकृति के विघटन से विकसित हो कर कला में गत्यवरोध प्रस्तुत करने में तभी सफल होती है जब अनुभूति में विस्तार की क्षमता नहीं होती और वह मात्र स्थिर बन कर रह जाती है।"[2] इस स्थिति में यह कहना असंगत होगा कि कवि को नवीन अनुभवों की खोज न कर पिछले अनुभवों में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। तथ्य तो यह है कि कवि को यथार्थ के नवीन रूपों की खोज-मात्र से सन्तुष्ट न हो कर अपनी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और कल्पना से संस्कार करना चाहिए। इस विषय में "अज्ञेय" और धर्मवीर भारती की ये उक्तियाँ क्रमशः उल्लेखनीय हैं—

(अ) "सुन्दरता की रज ले ले, मानस कोषों में भरते हैं।
सचित जब कुछ हो जाती है, फूले नहीं समाते हैं—
उसके कण कण को बिखरा, कविता में कवि कहलाते हैं।"[3]

(आ) "कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव जीवन के अंग हैं। साहित्य में भी केवल यथार्थवादी शैली से मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता और घूम फिर कर छाया-वादी शैली पर आना आवश्यक है।"[4]

प्रयोगवादी कवि की संवेदना वस्तुजगत् से सम्बन्ध रखती है, फलतः उसकी कल्पना भी सूक्ष्म से स्थूल की ओर प्रवृत्त रहती है। वह सौन्दर्य के नये आधारों की खोज तो करता है, किन्तु वस्तु को यथावत् अंकित करने के प्रयास में छायावादी कल्पना-सौन्दर्य को महत्त्व नहीं देता। फिर भी, यह महत्त्वपूर्ण है कि ये कवि केवल यथार्थ को पर्याप्त नहीं मानते,

---

१ त्रिशंकु, पृष्ठ ३६

२ नया कविता के प्रतिमान, पृष्ठ २१२

३ भग्नदूत, पृष्ठ ६८-६६

४ प्रगतिवाद एक समीक्षा, पृष्ठ १३१-१३२

सौन्दर्य की प्रतिष्ठा भी इन्हें मान्य है। उपर्युक्त उक्तियों से सिद्ध है कि काव्य में कल्पना सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती, भले ही उसे भौतिक स्तर पर सीमित रखा जाए। प्रयोगवाद में वस्तु-लोक के अतिरिक्त कवि की व्यक्तिगत चेतना भी स्पष्ट रहती है, अतः उसमें सौन्दर्य के अन्तर्बाह्य तिरस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता।

काव्य के वर्ण्य विषय

प्रस्तुत काव्य धारा के रचयिताओं ने काव्य में वर्णनीय विषयों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने विषय-वैविध्य को कविता का गुण माना है, किन्तु केवल कल्पना प्रबल वर्णनों की अपेक्षा जीवन-यथार्थ की अनुभूतिपरक चर्चा को महत्त्व दिया है। उदाहरणस्वरूप भारती की यह उक्ति देखिए—"सीधी सादी बात यह है भारती कविता में किसी भी विषय को उठाये बिना नहीं रह पाता, बशर्ते वह जीवन और अनुभूति की आन्तरिक लय से मेल खाता हो।"[1] उनके सहयोगी साहित्यकारों में गिरिजाकुमार माथुर ने भी यही बात लिखी है—"काव्य-साहित्य की सीमाओं का इन नवीन प्रयत्नों से बहुत बड़ा प्रसार हुआ है, उसके द्वारा नई दिशाएँ खुली हैं। जीवन का छोटे से छोटा पक्ष, साधारण से साधारण विषय अब काव्य की गरिमा के अयोग्य नहीं रहा।"[1] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने छायावादी साहित्यकारों की भाँति कल्पना की एकान्तिक प्रतिष्ठा को महत्व न दे कर जीवन के बहुमुखी यथार्थ को ग्रहण किया है, किन्तु प्रगतिवादी कवियों की भाँति व्यक्तिवाद का तिरस्कार भी उन्हें अभीष्ट नहीं है। जीवन के यथार्थ को वैयक्तिक अनुभूति का आधार प्रदान कर उसे भिन्न रूप में प्रस्तुत करना उनका ध्येय है। यद्यपि प्रयोगवादियों द्वारा प्रस्तुत किए गए जीवन चित्रों में जटिलता, उलझी हुई वैचारिकता और भावों की असम्बद्धता को अधिक स्थान मिला है, तथापि सैद्धान्तिक मान्यताएँ प्रस्तुत करते समय उन्होंने इन अभावों की चर्चा नहीं की है। इसके विपरीत वे प्रयोग को ही जीवन के यथार्थ का पूर्ण चित्र अंकित करने में सहायक मानते हैं। कल्पना और सूक्ष्मता के प्रति विद्रोह उनका प्रमुख उपादान है, किन्तु गिरिजाकुमार माथुर ने किंचित् उदार हो कर प्रेम, रागात्मक कल्पना, भौतिक यथार्थ और मानववाद सभी को प्रयोगवाद की परिधि में ले लिया है। उदाहरणस्वरूप "धूप के धान" के विषय में उनका यह वक्तव्य देखिए—

"इस पुस्तक की रचनाओं को तीन मुख्य विभागों में रख कर देखा जा सकता है। एक तो रूमानी गीतात्मकता, दूसरे यथार्थ और रूमान का समन्वय, तीसरे मानववादी बहिर्मुख भाव धारा।"[3]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने छायावाद की रोमानी प्रवृत्ति को स्वीकार करने पर भी अन्तर्मुखी तत्वों की अपेक्षा बहिर्मुखी यथार्थ पर बल दिया है। उन्होंने

१ दूसरा सप्तक, पृष्ठ १८०
२ धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ १३
३ धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ १२

भाव और बुद्धि में से किसी की उपेक्षा तो नहीं की है, किन्तु भावात्मक तीव्रता के स्थान पर काव्य-वस्तु में बौद्धिक व्यक्तित्व के निर्वाह का सिद्धान्त उनकी चेतना को प्रभावित अवश्य किए हुए है। वस्तुत प्रयोगवादी कवियों ने भाव प्रतिपादन को विचार संयुक्त रखने पर अधिक बल दिया है, किन्तु वैचारिकता को संवदनीय बनाने की अपेक्षा रागात्मकता का अनुभव कराना ही काव्य का मूल बिन्दु है। इसी तथ्य की उपेक्षा के कारण आलोच्य कवि अपने वर्ण्य विषयों को संवदनीय बनाने में अधिक सफल नहीं हो पाते।

प्रयोगवादी कवियों ने अपनी रचनाओं में लौकिक प्रेम अथवा शृंगार को पर्याप्त स्थान दिया है, किन्तु इस सम्बन्ध में सिद्धान्त निरूपण मुख्यत भारती ने किया है। उन्होंने प्रेम की अभिव्यक्ति को कविता का शाश्वत गुण माना है—"प्रेम की दिशा सृष्टि के प्रथम दिवस से कविता की अनिवार्य दिशा रही है और सृष्टि के अन्तिम दिवस तक रहेगी।"[1] क्रौंच पक्षी के वियोग से कवि वाल्मीकि के हृदय में कविता की उद्भावना से तो इसका प्रमाण मिलता ही है, सभी युगों में प्रेम काव्य की रचना में भी यही सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि काव्य में रूप-यौवन के मादक चित्र प्रस्तुत किए जाएँ अथवा शृंगार को अतीन्द्रिय रूप में ग्रहण किया जाए? भारती ने शृंगार के स्वस्थ चित्रण पर बल देते हुए कवि को नैतिकता और अश्लीलता के दोनों अतिवादों से बचने का परामर्श दिया है। इस सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ निम्नलिखित हैं—

(अ) "भारती ने सबसे पहले लिखे सरलतम भाषा में रंग-बिरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना और उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत, जो न तो मन की प्यास को झुठलाएँ और न उसके प्रति कोई कुंठा प्रकट करें। जो सीधे ढंग से पूरी ताकत से अपनी बात आगे रखें।"[1]

(आ) "शृंगार कविता का अनिवार्य अंग है और नैतिकता के बहुत प्योरिटन और संकीर्ण बन्धनों में कविता का रस और सौन्दर्य विच्छिन्न हो जाता है। लेकिन हम यह कभी नहीं भूल सकते कि काव्य और साहित्य में शृंगार रस बन कर आता है, वासना का उद्दाम उच्छृंखल और पाशविक चित्रण कभी भी काव्य और साहित्य को ऊँचाई नहीं दे सकता न आत्मा का संस्कार ही कर सकता है।"[3]

भारती की उक्तियों से स्पष्ट है कि वे काव्य को दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति का साधन नहीं मानते, अपितु उसमें मन के काम व्यापारों के निर्द्वन्द्व उल्लेख को प्राथमिकता देते हैं। काम-कुंठाओं की अभिव्यक्ति रचना को कृत्रिम बनाती है। इसके विपरीत शृंगार की पवित्रता व्यक्तित्व के उत्कर्ष और काव्य की समृद्धि में सहायक होती है। शृंगार की स्वाभाविक परिणति से काव्य में रस, सौन्दर्य और आनन्द की जो त्रिवेणी प्रवाहित होती है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शृंगार को वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करने पर बल देने के अतिरिक्त प्रयोगवादी कवियों ने मानववादी

---

१ प्रगतिवाद एक समीक्षा, पृष्ठ १०५
२ दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७८
३ प्रगतिवाद एक समीक्षा, पृष्ठ १७३

प्रवृत्ति को भी काव्य की विशेषता माना है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" और धर्मवीर भारती की उक्तियां क्रमश: इस प्रकार हैं—

(अ) "कलाकार को अमीर और गरीब, सुखी और दुःखी, पीड़ित और पीड़क, दोनों के बारे में लिखने का समान अधिकार है, यदि वह अपनी कला को अक्षुण्ण रखना है। × × × × × क्या कलाकार की अनुभूति इतनी व्यापक, और साथ ही इतनी असंलग्न, अनासक्त नहीं हो सकती कि दोनों पक्षों को उनका उचित स्थान दे सके।"[1]

(आ) "उसकी (कलाकार की) दृष्टि मानव आत्मा पर रहती है और वह जीवन का एक सम्पूर्ण और स्थायी समाधान खोजना चाहता है जिसमें केवल राजनीति या अर्थशास्त्र ही नहीं वरन् मनोविज्ञान, भावनाएँ, प्राचीन साहित्यिक परम्पराएँ, प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं का भी आधार रहता है।"[2]

इन उद्धरणों में प्रगतिवाद की वर्ग-द्वन्द्वात्मक चेतना के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। विगत साहित्य और संस्कृति को अत्याज्य मान कर यहाँ केवल नवीन प्रयोगों के प्रति भी आस्था नहीं रखी गई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ये दोनों उक्तियाँ अत्यन्त सन्तुलित हैं, किन्तु पूँजीपति और श्रमिक एवं व्यक्ति और समाज को उचित महत्व देने का प्रतिपादन करने पर भी इन कवियों ने स्थूल वस्तु व्यापारों को ही प्रधानता दी है। इस प्रकार उनकी रचनाओं में मानववाद की सूक्ष्म-तरल अवतारणा नहीं हुई है, अपितु उनकी दृष्टि वर्तमान समय में जीवन-मूल्यों की अराजकता पर ही केन्द्रित रही है। वस्तुसत्ता के प्रति आग्रही होने पर भी प्रयोगवादी कवियों ने नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की है। "अज्ञेय" ने निम्नलिखित अवतरणों में कवि के हृदय पर प्रकृति के प्रभाव को अनिवार्य माना है—

(अ) "हृदय लख कर प्राण बोले
गीत लिख दे प्रिया के हित !" × × ×
लगा गढ़ने शब्द—सहसा वायु का झोंका
ठुनक कर बोला, "प्रिया मुझमें नहीं है ?"[3]

(आ) "छन्द है यह फूल, पत्ती प्रास।
सभी कुछ में है नियम की साँस।
कौन-सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास ?"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि काव्य में भौतिक प्रेम का आधार-ग्रहण ही अलम् नहीं है, कवि को प्रकृति के लालित्य की ओर भी सजग रहना चाहिए। प्रकृति स्वतः एक कविता है, उसका प्रत्येक दृश्य भावक के मानस को आन्दोलित कर सकता है। इसके

---

१. त्रिशंकु, पृष्ठ ६८-६९
२. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृष्ठ १०६
३. इत्यलम्, पृष्ठ २०७
४. हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ६७

लिए यह आवश्यक है कि प्राकृतिक सौन्दर्य को बौद्धिकता से शासित न किया जाए। प्रकृति-दर्शन हृदय का व्यापार है, उसे चमत्कार-प्रणाली से सम्बद्ध करना स्पष्टतः अनर्थकारी होगा। नैसर्गिक व्यापारों को स्थूल रूप में प्रस्तुत करना मन की रागात्मक चेतना के विरुद्ध होगा। अतः कल्पना और भाव-व्यंजना के आधार पर उनका रमणीय भावन ही कवि का लक्ष्य होना चाहिए। "अज्ञेय" ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है, किन्तु इतना भी पर्याप्त है कि वे प्रकृति के शोभा-साम्य के प्रति जागरूक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवियों ने काव्य वर्ण्य को अमूर्त और सूक्ष्म से पृथक् रखने का सन्देश देने पर भी केवल पूर्वाग्रही वृत्ति नहीं अपनाई है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की विविधताओं का काव्य में प्रमुख वर्ण्य मानने पर भी उन्होंने रागात्मक प्रेम भावना और प्राकृतिक छवियों का तिरस्कार नहीं किया है। यदि प्रयोगवादी कवि भारती के निम्नांकित सिद्धान्त को भी महत्त्व दें तो निश्चय ही स्वस्थ विचार परम्परा को बल मिल सकेगा—

> "कल्पने निराशिनी
> मगर सुनो नवीन स्वर—
> सुदूर भूमि से तुम्हें जवान कवि पुकारता—
> नवीन राष्ट्र की नवीन कल्पना सँवारता।"[1]

काव्य-शिल्प

प्रयोगवादी कवियों ने काव्य के कला-पक्ष पर अत्यधिक बल देते हुए भी उसका व्यवस्थित सर्वांगीण विवेचन नहीं किया है—उनका आग्रह भाषा, बिम्ब विधान और छन्द के स्वरूप प्रकार के प्रति अधिक रहा है। इस दिशा में सबसे अधिक जागरूकता गिरिजाकुमार माथुर ने दिखाई है, उन्होंने शैली शिल्प को भावना से भी अधिक गौरव दिया है—"कविता में विषय से अधिक टेक्नीक पर ध्यान दिया है। विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेक्नीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है।"[2] इस अवतरण में रस के स्थान पर रीति के प्रति आग्रह स्पष्ट है। इसका कारण यह है कि प्रयोगवादी कवि नवीन शैलीगत प्रयोगों के प्रति आवश्यकता से अधिक आस्थावान् हैं। उन्होंने प्रगतिवादी कवियों की भाँति काव्य शिल्प की उपेक्षा नहीं की है, इस ओर वे उतने ही जागरूक हैं जितने छायावादी कवि थे। किन्तु, उनके चिन्तन की दिशा और उपलब्धियों में अन्तर है। जहाँ छायावादी काव्य सूक्ष्म शिल्प चेतना से अनुप्राणित है वहाँ प्रयोगवादी रचनाएँ कला-तत्वों के एकान्त वैयक्तिक प्रयोगों के कारण अनावश्यक रूप से दुरूह हैं। फिर भी, यह सराहनीय है कि उनमें अभिव्यंजना की चेतना को कवि का धर्म माना गया है। इस विषय में धर्मवीर भारती की यह उक्ति भी उल्लेख्य है—"एक सफल कलाकार को वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति को उतनी ही सूक्ष्मता से ग्रहण करना पड़ता है जितनी सूक्ष्मता से वह अपनी अनुभूति को ग्रहण

---

१ दूसरा सप्तक, पृष्ठ १८३
२ तार सप्तक, पृष्ठ ४०

करता है।"[1] इस अवतरण में "सूक्ष्म" शब्द का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि बौद्धिक धारणाओं को प्रमुख मानने वाले प्रयोगवादी कवि द्वारा भाषा के अन्तर्गत प्रयोगों को सूक्ष्म कहना स्वयं अपनी उपलब्धियों पर तीव्र व्यंग्य है। यदि प्रयोगवादी कवि अनगढ़ता और सूक्ष्म अभिव्यंजना में समन्वय स्थापित कर लेते तो उनकी काव्य रचनाएँ अधिक स्वस्थ और प्रगतिशील हो सकती थीं। आगे हम काव्य भाषा, बिम्ब विधान और छन्द के विषय में उनकी धारणाओं का क्रमशः पर्यालोचन करेंगे।

१ काव्य-भाषा

आलोच्य कवियों ने भाव-सम्बन्धी प्रयोगों की भाँति रूप-प्रकार सम्बन्धी प्रयोगों को भी आग्रहपूर्वक अपनाया है। "अज्ञेय" ने अभिव्यंजना के परम्परागत मूल्यों को अपर्याप्त मान कर स्पष्ट लिखा है—"जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[2] रूप विधान का संस्कार करने का आग्रह भाषा के अतिवैयक्तिक प्रयोगों, अप्रचलित प्रतीकों, अप्रत्याशित कथन-शैली की दुरूहता से आक्रान्त शब्दों, भाषा की व्यंजना-शक्ति पर असाधारण भार आदि नवीनताओं के रूप में प्रकट हुआ। सहजन्य बौद्धिक धारणाओं की व्यापकता पर गर्व करने के फलस्वरूप उन्होंने नवीन रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना के लिए चमत्कारिक पदावली की खोज पर बल दिया। इसीलिए "अज्ञेय" ने यह प्रतिपादित किया—"शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं, पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है।"[3] अभिव्यंजना के नवीन उपकरणों के अन्वेषण पर बल देते हुए उन्होंने अन्यत्र भी यह लिखा है—

"जिसके पास × × × × × प्रतिभा है, वह कभी अभिव्यंजना के एक ढंग से तृप्त नहीं रह सकता। यह बात नहीं है कि एक ढंग में सफलता न मिलने पर ही वह दूसरी ओर आकृष्ट हो। बल्कि एक ढंग में जितनी सफलता मिलती है उतना ही उसमें उत्साह बढ़ता है कि वह दूसरे ढंग को भी आजमा कर देखे।"[4]

अपरिचित कथन प्रकारों का उपयोग निन्दनीय नहीं है, किन्तु गूढ़तर अर्थ की प्राप्ति के लिए शब्दों के पूर्वापर सम्बन्ध और सहजता को भूल कर जटिल समास-रचना का आश्रय अनुचित है। गिरिजाकुमार माथुर के अतिरिक्त प्रयोगवाद के अन्य कवि भाषा के इस आदर्श से विमुख हैं, अतः उन्होंने दुरूहता को लगभग अपरित्याज्य माना है। "अज्ञेय" ने लिखा है—"जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, अलौकिक, अथवा दीक्षा द्वारा गम्य हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है, धर्म नहीं, आपद्धर्म है।"[5]

---

१. प्रयोगवाद : एक समीक्षा, पृष्ठ १२६
२. दूसरा सप्तक, पृष्ठ ७५
३. बावरा अहेरी, पृष्ठ ६५
४ त्रिशंकु, पृष्ठ ७३-७४
५. त्रिशंकु, पृष्ठ ११६

भाषा की दुरूहता को सिद्धान्ततः उचित मानना सहजानुभूति की विपन्नता और अभिव्यक्ति की असमर्थता का परिणाम है। रागात्मक संवेदन का तिरोभाव और विचार-व्यावसायिकता का उलझाव नयी कविता के रूप विन्यास का रूप बनाए रखता है। गिरिजाकुमार माथुर ने उसकी अपरिष्कृति को लक्षित कर ठीक ही लिखा है—"जब कवि के विचार जगत् में यह गम्भीर उलझाव और कुहासा है तो उसके अभिव्यंजना के जो उपकरण हैं अर्थात् भाषा, प्रतीक, उपमान, छन्द अपने आप अस्वाभाविक, अधूरे, खंडित और रूप-व्यक्तित्व विहीन होंगे। भाषा जान-बूझ कर बिगाड़ी या गढ़ी हुई होगी जिसका व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध न होगा, चेष्टापूर्ण लाए हुए निरर्थ, बोध-शून्य प्रतीक होंगे, उपमानों में कोई तारतम्य नहीं होगा और छन्द के नाम पर भ्रष्ट गद्य भी न मिलेगा।"[1] यह दृष्टिकोण प्रयोगवादी शैली शिल्प का पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देता है। नवीन आयाम की खोज में परिचित विभूति का तिरस्कार ऐसी ही विकृतियों को जन्म देता है।

प्रयोगवादी कवियों ने कविता की भाषा को बोझिल प्रयासों और सूक्ष्म कल्पनाओं से पृथक् रख कर बोलचाल की पदावली के प्रयोग पर भी बल दिया है। "अज्ञेय" ने काव्य भाषा को जन-साधारण की भाषा से पृथक् रखने का विरोध किया है और उसकी वाक्य-रचना को मुख से उच्चरित वाक्यावली के समान सहज रखने का सन्देश दिया है। यथा—"आज के कवि की प्रवृत्ति काव्य की और साधारण बोलचाल की भाषा का भेद मिटा देने की है। काव्य की भाषा अलग होती है या होनी चाहिए यह वह नहीं मान सकता। प्रश्न केवल शब्द-चयन का नहीं है, वाक्य रचना का है, योजना का है, अन्विति का है।"[2] द्विवेदी युग में आचार्य द्विवेदी और "हरिऔध" द्वारा बोलचाल की भाषा का समर्थन और असफल प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि "अज्ञेय" की धारणा प्रारम्भ से ही दोषपूर्ण है। उनके सहयोगी कवियों में भारती की भाषा विषयक धारणाओं में भी अन्तर्वैषम्य है। पूर्ववर्ती अनुच्छेद में प्रस्तुत किए गए उद्धरण में भावना और कला को समतुल्य मान कर तथा कला के सूक्ष्म आकारों को महत्वपूर्ण कह कर भी उन्होंने एक अन्य उक्ति में भाषा की स्वतन्त्र समृद्धि के सिद्धान्त को झटके के साथ अस्वीकार कर दिया है—"भाषा के प्रश्न को कभी भारती ने अधिक महत्व नहीं दिया। भाषा भाव की पूर्ण अनुगामिनी रहनी चाहिए, बस। न तो पत्थर का ढोंका बन कर कविता के गले में लटक जाय और न रेशम का जाल बन कर उसकी पाँखों में उलझ जाय।"[3] इसका अर्थ है कि भाषा को कृत्रिम रोमानी प्रतीकों और कृत्रिम शब्द-योजना से मुक्त रखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की भाषा में बोलचाल के पद-विन्यास की स्वाभाविकता और भावानुरूपता अवश्य होनी चाहिए। ये सिद्धान्त नवीन नहीं हैं,

---

१ धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ ११-१२

२ नयी कविता, अंक २, पृष्ठ ३७-३८

३. दूसरा सप्तक, पृष्ठ १७१-१८०

किन्तु नयी कविता के परिवेश मे इनका स्वरूप परम्परा से भिन्न है। कवियो ने संकुल जीवन-व्यवस्था को प्रकट करने के लिए दुरूह भाषा का प्रयोग किया है और बोलचाल की भाषा को ग्रहण करने की झोंक मे पदावली को भदेस बनाया है। शब्दो के अव्यवस्थित प्रयोग उनकी भाषा की व्यावहारिकता मे बाधक रहे है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नही हुआ है। इस दिशा मे गिरिजाकुमार माथुर को विशेष सफलता मिली है। उन्होने भावानुरूप शब्द-योजना को महत्व दे कर वातावरण के अनुकूल ध्वनि के आधार पर नये शब्दो की सृष्टि पर बल दिया है। इस सम्बन्ध मे उनकी धारणा इस प्रकार है—

"रोमानी कविताओ में मैंने छोटी और मीठी ध्वनि वाले बोलचाल के शब्द प्रयुक्त किए हैं। × × × × × क्लासीकल कविताओं में आर्य गुण लाने के लिए बड़ी लम्बी और गम्भीर ध्वनि वाले शब्द रखे हैं। अभिव्यंजनात्मक शब्द विन्यास वातावरण के रूप-भाव के अनुकूल नये बनाए हैं—जैसे पतला नभ, सिमटी किरन, आदिम दाहें, घूमते स्वर आदि। × × × × × कहीं-कहीं नये शब्द वातावरण का ध्वनि-भाव ले कर बनाए हैं, जैसे सूनसान, खडेरों आदि।"[1]

इस उक्ति मे प्रत्यक्ष सिद्धान्त-चिन्तन नही है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वे भाषा की भावानुरूपता के प्रति अत्यन्त सजग हैं। रोमानी और क्लासीकल कविताओ मे प्रयुक्त होने वाली शब्द-ध्वनियो के विषय मे उनकी धारणाएँ सहज समर्थनीय हैं, किन्तु अन्य विचार आक्षेप-योग्य हैं। वातावरण के रूप-भाव अथवा ध्वनि-भाव पर आधारित शब्द-विन्यास मौलिक होने पर भी सर्वत्र स्वीकार्य नही होगा। इसीलिए उपर्युक्त अवतरण के कुछ उदाहरण (पतला नभ, सूनसान, खण्डेरो) या तो अस्वाभाविक कल्पना से प्रेरित हैं अथवा शब्द विकार को प्रोत्साहन देते हैं। नवीन प्रयोग उसी समय तक महत्वपूर्ण हैं जब तक वे स्वस्थ कल्पना, स्वाभाविक शब्द-योजना और व्याकरण के अनुकूल हो। आलोच्य कवि ने काव्य-भाषा की समृद्धि के लिए वातावरण के अनुकूल ध्वनियो को प्रयुक्त करने पर बल देने के अतिरिक्त प्रतीक पद्धति और बोलचाल की भाषा को भी महत्व दिया है। इस सम्बन्ध मे उनकी मान्यता यह है—"(नयी कविता ने) दैनिक जीवन की सैकड़ों छोटी छोटी घटनाओं के वातावरण और प्रतीकों से काव्य शिल्प को समृद्धिशाली किया है। जीवन-व्यवहार की भाषा अपना कर काव्य की भाषा को ताज़गी और नवीन शक्ति प्रदान की है।"[2] यदि प्रयोगवादी कवि प्रतीक-विधान की जटिलता से मुक्त रखें और जन-क्षेत्रो से शब्द-चयन मे अस्वाभाविक वैचित्र्य न आने दें तो उन्हें भाषा-सम्बन्धी नवीन प्रयोगो मे सफलता मिल सकती है।

२ बिम्ब-विधान

प्रयोगवादी कवियो ने काव्य मे बिम्ब विधान (कल्पना के बल पर नवीन उपमानो और प्रतीकों की खोज) के प्रति विशेष आग्रह रखा है। अब तक के काव्य मे व्यापार

१. तार सप्तक, पृ० ४०
२. धूप के धान, भूमिका, पृ० १२

रूप से प्रयुक्त उपमान उन्हें रूढ़िबद्ध और अस्वस्थ लगते हैं, अतः उन्होंने भौतिक जगत् का नवीन दृष्टि से विश्लेषण कर नूतन बिम्ब-ग्रहण को नये कवि का धर्म माना है। "अज्ञेय" ने वर्तमान मानव-जीवन में यौन-वर्जनाओं की स्थिति पा कर नई कविता में तत्सम्बन्धी प्रतीकों और उपमानों को स्वाभाविक माना है—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुञ्ज है। × × × × × उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।"[1] यह दृष्टिकोण एकांगी है, क्योंकि जीवन में यौन वृत्ति ही प्रधान नहीं होती। छायावाद युग में भी "जूही की कली" जैसी कविताओं में काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति की निन्दा हुई थी। अतः कवि को इस प्रकार के सङ्कुचित क्षेत्रों को ही पर्याप्त नहीं मानना चाहिए, अपितु उदात्त प्रतीकों की खोज की ओर सचेष्ट रहना भी उसका धर्म है। अस्तु, यहाँ मूल तत्व यह है कि विवेच्य कवि नये प्रतीकों और बिम्बों को जन्म देने के प्रति निरन्तर सतर्क हैं। गिरिजाकुमार माथुर ने नये कवि की इस प्रवृत्ति को निम्नोद्धृत अवतरणों में प्रकट किया है—

(अ) "वह अपने माध्यमों में तेजी से रद्दोबदल करने लगा, छन्द और उपमानों को उलट-पलट कर नई ज़मीन खोदने लगा, अपने गहरे और सूक्ष्म मनोवेगों की अभिव्यञ्जना के लिए अपरिचित प्रतीक जुटाने लगा, अरूप का मूर्त से चित्रण करने लगा।"[2]

(आ) "सधे जमे और एक परिचित दायरे में घूमने वाले प्रतीक उपमानों के स्थान पर वस्तु जगत् के समस्त क्रियाकलापों को उसने अपनी बर्द्धमान उंगलियों से छू कर उन्हें ग्रहण किया है। मानसिक जगत् की अनेक सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं के पर्दे उठाए हैं।"[3]

(इ) "प्रयोग यदि केवल रचना-वैचित्र्य या चमत्कार ही लाने के लिए किए जाते हैं, बिना यह देखे कि × × × × × उपमान और उपमेय में कोई तारतम्य उपस्थित करते हैं या उन्हें एक दूसरे से इतना दूर कर देते हैं जिससे वस्तुछवि पूर्णतया अङ्कित होने के बजाय पूर्णतया मिट जाती है, जो पाठक के मन में संवेदन प्रक्रिया उत्पन्न ही नहीं करते × × × × × ऐसे प्रयोग अवाञ्छनीय और विनाशक हैं, उनके द्वारा नई हिन्दी-कविता का कभी हित नहीं हो सकता।"[4]

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवि वस्तुजगत् के सभी उपकरणों को बिम्ब ग्रहण के उपयुक्त मानते हैं—केवल प्रचलित प्रतीक और उपमान उन्हें पर्याप्त नहीं लगते। चेतन अवचेतन मन की सूक्ष्म और अरूप क्रियाओं को स्पष्ट करने के लिए स्थूल बिम्बों का आश्रय उन्हें विशेष ग्राह्य है। यदि ये नवीन आयोजन रस और स्वाभाविकता से अनुप्राणित हों तो स्थूल और मूर्त से सम्बन्ध रखने पर भी उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु साधारणीकरण की अपेक्षा विशेषीकरण के प्रति मोह रखने के कारण प्रस्तुत कवि इस ओर सतर्क नहीं रहे हैं। बिम्ब-योजना के लिए उपमेय और उपमान में

१ तार सप्तक, पृष्ठ ७६
२ धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ ७
३ धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ १३
४ अवन्तिका, जनवरी १९५४, पृष्ठ २४८

सुचारु तारतम्य का होना आवश्यक है, किन्तु प्रयोगवादियों ने इस तथ्य की उपेक्षा कर अस्वाभाविक चमत्कार को जन्म देने वाले असम्पृक्त बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। फलतः बिम्ब-ग्रहण का लक्ष्य (स्थायी सौन्दर्य की सृष्टि) उनकी अधिकांश रचनाओं में पूर्ण नहीं होता और उनके प्रयास क्षणिक सौन्दर्य को प्रकट करने वाले खण्डित बिम्बों की योजना तक सीमित रह जाते हैं। परम्परा-मात्र के प्रति विद्रोह सैद्धान्तिक रूप से अनुचित है, अतः नयी कविता में प्रयुक्त बिम्ब पाठक की संवेदना को जाग्रत करने में सर्वत्र समर्थ नहीं हैं।

३ छन्द-विधान

प्रस्तुत कवियों में छन्द की समीक्षा की ओर "अज्ञेय" और गिरिजाकुमार माथुर ने ध्यान दिया है, किन्तु उनकी विवेचना मुक्त छन्द और लय तक ही सीमित है। विशेषतः "अज्ञेय" ने तो लय की महत्ता का संक्षिप्त कथन-मात्र किया है, अन्य सब उपपत्तियाँ गिरिजाकुमार माथुर की देन हैं। नयी कविता की रचना प्रायः मुक्त छन्द में हुई है और उसके कवियों ने नवीन प्रयोग करने के प्रयास में कहीं-कहीं लय की उपेक्षा की है, अतः मुक्त छन्द और लय के सम्बन्ध में विचार-विमर्श इन कवियों को विशेष प्रिय रहा है। मुक्त छन्द के विषय में माथुर की उक्ति इस प्रकार है—

"कविता में मुक्त छन्द ही पसन्द करता हूँ। मुक्त छन्द में अधिकतर मैंने विराम-पत्त पंक्तियाँ नहीं रक्खीं। धारावाहिक ही रक्खी हैं। आगत पंक्ति के आरम्भ में विगत पंक्ति की ध्वनि सम संगीत उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रहती ही है। क्योंकि बिना इसके ध्वनि-सामंजस्य उत्पन्न नहीं हो पाता। इसी कारण मैं मुक्त छन्द में संगीत-प्रधान गीत संभव कर सका हूँ जिन्हें गाते समय तुक की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती।"[1]

आधुनिक युग के अन्य कवियों में "निराला", पन्त और "बच्चन" ने मुक्त छन्द का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु गिरिजाकुमार माथुर की धारणाएँ उनसे पृथक् और मौलिक हैं। उनका विवेचन मुक्त छन्द में यति, ध्वनि सामंजस्य और तुक की स्थिति से सम्बद्ध है। उन्होंने मुक्त छन्द की प्रत्येक पंक्ति में पूर्ण विराम को अनिवार्य न मान कर लयात्मक यति को महत्व दिया है, जो उचित ही है। लय-यति से मुक्त छन्द में गत्युत्तम अथवा अन्त संगठन आ जाता है और काव्य-पंक्तियों के पारस्परिक ध्वनि-साम्य में सुर-रता रहती है। ध्वनि-सामंजस्य, स्वर-सन्धान अथवा लयादर्श की आवृत्ति को मुक्त छन्द का द्वितीय उपकरण मानना भी युक्तिसंगत है। उनकी तृतीय स्थापना यह है कि मुक्त छन्द में अन्त्यानुप्रास आवश्यक नहीं है। यह ठीक भी है, किन्तु वे उसे सर्वथा त्याज्य भी नहीं मानते। इतना निश्चित है कि तुकान्त से मुक्त छन्द में रूप-माधुरी, समानुपातन और सहज प्रौढ़ि का समावेश होता है। स्पष्ट है कि आलोच्य कवि ने मुक्त छन्द के स्वरूप का अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—

"मुक्त छन्द का मैंने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त छन्द को दो भागों में विभक्त किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपान्तर।—एक कविता में एक ही प्रकार का

---

१. तार सप्तक, पृष्ठ ४० ४१

मुक्त छन्द प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ।"[1]

मुक्त छन्द के भेदों के विषय में उनकी धारणा अत्यन्त सार्थक है। स्वच्छन्द छन्द में प्रणीत हिन्दी-कविता का अध्ययन करने के उपरान्त डॉ॰ पुत्तूलाल शुक्ल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उसमें वर्णिक और मात्रिक लयाधार की स्थिति होती है।[2] एक कविता में एक ही मुक्त छन्द को स्थान देने का मत भी मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि एकाधिक छन्दों का प्रयोग विविध लय-खंडों को जन्म देगा और इससे कविता के प्रवाह को हानि पहुँचेगी।

प्रयोगवादी कवियों ने लय को छन्द का आन्तरिक तत्व माना है। इस सम्बन्ध में "अज्ञेय" के विचार इस प्रकार हैं—"आज की कविता बोलचाल की ध्वनि माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनात्यन्तिक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है।"[3] इस उक्ति से स्पष्ट है कि छन्द को गद्य के स्तर पर नहीं लाया जा सकता, क्योंकि कविता संगीत और भावना से सम्बद्ध है और गद्य में विचारात्मकता होती है। इस अवतरण में "तुक-ताल" को तुकान्त और संगीत के अर्थ में ग्रहण करना होगा नयी कविता में स्वतन्त्र संगीत विधान और तुकान्त-व्यवस्थिति का साग्रह बहिष्कार किया गया है। कविता में लयाधार की महत्ता के विषय में गिरिजा-कुमार माथुर के ये वाक्य भी पठनीय हैं—"कविता का गुण लय है और मात्र गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक् करना कठिन है।"[4]

इस धारणा को प्रकट करने का कारण यह है कि प्रयोगवादी कवियों ने वैचारिकता को महत्व देकर कहीं-कहीं गद्य-शैली अपना ली है। लय में व्याघात के फलस्वरूप उनकी रचनाओं की रसात्मकता को भी हानि पहुँचती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में "छन्द के भीतर की गति ही उसे प्रसादक और मोहक बनाती है।"[5] अतः छन्द में प्रवाह-गुण की उपेक्षा करना एक गम्भीर दोष है। छन्द के अन्य नियमों का त्याग करने पर मुक्त छन्द की रचना की जा सकती है, किन्तु लय के अभाव में तो कविता गद्य हो जाएगी। लय की अखंडता पर बल देने के निमित्त गिरिजाकुमार माथुर ने ये विचार प्रकट किए हैं—"विकसित लय-पट ही छन्द हैं, पर मात्र लय-पट से भी काम चल सकता है अथवा वह एक नये छन्द का निर्माण बिन्दु बन सकता है।"[6] इस उक्ति से स्पष्ट है कि छन्द में लय की सुखद संवेदना ही प्राण रूप होती है। लय के लावण्य को हृदयंगम करने के कारण ही प्रयोगवादी कवि "छन्दों के लिए अपरिचित लय-ताल और शब्दों के नए

१. तार सप्तक, पृष्ठ ४१
२. देखिए "आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना", पृष्ठ ४३८
३. नयी कविता, अंक २, पृष्ठ ३८
४. आलोचना, जनवरी १९५६, पृष्ठ १३२
५. साहित्य का मर्म, पृष्ठ १७
६. आलोचना, जनवरी १९५६, पृष्ठ १३३

संगीत सम्बन्ध खोज रहा है।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि लय माधुरी नयी कविता के छन्द-विधान का गुण है और नवीन लय आदर्शों की स्थापना नये कवि का कर्तव्य है।

सिद्धान्त-प्रयोग

प्रयोगवादी कवियों की भावना और शिल्प-विषयक मान्यताएँ प्रयोगोन्मुख होने के कारण विकास की एक ही लय में सम्बद्ध हैं। उन्होंने काव्य के विविध अंगों और प्रयोगवाद की विवेचना भी एक ही पृष्ठाधार पर की है। उनके काव्यांग-निरूपण में अन्त सम्बद्धता अनिवार्य रूप से विद्यमान रही है। अतः काव्य के भाव-पक्ष, कला-पक्ष एवं प्रयोगवाद के विषय में उनके सिद्धान्तों के व्यवहार-पक्ष का पृथक्-पृथक् समीक्षण करने की अपेक्षा उनका एक साथ अनुशीलन उचित होगा। काव्यांग-समीक्षा के प्रकरण में उनकी रचनाओं में सिद्धान्त-निर्वाह की स्थिति का स्फुट उल्लेख कहीं-कहीं पहले भी किया गया है, किन्तु उनके विचार-साम्य का निर्देश हो चुकने पर उनकी रचनात्मक प्रतिभा का एक स्थान पर स्वतन्त्र मूल्यांकन भी आवश्यक है। उन्होंने कवि को दलगत राजनीति और स्थूल सामयिकता से मुक्त रह कर नवीन रागात्मक सम्बन्धों की शोध करने और लोकोन्मुख आत्म-सत्य का बौद्धिक विश्लेषण करने का सन्देश दिया है। विचार निर्वाह की दृष्टि से उन्होंने दलीय राजनीति और वर्ग-द्वन्द्व पर आधारित स्थूल सामयिकता की प्रायः उपेक्षा की है। यह उचित भी है, क्योंकि ये ही प्रगतिवादी कविता के दूषण हैं—प्रयोगवाद में इनके स्थान पर वैयक्तिक चेतना अथवा आत्म-सत्य के अनुसन्धान की प्रधानता रहती है। सिद्धान्त रूप से उन्होंने लोकोन्मुख आत्म-सत्य की प्राप्ति को कवि का ध्येय माना है, किन्तु व्यवहार-दृष्टि से वे इस लक्ष्य की पूर्ति में असफल रहे हैं। उन्होंने आत्म-सत्य को उलझे हुए रूप में पाया है और उसे अतिवैयक्तिक रूप में चित्रित किया है—उसके उदात्त सांस्कृतिक रूप की ओर उनकी दृष्टि विशेष नहीं गई। "तार सप्तक" में अधिकांश कवियों ने लोक-संघर्ष को महत्व देने के लिए भाव और रूप-सम्बन्धी प्रयोग करते समय सामुदायिक वस्तु-तत्व को दृष्टि में रखा है, किन्तु उनकी कविताओं में मानवीय व्यापकता नहीं है। "अज्ञेय" ने अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं व्यक्तिगत राग-द्वेष के कुहासे और रागात्मक विकृति का त्याग कर सूक्ष्म मनोवैभव को वाणी देने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु उनकी सारी अन्तःशान्ति और चिन्तन-प्रणाली परम्परागत सांस्कृतिक ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य-बोध के प्रति अनास्था से प्रेरित है। वस्तुतः इन कवियों का प्रयास वर्तमान जीवन की उलझी हुई संवेदनाओं में सत्य को नए सिरे से खोजने के प्रयास तक सीमित है। पक्व अनुभव के अभाव में वे अन्तर्मुखी चैतन्य की अपेक्षा ऐन्द्रिय संवेदन और दैनिक जीवन की साधारण समस्याओं को व्यक्तिगत धरातल पर अभिव्यक्त करने की ओर ही उन्मुख रहे हैं। गिरिजाकुमार माथुर की "टाइपराइटर", "रेडियम की छाया", "चूड़ी का टुकड़ा", "एसोसिएशन्स" आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं।[2]

---

१. धूप के धान, भूमिका, पृष्ठ १३

२. देखिए "नाश और निर्माण", पृष्ठ ३१, ३७, ४४-४६, ६१-६६, ७८-८०

प्रयोगवादी कवियों ने स्वस्थ प्रेम की रागात्मक कल्पना, भौतिक यथार्थ की मानववादी व्याख्या और प्रकृति-प्रभाव को काव्य के विषय माना है। गिरिजाकुमार माथुर की "मंजीर" और "अज्ञेय" की "चिन्ता" शीर्षक कृतियों में प्रेम को स्वस्थ और मधुर रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु धर्मवीर भारती ने "ठंडा लोहा" की शृंगारिक कविताओं में भावात्मकता के साथ-साथ जागरूक बौद्धिक नियन्त्रण को भी स्थान दिया है। इन तीनों कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से दमित काम-प्रेरणाओं को भी वाणी दी है, किन्तु कतिपय परवर्ती प्रयोगवादियों की भाँति उनकी रचनाओं में दैहिक व्यापारों की प्रधानता मुखर नहीं है। जीवन के यथार्थ को मानववादी रूप में प्रस्तुत करने की ओर भी उन्होंने स्फुट कविताओं में ध्यान दिया है—विशेषतः भारती की "अन्धा युग" शीर्षक कृति में यह प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। काव्य में प्रकृति के महत्व का सिद्धान्त-रूप में उल्लेख तो "अज्ञेय" ने ही किया है, किन्तु व्यवहार-रूप में इसे सभी कवियों का आदर प्राप्त है। उन्होंने पूर्व की किरण, सूनी दुपहरी, जाड़ों की शाम, शाम की धूप, पूस की ठिठुरन, सावन के बादल, हेमन्ती पूनो आदि के चित्रण द्वारा प्रकृति को नवीन आकार-प्रकार में ग्रहण किया है। प्रकृति की विविधता को नये बिम्बों में उभारने में उन्हें कहीं-कहीं सराहनीय सफलता मिली है। "अज्ञेय" की "हरी घास पर क्षण भर" और "इन्द्रधनु रौंदे हुए ये" शीर्षक रचनाओं में और गिरिजाकुमार की कृति "धूप के धान" में प्रतीक-विधान और बिम्ब-ग्रहण के नये प्रयोग विशेष मुखर हैं।

प्रयोगवादी कवियों ने अपने काव्य-शिल्प-सम्बन्धी विचारों के व्यवहार की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। उन्होंने अपनी धारणा के अनुरूप व्यावहारिक भाषा को महत्व देने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु इस दिशा में सफलता गिरिजाकुमार और भारती को ही मिली है। "भग्नदूत" और "चिन्ता" को छोड़ कर "अज्ञेय" की अन्य रचनाएँ दुरूहता से आक्रान्त हैं, क्योंकि उनमें शब्दों की अप्रचलित अर्थ-व्यंजना और जटिल प्रतीक-विधान को आग्रहपूर्वक अपनाया गया है। ये दोष गिरिजाकुमार और भारती की रचनाओं में भी मिलते हैं, किन्तु सीमित रूप में। ध्वनि, वक्रता और चमत्कार का आधार लेने पर भी उन्होंने अपनी भाषा को असाधारण रूप से जटिल नहीं होने दिया है। वातावरण के रूप-भाव और ध्वनि-भाव के आधार पर शब्द निर्माण करते समय इन कवियों ने अप्रचलित और अप्रतीक्षित शिल्प के प्रति मोह रखा है। इससे शब्द-विकृति को असामान्य रूप से बल मिला है, किन्तु अनेक प्रसंगों में वे भावानुरूप शब्दों की खोज में सफल भी हुए हैं। छन्द-विधान की दृष्टि से उन्होंने प्रायः मुक्त छन्द को स्वीकार किया है और उसके वर्णिक-मात्रिक रूपों को विविधता के साथ प्रस्तुत किया है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में पूर्ण यति न रख कर उन्होंने लय-यति को महत्व दिया है। इसी प्रकार आन्तरिक तुक-समता की मधुरता का स्वागत कर उन्होंने तुकान्त के मोह का त्याग किया है। जीवन की जटिलताओं को वाणी देने के लिए गद्यवत् भाषा का प्रयोग उन्हें विशेष इष्ट रहा है, अतः उनकी रचनाओं में लय की उपेक्षा के लिए भी पर्याप्त सम्भावनाएँ रही हैं। लयसाधना में सर्वाधिक सफलता गिरिजाकुमार और भारती को मिली है—"अज्ञेय" की रचनाओं

में विचारों के बोझ के कारण कहीं-कहीं लयादर्श का निर्वाह नहीं हो सका है, किन्तु यह दोष मुख्य रूप से नवीन प्रयोगवादी कवियों की कृतियों में मिलता है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि आलोच्य कवियों ने अपने साहित्यिक विचारों और रचनाओं में एकान्विति रखी है, भले ही उनके चिन्तन की आधार-भूमि दोषपूर्ण है।

मूल्यांकन

प्रयोगवादी कवियों के काव्यांग निरूपण से यह प्रमाणित है कि उन्होंने काव्य-शास्त्र के परिचित सिद्धान्तों के प्रति क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखा है। उनकी अधिकांश मान्यताएँ परम्परा से भिन्न हैं, किन्तु प्रतिभा को मूल काव्य-हेतु मान कर, सौन्दर्यमूलक कल्पना को सीमित स्वीकृति दे कर, प्रेम और प्रकृति को काव्य-वर्ण्य के रूप में ग्रहण कर एव भाषा की सहजता तथा लय को महत्व दे कर उन्होंने पिछली उपलब्धियों का आदर किया है। तथापि उनकी आत्मा में परम्परा की स्वीकृति की अपेक्षा विद्रोह का स्वर ही प्रमुख रहा है, क्योंकि वे साहित्य शास्त्र के विगत उपकरणों को नवीन भावों और विचारों का भार वहन करने में असमर्थ मानते हैं। नूतन मार्ग की खोज के प्रयास में उन्होंने काव्य के मूल पर ही प्रहार किया है—वे भावना की अपेक्षा बुद्धि को महत्व दे कर परिचित कल्पनाओं और विषयों में नवीनता लाने पर बल देते हैं, अपर्याप्त के प्रति विद्रोह अथवा अहं की अभिव्यक्ति को काव्य का कारण मानते हैं, नवीन रागात्मक सम्बन्धों के कारण साधारणीकरण की पिछली प्रणालियों को अनुपयोगी ठहराते हैं और काव्य-शिल्प की स्वीकृत विशेषताओं के स्थान पर प्रयोगों की माँग करते हैं। ऐसे भ्रामक सिद्धान्तों की शृंखला यहीं पर समाप्त नहीं होती—उन्होंने रस की अपेक्षा विचार-प्रभाव को काव्य का मूल गुण माना है, रीति, ध्वनि और वक्रोक्तिजन्य चमत्कारों पर बल दिया है, काव्य की भाषा को गद्यवत् रखने का प्रयास किया है, उपमान और उपमेय में असम्बद्ध रखा जटिल समासों और निरर्थक प्रतीकों की रचना को अपरिहार्य माना है और शब्दों में असाधारण अर्थ-व्यंजना द्वारा उक्ति-वैचित्र्य की योजना की है। ये सभी सिद्धान्त अगतत्व विरोध के सूचक हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन में कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण सगति भी है—उन्होंने लोकोन्मुख आत्म-सत्य की प्राप्ति में उत्पन्न सुख को काव्य का प्रयोजन मान कर, कवि-व्यक्तित्व और समाज-निष्ठा को अन्त सम्बद्ध कह कर, वातावरण के ध्वनि-भाव और रूपाकार के आधार पर नवीन शब्द निर्माण पर बल दे कर और मुक्त छन्द की नवीन रीति से विवेचना कर गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। किन्तु यह स्पष्ट है कि प्रयोगवाद ने काव्य का उपकार करने की अपेक्षा अपकार अधिक किया है। अब समय आ गया है कि प्रयोगवादी कवि सहजानुभूति को समझें और स्वस्थ शिल्प दर्शन को अपनाएँ। उन्हें भारती की इस उक्ति को और भी उदार तथा अहं-मुक्त हो कर स्वीकार करना चाहिए—"किसी भी गहरे और नये विचार को जनमानस में जड़ पकड़ने में कुछ देर लगती ही है क्योंकि उस बीच में वह विचार मँजता है, उसमें

अनावश्यक काँटे टूटते है और अन्दर का रस बाहर झलक आता है।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि प्रयोगवादी मान्यताओं का बहिष्कार करने से काव्य-शास्त्र की समस्याएँ हल नहीं होंगी, अपितु प्राचीन और नवीन का समन्वय करने पर ही महत्वपूर्ण परिणामों की आशा की जा सकती है।

१. ठेले पर हिमालय, पृष्ठ ८४

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य सिद्धान्तों का ऐतिहासिक निरूपण करने के उपरान्त अब आवश्यक है कि उनके काव्य चिन्तन की समताओं और विषमताओं का तुलनात्मक परीक्षण करते हुए यह स्थिर कर लिया जाए कि उनके चिन्तन में मौलिक दृष्टि का कहाँ तक समावेश है और उन्होंने हिन्दी-काव्य शास्त्र की प्रगति में किस सीमा तक योग दिया है ? भारतेन्दु युग से वर्तमान युग तक के कवियों ने काव्यांग-समीक्षा को आपमिक लक्ष्य के रूप में ग्रहण न करके भी जिस गम्भीरता और सजगता का परिचय दिया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य-सम्बन्धी विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सत्य तो यह है कि अधुनातन कवियों की समीक्षा करते समय काव्य शास्त्र के परम्परा-प्राप्त मूल्यों को ही अलम् मानना उनके प्रति अन्याय करना होगा। आवश्यकता इस बात की है कि किसी भी काव्य प्रवृत्ति का खंडन या मंडन करने से पूर्व उसके प्रतिपादक कवि-वर्ग की तत्सम्बन्धी धारणाओं पर भी मनन कर लिया जाए। जीवन और काव्य की भाँति साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी एतादृशत्य मात्र के प्रति विरोधी रुख नहीं रखा जा सकता, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि प्रत्येक युग का काव्य-दर्शन अपने आप में कुछ भिन्नता लिए हुए होता है। प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक हिन्दी कवियों की काव्यशास्त्रीय धारणाओं की तात्त्विकता पर विचार करने के अतिरिक्त उनकी नवीन स्थापनाओं का मूल्यांकन भी किया जाएगा।

रीति काल की विस्तीर्ण आचार्य-परम्परा के उपरान्त भारतेन्दु काल में काव्य-शास्त्र की प्रकीर्ण रेखाएँ प्रारम्भ में इस शंका को जन्म देती हैं कि इस युग के कवि काव्य-मीमांसा की ओर अभिमुख नहीं थे, किन्तु यह धारणा निर्मूल है। इस युग के कवि-आलोचकों ने केशव, चिन्तामणि, मतिराम, देव, भिखारीदास, भूषण आदि की भाँति स्वतन्त्र लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं की, अतः उनके विचार काव्य-रचनाओं, भूमिकाओं और गद्य-कृतियों में स्फुट रूप से ही व्याप्त हैं—अपवाद केवल भारतेन्दु की "नाटक" शीर्षक रचना है। रीतिकालीन कवियों के समक्ष काव्य-चिन्तन के लिए दो सौ वर्षों का सुदीर्घ काल था, किन्तु भारतेन्दुकालीन कवियों की काव्य-साधना पच्चीस-तीस वर्षों में सीमित थी। इतने समय में काव्य शास्त्र के व्यवस्थित विवेचन की आशा नहीं की जा सकती, फिर भी उनकी देन महत्वपूर्ण है। इस युग के प्रमुख कवि आलोचक भारतेन्दु और "प्रेमघन" हैं, काव्य-हेतु और काव्य-शिल्प के समीक्षण में अम्बिकादत्त व्यास की उपलब्धियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इस युग में काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य, काव्य शिल्प,

काव्यानुवाद और काव्यालोचन की समीक्षा की गई, किन्तु जिन काव्यांगों ने प्रायः सभी कवियों का ध्यान आकृष्ट किया, वे हैं काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प। अवशिष्ट सिद्धान्तों में से काव्य-स्वरूप के विषय में उनकी धारणाएँ नगण्य हैं, अन्य काव्यांगों के सम्बन्ध में भी एक-दो कवियों ने ही संक्षिप्त चिन्तन प्रस्तुत किया है।

भारतेन्दुयुगीन कवियों ने काव्य में रूप विन्यास की अपेक्षा भाव-समृद्धि पर अधिक बल दिया है, किन्तु रीतिकालीन काव्य-रीति से कुछ भिन्न होने पर भी उनका विवेचन काव्य-शास्त्र के लिए सर्वथा नवीन नहीं है। काव्य की आत्मा (रस), रस (नवरस और शृंगार का रसराजत्व), काव्य-हेतु (प्रतिभा और व्युत्पत्ति), काव्य-प्रयोजन (आनन्द-ग्रहण, जन मंगल, यश लाभ, अर्थ सिद्धि) और काव्य शिल्प (सहज-मधुर व्यावहारिक भाषा, स्वाभाविक अलंकार-योजना) के विषय में उनकी धारणाएँ संस्कृत साहित्य शास्त्र के लिए ही नहीं, रीतिकालीन काव्य शास्त्र के लिए भी नितान्त परिचित हैं। रस (भक्ति, वात्सल्य, माधुर्य, सख्य और प्रमोद का रसत्व), छन्द (अतुकान्त प्रवृत्ति) और आलोचना के विषय में उनकी सभी मान्यताओं का संस्कृत में सैद्धान्तिक और रचनात्मक रीति से खंडन अथवा मंडन हो चुका है। समाज-वर्णन, भक्ति-भावना और राष्ट्रीयता को काव्य-वर्ण्य मानने पर बल दे कर भी उन्होंने नवीनता नहीं दिखाई है—आदि काल, भक्ति काल और रीति काल में इन सभी विषयों को स्थान मिल चुका था। अन्य मान्यताओं में से काव्य हेतु (काव्य विषय की सप्राणता), काव्य-वर्ण्य (शृंगार-वर्णन की स्थूलता और अधिकता का विरोध) और काव्य शिल्प (छन्द की जटिलताओं का त्याग) के विषय में उनके विचार तत्कालीन परिवेश में अपना विशिष्ट महत्व अवश्य रखते हैं, किन्तु काव्य-शास्त्र के लिए ये भी नवीन नहीं हैं। काव्य विषय की सप्राणता का प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध है—यहाँ केवल प्रतिपादन की रीति नवीन है, तुलसी ने शृंगारिक मर्यादा का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है और संस्कृत में विषम छन्द का विवेचन छन्द को सरल बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण पग है। आलोच्य कवियों की अन्य मान्यताएँ मौलिक हैं—उन्होंने काव्य शिक्षा को अभ्यास से पृथक् कर कवि विशेष (भारतेन्दु) की ओर से प्राप्त युगानुकूल निर्देशों के अर्थ में ग्रहण किया है, काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत भाषा के उपकार को काव्य का सम्भाव्य फल माना है और काव्यानुवाद के स्वरूप की प्रथम बार समीक्षा की है। इनमें से प्रथम दो धारणाएँ युगीन सन्दर्भ में व्यक्त की गई हैं, किन्तु चिरकालीन महत्व रख सकने पर भी उन्हें बहुत महत्वपूर्ण उद्भावनाएँ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार काव्यानुवाद के विषय में जगमोहनसिंह के विचार भी संक्षिप्त होने के नाते सिद्धान्त-विवेचन के लिए अपेक्षित गम्भीरता और प्रौढ़ता का यथार्थ निर्वाह नहीं करते। फिर भी यह स्पष्ट है कि इन तीनों विचारों की प्रस्तुति में मौलिक विवेक का आधार लिया गया है। इस विवेचन के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग में कवियों ने काव्य-शास्त्र को विशेष नवीन गति तो नहीं दी, किन्तु भावी कवियों को यह सन्देश अवश्य दिया कि उन्हें केवल रूढ़ि का पालन न कर अपनी समकालीन सामाजिक राजनीतिक स्थितियों के अनुरूप काव्य-चिन्तन करना चाहिए। संस्कृत और हिन्दी की सम्मिलित काव्यशास्त्रीय

उपलब्धियों के आधार पर विवेचन करने पर भारतेन्दु युग का महत्व अधिक नहीं रह जाता, किन्तु केवल रीति काल से तुलना करने पर इस युग की नवीनताओं को सहज ही आँका जा सकता है। यद्यपि इस काल के कवियों ने सभी काव्यांगों की विस्तृत और व्यवस्थित मीमांसा नहीं की है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनमें तात्विक विवेचन की शक्ति का अभाव नहीं था।

भारतेन्दु युग में हिन्दी-कवियों द्वारा काव्य-समीक्षा का प्रवर्तन तो नहीं हुआ था, किन्तु पूर्ववर्ती कवियों की मान्यताओं से लाभ उठाते हुए तत्कालीन कवि नवीन पथ की खोज में सक्रिय अवश्य रहे थे। उनके प्रयत्नों का विकसित रूप द्विवेदी युग में मिलता है, किन्तु इन दोनों युगों की कार्य प्रणाली में कुछ अन्तर है। भारतेन्दुकालीन कवि काव्य में नैतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आदर्शों के समावेश के प्रति जागरूक होने पर प्रेम-काव्य की ओर से विमुख नहीं थे, अतः उनकी रचनाओं में काव्यात्मकता का उचित विकास मिलता है। इसके विपरीत द्विवेदीयुगीन कवि इस सम्बन्ध में पूर्वाग्रही रहे, फलतः यह हुआ कि उनकी कृतियाँ उतनी संवेदनीय न बन सकीं। तथापि काव्य चिन्तन की दिशा में उनका योग भारतेन्दु युग से कहीं अधिक है। गद्य का विकास होने के कारण उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा-प्रणालियों को अधिक सफलता के साथ प्रस्तुत किया। स्वतन्त्र सैद्धान्तिक कृतियाँ तथा निबन्ध प्रस्तुत करने की दिशा में आचार्य द्विवेदी, "हरिऔध", "रत्नाकर" और रामनरेश त्रिपाठी का कार्य निश्चय ही महत्वपूर्ण है। अन्य कवियों ने अपने विचारों को मुख्यतः पद्य के माध्यम से निरूपित किया है, किन्तु भूमिकाओं, भाषणों, और स्फुट लेखों में भी उनकी धारणाएँ व्यक्त हुई हैं। इस युग के कवि काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प के विवेचन की ओर विशेष रूप से उन्मुख रहे हैं। सामान्यतः उन्होंने रस, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन की समीक्षा की दिशा में कम कार्य किया है, किन्तु कुछ प्रमुख कवियों ने इन क्षेत्रों में भी व्यक्तिगत रूप से महत्वपूर्ण योग दिया है।

अपने पूर्ववर्ती कवि-आलोचकों की भाँति द्विवेदी युग के कवियों ने भी अपने अधिकांश विचारों को संस्कृत काव्य-शास्त्र के आधार पर प्रस्तुत किया है, किन्तु उनकी परिभाषाओं पर अंग्रेजी, उर्दू और बंगला के काव्य-शास्त्र का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। इन भाषाओं की काव्यशास्त्रीय सम्पदा से लाभान्वित होने वाले कवियों में आचार्य द्विवेदी, "हरिऔध" और मैथिलीशरण मुख्य हैं। इनमें से प्रथम दो कवियों ने अंग्रेजी और उर्दू के प्रभाववश भाषा में बोलचाल के शब्दों और मुहावरों के प्रयोग पर विशेष बल दिया है और गुप्त जी ने बंगला की अमित्राक्षर छन्द प्रवृत्ति के महत्व को स्वीकार किया है। "हरिऔध" ने इसी क्रम में उर्दू-छन्दों की लय के आधार पर छन्द-रचना की आवश्यकता का सजग निर्देश किया है और लोचनप्रसाद पाण्डेय ने अंग्रेजी के सॉनेट छन्द के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। आलोच्य कवियों ने देशी-विदेशी आदान के प्रसंग में संस्कृत के काव्य-सिद्धान्तों का व्यापक आधार लिया है। इसलिए उन्होंने भारतेन्दुकालीन कवियों की भाँति रस को काव्य का मूल तत्व मानने पर भी रीति, वक्रोक्ति, अलंकार और ध्वनि के स्वरूप

पर पर्याप्त विचार किया है। इन काव्य-सम्प्रदायों के खंडन-मंडन के लिए अपनाई गई प्रणाली संस्कृत-आचार्यों से यथावत् गृहीत है। रस-विवेचन के अन्तर्गत शृंगार के रस-राजत्व, करुण रस के महत्व और भक्ति तथा वात्सल्य के रसत्व की स्वीकृति भी परम्परागत सिद्धान्त हैं। काव्य हेतु (प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास), काव्य-प्रयोजन (आनन्द, विश्व-कल्याण, यश और अर्थ की सिद्धि), काव्य शिल्प (सरल, विषयानुकूल और व्याकरणसम्मत भाषा, काव्य-गुण, काव्य-दोष, अलंकार-विधान, वर्णवृत्त-रचना, अनुकान्त का समर्थन और लय के महत्व का उद्घाटन), काव्य के अधिकारी और काव्यालोचन के विषय में उनकी सभी उपरिनिर्दिष्ट धारणाएँ प्रायः संस्कृत काव्य शास्त्र की देन हैं। इन सिद्धान्तों (विशेषतः काव्य का सर्वमंगलात्मक पक्ष, काव्य शिल्प और काव्यालोचन) पर उस समय की सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी गहरा प्रभाव है, किन्तु मूल प्रेरणा निश्चय ही संस्कृत से प्राप्त की गई है।

संस्कृत और अन्य भाषाओं के काव्य शास्त्र से प्रभाव-ग्रहण के अतिरिक्त द्विवेदी-युगीन कवियों ने कतिपय काव्य-मान्यताओं को रीतिकालीन दृष्टिकोण की स्वीकृति अथवा प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट किया है और कुछ धारणाएँ भारतेन्दु युग से प्रभावित हो कर प्रस्तुत की हैं। "रसकलस" में नवरस और रसांगों का विवेचन रीति काल की लक्षण-उदाहरण प्रणाली के अनुकरण पर हुआ है, किन्तु नायिका-भेद के विषय में "हरिऔध" ने समकालीन जीवन-परिस्थितियों को ध्यान में रख कर नवीन भेदों की कल्पना की है। "रत्नाकर" ने राजाज्ञा को काव्य का प्रेरक तत्व मान कर रीतिकालीन सत्य को ही वाणी दी है। इन समानताओं के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी ने शृंगारातिरेक और नायिका भेद के विषय में प्रतिक्रियात्मक धारणाएँ व्यक्त की हैं। रीति काल की भाँति ये कवि भारतेन्दु काल से भी अनिवार्य रूप से प्रभावित रहे हैं। काव्य स्वरूप और वर्णनीय विषयों का विवेचन करते समय कविता को समाज, जाति और राष्ट्र की उन्नति में सहायक मान कर उन्होंने इसी प्रभाव को आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। काव्य-हेतु (काव्य विषय की सप्राणता) और काव्य प्रयोजन (भक्ति-प्रेरणा की प्राप्ति, भाषा का उपकार) की मीमांसा में उन्होंने भारतेन्दु युग के प्रतिपादन को यथातथ्य रूप में ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार काव्यानुवाद और काव्यालोचन के विषय में उनके विचार प्रायः भारतेन्दुकालीन कवियों के मन्तव्यों के विकसित रूप हैं।

द्विवेदीयुगीन कवियों की अवशिष्ट काव्य-मान्यताएँ मौलिक प्रेरणाओं पर आधारित हैं, किन्तु भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र के लिए वे सर्वथा नवीन नहीं हैं। गोपालशरणसिंह ने प्रकृति को काव्य का प्रेरक तत्व माना है, किन्तु इस सिद्धान्त का व्युत्पत्ति के अन्तर्गत अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने स्थावर जंगम सृष्टि के साक्षात् को लोक-दर्शन की संज्ञा दी है। प्रकृति प्रेरणा में विश्वास रखने के कारण प्रस्तुत कवियों ने प्रकृति-चित्रण को काव्य का गुण-विशेष माना है, किन्तु ये मान्यताएँ पाश्चात्य कवि वर्ड्सवर्थ द्वारा पहले ही प्रस्तुत की जा चुकी थीं। बालमुकुन्द गुप्त ने देश-जाति-स्वातन्त्र्य को कवि-प्रतिभा के लिए उत्कर्षकारी माना है, पर यह सिद्धान्त

भी यूनानी दार्शनिक सिसेरो द्वारा पहले व्यक्त किया जा चुका था। प्रस्तुत कवियों ने काव्य के तत्वों का विवेचन करते समय हृदय और बुद्धि के सहभाव पर बल दिया है, परन्तु यह धारणा भी उस समय उपलब्ध भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र के लिए नवीन नहीं थी। उन्होंने कविता और पद्य का अन्तर स्पष्ट करने में भी मौलिकता का परिचय नहीं दिया है, क्योंकि इसके लिए पृष्ठाधार के रूप में जिस लय आदर्श और काव्यात्मकता का उपयोग किया गया है, वह काव्य शास्त्र के लिए चिर-परिचित है। हाँ, परिवर्तित जीवन परिस्थितियों के फलस्वरूप महाकाव्य में रूढ विषयों का त्याग करने का सिद्धान्त निश्चय ही महत्वपूर्ण और साहसपूर्ण उद्भावना है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राय द्विवेदी युग की सभी धारणाओं के बीज भारतीय अथवा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में विद्यमान हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त को इन सूत्रों से लिया ही हो, किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि उन्होंने काव्य-शास्त्र को कौन सा दान दिया है? तुलनात्मक परीक्षण करने पर महाकाव्य, नायिका भेद और काव्यानुवाद के विषय में उनकी कतिपय धारणाओं को उद्भावना कहा जा सकता है और काव्य के तत्व काव्य के भेद एवं काव्य के अधिकारी की भारतेन्दु युग में चर्चा न होने के कारण उनका अभिनन्दन किया जा सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि काव्य शास्त्र की उपलब्ध परम्परा में उल्लिखित होने पर भी प्रस्तुत कवियों के अनेक विचार स्वानुभूत हैं। उन्होंने अनेक मान्यताओं को तत्कालीन परिवेश में ही उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि द्विवेदीयुगीन कवियों ने भारतेन्दुकालीन कवियों की अपेक्षा काव्यांग निरूपण में अधिक मनोयोग का परिचय दिया है। काव्य के अन्तरंग की भाँति उनके बहिरंग की आलोचना की ओर भी वे पर्याप्त जागरूक रहे हैं और मौलिकता का अधिक आश्रय न लेने पर भी उनकी समीक्षा दृष्टि प्रौढ अवश्य है। वर्तमान युग में राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों ने भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की मान्यताओं से लाभ उठाते हुए काव्य शास्त्र को और भी पुष्टि प्रदान की। इन कवियों में काव्यांग चर्चा की ओर मुख्य रूप से माखनलाल चतुर्वेदी और 'दिनकर' ने ध्यान दिया है, किन्तु अन्य कवियों की संक्षिप्त उक्तियाँ भी कहीं-कहीं अत्यन्त महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं। इन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन और काव्य के तत्वों के विवेचन को प्राथमिकता दी है, किन्तु काव्यात्मा, काव्य के भेद, काव्य वर्ण्य, काव्य शिल्प, काव्य के अधिकारी, काव्यानुवाद और काव्यालोचन की चर्चा करते समय भी यथास्थान मौलिकता का परिचय दिया है। इस समय तक आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य चिन्तन की निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत हो चुकी थी, अत यह स्वाभाविक ही था कि ये कवि सिद्धान्त निरूपण के प्रति प्रारम्भ से ही सजग थे। फिर भी, पूर्ववर्ती कवियों की भाँति उनकी भी अनेक उक्तियाँ हिन्दी काव्य शास्त्र के लिए तो नवीन हैं, किन्तु भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र की सीमाओं में प्रायः उनकी खोज की जा सकती है।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों की अनेक मान्यताएँ भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। विशेषत काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन और

काव्य-धर्म के सम्बन्ध में तो उन्होंने प्रायः परम्परा को ही ग्रहण किया है—अन्तर केवल यह है कि "दिनकर" ने अन्य काव्य-साधनों के साथ-साथ अनुकरण-प्रवृत्ति को भी काव्य-प्रेरणा में सहायक माना है और कुछ कवियों ने काव्य को अर्थ-प्राप्ति का साधन मानने की प्रवृत्ति का तीव्र विरोध किया है। इन दोनों मतों की स्थापना में मनोविश्लेषण शास्त्र का उपयोग किया गया है और तात्विक दृष्टि से इनमें से किसी को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन काव्यांगों के विवेचन में मूल सिद्धान्तों को प्रायः परम्परा के अनुसार उपस्थित करने के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उन्होंने भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की काव्य प्रवृत्तियों को ही विकसित रूप में ग्रहण किया है। महत्व-पूर्ण बात यह है कि उनके विवेचन में प्रौढ़ि का अभाव नहीं है—परम्परासिद्ध विषयों की समीक्षा में भी विवेचन की गहराई उन्होंने अवश्य रखी है। इसीलिए काव्य की परिभाषा प्रस्तुत करते समय उसे सामाजिक और राष्ट्रीय भावों की अनुभूत, युगप्रेरक एवं कल्पना-सरस अभिव्यक्ति मान कर उन्होंने केवल पूर्वपरिचित दृष्टिकोण को ही वाणी नहीं दी है, अपितु उसमें मानववादी और वैज्ञानिक विचार-धाराओं को इसी क्रम से स्थान देने पर बल देकर नवीनता लाने का प्रयास किया है। कहा जा सकता है कि इस धारणा पर एक ओर भारतीय आचार्यों को मान्य लोक-मंगल के सिद्धान्त का प्रभाव है और दूसरी ओर यह ज्ञान की चिरकालीन गरिमा से अनुशासित है, किन्तु हमें यह स्वीकार करने के लिए उदारचित्त होना चाहिए कि इस धारणा के मूल में समकालीन देश-काल का प्रभाव भी उतना ही गहरा है। प्रस्तुत कवियों ने काव्य के तत्वों और काव्य के भेदों का अधिक विस्तार और गहराई से विवेचन किया है, किन्तु इसके लिए उन्हें सम्पूर्ण श्रेय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि प्रतिपादन-काल की दृष्टि से उनके अधिकांश विचार छायावादी कवियों की तत्सम्बन्धी मान्यताओं के बाद प्रस्तुत किए गए हैं। काव्य-वस्तु की आन्तरिकता पर बल देने के कारण उन्होंने स्वभावतः अनुभूति को काव्य का मूल तत्व मान कर चिन्तन को उसकी पुष्टि के लिए आवश्यक माना है, फिर भी कल्पना की उपेक्षा नहीं की है। छायावाद काल के समानान्तर काव्य-रचना करने पर भी उन्होंने कल्पना को उतना महत्व नहीं दिया है। कारण स्पष्ट है—स्वतन्त्रता-संघर्ष को प्रोत्साहन देने और प्राचीन सांस्कृतिक विभूतियों का स्मरण दिलाने वाले काव्य में अनुभूति की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता था। तथापि सत्य, शिव और सुन्दर को सहवर्ती मान कर सन्तुलित विवेक का परिचय उन्होंने निश्चय ही दिया है। काव्य रचना के रूपों की समीक्षा करते समय उन्होंने परिवर्तित जीवन-दृष्टि, समकालीन सामाजिक व्यवस्था और आन्तरिक इच्छा से प्रेरित होकर प्रबन्ध काव्य की प्रेरक परिस्थितियों, कथावस्तु और पात्र-योजना के विषय में मौलिक विचार प्रकट किए हैं। समाख्यान-काव्य में तत्कालीन देश-काल के साथ-साथ समकालीन वातावरण पर विशेष दृष्टि रख कर उन्होंने संस्कृत के आचार्यों की रूढ़ मान्यताओं के स्थान पर निश्चय ही क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार की विचार-प्रणाली (कथा-रूढ़ियों से मुक्ति और पात्रों का नवीन सन्दर्भ में अध्ययन) का प्रारम्भ द्विवेदी युग में हो चुका था,

किन्तु आलोच्य कवियो की धारणाएँ उनसे भिन्न और मौलिक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सास्कृतिक कवियो ने परम्परा का निर्वाह करते हुए भी प्रसगानुसार मौलिकता का परिचय अवश्य दिया है। अन्य काव्यागो मे से काव्य शिल्प के विवेचन म उन्होने द्विवेदी युग जैसी सलग्नता का परिचय नही दिया है, क्योकि उन्हे पूर्ववर्ती कवियों की भाँति भाषा विन्यास की जटिल समस्या का सामना नही करना था, फिर भी 'दिनकर' की स्थापनाओ मे मौलिकता है। उन्होने नवीन उपमानो और नवीन छन्दो की रचना पर बल दे कर यह स्पष्ट कर दिया है कि भावना की भाँति रूप-विधान की समस्या भी समय के अनुसार बदलती रहती है, अत कवि को इस ओर से विमुख नही होना चाहिए। काव्य के अधिकारी और काव्यालोचन के विषय मे इन कवियो के विचार परम्परा के अनुकूल है, किन्तु 'दिनकर' ने काव्यानुवाद की सशक्त विवेचना की है। यद्यपि अनुवाद की विधि और उसकी महत्ता का पूर्ण उल्लेख तो उन्होने भी नही किया, तथापि अनुवाद म मौलिक भावो के समावेश और उसमे भाषा के उपकार की चर्चा कर उन्होने परम्परा से भिन्न विवेचन अवश्य किया है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय-सास्कृतिक कवियो ने प्रबन्ध काव्य और काव्यानुवाद के विषय म तो निश्चित रूप से मौलिक विचार प्रकट किए है अन्य काव्यागो मे से काव्य स्वरूप, काव्य हेतु, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और काव्य शिल्प सम्बन्धी विचारो मे भी कही-कही नवीनता का समावेश है। उनकी महत्ता इस बात मे भी है कि समकालीन कवियो द्वारा छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि का प्रवर्तन होने पर भी उनकी काव्य दृष्टि मे विकार नही आया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग से राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता के विकास काल तक कवियो द्वारा काव्य चिन्तन की एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की जा चुकी थी। इस अवधि की अधिकाश काव्य प्रवृत्तियों मे एकसूत्रता का तत्व विद्यमान है। अन्तर यह है कि जहाँ भारतेन्दु काल के कवि रीति काल मे कुछ प्रभावित थे वहाँ द्विवेदीयुगीन कवि इस प्रभाव से मुक्त रह कर काव्य के नैतिक मूल्यो के प्रति अति आग्रही थे और राष्ट्रीय सास्कृतिक कवि छायावाद की रमणीयता को अपनाने की ओर भी प्रयत्नशील रहे। इस अन्तर के मूल मे केवल कवि की वैयक्तिक रुचि नही है, अपितु काव्य पर सामाजिक स्थितियो के परिवर्तन के अनुरूप प्रभाव का सिद्धान्त भी है। काव्य मार्ग को बदलने का स्वाभाविक परिणाम यही होगा कि काव्य शास्त्र के क्षेत्र मे नवीन समस्याओ का अध्ययन किया जाए। राष्ट्रीय-सास्कृतिक कवियो ने समाज और राष्ट्र के विषय मे लगभग उन्ही आदर्शवादी विचारो को अपनाया है जो भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग मे प्रस्तुत किए गए थ। अत उनके काव्य रचना काल तक काव्यशास्त्रीय समस्याएँ मूलत काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य-वर्ण्य, काव्य शिल्प और काव्यानुवाद से सम्बद्ध रही, किन्तु इन क्षेत्रो मे भी कवियो के रोमानी दृष्टिकोण का उन्मेष अभी अवशिष्ट था। अब तक की कविता जीवन और जगत् की समस्याओ का आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करने मे उलझी हुई थी, कल्पना के सूक्ष्म रूपाकारो से उसका

विशेष साक्षात् नहीं हुआ था। अतः कवियों के दृष्टिकोण में स्वाभाविक रूप से समाविष्ट हो जाने वाली इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। छायावादी कवियों ने नवीन भावनात्मक दृष्टिकोण अपना कर न केवल काव्य-सृजन के लिए नवीन सौन्दर्य-बोध प्रस्तुत किया, अपितु काव्य-शास्त्र का भी मौलिक रूप से अन्वेषण किया। उन्होंने भावना और रस विधान की परिचित परिधि को अपर्याप्त मान कर इन क्षेत्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत किए।

छायावादी कवियों ने काव्य-चिन्तन के प्रति सर्वाधिक उत्साह व्यक्त किया है। उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्त्व, काव्य के भेद, शब्द-शक्ति, काव्य शिल्प और विशिष्ट काव्य-प्रणालियों (छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद) के विवेचन पर अधिक ध्यान दिया है, किन्तु काव्यात्मा, रस, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन और काव्यालोचन के विषय में भी उनकी मान्यताओं में मौलिकता और तात्त्विकता का अभाव नहीं है। उनकी प्रधान विशेषता यह है कि उन्होंने काव्य को नीति-शास्त्र के आग्रह से मुक्त कर कलात्मक मूल्यों की सौन्दर्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की। सांस्कृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को काव्य का गुण मानने के कारण वे नैतिक मूल्यों की एकान्त उपेक्षा तो कर ही नहीं सकते थे, अतः उनका प्रयास यह रहा कि अनुभूति को इतिवृत्त के स्थूल परिचय से भिन्न रूप प्रदान कर सौन्दर्यात्मक अन्तःकान्ति और कल्पनिक अनुभूति पर बल दिया जाए। कल्पनानुरक्त मधुर भाव व्यंजना, सूक्ष्म सौन्दर्य-वर्णना एवं भाव परिष्कार को कवि की आदर्श उपलब्धियाँ मान कर उन्होंने तन्मयता और आनन्द-मार्ग की सिद्धि को इनकी स्वाभाविक परिणति कहा है। इन उपलब्धियों के लिए "प्रसाद" जी ने शैवागम के आनन्द सिद्धान्त का आधार लिया, पन्त जी ने अरविन्द-दर्शन में उपलब्ध मनःसत्त्व से प्रेरणा ली और और यह मिला कर ये कवि भारतीय दर्शन और संस्कृति के स्फूर्ति रहे। उन्होंने मानवीय जागरण के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण, समन्वयमूलक सांस्कृतिक प्रवृत्ति, आध्यात्मिक प्रेरणा, प्रकृति के स्वच्छन्द सौन्दर्य की रागात्मकता और प्रेम की रोमानी चेतना को काव्य के अनिवार्य उपादान माना। ये प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती काव्य-शास्त्र में सामान्य रूप से उल्लिखित थीं, छायावादियों ने इन्हें सूक्ष्म सौन्दर्य और रागात्मक कल्पना का सहज-संस्कारी रूप दिया। काव्य-दर्शन में गम्भीरता को आवश्यक मानने पर भी उन्होंने सरसता को मूर्द्धन्य रखा। फल यह हुआ कि वे सत्य, शिव और सुन्दर की एक साथ साधना कर सके, किन्तु उनकी दृष्टि विशेषतः कल्पना, सौन्दर्य और रस पर ही केन्द्रित रही।

छायावादी कवियों ने काव्य के भावात्मक रूप की समृद्धि के लिए इन्हीं विशेषताओं का आधार लिया है। उन्होंने छायावाद (अन्तस्संस्कार, प्रकृति दर्शन, कल्पना, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध आदि का उन्मेष), रहस्यवाद (अपरोक्ष अनुभूति, अद्वैत मत, प्रेम-माधुरी, रागात्मकता, आनन्द भाव आदि का स्फुरण) और आदर्श-यथार्थ (देशकाला-नुरूप संस्कृति और आदर्शात्मक सौन्दर्य-कल्पना की प्रस्तुति) के माध्यम से काव्य में नवीन भाव जागरण पर बल दिया है। व्यावहारिक रूप से ये सभी प्रवृत्तियाँ भारतीय काव्य

की परिचित विशेषताएँ हैं, किन्तु इन्हें सूक्ष्म-गम्भीर सैद्धान्तिक रूप सर्वप्रथम छायावादी कवियों की ओर से ही मिला। उनके प्रयत्न केवल नवीन भाव बोध तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने रूप विन्यास की सूक्ष्मता और तरलता की ओर भी उपर्युक्त ध्यान दिया। उन्होंने भाषा, अलंकार और छन्द, तीनों के क्षेत्र में नवीनताओं और सूक्ष्मताओं का समावेश किया। भाषा के अन्तर्गत चित्रात्मकता, लाक्षणिकता, रागात्मकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान और व्यञ्जना को महत्व दे कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि भाषा का वस्तु-आधार ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कवि को भाषा के अन्तराल में प्रवेश करना चाहिए—उसके सूक्ष्म मनोविज्ञान का उद्घाटन करना चाहिए। ये स्थापनाएँ हिन्दी काव्य शास्त्र के लिए लगभग नवीन थीं, किन्तु रीति और वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य इनकी किंचित् भिन्न रूप में स्थापना कर चुके थे। फिर भी, चित्र-राग को भाषा का गुण मानना पन्त जी की मौलिक उद्भावना है। प्रस्तुत कवियों का अलंकरण-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी रूढि-रीतियों से मुक्त है। उन्होंने शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की अन्तसम्बद्धता पर बल दे कर नवीन सूक्ष्म सौन्दर्य के वहन को उनका प्राकृत गुण माना। यह दृष्टिकोण परम्परा से बहुत कुछ मुक्त है, क्योंकि पूर्ववर्ती कवियों ने अलंकार-योजना की स्वाभाविकता, सूक्ष्मता और सौन्दर्यमयता का एक साथ प्रतिपादन नहीं किया था। रूप-विधान को अधिक परिपूर्ण और मर्मस्पर्शी बनाने के लिए आलोच्य कवियों ने छन्द के स्वरूप का भी विदग्ध विवेचन किया है। उन्होंने छन्द के स्थूल नियमों (मात्रा-वर्ण-संख्या, यति, दग्धाक्षर आदि) को विशेष महत्व न दे कर स्वर संगीत के नूतन प्रयोगों को महत्व दिया है। छन्द के मनोवैज्ञानिक अन्तर्विश्लेषण में विश्वास रखने के कारण उन्होंने प्रचलित छन्दों को भी लय-प्रसार के द्वारा नवीन रूप में प्रस्तुत करने पर बल दिया है। इसी प्रकार मुक्त छन्द की प्रवृत्तियों (भावानुमोदित लयादर्श, भाव-स्वातन्त्र्य, वर्ण-मैत्री, छन्द के स्थूल वस्तु-आकार का त्याग) को निर्धारित कर के भी उन्होंने मौलिक स्थापना की है।

इस प्रकार छायावादी कवियों ने भावना और शैली को नए आकार प्रदान करने की इच्छा से नूतन काव्य शास्त्र के निर्माण का प्रयास किया है। अन्य काव्यांगों में से उन्होंने काव्य-रचना के रूपों का भी मार्मिक विश्लेषण किया है। उन्होंने महाकाव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य के विवेचन में अधिक मनोयोग का परिचय दिया है। कारण स्पष्ट है—प्रबन्ध काव्य की रचना की अपेक्षा प्रगीत मुक्तकों की रचना ही उन्हें विशेष अभीष्ट रही है। गीतिकाव्य की भावात्मक तथा कलात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त उसके भेदों की सर्वप्रथम चर्चा करने का श्रेय भी क्रमशः 'निराला' और महादेवी को ही है। इनके अतिरिक्त पन्त ने गीत-गद्य-सम्बन्धी मत को भी नवीन उद्भावना के रूप में प्रस्तुत किया है। आलोच्य कवियों द्वारा विवेचित अवशिष्ट काव्यांग हैं—काव्य-हेतु और काव्यालोचन। इनके विषय में उनकी धारणाएँ परम्परासिद्ध हैं, अतः विशेष विवेचन स्पष्टत विषय का अनावश्यक विस्तार होगा। अन्ततः यह कहना उपयुक्त होगा कि छायावादी कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा काव्य-शास्त्र को अधिक मौलिक और व्यवस्थित

मीमांसा की है। सिद्धान्त-निरूपण से पूर्व उन्होंने उपलब्ध ज्ञानकोष का विस्तार से उपयोग किया है—संस्कृत काव्य-शास्त्र, वैदिक संस्कृति, प्राचीन भारतीय दर्शन, विदेशी साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य कविता, रवीन्द्र-साहित्य, अरविन्द-दर्शन, लोक-साहित्य आदि के मन्थन के उपरान्त उन्होंने समन्वयपरक चिन्तन का आश्रय लिया है और अनेक मार्मिक उद्भावनाएँ की हैं। पूर्ववर्ती कवियों ने ऐसी विस्तीर्ण अध्ययन-परम्परा का आधार नहीं लिया था, अतः उनके विचार भी परिचित मान्यताओं से अधिक आगे नहीं जा सके थे। छायावादी कवियों ने अध्ययन, मनन और कल्पना द्वारा प्रयोगात्मक काव्य-शास्त्र में रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा की है और सामान्यतः अधिकांश विचारों को रूढिबद्ध न होने देने का सफल प्रयास किया है।

छायावादी कविता के उपरान्त हिन्दी-कविता का विकास तीन दिशाओं में विभाजित है—वैयक्तिक कविता, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। वैयक्तिक कविता के रचयिताओं ने काव्य में व्यक्ति-तत्त्व को प्रधानता देने पर भी किसी मतवाद की संकीर्णताओं को नहीं अपनाया है। उन्होंने काव्यात्मा, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भाषा, काव्य के अधिकारी एवं काव्यगत आदर्श-यथार्थ की ता प्रायः परम्परानुसार ही समीक्षा की है—इन काव्यांगों के अनुशीलन में मौलिकता की खोज व्यर्थ होगी। काव्य का स्वरूप (अनुभूति की तीव्रता, रागात्मकता, स्वाभाविकता और सुव्यवस्था का अवलम्बन), गीतिकाव्य (किसी विशेष भाव का स्वतन्त्र, लयात्मक और आनन्दमय भावन) और काव्य-धर्म (जीवन की विविधताओं के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का कथन) के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ भी प्रायः पाश्चात्य परम्परा से प्राप्त हैं, किन्तु उनमें मौलिकता की प्रवृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में उनके समर्थन में यह तर्क दिया जा सकता है कि कवियों के लिए सभी काव्यांगों का व्यवस्थित विवेचन अनिवार्य नहीं है और मौलिकता की सीमाएँ तो और भी दुस्साध्य होती हैं। तथापि काव्य-हेतु के अन्तर्गत लौकिक प्रणय की प्रेरणा-शक्ति को स्वीकार करना और काव्य के तत्व-विवेचन के प्रसंग में व्यक्ति तत्व की महत्ता का उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ हैं। इनमें से काव्य में व्यक्ति-तत्व की सबल स्थापना निश्चय ही महत्वपूर्ण है।

वैयक्तिक कविता के रचयिताओं में "बच्चन" ने छन्द और काव्यानुवाद के विषय में कुछ नवीन धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। छन्द और भाषा में अविच्छिन्न सम्बन्ध, हिन्दी-कविता में उर्दू छन्दों की उपयोगिता, मुक्त छन्द और रुबाई के विषय में उनकी धारणाएँ अपने आप में नवीन हैं। हिन्दी के आलोचना-शास्त्र और पारसी काव्य-शास्त्र में इन विशेषताओं का यथास्थान उल्लेख हुआ है, किन्तु "बच्चन" को इस बात का श्रेय तो देना ही होगा कि उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों ने इनका उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार काव्यानुवाद के विषय में भी उनकी मान्यताएँ रोचक हैं—शब्दानुवाद और भावानुवाद में सहयोग, मूल कृति के भावों और सांस्कृतिक आदर्शों की रक्षा, प्रतिपादन की सजीवता, भाषा की सरलता और मूल कृति के समनुरूप छन्द की योजना पर बल देकर उन्होंने विदग्धता का परिचय दिया है। हिन्दी-कवियों में काव्यानुवाद के स्वरूप पर इतनी

सफलता के साथ विचार करने वाले दूसरे कवि "दिनकर" और, उनसे भी पूर्व, श्रीधर पाठक हैं। इस विवेचन से प्रमाणित है कि वैयक्तिक कविता के रचयिताओं ने काव्य शास्त्र की परिचित विशेषताओं को स्वीकार करने के अतिरिक्त काव्य रचना में प्रणय की प्रेरकता, काव्यगत व्यक्ति-तत्व, छन्द और काव्यानुवाद के सम्बन्ध में परम्परा से भिन्न स्वतन्त्र चिन्तन किया है।

छायावादी कविता में जीवन के स्थान पर कल्पना के प्रति आग्रह और वैयक्तिक कविता में सामाजिकता के स्थान पर व्यक्ति तत्व की प्रधानता को लगभग अतिवाद माना जा सकता है, अतः काव्य क्षेत्र में प्रतिक्रिया अनिवार्य थी। जिस प्रकार मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है उसी प्रकार कवि के विचारों में भी युगानुसार परिवर्तन अवश्यम्भावी है। छायावाद और वैयक्तिक कविता के विरोध में प्रगतिवाद का जन्म इसका प्रमाण है। प्रगतिवादी कवियों ने काव्य शास्त्र के परम्परागत मूल्यों को यथावत् स्वीकार न कर समाजव्यापी श्रेणी-संघर्ष से प्रेरणा ली और अनेक स्थानों पर नवीन विचार व्यक्त किए। उन्होंने काव्य की आत्मा, काव्य शिल्प और काव्यगत आदर्श-यथार्थ का संक्षिप्त और प्रायः परम्पराबद्ध विवेचन किया है—नवीनता केवल यह है कि उन्होंने रस की आनन्दवादी व्याख्या न कर उसे के साधारणीकरण अथवा मन संगठन को रस माना है और काव्य-भाषा में सूक्ष्मता का विरोध किया है। अलंकार और छन्द को अनिवार्य न मानकर भी क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है, किन्तु यह धारणा पूर्ववर्ती कवियों द्वारा भी प्रस्तुत की जा चुकी थी। काव्य-हेतु और काव्य प्रयोजन की समीक्षा अपेक्षाकृत नवीन रूप में की गई है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य हेतु मानते समय उन्होंने शोषितों की पीड़ा के दर्शन को काव्य रचना का कारण माना है। काव्य प्रयोजन-सम्बन्धी विचारों में सैद्धान्तिक रूप से यह भूल की गई है कि लोक हित का अर्थ केवल सर्वहारा वर्ग का हित समझा गया है और इसके लिए शान्त वातावरण की अपेक्षा क्रान्ति दर्शन को अपनाया गया है। आनन्द की साधना और सम्पत्ति की उपेक्षा को अनिवार्य मान कर अन्तरंग चिन्तन का भी परिचय दिया गया है, किन्तु काव्य को केवल पीड़ित वर्ग के लिए फलदायक मानना निश्चय ही गम्भीर भूल है। इस पूर्वाग्रही वृत्ति के फलस्वरूप वे अन्य काव्यांगों के विषय में भी स्वस्थ चिन्तन न कर सके हैं—काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व, काव्य-वर्ण्य और प्रगतिवाद की समीक्षा में इस तथ्य को सहज ही देखा जा सकता है। समाज क्रान्ति की आवश्यकता, मार्क्स-दर्शन का आधार, कल्पना की अतिशयता का निषेध, काव्यगत व्यक्ति-तत्व का विरोध और प्रेम का स्वस्थ वैज्ञानिक निरूपण ऐसी ही विशेषताएँ हैं, जिन्हें इन कवियों ने परम्परा से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु जो सर्वत्र स्वीकार्य न हो सकी हैं। काव्य में रोमानी मूल्यों के प्रति असहिष्णु होने के कारण उन्होंने कल्पना की अपेक्षा समाज के वस्तु पक्ष की अनुभूति को महत्व दिया है, जो अपने आप में एकांगी स्थापना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवादी कवियों ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों को पूर्वाग्रही दृष्टि से देखा है, फलतः उनकी विवेचना में असन्तुलन आ

गया है। कल्पना, व्यक्ति-तत्व, प्राचीन संस्कृति, सर्वोदय और सूक्ष्म कला-संस्कारों के प्रति उनकी आस्था नहीं है, अत उन्होंने काव्य के मर्म को ग्रहण करने में ही भूल की है। फिर भी काव्य शास्त्र के विकास मे प्रगतिवाद की देन का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। उसकी सबसे महत्वपूर्ण देन यह है कि कवियों को समाज के अन्तस् में प्रवेश करने और जीवन के यथार्थ पर मनन करने का सन्देश मिला, किन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि सर्वहारा वर्ग पर ही दृष्टि न रख कर व्यापक मानवता का अध्ययन किया जाए। छायावाद के आविर्भाव से पूर्व समाज का अनुशीलन आधुनिक हिन्दी-कविता का सहज अंग था—प्रगतिवादियों ने इस विशेषता को नवीन सन्दर्भ मे पुनर्जीवन दिया। इसी प्रकार काव्य म सरलता, वैज्ञानिकता और ओज को गौरव दे कर भी उन्होंने निर्भ्रान्त स्थापनाएँ की है। प्रगतिवाद के अतिवादों का त्याग करने पर निश्चय ही स्फूर्तिदायक काव्य-दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान हिन्दी-कविता की नवीनतम विकास रेखा प्रयोगवाद है। इस काव्य प्रवृत्ति का आविर्भाव छायावाद की सूक्ष्म-तरल सौन्दर्य-भावना और अतिकोमल रूप-विन्यास के प्रति प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था। प्रगतिवाद के उद्भव के मूल म भी यही कारण थे अन्तर यह है कि उसमे सामूहिकता, भौतिकवाद और साम्यवाद का आधार लिया गया तथा प्रयोगवाद मे वैयक्तिक रुचियों, बौद्धिक अहम् एव नवीन शैली प्रयोगों को महत्व मिला। प्रगतिवादी कवियो की भाँति प्रयोगवादी कवियों ने भी काव्य के विभिन्न अंगो का परम्परा से भिन्न विवेचन किया है, क्योंकि वे एतद्गतत्व-मात्र के विरोधी हैं। उन्होंने प्रतिभा, कल्पना, प्रेम, प्रकृति, सहज भाषा और लय के काव्यगत महत्व को स्वीकार कर कहीं-कहीं प्रकारान्तर मे परम्परा को भी ग्रहण किया है, किन्तु अधिकांशत उनकी मान्यताएँ परम्परा विरोधी ही हैं। रस अथवा भावना की अपेक्षा चमत्कार और विचार-प्रभाव पर बल देना, नयी कविता के अनुशीलन में साधारणीकरण की पिछली प्रणालियों को असफल मानना, जटिल समासों और प्रतीकों द्वारा भाषा को नवीन अर्थ की व्यंजना के योग्य बनाना, नवीनता के मोह मे उपमेय और उपमान मे असम्बन्ध रखना, असम्पृक्त और खंडित बिम्बों की योजना करना आदि धारणाएँ ऐसी ही है। इनके प्रतिपादन में नवीनता अवश्य है, किन्तु संगति कम है। प्रयोग के प्रति आत्यन्तिक मोह न रखने पर कवियों को इन्हीं विचारों के प्रतिपादन में सफलता मिल सकती थी। उदाहरण के लिए वातावरण की ध्वनि और रूपाकार के आधार पर नवीन शब्द निर्माण और मुक्त छन्द के विषय में उनके विचार उपयोगी है। किन्तु कुल मिला कर उनमे संगति अधिक नहीं है, अत काव्य-शास्त्र में प्रयोगवाद का महत्व भी प्रगतिवाद की भाँति ही स्थिर नहीं है।

प्रयोगवाद की मूल प्रवृत्ति आत्म-सत्य और काव्य-सत्य का अनुसन्धान है, किन्तु शोध का आधार अस्थायी है। उसके कवि समाज और साहित्य की विगत उपलब्धियों एव वर्तमान स्थितियों के प्रति सन्देहवादी हैं, अत वे नवीन लक्ष्यों का अन्वेषण करने के लिए व्यग्र हैं। जीवन और कविता के विविध उपादानों के विषय म उनके विचारों में

असमानता है, किन्तु वे केन्द्र-बिन्दुओं की खोज मे सलग्न हैं। इसीलिए "अज्ञेय" ने लिखा है—"वे × × × × × किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी। उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है।"[1] ये विचार सन् १९४३ मे प्रकट किए गए थे—परन्तु इसके आठ वर्ष बाद सन् १९५१ में भी "अज्ञेय" ने यही लिखा—"ये कवि भी विरामस्थल पर नहीं पहुँचे हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज-रेखा।"[2] वस्तु स्थिति आज भी यही है—इन कवियो ने आत्म-सत्य और काव्य-सत्य को इतने प्रयोगों के बाद भी नहीं पहचाना है। उन्होने विगत दो दशको मे काव्य की भावात्मक सत्ता को अस्पष्ट और जटिल बनाने मे असाधारण योग दिया है, किन्तु अब समय आ गया है कि प्रयोग के नारे का मोह छोड कर रस और आनन्द से परिपूरित कविताओं की रचना की जाए।

आधुनिक हिन्दी-कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का समन्वित अध्ययन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक युग मे समाज, राजनीति और कला के प्रचलित मूल्यों मे परिवर्तन हुआ है और परिणाम-रूप मे काव्य शास्त्र की समीक्षा मे भी यत्किंचित् मौलिकता अवश्य दिखाई गई है। सबसे अधिक सक्रियता द्विवेदी युग और छायावाद युग के कवियो ने दिखाई है—परम्परागत काव्यशास्त्रीय मूल्यों की सम्यक् स्थापना और यत्र-तत्र मौलिक अन्त स्पर्श द्विवेदी युग की देन है और नवीन उन्मेष की दृष्टि से छायावादी कवियो का योगदान बहुमूल्य है। गम्भीर चिन्तन की दृष्टि से राष्ट्रीय-सास्कृतिक कविता के रचयिताओं की स्थापनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, किन्तु अन्य काव्य-युगो मे यथा-स्थान मौलिकता होने पर भी या तो काव्य शास्त्र का व्यवस्थित और विस्तृत निरूपण नहीं हुआ अथवा निर्भ्रान्त धारणाएँ प्रस्तुत नही की गई। तथापि किसी भी युग की धारणाओं का एकान्त तिरस्कार नहीं किया जा सकता—प्रत्येक विचार-धारा अपने आप मे कोई न कोई उपयोगी तत्व अवश्य रखती है। आधुनिक कवियो ने काव्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए काव्य-शास्त्र के अनुशीलन मात्र को पर्याप्त नही माना—समकालीन साहित्यिक प्रश्नो, वैयक्तिक रुचि और सामाजिक परिवेश ने उनकी धारणाओं को ऐसी मौलिक दीप्ति और अनुभूतिजन्य सरसता दी है जो आलोचक की शास्त्र-निबद्ध गूढोक्तियों मे सहजता के स्थान पर प्राय जटिलता धारण कर लेती है। आधुनिक युग के विभिन्न उपयुगो मे प्रत्येक काव्यांग के विषय मे कवियो ने जो सामग्री प्रस्तुत की है, उसे एक स्थान पर एकत्र कर लेने और परम्परा की पुनरुक्ति को पृथक् कर देने पर जो कुछ बच रहता है उसमे प्रभूत मौलिकता है। आधुनिक युग के इन कवियो ने चिन्तन मे प्रौढता लाने के लिए पूर्ववर्तियो की अपेक्षा व्यापक पृष्ठाधार का उपयोग किया है—संस्कृत, बगला, अंग्रेजी और उर्दू के काव्य शास्त्र के अतिरिक्त यूनानी और रीतिकालीन सैद्धा-

१ तार सप्तक, भूमिका, पृष्ठ ५-६

२ दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ १४

निर मान्यताओं का अध्ययन भी उनके लिए सुलभ रहा है। तथापि यह स्मरण रखना होगा कि अब तक का काव्य-चिन्तन अन्तिम सीमा नहीं है—भावी कविता को रस, राग, आनन्द और लय से समृद्ध करने के लिए कवियों को अपने लिए उपयोगी काव्यशास्त्रीय मर्यादाओं की स्वयं व्यवस्था करनी होगी। आलोचकों की शास्त्रीय मान्यताओं और कवियों की अनुभूत धारणाओं का समन्वय करने पर हिन्दी-काव्य-शास्त्र को नवीन रूप-रेखा अवश्य दी जा सकती है—ऐसा हमारा विश्वास है।

परिशिष्ट—१

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१. यजुर्वेद

२. श्रीमद्भागवत

३. अग्निपुराण

४. नाट्य-शास्त्र : भरत मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।

५. नाट्य-शास्त्र : भरत मुनि, अनुवादक—भोलानाथ शर्मा, प्रथम सं०, सन् १९५४, साहित्य निकेतन, कानपुर।

६. काव्यालंकार : भामह, सन् १९२८, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।

७. काव्यादर्श : दण्डी, सन् १९२४, ओरियंटल बुक सप्लाइंग एजेंसी, पूना।

८. हिन्दी-काव्यालंकारसूत्र : वामन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम सं०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।

९. काव्यालंकार : रुद्रट, तृतीय सं०, सन् १९२८, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

१०. हिन्दी-ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम सं०, सन् १९५२, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

११. ध्वन्यालोकलोचन : अभिनवगुप्त, काव्यमाला-संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

१२. अभिनव भारती (*भरत के नाट्य शास्त्र की टीका*) : *अभिनवगुप्त, गायकवाड* ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा।

१३. काव्यमीमांसा : राजशेखर, व्याख्याकार—पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, प्रथम सं०, संवत् २०११, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

१४. हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम सं०, सन् १९५५, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।

१५. सरस्वती कंठाभरण : भोजराज, द्वितीय सं०, सन् १९३४, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

१६. शृंगारप्रकाश : भोजराज।

१७. काव्यमाला, प्रथम भाग : क्षेमेन्द्रकृत औचित्य विचार-चर्चा सम्बन्धी अंश, तृतीय सं०, सन् १९२९, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

१८. काव्यप्रकाश मम्मट, व्याख्याकार—डॉ० सत्यव्रतसिंह, सन् १९५५, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस।
१९. काव्यानुशासन हेमचन्द्र, द्वितीय सं०, सन् १९३४, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
२०. वाग्भटालङ्कार . वाग्भट, चतुर्थ सं०, सन् १९१८, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
२१. चन्द्रालोक जयदेव, संवत् १९९५, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस।
२२. हिन्दी-साहित्यदर्पण विश्वनाथ, व्याख्याकार—डॉ० सत्यव्रतसिंह, संवत् २०१४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२३. रसगंगाधर पंडितराज जगन्नाथ, षष्ठ सं०, सन् १९४७, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
२४. श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी, प्रथम सं०, संवत् १९८८, विद्याविलास मुद्रणालय, काशी।
२५. श्री भगवद्भक्तिरसायन मधुसूदन सरस्वती, प्रथम सं०, संवत् १९८४, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।

हिन्दी-ग्रन्थ

कवियों की कृतियाँ

(प्रस्तुत प्रबन्ध में निर्धारित कवि-क्रम के अनुसार)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, प्रथम भाग . सम्पादक ब्रजरत्नदास, प्रथम सं०, संवत् २००७, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
२. भारतेन्दु-ग्रन्थावली, द्वितीय भाग . सम्पादक—ब्रजरत्नदास, द्वितीय सं०, संवत् २०१०, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
३. नाटक : प्रथम सं०, सन् १९४१, विश्वविद्यालय-परीक्षा-बुक डिपो, प्रयाग।
४ हिन्दी-भाषा : सन् १८८३, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।
५. गीत गोविन्दानन्द : प्रथम सं०, सन् १८८७, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।
६. भक्त सर्वस्व : प्रथम सं०, सन् १८८८, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।
७ प्रेम माधुरी : द्वितीय सं०, सन् १८८२।
८ भारतेन्दु-कला : संकलनकर्ता - बाबू रामदीनसिंह, सन् १८८३, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।
९. सत्य हरिश्चन्द्र : द्वितीय सं०, हरिप्रकाश यन्त्रालय, बनारस।
१० हिन्दी लेक्चर : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन"

११ प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग : सम्पादक प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, प्रथम संस्करण, संवत् १९९६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१२ प्रेमधन सर्वस्व, द्वितीय भाग सम्पादक प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, प्रथम संस्करण, संवत् २००७, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

प्रतापनारायण मिश्र

१३ प्रतापनारायण ग्रन्थावली, प्रथम खंड सम्पादक विजयशंकर मल्ल, प्रथम सं०, संवत २०१४, नागरीप्रचारिणी सभा काशी।

१४ प्रताप लहरी प्रथम सं०, भीष्म एण्ड ब्रादर्स, कानपुर।

१५ कलिकौतुक रूपक आर्य भाषा पुस्तकालय काशी मे प्राप्य प्रति।

१६ संगीत शाकुन्तल (अनूदित) संवत् १९६५, खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर।

अम्बिकादत्त व्यास

१७ सुकवि सतसई प्रथम सं० सन १८८७ नारायण प्रेस मुजफ्फरपुर।

१८ पावस पचासा सन १८८६ खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

१९ हो हो होरी प्रथम सं०, सन १८९१ व्यास यन्त्रालय, भागलपुर।

२०. मन की उमंग प्रथम सं०, संवत १९४३।

२१ भारत सौभाग्य सन् १८८७ खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

२२ गोसंकट नाटक सन् १८८६, खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर।

राधाकृष्णदास

२३ सूरदास आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी मे उपलब्ध प्रति।

२४. दुःखिनी बाला चतुर्थ सं०, संवत् १९५५, हरिप्रकाश यन्त्रालय, बनारस।

२५ महाराणा प्रतापसिंह सन् १९०७, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

२६ महारानी पद्मावती सन् १९१२, बाबू देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रकाशित।

२७ राधाकृष्ण ग्रन्थावली, प्रथम खंड सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दरदास, प्रथम सं०, सन् १९३०, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

जगमोहनसिंह

२८ श्यामालता सन् १८८५, भारत जीवन प्रेस, काशी।

२९ देवयानी सन् १८८६, भारत जीवन प्रेस, काशी।

३० ऋतुसंहार (अनूदित) सन् १८७६, सत्य प्रेस, कलकत्ता।

३१ मेघदूत (अनूदित) सन १८८३, कवि द्वारा स्वयं प्रकाशित।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

३२ द्विवेदी-काव्य माला प्रथम सं०, सन् १९४०, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

३३. रसज्ञ रंजन नवीनतम सं०, सन् १९५८, साहित्यरत्न भंडार, आगरा।

३४ सुमन प्रथम सं०, संवत् १९८०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।

३५ साहित्य सन्दर्भ संवत् १९८५, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

३६. कविता-कलाप : प्रथम सं०, सन् १९०९, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
३७. सुकवि-संकीर्तन : प्रथम सं०, संवत् १९८१, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
३८. साहित्य-सीकर : प्रथम सं०, संवत् १९८७, तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, प्रयाग।
३९. नाट्यशास्त्र : चतुर्थ सं०, सन् १९२६, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
४०. विचार-विमर्श : प्रथम सं०, संवत् १९८८, भारती भंडार, बनारस।
४१. लेखांजलि : प्रथम सं०, संवत् १९८५, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता।
४२. प्राचीन पंडित और कवि : प्रथम सं०, सन् १९१८, बनर्जल प्रेस, कानपुर।
४३. कालिदास की निरंकुशता : सन् १९१९, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
४४. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति : द्वितीय सं०, सन् १९११, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
४५. रघुवंश (अनूदित) : प्रथम सं०, सन् १९१३, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
४६ किरातार्जुनीय (अनूदित) : द्वितीय सं०, सन् १९२७, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
४७. कुमारसम्भव (अनूदित) : तृतीय सं०, सन् १९२८, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
४८ समालोचना समुच्चय : प्रथम सं०, सन् १९३०, रामनारायण लाल पब्लिशर, इलाहाबाद।
४९. द्विवेदी-पत्रावली : प्रथम सं०, सन् १९५४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
५०. संचयन : सम्पादक—प्रभात शास्त्री, प्रथम संस्करण।

श्रीधर पाठक

५१ भारत-गीत : द्वितीय सं०, संवत् १९८५, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।
५२ मनोविनोद, तृतीय खंड : श्रीपद्मकोट, लूकरगंज, प्रयाग।
५३ देहरादून : प्रथम सं०, श्रीपद्मकोट, इलाहाबाद।
५४. गोपिका-गीत : संवत् १९७३, स्टैंडर्ड प्रेस, प्रयाग।
५५. श्रान्त पथिक (अनूदित) : तृतीय सं०, सुदर्शन प्रेस, इलाहाबाद।
५६. ऊजड़ ग्राम (अनूदित) : द्वितीय सं०, सन् १९०६, नवलकिशोर प्रेस, इलाहाबाद।
५७ एकान्तवासी योगी (अनूदित) : तृतीय सं०, राजपूत ऐंग्लो ओरिएंटल प्रेस, आगरा।
५८. धनाष्टक : सन् १९१२, माडर्न प्रेस, प्रयाग।
५९. काश्मीर सुखमा : द्वितीय सं०, सन् १९१५, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
६०. घन विनय : सन् १८९९, श्रीपद्मकोट, इलाहाबाद।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

६१. प्रियप्रवास : षष्ठ सं०, संवत् २००६, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६२. वैदेही वनवास : चतुर्थ सं०, संवत् २००७, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६३. रसकलस : तृतीय सं०, संवत् २००८, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६४. बोलचाल : सन् १९२८, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर।

६५. चुभते चौपदे : हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६६. चोखे चौपदे : सवत् २००८, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६७ ठेठ हिन्दी का ठाट : प्रथम स०, सवत् २०११, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
६८. रस साहित्य और समीक्षाएँ : प्रथम स०, सन् १९५६, हरिऔध-प्रकाशन, आजमगढ़।
६९ पद्य प्रमोद : सवत् १९८५, कल्याणदास एंड ब्रदर्स, बनारस।
७० पारिजात : प्रथम स०, सन् १९४०, पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय।
७१ आधुनिक कवि, भाग ५ : प्रथम स०, सवत् २००४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
७२ हरिऔध-सतसई : द्वितीय स०, सवत् २०११, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।
७३ सन्दर्भ-सर्वस्व : ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर, पटना।

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

७४. रत्नाकर, भाग १ : चतुर्थ स०, सवत् २००७, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
७५ रत्नाकर, भाग २ : द्वितीय स०, सवत् २००३, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
७६ हरिश्चन्द्र : आठवाँ स०, सवत् १९८८, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
७७ कविवर बिहारी : प्रथम स०, सन् १९५३, ग्रन्थकार, बनारस।
७८. उद्धव शतक : सन् १९४९, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
७९. गगावतरण : सप्तम स०, सन् १९५१, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
८० बिहारी रत्नाकर : द्वितीय स०, सन् १९५५, ग्रन्थकार, बनारस।

मैथिलीशरण गुप्त

८१. जयभारत : प्रथम स०, सवत् २००९, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८२ साकेत : सवत् २००७, साहित्य सदन, चिरगाव, झाँसी।
८३. मेघनाद-वध (अनूदित) : द्वितीय स०, सवत् २००८, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८४ मगलघट : प्रथम स०, सवत् १९९४, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८५. स्वदेश-संगीत : प्रथम स०, सवत् १९८२, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८६ पद्य-प्रबन्ध : द्वितीय स०, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८७. हिन्दू : तृतीय स०, सवत् २००६, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
८८. भारत-भारती : चौबीसवाँ स०, सवत् २००६, साहित्य सदन, चिरगाव, झाँसी।
८९. यशोधरा : सवत् २००४, साहित्य-सदन, चिरगाव, झाँसी।
९०. गुरुकुल : सवत् २००४, साहित्य सदन, चिरगाव, झाँसी।
९१ वीरागना : द्वितीय स०, साहित्य सदन, चिरगाव, झाँसी।

बालमुकुन्द गुप्त

९२. स्फुट कविता : द्वितीय स०, सवत् १९७६, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।
९३. हिन्दी-भाषा : सवत् १९६४, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।

९४. गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग : भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।
९५ गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग : प्रथम सं०, संवत् २००७, गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, कलकत्ता।
९६ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ : संवत् २००७, गुप्त-स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशन समिति कलकत्ता।

नाथूराम शंकर शर्मा

९७ शंकर सर्वस्व : प्रथम सं०, संवत् २००८, गयाप्रसाद एन्ड सन्स, आगरा।
९८ अनुराग-रत्न : प्रथम सं०, सन् १९१३, वल्लभ प्रेस, अलीगढ़।

देवीप्रसाद 'पूर्ण'

९९ धाराधर धावन (अनूदित), प्रथम भाग : सन् १९०९, रसिक समाज, कानपुर।
१०० धाराधर धावन (अनूदित), द्वितीय भाग : सन् १९०९, रसिक समाज, कानपुर।
१०१ स्वदेशी कुण्डल : प्रथम संस्करण।
१०२ पूर्ण पराग : सम्पादक : हरदयालुसिंह, प्रथम सं०, सन् १९४१, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

रामनरेश त्रिपाठी

१०३ कविता कौमुदी, भाग १ : आठवाँ सं०, नवनीत प्रकाशन, बम्बई।
१०४ कविता कौमुदी, भाग ३ : द्वितीय सं०, सन् १९५५, नवनीत प्रकाशन, बम्बई।
१०५ स्वप्नों के चित्र : प्रथम सं०, संवत् १९८७, हिन्दी मन्दिर, प्रयाग।
१०६ हिन्दी-पद्य रचना : प्रथम सं०, संवत् १९७४, साहित्य-भवन, प्रयाग।
१०७ तुलसी और उनका काव्य : सन् १९५३, राजपाल एंड संज़, दिल्ली।
१०८ पथिक : इक्कीसवाँ सं०, सन् १९५८, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग।
१०९ स्वप्न : हिन्दी मन्दिर, प्रयाग।
११० मिलन : नवम सं०, संवत् २०१०, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग।
१११ मारवाड़ के मनोहर गीत : प्रथम सं०, संवत् १९८७, हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग।

रामचरित उपाध्याय

११२ सूक्ति मुक्तावली : प्रथम सं०, ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर।
११३ रामचरित चन्द्रिका : प्रथम सं०, सन् १९१९, ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर।
११४. व्रज-सतसई : प्रथम सं०, सन् १९३७, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
११५. देवदूत : प्रथम संस्करण।

लोचनप्रसाद पांडेय

११६ पद्य-पुष्पांजलि : प्रथम सं०, संवत् १९७२, स्टार प्रेस, कानपुर।
११७ माधव-मंजरी : प्रथम सं०, सन् १९१४, हरिदास वैद्य, कलकत्ता।

११८. गीति-कविता : द्वितीय स०, सन् १९१४, हरिदास एंड कम्पनी, कलकत्ता।
११९ मेवाड़ गाथा : प्रथम स०, सन् १९१४, नरसिंह प्रेस, कलकत्ता।
१२० प्रवासी : प्रथम स०, राजपूत ऐंग्लो ओरिएंटल प्रेस, आगरा।
१२१ कविता कुसुम माला : हार्डिंग लाइब्रेरी, दिल्ली में उपलब्ध प्रति।

सत्यनारायण कविरत्न

१२२ मालती माधव नाटक (अनूदित) चतुर्थ स०, संवत् १९८७, रत्नाश्रम, आगरा।
१२३ उत्तररामचरित नाटक (अनूदित) सम्मेलन संग्रहालय, प्रयाग में उपलब्ध प्रति।

गोपालशरणसिंह

१२४. कादम्बिनी : सन् १९५४, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१२५ मानवी सन् १९३८, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१२६ सुमना : सन् १९४१, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१२७ ज्योतिष्मती : सन् १९३८, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१२८ जगदालोक : प्रथम स०, सन् १९५२, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१२९ सागरिका : प्रथम स०, संवत् २०११, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।
१३० प्रेमांजलि : सन् १९५३, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१३१ ग्रामिका : सन् १९५१, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१३२ संचिता : सन् १९३९, इंडियन प्रेस, प्रयाग।
१३३ आधुनिक कवि, भाग ४ : द्वितीय स०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

माखनलाल चतुर्वेदी

१३४. हिमकिरीटिनी : तृतीय स०, संवत् २०१३, भारती भंडार, प्रयाग।
१३५ हिमतरंगिनी : प्रथम स०, संवत् २००५, भारती भंडार, प्रयाग।
१३६ साहित्य देवता : प्रथम स०, सन् १९४३, भारतीय-साहित्य प्रकाशन, खंडवा।
१३७ माता : प्रथम स०, संवत् २००८, पंकज प्रकाशन, खंडवा।
१३८ युगचरण : प्रथम स०, संवत् २०१३, भारती भंडार, प्रयाग।
१३९ समर्पण : प्रथम स०, संवत् २०१३, भारती भंडार, प्रयाग।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

१४० रेणुका तृतीय स०, सन् १९५६, उदयाचल, पटना।
१४१ हुंकार : नवम स०, सन् १९५२, उदयाचल, पटना।
१४२ द्वन्द्वगीत : जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता।
१४३ रसवन्ती : चतुर्थ स०, उदयाचल, पटना।

१४४ इतिहास के आँसू प्रथम स०, सन् १९५१, उदयाचल, पटना।
१४५ कुरुक्षेत्र · छात्रोपयोगी स०, उदयाचल, पटना ।
१४६ धूप छाँह चतुर्थ स०, सन् १९५६, उदयाचल, पटना।
१४७ रश्मिरथी प्रथम स०, सन् १९५२, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना।
१४८ नीलकुसुम प्रथम स०, सन १९५४, उदयाचल, पटना।
१४९ सीपी और शख प्रथम स०, सन् १९५७, उदयाचल, पटना।
१५० नए सुभाषित प्रथम स०, सन् १९५७, उदयाचल, पटना।
१५१ चक्रवाल प्रथम स०, सन १९५६, उदयाचल, पटना।
१५२ मिट्टी की ओर तृतीय स०, सन १९५२, उदयाचल, पटना।
१५३ रेती के फूल द्वितीय स०, सन् १९५६, उदयाचल, पटना।
१५४ अर्धनारीश्वर प्रथम स० सन १९५२ जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता।
१५५ उजली आग प्रथम स० सन् १९५६, उदयाचल, पटना।
१५६ काव्य की भूमिका प्रथम स०, सन १९५८, उदयाचल, पटना।
१५७ पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण प्रथम स०, सन् १९५८, उदयाचल, पटना।

सुभद्राकुमारी चौहान

१५८ मुकुल सातवाँ स०, हस प्रकाशन, इलाहाबाद ।
१५९ बिखरे मोती चतुर्थ स०, सन् १९५४, हस प्रकाशन, इलाहाबाद।

बालकृष्ण शर्मा "नवीन"

१६० कुकुम प्रथम स०, सन् १९३६, विद्यार्थी प्रकाशन मन्दिर, कानपुर।
१६१ रश्मि रेखा सन् १९५१, साधना प्रकाशन, कानपुर।
१६२ क्वासि प्रथम स०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
१६३ अपलक : प्रथम स०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
१६४ ऊर्म्मिला प्रथम स०, अतरचन्द कपूर एड सन्ज, दिल्ली।
१६५ विनोबा-स्तवन प्रथम स०, सवत् २०१०, साहित्य-सदन, चिरगाव, झासी

सियारामशरण गुप्त

१६६ दैनिकी द्वितीय स०, सवत् २००३, साहित्य-सदन, चिरगाव, झासी।
१६७ झूठ-सच चतुर्थ स०, सवत् २००५, साहित्य-सदन, चिरगाव, झासी।
१६८ आत्मोत्सर्ग तृतीय स०, सवत् २००४, साहित्य सदन, चिरगाव, झासी।
१६९ कवि श्री प्रथम स०, सवत् २०१२, साहित्य-सदन, चिरगाव, झासी।
१७० पाथेय तृतीय स०, सवत् २००८, साहित्य-सदन, चिरगाव, झासी।

उदयशकर भट्ट

१७१ तक्षशिला द्वितीय स०, सन् १९३५, इडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
१७२ विसर्जन प्रथम स०, सवत् १९९५, सूरी ब्रादर्स, लाहौर।

१७३ मानसी एजुकेशनल पब्लिशिंग कम्पनी लखनऊ।
१७४ युग दीप सवत् २००१, यूनिवर्सल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
१७५ यथार्थ और कल्पना प्रथम स०, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
१७६ अमृत और विष यूनिवर्सल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
१७७ विजय पथ सन १९५०, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
१७८ भक्त-पद्मरत्न (सम्पादित) द्वितीय स०, सन १९३८, साहित्य भवन, लाहौर।
१७९ एकला चलो रे राजकमल प्रकाशन दिल्ली।
१८० अन्तर्दर्शन तीन चित्र प्रथम स० सन् १९५८ भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़।

जगन्नाथप्रसाद "मिलिन्द"

१८१ जीवन-संगीत द्वितीय स०, सन् १९५६ स्वरूप ब्रदर्स इन्दौर।
१८२ नवयुग के गान प्रथम स०, सवत १९९९ विद्यामन्दिर प्रकाशन ग्वालियर।
१८३ चिंतन-क्षण प्रथम स०, विद्यामन्दिर प्रकाशन ग्वालियर।
१८४ प्रताप प्रतिज्ञा दसवां स०, सन १९५२, हिंदी भवन, इलाहाबाद।
१८५ बलिपथ के गीत प्रथम स०, सन १९५०, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।
१८६ गौतम नन्द प्रथम स०, सन् १९५२, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर।
१८७ दिल्ली का नकछेदन प्रथम स०, सन् १९५४, गयाप्रसाद एंड संस, आगरा।
१८८ मृत्तिका प्रथम स०, सन १९५४, गयाप्रसाद एंड संस, आगरा।
१८९ सांस्कृतिक प्रश्न प्रथम स०, सन् १९५४, गयाप्रसाद एंड सन्स आगरा।
१९० भूमि की अनुभूति प्रथम स०, सन् १९५२, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर।

जयशंकर "प्रसाद"

१९१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध तृतीय स०, सवत् २००५, भारती भंडार, इलाहाबाद।
१९२ स्कन्दगुप्त दसम स०, सवत् २००६, भारती भंडार, प्रयाग।
१९३ कामायनी सप्तम स०, भारती भंडार, इलाहाबाद।
१९४ कानन कुसुम पचम स०, सवत् २००७, भारती भंडार, प्रयाग।
१९५ चन्द्रगुप्त सप्तम स०, सवत २००७, भारती भंडार, प्रयाग।
१९६ झरना छठा स०, सवत २००८, भारती भंडार, प्रयाग।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

१९७ अणिमा युग-मन्दिर, उन्नाव।
१९८ रवीन्द्र कविता कानन सन १९५४, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय बनारस।

१९९ प्रबन्ध पद्म द्वितीय सं०, संवत् २०११, भारती भाषा भवन, दिल्ली।
२०० चयन • प्रथम सं०, संवत् २०१४, कल्याणदास एंड ब्रदर्स, वाराणसी।
२०१ चाबुक कला मन्दिर, इलाहाबाद।
२०२ प्रबन्ध प्रतिमा संवत् १९९७, भारती भंडार, प्रयाग।
२०३ गीतिका तृतीय सं०, संवत् २००५, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२०४ पन्त और पल्लव गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।
२०५ अर्चना सन १९५०, कला मन्दिर, इलाहाबाद।
२०६ परिमल पंचम सं० संवत् २००७, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।
२०७ अनामिका द्वितीय सं०, संवत् २००५, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२०८ बेला प्रथम सं०, सन् १९४६, हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।

सुमित्रानन्दन पन्त

२०९ युगवाणी तृतीय सं०, संवत् २००८, भारती भंडार, प्रयाग।
२१० ज्योत्स्ना द्वितीय सं०, संवत् २००४, भारती भंडार इलाहाबाद।
२११ वाणी प्रथम सं०, सन् १९५८ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
२१२ रश्मिबन्ध प्रथम सं०, सन १९५८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२१३ गद्य पथ प्रथम सं०, सन् १९५३, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
२१४ गुंजन छठा सं०, संवत २००८, भारती भंडार, प्रयाग।
२१५ उत्तरा • प्रथम सं०, संवत् २००६, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२१६ पल्लव पाँचवाँ सं०, संवत् २००५, भारती भंडार, प्रयाग।
२१७ प्रतिमा प्रथम सं०, संवत् २०१०, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२१८ ग्राम्या चतुर्थ सं०, संवत् २००८, भारती भंडार, प्रयाग।
२१९ आधुनिक कवि, भाग २ • तृतीय सं०, संवत् २००३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
२२० सौवर्ण • प्रथम सं०, सन् १९५७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
२२१ शिल्पी सन् १९५२, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२२२ पल्लविनी तृतीय सं०, संवत् २००४, भारती भंडार, इलाहाबाद।

महादेवी वर्मा

२२३ नीरजा प्रथम सं०, संवत् २०१३ भारती भंडार, प्रयाग।
२२४ पथ के साथी प्रथम सं०, संवत् २०१३, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२२५ सान्ध्यगीत प्रथम सं०, भारती भंडार, प्रयाग।
२२६ क्षणदा प्रथम सं०, संवत २०१३, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२२७ रश्मि चतुर्थ सं०, सन् १९५५, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
२२८ आधुनिक कवि, भाग १ पंचम सं०, संवत् २०१०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

२२९ यामा : द्वितीय स०, सन् १९४७, किताबिस्तान, इलाहाबाद ।
२३० अतीत के चलचित्र : द्वितीय स०, भारती भंडार, प्रयाग ।
२३१ स्मृति की रेखाएँ : चतुर्थ स०, संवत् २००८, भारती भंडार, प्रयाग ।
२३२ दीपशिखा : चतुर्थ स०, संवत् २०११, भारती भंडार, इलाहाबाद ।
२३३ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य . स्टूडेंट्स फ्रैंड्स, इलाहाबाद ।

रामकुमार वर्मा

२३४ हिन्दी साहित्य का इतिहास : द्वितीय स०, सन् १९५७, रामनारायण लाल, प्रयाग ।
२३५ रजत रश्मि : प्रथम स०, सन् १९५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।
२३६ रेशमी टाई : चतुर्थ स०, संवत् २००६, भारती भंडार, प्रयाग ।
२३७ हिमहास : प्रथम स०, सन् १९४१, दी इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद ।
२३८ रूपराशि : सन् १९३१, सरस्वती प्रेस, बनारस ।
२३९ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : तृतीय स०, सन् १९५४, रामनारायण लाल, इलाहाबाद ।
२४० *साहित्य-समालोचना : प्रथम स०, संवत् १९८७, साहित्य मंदिर, दारागंज, प्रयाग ।*
२४१ चित्तौड़ की चिता . चाँद कार्यालय, इलाहाबाद ।
२४२. निशीथ : *प्रथम स०, सन् १९३३, विश्व साहित्य ग्रन्थमाला, लाहौर ।*
२४३ अंजलि : साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ।
२४४. संकेत : सन् १९४८, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली ।
२४५ चित्ररेखा : चतुर्थ स०, संवत् २००३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
२४६ आधुनिक कवि, भाग ३ : द्वितीय स०, संवत् २००३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
२४७ आकाश गंगा : प्रथम स०, सन् १९५७, रामनारायण लाल, इलाहाबाद ।
२४८. साहित्य-शास्त्र : प्रथम स०, सन् १९५६, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद ।
२४९ विचार-दर्शन : प्रथम स०, सन् १९४८, *साहित्य निकुंज, प्रयाग ।*
२५० कबीर का रहस्यवाद : आठवाँ स०, सन् १९५५, साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद ।
२५१ एकलव्य : प्रथम स०, संवत् २०१५, भारती भंडार, इलाहाबाद ।
२५२. अनुशीलन : प्रथम स०, सन् १९५७ ।
२५३. चन्द्रकिरण . प्रथम स०, संवत् १९९४, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ ।

हरिवंशराय "बच्चन"

२५४ धार के इधर-उधर : प्रथम स०, सन् १९५७, राजपाल एंड सज, दिल्ली ।
२५५. जनगीता : प्रथम स०, सन् १९५८, राजपाल एंड सज, दिल्ली ।

२५६ भारती और अंगारे प्रथम स०, सन् १९५८, राजपाल एंड संज़, दिल्ली।
२५७ सोपान प्रथम स०, संवत् २०१०, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२५८ मधुकलश पाँचवाँ स०, सन् १९५०, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२५९ खादी के फूल प्रथम संस्करण।
२६० हलाहल प्रथम संस्करण सन् १९४६, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२६१ प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग २ द्वितीय संस्करण सन् १९४६, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२६२ प्रणय पत्रिका प्रथम स०, सन् १९५५, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६३ प्रारम्भिक रचनाएँ, भाग १ द्वितीय स०, सन् १९४६, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२६४ एकान्त संगीत चतुर्थ स०, सन १९४८, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६५ मधुशाला ग्यारहवाँ स०, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६६ सतरंगिनी द्वितीय स०, सन १९४८, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६७ आकुल अंतर तृतीय स०, सन १९४६, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६८ मधुबाला सातवाँ स०, सन् १९५१, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२६९ बुद्ध और नाचघर प्रथम स०, सन १९५८, राजपाल एंड संज़, दिल्ली।
२७० खैयाम की मधुशाला चतुर्थ स०, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
२७१ मैकबेथ का पद्यानुवाद प्रथम स०, सन १९५७, राजपाल एंड संज़, दिल्ली।

भगवतीचरण वर्मा

२७२ मधुकण प्रथम स०, ग्रामबन्धु आश्रम, प्रयाग।
२७३ मानव द्वितीय स०, सन १९४८, विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता।
२७४ प्रेम-संगीत चतुर्थ स०, सन् १९४६, विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता।
२७५ त्रिपथगा प्रथम स०, संवत् २०११, भारती भंडार, इलाहाबाद।
२७६ विस्मृति के फूल प्रथम स०, साहित्य केन्द्र, इलाहाबाद।

नरेन्द्र शर्मा

२७७ मिट्टी और फूल द्वितीय स०, संवत् २००२, भारती भंडार, प्रयाग।
२७८ हंसमाला प्रथम स०, संवत २००३, भारती भंडार, प्रयाग।
२७९ रक्त चन्दन प्रथम स०, संवत् २००६, भारती भंडार, प्रयाग।
२८० अग्निशस्य प्रथम स०, संवत् २००८, भारती भंडार, प्रयाग।
२८१ प्रवासी के गीत चतुर्थ स०, संवत् २००६, भारती भंडार, प्रयाग।
२८२ प्रभात फेरी प्रथम संशोधित स०, सन् १९५३, किताब महल, इलाहाबाद।
२८३ कदली वन प्रथम स०, किताब महल, इलाहाबाद।
२८४ शूल फूल प्रथम स०, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

२८५ पलाश वन द्वितीय स०, सन् १९४६, भारती भंडार, प्रयाग।

रामेश्वर शुक्ल "अंचल"

२८६ किरण-वेला प्रथम स०, सन् १९४१, सुखी जीवन ग्रन्थमाला, प्रयाग।
२८७ लाल चूनर सन् १९४४, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
२८८ करील प्रथम स०, रामनारायण लाल पब्लिशर, प्रयाग।
२८९ विरामचिन्ह प्रथम स०, सन् १९५७, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
२९० काव्य-संग्रह, भाग २ पंचम स०, संवत् २०१३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
२९१ समाज और साहित्य प्रथम संस्करण।
२९२ अपराजिता सन् १९३९, छात्र हितकारी पुस्तक माला, प्रयाग।
२९३ हिन्दी साहित्य अनुशीलन प्रथम संस्करण।
२९४ मधूलिका सन् १९४२, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

२९५. हिल्लोल द्वितीय स०, सन् १९४६, सरस्वती प्रेस, बनारस।
२९६ पर आँखें नहीं भरीं प्रथम स०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२९७ विश्वास बढ़ता ही गया प्रथम स०, सन् १९५५, सरस्वती प्रेस, बनारस।
२९८ प्रलय-सृजन सन् १९४४, प्रदीप कार्यालय, मुरादाबाद।

अज्ञेय

२९९ तार सप्तक (सम्पादित) प्रथम स०, सन् १९४३, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली।
३०० भग्नदूत प्रथम स०, सन् १९३३, हिन्दी भवन, लाहौर।
३०१ इत्यलम् प्रथम स०, सन् १९४६, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली।
३०२ चिन्ता द्वितीय स०, सन् १९४६, सरस्वती प्रेस, बनारस।
३०३ शरणार्थी प्रथम स०, संवत् २००४, शारदा प्रकाशन, बनारस।
३०४ दूसरा सप्तक (सम्पादित) प्रथम स०, सन् १९५१, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।
३०५ हरी घास पर क्षण भर प्रथम स०, सन् १९४९, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली।
३०६ बावरा अहेरी प्रथम स०, सन् १९५४, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद।
३०७ इन्द्रधनु रौंदे हुए ये प्रथम स०, सन् १९५७, सरस्वती प्रेस, बनारस।
३०८ अरी ओ करुणा प्रभामय? ... सन् १९५४, सरस्वती प्रेस, बनारस।

गिरिजाकुमार माथुर

३०९ मंजीर प्रथम स०, सन् १९४१, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
३१० नाश और निर्माण प्रथम स०, सन् १९४६, महेशानन्द एंड संस, लखनऊ।

३११ धूप के धान : प्रथम सं०, सन् १६५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

धर्मवीर भारती

३१२ ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएँ प्रथम सं० सन् १६५२, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद।
३१३ अन्धा युग प्रथम सं०, सन् १६५५, किताब महल, इलाहाबाद।
३१४ ठेले पर हिमालय प्रथम सं०, सन् १६५८, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद।
३१५ प्रगतिवाद एक समीक्षा प्रथम सं०, सन् १६४६ साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

अन्य लेखकों की कृतियाँ

(रचनाओं के अकारादि क्रम के अनुसार)

१ अभिव्यंजना भगवानदास तिवारी, प्रथम सं०, कुमार ग्रन्थमाला प्रकाशन, इन्दौर।
२ अरस्तू का काव्य-शास्त्र डॉ० नगेन्द्र, प्रथम सं०, संवत् २०१४, भारती भंडार, इलाहाबाद।
३ अलका : शान्ति सिंह, प्रथम सं०, सन् १६५२, भारती साहित्य सदन, दिल्ली।
४. अशोक के फूल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय सं०, सन् १६५०, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली।
५ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, प्रथम सं०, संवत् २०१४, लखनऊ विश्वविद्यालय।
६ उन्माद : मदनलाल "मधु", प्रथम सं०, दोआबा हाउस, नई सड़क, दिल्ली।
७ कविप्रिया : केशवदास, प्रथम सं०, सन् १६५२, मातृभाषा मन्दिर, दारागंज, प्रयाग।
८ कवि और काव्य शान्तिप्रिय द्विवेदी, सन् १६४०, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
६ कवि भारती : सम्पादक—पन्त, नगेन्द्र और बालकृष्ण राव, प्रथम सं०, संवत् २०१०, साहित्य सदन, चिरगाव, झांसी।
१० काव्य-निर्णय : भिखारीदास, सम्पादक—जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्रथम सं०, सन् १६५६, कल्याणदास एंड ब्रदर्स, वाराणसी।
११. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, प्रथम सं०, सन् १६४७, ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर।
१२. काव्य में अप्रस्तुत योजना रामदहिन मिश्र, प्रथम सं०, संवत् २००५, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना।
१३. काव्य में अभिव्यंजनावाद : लक्ष्मीनारायण सुधांशु, तृतीय सं०, संवत् २००७, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता।

१४. काव्य-प्रदीप रामबहोरी शुक्ल, आठवाँ स०, हिन्दी भवन, इलाहाबाद।
१५ काव्य के रूप गुलाबराय, चतुर्थ स०, सन् १९५८, आत्माराम एंड सस, दिल्ली।
१६ काव्य और संगीत लक्ष्मीधर वाजपेयी, द्वितीय स०, सन् १९४६, तरुण भारत ग्रन्थावली, प्रयाग।
१७ काव्य चिन्तन डॉ० नगेन्द्र, द्वितीय स०, सन् १९५१, नवभारती प्रकाशन, मेरठ।
१८ काव्य में उदात्त तत्व डॉ० नगेन्द्र, प्रथम स०, सन् १९५८, राजपाल एंड सज, दिल्ली।
१९. काव्य शास्त्र डॉ० भगीरथ मिश्र, प्रथम स०, सन् १९५७, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।
२० कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन डॉ० द्वारिकाप्रसाद, प्रथम स०, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
२१ खड़ी बोली का आन्दोलन डॉ० शितिकंठ मिश्र, प्रथम स०, संवत् २०१३, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
२२ खैयाम का जाम कमला चौधरी, सन् १९५२, साहित्य सेवा सदन, मेरठ।
२३ गोस्वामी तुलसीदास रामचन्द्र शुक्ल, सप्तम स०, संवत् २००८, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
२४ गीले गीत रघुवीरशरण "मित्र", प्रथम संस्करण।
२५ चिन्तामणि, प्रथम भाग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सन् १९४८, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
२६ चिन्तामणि, द्वितीय भाग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, द्वितीय स०, संवत् २००६, सरस्वती मन्दिर, काशी।
२७ चेतना : बाबूराम पालीवाल, प्रथम स०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
२८ जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त लक्ष्मीनारायण सुधांशु, द्वितीय स०, सन् १९५०, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता।
२९. जैसा हमने देखा सम्पादक—क्षेमचन्द्र "सुमन", शंकर प्रकाशन, अलीगढ़।
३० डॉ० इकबाल और उनकी शायरी हीरालाल चोपड़ा, प्रथम स०, सन् १९५६, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।
३१ त्रिधारा . सम्पादक—ठाकुर लक्ष्मणप्रसाद चौहान, प्रथम स०, सन् १९३५, उद्योग मंदिर, जबलपुर।
३२ दीपक (काव्य) द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, आठवाँ स०, संवत् २०१२, ओंकार प्रेस, प्रयाग।
३३ देव और बिहारी . कृष्णबिहारी मिश्र, पंचम स०, संवत् २००६, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ।
३४ नया साहित्य नये प्रश्न : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रथम स०, विद्या मन्दिर, बनारस।

३५ नयी कविता के प्रतिमान लक्ष्मीकान्त वर्मा, संवत् २०१४, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद।

३६ पद्मपराग, प्रथम भाग पद्मसिंह शर्मा, प्रथम सं०, संवत् १९८६, भारती पब्लिशर्स लिमिटेड, मुरादपुर, पटना।

३७ पद्मावत जायसी, सम्पादक—वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम सं०, संवत् २०१२, साहित्य सदन, चिरगाव, झांसी।

३८ प्रगति और परम्परा डॉ० रामविलास शर्मा, प्रथम सं०, किताब महल, इलाहाबाद।

३९ प्रतापनारायण मिश्र सम्पादक—नारायणप्रसाद अरोड़ा तथा लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी, प्रथम सं०, सन् १९४७, भीष्म एंड ब्रादर्स, कानपुर।

४० प्रथम किरण रामेश्वरलाल खंडेलवाल 'तरुण", प्रथम सं०, संवत् २००६, विद्याभास्कर बुक डिपो, बनारस।

४१ प्रसाद का साहित्य सम्पादक—कृष्णदेवप्रसाद गौड, प्रथम सं०, सन् १९५७, प्रसाद परिषद्, वाराणसी।

४२ फारसी साहित्य की रूपरेखा डॉ० अली असगर हिकमत, प्रथम सं०, सन् १९५७, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

४३ बंकिमचन्द्र चटर्जी रूपनारायण पांडेय, प्रथम सं०, संवत् १९७६, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

४४ बरगद श्रीकृष्णलाल श्रीधराणी, द्वितीय सं०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

४५ बृहत् हिन्दी कोश प्रथम सं०, संवत् २००६, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस।

४६ ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली . डॉ० कपिलदेवसिंह, प्रथम सं०, सन् १९५६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

४७ ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद : प्रभुदयाल मीतल, द्वितीय सं०, संवत् २००५, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

४८ भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, द्वितीय भाग · डॉ० नगेन्द्र, सन् १९५५, ओरिएंटल बुक डिपो, दिल्ली।

४९ भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा · डॉ० नगेन्द्र, प्रथम सं०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

५० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र . ब्रजरत्नदास, द्वितीय सं०, सन् १९४८, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

५१ भारतेन्दु युग · डॉ० रामविलास शर्मा, युग मन्दिर, उन्नाव।

५२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र . डॉ० रामविलास शर्मा, सन् १९५३, विद्याधाम, दिल्ली।

५३ भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खंड : सम्पादक—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सं०, संवत् २०१३, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

५४ मध्यकालीन धर्म-साधना हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय सम्स्करण, सन् १९५६,

साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
५५ मधुकरशाह : मुन्शी अजमेरी, द्वितीय स०, सवत् २०११, साहित्य सदन, चिरगाव, झाँसी।
५६ महाकवि निराला, सस्मरण श्रद्धाजलियाँ प्रस्तुतकर्ता—राजकुमार शर्मा, सन् १९५७, किताब महल, इलाहाबाद।
५७ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग डॉ० उदयभानुसिंह, प्रथम स०, सवत् २००८, लखनऊ विश्वविद्यालय।
५८ माखनलाल चतुर्वेदी एक अध्ययन सम्पादक—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा अन्य, प्रथम स०, सन् १९५०, लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर।
५९ मील के पत्थर रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रथम स०, सन् १९५७, सस्ता साहित्य मडल, दिल्ली।
६० मेरा रूप तुम्हारा दर्पण बालस्वरूप राही, प्रथम स०, सन् १९५८, फ्रैंक ब्रादर्स एड कम्पनी, दिल्ली।
६१ मैं इनसे मिला, द्वितीय भाग पद्मसिंह शर्मा "कमलेश", प्रथम स०, सन् १९५२, आत्माराम एड सस, दिल्ली।
६२ मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय सस्कृति के आख्याता डॉ० उमाकान्त गोयल, प्रथम स०, सन् १९५८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
६३ मौलाना हाली और उनका काव्य ज्वालादत्त शर्मा, सवत् १९८५, इडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
६४ रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला डॉ० विश्वम्भरनाथ भट्ट, प्रथम स०, सन् १९५७, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली।
६५ रस-मीमासा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, द्वितीय स०, सवत् २०११, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
६६ रस रत्नाकर हरिशकर शर्मा, प्रथम सस्करण।
६७ राजस्थान का पिंगल साहित्य मोतीलाल मेनारिया, प्रथम स०, सन् १९५२, हितैषी पुस्तक भडार, उदयपुर।
६८ रामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास, आठवाँ स०, सवत् २०१२, गीता प्रेस, गोरखपुर।
६९ रीति काव्य की भूमिका डॉ० नगेन्द्र, सन् १९४९, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
७० वनफूल (काव्य) कन्हैयालाल सेठिया, प्रथम सस्करण।
७१. विचार और विवेचन - डॉ० नगेन्द्र, प्रथम स०, सन् १९४९, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
७२. विचार और विश्लेषण डॉ० नगेन्द्र, सन् १९५५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
७३. शब्द रसायन देव कवि, प्रथम स०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

७४ शिंजिनी रामगोपाल रुद्र, द्वितीय सं०, सन् १९५४, चारुत्व प्रकाशन, पटना।
७५ शेक्सपियर के सानेट राजेन्द्र द्विवेदी, प्रथम सं०, सन् १९५८, आत्माराम एंड संस, दिल्ली।
७६ शैवाल रमाशंकर शुक्ल "हृदय", प्रथम सं०, संवत् २००४, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
७७ संस्मरण बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रथम सं०, सन् १९५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
७८ समीक्षा शास्त्र सीताराम चतुर्वेदी, संवत् २०१०, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी।
७९ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव डॉ० कन्हैयालाल सहल, द्वितीय सं०, संवत् २०१०, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी।
८० साहित्य समीक्षा कन्हैयालाल पोद्दार, संवत् २००३, प्रकाशक—जगन्नाथप्रसाद शर्मा, चूड़ी वाली गली, मथुरा।
८१ साहित्य रवीन्द्रनाथ टैगोर, अनुवादक—वंशीधर विद्यालंकार, सन् १९२६, हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
८२ साहित्य का मर्म आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सं०, लखनऊ विश्वविद्यालय।
८३ साहित्य, साधना और समाज डॉ० भगीरथ मिश्र, प्रथम सं०, सन् १९५१, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
८४ साहित्य विहार वियोगी हरि, प्रथम सं०, संवत् १९७९, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।
८५ साहित्यावलोकन . विनयमोहन शर्मा, प्रथम सं०, सन् १९५२, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
८६ साहित्य और जीवन बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रथम सं०, सन् १९५४, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।
८७ साहित्यानुशीलन शिवदानसिंह चौहान, सन् १९५५, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।
८८ सिद्धान्त और अध्ययन गुलाबराय, द्वितीय सं०, सन् १९५५, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
८९ सियारामशरण गुप्त सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र, प्रथम सं०, सन् १९५०, गौतम बुक डिपो, दिल्ली।
९० सुमित्रानन्दन पन्त · डॉ० नगेन्द्र, छठा सं०, संवत् २००९, साहित्यरत्न भंडार, आगरा।
९१ सूक्ति मुक्तावली : बलदेव उपाध्याय, प्रथम सं०, संवत् १९९६, हरिदास एंड कम्पनी, मथुरा।

९२ सूर और उनका साहित्य डॉ० हरवंशलाल शर्मा, प्रथम सं०, सन् १९५४, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़।

९३ सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि . डॉ० रत्नकुमारी, प्रथम सं०, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

९४ हम्मीर हठ . चन्द्रशेखर वाजपेयी, सम्पादक—रत्नाकर।

९५ हरिऔध और उनका साहित्य मुकुन्ददेव शर्मा, प्रथम सं०, संवत् २०१३, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस।

९६ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास . हरिऔध, सन् १९५८, किताब महल, इलाहाबाद।

९७ हिन्दी साहित्य की भूमिका . आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, चतुर्थ सं०, सन् १९५०, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

९८ हिन्दी-शब्द-सागर, प्रथम खड तृतीय सं०, सन् १९२९, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

९९ हिन्दी शब्द-सागर, चतुर्थ खड . सन् १९२९, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।

१०० हिन्दी पद्य रत्नावली सम्पादक—वियोगी हरि, द्वितीय सं०, संवत् १९८५, सरस्वती भंडार, बांकीपुर।

१०१ हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास डॉ० भगीरथ मिश्र, प्रथम सं०, संवत् २००५, लखनऊ विश्वविद्यालय।

१०२ हिन्दी-गद्य-विभूति : सम्पादिका—दमयन्ती सिंहल, प्रथम सं०, प्रदीप प्रकाशन, दिल्ली।

भाषण, रिपोर्ट तथा पत्र

१ भाषण अम्बिकादत्त व्यास, बिहार संस्कृत संजीवन समाज में सन् १८८६ में प्रदत्त, प्रथम सं०, आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में संरक्षित प्रति।

२. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी : सन् १९१०, कार्य विवरण, दूसरा भाग।

३. द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग : संवत् १९६८, कार्य विवरण, दूसरा भाग।

४. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता : संवत् १९७०, कार्य-विवरण, पहला भाग।

५. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता . संवत् १९७०, कार्य विवरण, दूसरा भाग।

६. पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ कार्यक्रम, प्रथम भाग।

७. नवम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बम्बई · संवत् १९७६, कार्य विवरण, दूसरा भाग।

८. बीसवाँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन : सभापति का भाषण।

९. हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट : लाला सीताराम, प्रथम सं०, सन् १९३०, हिन्दु-

स्तानी एकेडेमी, सयुक्तप्रान्त ।

१० कवि श्री सियारामशरण गुप्त : गुप्त जी द्वारा दिनांक १६-४-५८ को मेरे प्रति लिखा गया पत्र ।

टंकित कृतियाँ

१ रसपीयूषनिधि सोमनाथ, हिन्दी अनुसन्धान परिषद् पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में उपलब्ध प्रति ।

२ भारतेन्दुयुगीन कवि अविनाशचन्द्र अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध ।

३ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास वेंकट शर्मा, राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध ।

पत्र-पत्रिकाएँ

१ अवन्तिका जनवरी १६५३, अक्तूबर १६५३, जनवरी १६५४, अगस्त १६५६, सितम्बर-अक्तूबर १६५६, नवम्बर-दिसम्बर १६५६ ।

२ आकाशवाणी प्रसारिका (त्रैमासिक), जनवरी-जून १६५५, अक्तूबर-दिसम्बर १६५६ ।

३ आजकल दिसम्बर १६५५, जुलाई १६५६, अक्तूबर १६५६, फरवरी १६५७, दिसम्बर १६५७, मार्च १६५८, मई १६५८ ।

४ आधार (चौमासा पत्र) सम्पादक—रामावतार चेतन, मार्च १६५६ ।

५ आनन्दकादम्बिनी सम्पादक—प्रेमघन, माला २ (मेघ २, मेघ ३, मेघ ४, मेघ ८-६, मेघ १०-११-१२), माला ३ (मेघ १-२, मेघ ५-६), माला ६ (मेघ ५, मेघ ११-१२) ।

६ आलोचना (त्रैमासिक) . जुलाई १६५२, अप्रैल १६५५, जनवरी १६५६ ।

७ इन्दु · श्रावण सवत् १६६७, कार्तिक सवत् १६६७, जनवरी १६१३, जुलाई १६१३, दिसम्बर १६१३, जनवरी १६१५, मार्च १६१५, जुलाई १६१५ ।

८ कृति (मासिक) सम्पादक—नरेश मेहता, नवम्बर १६५८ ।

६ कल्पना (हैदराबाद) · अगस्त १६५३, नवम्बर १६५३ ।

१० कविवचनसुधा सम्पादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जुलाई १८७२, मई १८७६ ।

११ कवि-कौमुदी : सम्पादक—रामनरेश त्रिपाठी, चैत्र १६८१, वैशाख-ज्येष्ठ १६८१, श्रावण भाद्रपद १६८१, कार्तिक मार्गशीर्ष १६८१ ।

१२ काव्य-धारा सम्पादक—शिवदानसिंह चौहान, सख्या १, सन् १६५५ ।

१३ चाद · फरवरी १६३२ ।

१४ छायावाद फाल्गुन सवत् १६६६ ।

१५ त्यागभूमि सम्पादक—हरिभाऊ उपाध्याय, वैशाख सवत् १६८६ ।

१६ देवनागर (त्रैमासिक) कार्तिक संवत् २०१०।
१७ धर्म कुसुमाकर. सम्पादक—देवीप्रसाद "पूर्ण", मई १६१२ जून १६१२।
१८ नया समाज. जनवरी १६५८, फरवरी १६५८।
१६ नयी कविता (अर्द्धवार्षिक) सम्पादक—डॉ० जगदीश गुप्त, अंक २, अंक ३।
२० नागरीप्रचारिणी पत्रिका अंक १, सन् १८६७, भाग ४, सन् १६००, भाग ५, अंक १ सन् १६०१, भाग ६, सन् १६०२, भाग १०, सन् १६०७, भारतेन्दु जन्म शती अंक, संवत् २००७।
२१ निकष अंक ३-४, जनवरी १६५७।
२२ प्रभा मई १६१३, अगस्त १६१३, फरवरी १६१४, मई १६२३।
२३ पीयूष प्रवाह सम्पादक—अम्बिकादत्त व्यास, जनवरी १८८५, अप्रैल १८८५।
२४ ब्रजभारती वर्ष ७, संख्या ३-४, संवत् २००६।
२५ ब्राह्मण सम्पादक—प्रतापनारायण मिश्र, १५ जून, सन् १८८४।
२६ मधुकर (पाक्षिक) सम्पादक—बनारसीदास चतुर्वेदी, १ जून १६४१, जनवरी १६४३।
२७. मधुकर (मासिक). सम्पादक—राजेन्द्र शर्मा, सितम्बर १६५७।
२८ महारथी सम्पादक—रामचन्द्र शर्मा, मई १६२८।
२६ माधुरी खंड १ (संख्या २), सन् १६२२, जनवरी १६२३, फरवरी १६२३, अगस्त १६२३, सितम्बर १६२४, जुलाई १६२५, नवम्बर १६२५, जनवरी १६२६, फरवरी १६२६, अप्रैल १६२६, जून १६२६, मार्च १६२७, फरवरी १६२६, ज्येष्ठ संवत् १६८६, चैत्र संवत् १६८८, वैशाख संवत् १६८८, वर्ष १२ (खंड २, संख्या ५), मार्च १६३८, जून १६४१।
३० रूपाभ सम्पादक—सुमित्रानन्दन पन्त तथा नरेन्द्र शर्मा, सितम्बर १६३८, फरवरी १६३६।
३१ विशाल भारत फरवरी १६३२, फरवरी १६३३, मई १६३४, जून १६३७, अगस्त १६३७, अक्तूबर १६३७, जनवरी १६४०, सितम्बर १६४१, नवम्बर १६४१, दिसम्बर १६४१, १६४४।
३२ विश्लेषण जनवरी १६५८।
३३ श्रीशारदा : सम्पादक—नर्मदाप्रसाद मिश्र, जुलाई १६२०, सितम्बर १६२०, नवम्बर १६२०, दिसम्बर १६२०, फरवरी १६२१।
३४ सम्मेलन पत्रिका चैत्र-वैशाख १६८०, भाग ४१, संख्या ४, संवत् २०१२।
३५ सरस्वती अक्तूबर १६००, नवम्बर १६००, मार्च १६०२, अक्तूबर १६०३, मार्च १६०६, सितम्बर १६०६, जनवरी १६०७, जुलाई १६०७, अप्रैल १६१२, मई १६१२, जुलाई १६१२, फरवरी १६१३, मई १६१४, दिसम्बर १६१४, मई १६१५, नवम्बर १६१५, फरवरी १६१७, सितम्बर १६१७, दिसम्बर १६१७, जनवरी १६१६, अप्रैल १६१६, मई १६२०, दिसम्बर १६२०, फरवरी १६२१,

अक्तूबर १६२१, दिसम्बर १६२१, फरवरी १६२४, मई १६३६, मार्च १६३७, जनवरी १६५४, दिसम्बर १६५४, मार्च १६५६, फरवरी १६५८, मार्च १६५८, अप्रैल १६५८, मई १६५८, जून १६५८, जुलाई १६५८।
३६ साप्ताहिक हिन्दुस्तान १३ जनवरी, १६५७, ३१ मार्च, १६५७, ३० दिसम्बर, १६५७, २३ फरवरी, १६५८।
३७ साहित्य सुधानिधि · सम्पादक—जगन्नाथदास "रत्नाकर", जून १८६४, जुलाई १८६४, अक्तूबर १८६४।
३८ साहित्य-समालोचक सम्पादक—कृष्णबिहारी मिश्र, शिशिर-हेमन्तांक, संवत् १६८२-८३।
३६ साहित्य-सन्देश · फरवरी १६४१।
४० साहित्य-परिचय अक्तूबर १६५७।
४१ सुधा अगस्त १६२७, दिसम्बर १६२६, अक्तूबर १६३२, मई १६३३, जुलाई १६३३, अगस्त १६३३, अप्रैल १६३५।
४२ सुप्रभात (कलकत्ता) . मार्च १६५७।
४३ हंस दिसम्बर १६३४, मार्च १६४१, अक्तूबर १६४१, नवम्बर १६४१, अप्रैल १६४२, फरवरी १६४८, मार्च १६४८, मार्च १६४६, जून १६४६, जनवरी १६५०, अक्तूबर १६५०, दिसम्बर १६५१, वर्ष २२, अंक ६-७।
४४ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका : सम्पादक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, अगस्त १८७४।
४५ हिन्दी प्रचारक : अप्रैल १६५५।
४६ हिन्दुस्तान (दैनिक) १८ दिसम्बर, सन् १६५७, २५ दिसम्बर, सन् १६५७।
४७ हिमालय : पुस्तक माला १, संवत् २००२; अप्रैल १६४६।

उर्दू-ग्रन्थ

१ मुक़द्दमें शेर व शायरी : मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, किताबस्तानए इल्म व अदब, दिल्ली।

अंग्रेज़ी-ग्रन्थ

1. A History of Criticism and Literary Taste in Europe, Vol I, George Saintsbury, VI edition, William Blackwood & Sons, London.
2. A Midsummer Night's Dream, ed. by Stanley Wood, 1932, George Gill & Sons Ltd., London
3 An Anthology of Critical Statements, 1931, The Indian Press Limited, Allahabad
4 Ben Jonson, ed by C.H. Herford & Others, Vol. VIII, 1954, Oxford University Press, London

5 Biographia Literaria, Coleridge, 1917, J M Dent & Sons Ltd London
6 Critical and Historical Essays, Thomas Babington Macaulay 1852, Longman Brown Green & Longmans, London
7 Defence of Poetry, P B Shelley ed by H A Needham, III edition, 1948 Ginn and Company L d London
8 Dictionary of World Literary Terms, ed by Joseph T Shipley, 1955, George Allen & Unwin Ltd, London
9 Dramatic Poesy and Other Essays J Dryden, 1950 J M Dent & Sons Ltd, London
10 Dryden, ed by Douglas Grant, 1952, Rupert Hart Davis, London
11 English Critical Essays, 16th to 18th Centuries, ed by Edmund D Jones, 1952, Oxford University Press, London
12 English Critical Essays, 19th Century, ed by Edmund D Jones, 1947, Oxford University Press London
13 Illusion and Reality, Christopher Caudwell, 1956, Poeple s Publishing House Ltd, Delhi
14 Literary Criticism in Antiquity, Vol II, J W H Atkins, 1952, Methuen & Co Ltd, London
15 Lives of the English Poets, Samuel Johnson, Vol I, 1952, Oxford University Press, London
16 Loci Critici, George Saintsbury, Ginn & Company, U S A
17 Nature of English Poetry, L S Harris, 1937, Dent & Co Ltd, London
18 Oxford Junior Encyclopaedia, Vol XII, 1954, Oxford University Press, London
19 Personality, Rabindra Nath Tagore, 1918, Macmillan & Co Ltd, London
20 Poems of Alexander Pope, Thomas Nelson & Sons Ltd, London
21 Poetical Works of Dryden, ed by W D Christie
22 Selected Essays, T S Eliot, MCML III, Faber & Faber Ltd, London
23 Sidney's Apologie For Poetrie, ed by J Churton Collins, 1924, Oxford University Press, London
24 The Rambler, S Johnson, I edition, 1953, J M Dent & Sons Limited, London
25 The Works of Ben Jonson, Vol IX, ed by W Gifford, 1816, W. Bulmer & Co, London
26 The Complete Works of Thomas Shadwell ed by Montague Summers, Vol I, 1927, The Fortune Press, London
27 The Poetical Works of John Dryden, Vol V, Bell & Daldy, York Street, London
28 The Critical Opinions of William Wordsworth, ed by Markham

L Peacock, 1950, The Johns Hopkins Press, Baltimore
29 The Poems of John Dryden, ed by John Sargeaunt, 1952, Oxford University Press, London
30 The Poetical works of William Wordsworth, ed by Thomas Hutchinson 1926 Oxford University Press, London
31 The Complete Poetical Works of Percy Bysshe Shelley, ed by Thomas Hutchinson, 1952, Oxford University Press London
32 The Oxford Dictionary of Quotations, II edition 1953, Oxford University Press London
33 The Problem of Style J Middleton Murry, 1949, Oxford University Press London
34 The Principles of Criticism W Worsfold
35 The Number of Rasas Dr V Raghavan, 1940 The Adyar Library, Adyar